



आचार्यश्री शिवार्य विरचित

# भगवती आराधना

आचार्यश्री अपराजित सूरि रचित विजयोदया टीका  
तथा तदनुसारी हिन्दी टीका सहित

भाग २

पूर्व ग्रंथमाला सम्पादक  
स्व० डॉ० हीरालाल जैन  
स्व० डॉ० ए० एन० उपाध्ये

द्विजमान ग्रंथमाला सम्पादक  
श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री  
सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी

सम्पादक एवं अनुवादक  
सिद्धान्ताचार्य श्री पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रकाशक  
सेठ लालचन्द हीरचन्द,  
जैन-संस्कृति-संरक्षक-संघ, शोलापुर

प्रकाशक  
श्रीमान् सेठ लालचंद हीराचंद  
अध्यक्ष-जैन संस्कृति संरक्षक संघ  
सोलापुर

सर्वाधिकार सुरक्षित

मुद्रक  
वर्द्धमान मुद्रणालय,  
जबाहर नगर कॉलोनी, दुर्गाकुण्ड, रोड,  
वाशिंगटन-२२१००१

JIVARAJA JAINA, GRANTHAMALA, No. 36

ACHARYA SHRI SHIVARAY'S

# **BHAGVATI-ARADHANA**

With

The Samskrit tika Vijayo-daya of Aparajit suri

Ex General Editors.

**Late Dr H L jain**

**Late Dr A N Upadhye**

General Editor

**Pt. Kailaschandra Shastri**

Edited along with the Hindi Translation etc.

*By*

**Pandit Kailaschandra Shastri**

published by  
Lalchand Hirachand.

**Jain Samskriti Samrakshaka Sangha**

**Sholapur**

**1978**

Price: Rs: 20-00

First Edition . 1100 copies

Copies of this book can be had direct from Jain Samskriti Samrakshak  
Sangha, Santosha Bhavana, Phaltan Galli, Sholapur (India)

Price Rs. 20-00 per copy, exclusive of postage.

## श्री जीवराज जैन ग्रन्थमाला का परिचय

सोलापूर निवासी श्रीमान् स्व० ब० जीवराज गौतम चन्द दोशी कई वर्षोंसे उदासीन होकर धर्म कार्यमें अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० में उनकी प्रबल इच्छा हुई कि अपनी न्यायो-पार्जित सम्पत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म तथा समाजकी उन्नतिके कार्यमें लगे।

तदनुसार उन्होंने अनेक जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित रूपसे सम्मतियाँ इस बातकी संगृहीत की, कि कौनसे कार्यमें सम्पत्तिका विनियोग किया जाय।

अन्तमे स्फुट मत सचय कर लेने के पश्चान् सन् १९४१ में घोषण कालमें सिद्ध क्षेत्र श्री गजपथजीके शीतल वातावरणमें अनेक विद्वानोंको आमन्त्रित कर उनके सामने ऊहापोह पूर्वक निर्णय करनेके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया गया।

विद्वत् सन्मेलनके फलस्वरूप श्रीमान् ब्रह्मचारो जीने जैन संस्कृति तथा प्राचीन जैन साहित्यका सरक्षण-उद्धार-प्रचारके हेतु 'जैन संस्कृति सरक्षक संघ' इस नामकी सस्था स्थापना की। तथा उनके लिए उक्त रु० ३०००० का बृहत् दान घोषित किया गया।

आगे उनकी परिग्रह निवृत्ति बढ़ती गई। सन् १९४४ मे उन्होंने लगभग दो लाखकी अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति संघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण की।

इसी सस्थाके अन्तर्गत 'जीवराज जैन ग्रन्थमाला' द्वारा प्राचीन संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी तथा मराठी ग्रन्थोका प्रकाशन कार्य आज तक अखण्ड प्रवाहसे चल रहा है।

आज तक इस ग्रन्थमाला द्वारा हिन्दी विभागमें ३४ ग्रन्थ तथा मराठी विभागमें ४४ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ इस ग्रन्थमालाका ३६ वां पुष्प प्रकाशित हो रहा है।



स्व. ब्र. जीवराज गौतमचंद दोषी  
स्व. रो ता. १६-१-५७ (पौष शु १५)

प्रवचनमातृकाव्याख्यानाद्योत्तरप्रबन्धस्तत्र मनोगुप्तिं कारगुप्तिं व्याख्यातुमाद्योत्तरगाथा—

जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुप्तिं ।

अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वच्चिगुत्ती ॥११८१॥

'जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुप्तिं' या रागद्वेषाम्या निवृत्तिर्मनमस्ता जानीहि मनो-  
गुप्तिं । अत्रेदं परीक्ष्यते । मनसो गुप्तिरिति यदुच्यते किं प्रवृत्तस्य मनसो गुप्तिरथाप्रवृत्तस्य ? प्रवृत्तं चेदं शुभं  
मनः तस्य का रक्षा । अप्रवृत्तं यदि तथापि असत् । का रक्षा ? सत्सौजन्यपायपरिहारोपयुक्तोत्प्रेक्ष्यते ? किं च  
मनःशब्देन किमुच्यते द्रव्यमन उत भावमन ? मनोद्रव्यवर्गणा मनश्चेत् तरय कोऽपायो नाम यस्य परिहारो  
रक्षा स्यात् ? किं च द्रव्यान्तरेण तेन रक्षितेनास्य जीवस्य फलं य आत्मन परिणामोऽनुभवमावहति । ततो-  
ऽयुक्ता रक्षात्मनः । अथ नो इन्द्रियमतिज्ञानावरणक्षयोपशमसजातं ज्ञानं मन इति गृह्यते तस्य अपायः कः ?  
यदि विनाशः स न परिहर्तुं शक्यते यतोऽनुभवसिद्धो विनाशः । अन्यथा एकस्मिन्नेव ज्ञाने प्रवृत्तिरारम्भ-  
स्यात् । ज्ञानानीह वीचय इवानारतमुत्पद्यन्ते न चास्ति तदविनाशोपायः । अपि च इन्द्रियमतिरपि रागादिव्या-  
वृत्तिरिष्टैव किमुच्यते रागादिणियत्ती मणस्स इति ।

अत्र प्रतिविधीयते—नो इन्द्रियमतिरिह मनःशब्देवोच्यते । सा रागाविपरिणामैः सह एककालं आत्मनि  
प्रवर्तते । न हि विषयावग्रहादिज्ञानमन्तरेणास्ति रागद्वेषयोः प्रवृत्तिः, अनुभवसिद्धैवास्ति नापरा युक्तिः अनु-  
गम्यते । वस्तुतत्त्वानुयायिना मानसेन ज्ञानेन सम रागद्वेषौ न वर्तते इत्येतदप्यात्मसाक्षिकमेव । तेन मनमस्त-

आगे प्रवचन माताओंका व्याख्यान करते हैं । उनमें से प्रथम मनोगुप्ति और वचनगुप्तिका  
व्याख्यान करते हैं—

गा०-टी०—मनकी जो रागादिसे निवृत्ति है उसे मनोगुप्ति जानो ।

शंका—यहाँ यह विचार करते हैं कि यह जो आप मनकी गुप्ति कहते हैं सो यह गुप्ति प्रवृत्त  
मनकी है या अप्रवृत्त मनकी है ? प्रवृत्त मन तो शुभ रूप होता है उसकी रक्षा कैसी ? यदि मन  
अप्रवृत्त है तो वह असत् हुआ, उसकी रक्षा कैसी । प्रवृत्त मनकी अपायसे बचाव करनेमें उप-  
योगिता होती है । तथा मन शब्दसे द्रव्यमन लेते हैं या भावमन ? यदि द्रव्यवर्गणा रूप मन लेते  
हैं तो उसका अपाय क्या, जिससे बचनेसे उसकी रक्षा हो । तथा द्रव्यवर्गणा रूप मन तो भिन्न  
द्रव्य है । उसकी रक्षा करनेसे इस जीवको क्या लाभ जो आत्माके अशुभ परिणाम करता है ।  
अतः आत्माकी रक्षाकी बात युक्त नहीं है । यदि नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न  
हुए ज्ञानको मन शब्दसे ग्रहण करते हैं तो उसका अपाय क्या है ? यदि अपायसे मतलब विनाश  
है तो उसका परिहार शक्य नहीं है क्योंकि विनाश तो अनुभवसे सिद्ध है । यदि ज्ञानका विनाश  
न हो तो आत्माकी प्रवृत्ति सदा एक ही ज्ञानमें रहे । किन्तु ज्ञान तो तरंगोंकी तरह निरन्तर  
उत्पन्न होते रहते हैं । उनके विनाश न होनेका कोई उपाय नहीं है । तथा इन्द्रियजन्य मतिकी  
भी रागादिसे व्यावृत्ति मान्य है तब 'मनकी रागादिसे निवृत्ति' क्यों कहते हैं ?

समाधान—यहाँ मन शब्दसे नोइन्द्रिय जन्य मति कही है । वह आत्माके रागादि परि-  
णामोंके साथ एक ही कालमें प्रवृत्तिशील है । विषयोंका अवग्रहादिज्ञान हुए विना रागद्वेषमें प्रवृत्ति  
नहीं होती, यह बात अनुभव सिद्ध है । इसमें अन्य कोई युक्ति नहीं है । जो मानस ज्ञान वस्तुतत्त्व-  
के अनुसार होता है उस ज्ञानके साथ रागद्वेष नहीं होते यह बात आत्मसाक्षिक है । अतः तत्त्व-

त्वावग्राहिणो रागादिभिरसहचारिता या सा मनोगुप्तिः । मनोग्रहणं ज्ञानोपलक्षणं तेन सर्वो बोधो निरस्तराग-  
द्वेषकलङ्को मनोगुप्तिरन्यथा इन्द्रियमती भ्रुते, अवधौ, मनःपर्यये वा परिणममानस्य न मनोगुप्तिः स्यात् । इष्यते  
च । अथवा मनःशब्देन मनुते य आत्मा स एव भण्यते तस्य रागादिभ्यो वा निवृत्तिः । रागद्वेषरूपेण वा अपरि-  
णतिः सा मनोगुप्तिरित्युच्यते । अथैव ब्रूषे सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः । दृष्टफलमनपेक्ष्य योगस्य वीर्यपरिणामस्य  
निग्रहो रागादिकार्यकरणनिरोधो मनोगुप्तिः । 'अलिणाब्धिभिर्मती वा मोर्षं वा ह्येह वचिगुप्ती' विपरीतार्थप्रति-  
पत्तिहेतुत्वात्परद्दुःखोत्पत्तिनिमित्तत्वाच्चाधर्माद्या व्यावृत्तिः सा वाग्गुप्तिः । ननु च वाचः पुद्गलत्वात् विपरी-  
तार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वादिभ्यो व्यावृत्तिहेतुर्वाचो धर्मो न चासौ सवरणे हेतुरनात्मपरिणामत्वात् । शब्दादिवत् ।  
एवं तर्हि व्यक्तीकात्परुषादात्मप्रशसापरात् परनिन्दाप्रवृत्तात्परोपद्रवनिमित्ताच्च वचसो व्यावृत्तिरात्मनस्तथा-  
भूतस्य वचसोऽप्रवृत्तिका वाग्गुप्तिः । या 'वाचं प्रवर्तयन् अशुभं कर्म स्वीकरोत्यात्मा तस्या वाच इह ग्रहणं  
वाग्गुप्तिरित्यत्र तेन वाग्विशेषस्यानुत्पादकता वाचः परिहारो वाग्गुप्तिः । मौनं वा सकलाया वाचो या परि-  
हृतिः सा वाग्गुप्तिः । अयोग्यवचनेऽप्रवृत्तिः प्रेक्षापूर्वकारितया योग्यं तु वक्ति वा न वा । भाषासमित्तिस्तु

का ग्रहण करने वाले मनका रागादि भावके साथ साहचर्य न होना मनोगुप्ति है । 'मन' शब्द ज्ञान-  
का उपलक्षण है । अतः रागद्वेषकी कालिमामे रहित ज्ञानमात्र मनोगुप्ति है । यदि ऐसा न माना  
जाय तो जब आत्मा इन्द्रिय ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान अथवा मन पर्ययज्ञान रूपसे परिणत हो  
उस समय मनोगुप्ति नहीं हो सकेगी । किन्तु उस समय भी मनोगुप्ति मानी जाती है । अथवा जो  
आत्मा 'मनुते' अर्थात् पदार्थोंको जानता है वही मन शब्दसे कहा जाता है । उसकी जो रागादिसे  
निवृत्ति है अथवा रागद्वेषसे परिणमन करना वह मनोगुप्ति कही जाती है । ऐसा होने पर 'सम्यक्  
रूपसे योगका निग्रह गुप्ति है' ऐसा कहनेमें भी कोई विरोध नहीं है । सम्यक् अर्थात् किसी लौकिक  
फलकी अपेक्षा न करके वीर्य परिणाम रूप योगका निग्रह अर्थात् रागादि कार्य करनेसे रोकना  
मनोगुप्ति है ।

तथा विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमें कारण होनेसे और दूसरोंको दुःखकी उत्पत्तिमें निमित्त  
होनेसे जो अधर्म मूलक वचनसे निवृत्ति है वह वचन गुप्ति है ।

शङ्का—वचन तो पौद्गलिक है अतः विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमें हेतु आदि होनेसे व्यावृत्ति  
वचनका धर्म है और वह सवरमे कारण नहीं है क्योंकि वह तो पुद्गलका परिणाम है, आत्माका  
परिणाम नहीं है जैसे शब्द वगैरह पुद्गलके परिणाम है ।

समाधान—मिथ्या, कठोर, अपनी प्रशंसा और परकी निन्दा करने वाले तथा दूसरोंमें  
उपद्रव कराने वाले वचनसे आत्माकी निवृत्ति, जो इस प्रकारके वचनोंकी प्रवृत्तिको रोकती है  
वह वचन गुप्ति है । वचन गुप्तिमें वचन शब्दसे जिस वचनको सुनकर प्रवृत्ति करता हुआ आत्मा  
अशुभ कर्म करता है उस वचनका ग्रहण है । अतः वचन विशेषको उत्पन्न न करना वचनका  
परिहार है और वही वचन गुप्ति है । अथवा समस्त प्रकारके वचनोंका परिहार रूप मौन वचन-  
गुप्ति है । अयोग्य वचनमें अप्रवृत्ति वचनगुप्ति है । प्रेक्षापूर्वकारी होनेसे वह योग्य वचन बोल  
या न बोले । किन्तु योग्य वचन बोलना—उनका कर्ता होना भाषासमिति है । अतः गुप्ति और



योग्यवचसः कर्तुं ता ततो महान्भेदो गुप्तिसमित्यो । मौनं वाग्गुप्तिरत्र स्फुटतरौ बधोभेदः । योग्यस्य वचसः प्रवर्तकता । वाचः कस्याश्चिदनुत्पादकतेति ॥११८१॥

**कायकिरियाणिवत्ती काउस्सगो सरीरगे गुत्ती ।**

**हिंसादिणिवत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि दिङ्गा ॥११८२॥**

‘कायकिरियाणिवत्ती’ कायस्योदारिकादे. शरीरस्य या क्रिया तस्या निवृत्ति. ‘सरीरगे गुत्ती’ शरीर-विषया गुप्तिः कायगुप्तिरिति यावत् । आसनस्थानशयनादीना क्रियात्वात् तासा चात्मना प्रवृत्तित्वात् कथ-मात्मन कायक्रियाम्यो व्यावृत्तिः । अथ मत, कायस्य पर्याय क्रिया, कायाच्चार्षान्तरमात्मा ततो द्रव्यान्तरप-र्यायात् द्रव्यान्तर तत्परिणामशून्य तथाऽपरिणत व्यावृत्त भवतीति कायक्रियानिवृत्तिरात्मनो भण्यते । सर्वेषामे-वात्मनामित्थ कायगुप्ति स्यात् न चेष्टेति ।

अत्रोच्यते—कायस्य सम्बन्धिनी क्रिया कायशब्देनोच्यते । तस्या कारणभूतात्मन क्रिया कायक्रिया तस्य निवृत्ति । ‘काउस्सगो’ कायोत्सर्ग शरीरस्याशुचितामसारतामापन्निमित्तता चावेत्य तद्गतममतापरि-हार कायगुप्ति । अन्यथा शरीरमायु शृङ्खलावबद्धं त्यक्तुं न शक्यते इत्यसम्भव कायोत्सर्गस्य । धातूनाम-नेकार्थत्वात् गुप्तिनिवृत्तिवचन इहेति सूत्रकाराभिप्रायोऽन्यथा ‘कायकिरियाणिवत्ती सरीरगे गुत्ती’ इति कथं ब्रूयात् । कायोत्सर्गग्रहणेन निश्चलता भण्यते । यद्येवं कायकिरियाणिवत्ती इति न वक्तव्य, कायोत्सर्ग काय-

समित्तमे महान् अन्तर है । मौन वचन गुप्ति है ऐसा कहने पर गुप्ति और समित्तिका भेद स्पष्ट हो जाता है । समिति योग्य वचनमे प्रवृत्ति कराती है । और गुप्ति किसी वचनकी उत्पादक नहीं है ॥११८१॥

गा०-टी०—काय अर्थात् औदारिक आदि शरीरकी जो क्रिया है उसकी निवृत्ति काय-गुप्ति है ।

शङ्का—बैठना, ठहरना, सोना आदि क्रियाएँ हैं । और वे क्रियाएँ आत्माके द्वारा प्रवर्तित है । तब आत्मा कायकी क्रियाओंसे कैसे निवृत्त हो सकता है । यदि कहेंगे कि क्रिया कायकी पर्याय है और कायसे आत्मा भिन्न है । अत द्रव्यान्तर कायकी पर्यायसे द्रव्यान्तर आत्मा उस पर्यायसे रहित होनेसे कायकी पर्यायरूप परिणत नहीं होता अत. उससे वह निवृत्त है और इसीको आत्माकी कायकी क्रियाओंसे निवृत्ति कही है । तो इस प्रकारसे सभी आत्माओंके काय-गुप्तिका प्रसंग आता है ।

समाधान—कायशब्दसे कायसम्बन्धी क्रिया कही है । उसकी कारणभूत आत्माकी क्रिया कायक्रिया है और उसकी निवृत्ति कायगुप्ति है । अथवा कायोत्सर्ग अर्थात् शरीरकी अपवित्रता, असारता और आपत्तिमें निमित्तपना जानकर उससे ममत्व न करना कायगुप्ति है । अन्यथा शरीर तो आयुकी सांकलसे बँधा है । जब तक आयु है शरीरका त्याग नहीं किया जा सकता । यदि शरीर त्यागको कायोत्सर्ग कहेंगे तो कायोत्सर्ग असम्भव हो जायगा । धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं अत यहाँ गुप्तिका अर्थ निवृत्ति है ऐसा गाथासूत्रकार आचार्यका अभिप्राय है । यदि ऐसा न होता तो ‘कायक्रिया निवृत्ति शरीर गुप्ति है’ ऐसा कैसे कहते ।

गुप्तिरित्येतदेव वाच्य इति चेत् न कायविषयं भवेदभावरहितत्वमात्रमपेक्ष्य कायोत्सर्गस्य प्रवृत्तेः धावनगमन-  
लङ्घनादिक्रियासु प्रवृत्तस्यापि कायगुप्तिः स्यान्न चेष्ट्यते । अथ कायक्रियानिवृत्तिरित्येतावदुच्यते मूर्च्छापरिगत-  
स्यापि अपरिस्पन्दता विद्यते इति कायगुप्तिः स्यात् । तत्र उभयोपादान व्यभिचारनिवृत्तये । कर्मादाननिमित्त-  
सकलकायक्रियानिवृत्तिः कायगोचरममतात्यागपरा वा कायगुप्तिरिति सूत्रार्थः । 'हिंसाविणियसी वा शरीरगुप्ती  
हृदि विद्वा' हिंसादिनिवृत्तीर्वा शरीरगुप्तिरिति दृष्टा जिनागमे, प्राणिप्राणवियोजनं, अदत्तादानं, मिथुनकर्म  
शरीरेण, परिग्रहादानमित्यादिका या विनिष्टा क्रिया सह कायशब्देनोच्यते । कायिकोपकृतेर्गुप्तिर्व्यवृत्तिः काय-  
गुप्तिरिति व्याख्यात सूरिणा ॥११८२॥

छेत्तस्स वदी णयरस्स खाइया अह्व होइ पायारो ।

तह पावस्स णिरोहे ताओ गुत्तीओ साहुस्स ॥११८३॥

'छेत्तस्स वदी' क्षेत्रस्य वृत्ति 'नगरस्य क्षांतिका अथवा पागारो' अथवा प्राकारो भवति नगरस्य । 'तथा  
पावस्स णिरोहो' पापस्य निरोध उपाय । 'ताओ गुत्तीओ' ता गुप्तय साधो ॥११८३॥

तम्हा तिविहेवि तुमं मणवचिकायप्यओगजोगम्मि ।

होहि सुसमाहिदमदी णिरंतरं ज्झाणसज्झाए ॥११८४॥

'तम्हा तिविधेण मणवचिकायप्यओगजोगम्मि' मनोवाक्कायविषये प्रकृष्टे योगे । 'तुमं' त्व । 'सुसमा-

शङ्का - यदि कायोत्सर्गसे निश्चलना कही जाती है तो 'कायक्रियानिवृत्ति कायगुप्ति है'  
ऐसा नहीं कहना चाहिए । किन्तु कायोत्सर्ग कायगुप्ति है ऐसा ही कहना चाहिए ।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि कायमे यह मेरा है' इस भावके न होने  
मात्रकी अपेक्षासे कायोत्सर्ग शब्दकी प्रवृत्ति होती है । किन्तु यदि कायगुप्ति यही है तो दौडना,  
जाना, लाघना आदि क्रियाओको करते हुए भी कायगुप्ति हो सकेगी । किन्तु ऐसा नहीं माना  
जाता । और 'कार्याक्रियाकी निवृत्ति कायगुप्ति है' इतना ही कहा जाता है तो मूर्च्छित अवस्थाम  
भी कार्याक्रियाकी निवृत्ति होनेसे कायगुप्ति का प्रसंग आता है । इसलिए व्यभिचार दोषकी  
निवृत्तिके लिए दोनोका ग्रहण गाथामे किया है ।

अतः कर्मके ग्रहणमे निमित्त समस्त कायकी क्रियाओसे निवृत्ति और कार्याविषयक ममत्वका  
त्याग कायगुप्ति है, यह गाथासूत्रका अर्थ है ।

अथवा आगममे हिंसा आदिसे निवृत्तिको कायगुप्ति कहा है । यहाँ काय शब्दसे प्राणियोके  
प्राणोका घात, विना दी हुई वस्तुका ग्रहण, शरीरसे मैथुन कर्म और परिग्रहका ग्रहण इत्यादि  
विशिष्ट क्रिया कही गई है । कायिक क्रियाओमे गुप्ति अर्थात् व्यावृत्ति कायगुप्ति है ऐसा आचार्यने  
व्याख्यान किया है ॥११८२॥

गा०—जैसे खेतकी बाड और नगरकी खाई अथवा चारदिवारी होती है वैसे ही पापको  
रोकनेमे साधुकी गुप्तिर्था होती है ॥११८३॥

गा०—इसलिए हे क्षपक । तुम निरन्तर ध्यान और स्वाध्यायमे लगे रहकर मन वचन  
काय विषयक तीन प्रकारके प्रकृष्ट योगमें सावधान रहो । क्योंकि ध्यान और स्वाध्यायके विना  
गुप्तिर्था नहीं ठहरती ॥११८४॥

‘हृद्यमवी होहि’ सुष्टु समाहितमतिर्बध । कथं ? ‘धिरंतरं व्रतान्तकामाद्’ निरन्तरप्रवृत्तध्यानस्वाध्याये । न हि ध्यानस्वाध्यायावन्तरेण गुप्तयोश्चित्पुष्टन्त इति भावः ॥११८४॥

समितिव्याख्यानायोत्तरप्रबन्धस्तत्रैर्यासमितिनिरूपणायोत्तरा गाथा—

मगुज्जोवपओगालंबणसुद्धीहिं हरियदो मुणिणो ।

सुनाणुवीचि भणिदा हरियासमिदी पवयणम्मि ॥११८५॥

‘मगुज्जोवपओगालंबणसुद्धीहिं’ मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धिरूपयोगशुद्धिश्चालम्बनशुद्धिरिति चतस्रः शुद्धयस्तामि. करणभूतामि । ‘हरियदो’ गच्छतः । ‘मुणिणो’ मुनेः । ‘सुताणुवीचि’ सूत्रानुसारेण । ‘भणिदा’ कथिता । ‘हरियासमिदी’ ईर्यासमितिः । ‘पवयणम्मि’ प्रवचने । तत्र मार्गस्य शुद्धिर्नाम अप्रचुरपिपीलिकादि-त्रसता, बीजाङ्कुरतृणहरितपलाशकर्मभादिरहितता । स्फुटतरता व्यापिता च उद्योतशुद्धि । निशाकरनक्षत्रा-दीनामस्फुट प्रकाश, अव्यापी प्रदीपादिप्रकाश । पादोद्धारनिक्षेपदेशजीवपरिहरणावहितचेतस्ता उपयोग-शुद्धि । गुफ्तीर्थचैत्ययतिवन्दनादिकमपूर्वशास्त्रार्थग्रहण, सयत्प्रायोम्यक्षेत्रमार्गण, वैयावृत्यकरण, अनियतावास-स्वास्थ्यसम्पादने श्रमपराजय, नानादेशभाषाशिक्षण, विनियजनप्रतिबोधनं चेति प्रयोजनापेक्षया आलम्बनाशुद्धि । किं तत् सूत्रानुसारिगमन, अद्वस्त, नातिविलम्बित, पुरो युगमात्रदर्शनप्रवृत्तिः, अविकृष्टधरणन्यास, भयवि-स्मयावन्तरेणासलील मनत्युत्क्षेप, परिहृतलङ्घनभावन प्रविलम्बितभुज, निर्विकार, अचपलमसभ्रान्तमनूद्धर्व-तिर्यक्प्रेक्षण, हस्तमात्रपरिहृततरुणतृणपल्लव, अकृतपशुपक्षिमृगोद्वेजनं, विरुद्धयोनिसंक्रमणजातबाध्याव्युदासाय

आगे समितिका व्याख्यान करते हैं । प्रथम ईर्यासमितिका कथन करते हैं—

गा०—द्वी०—मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धि, उपयोगशुद्धि और आलम्बन शुद्धि, इन चार शुद्धियो-के द्वारा सूत्रके अनुसार गमन करते हुए मुनिके प्रवचनमें ईर्यासमिति कही है ।

मार्गमे चीटी आदि त्रस जीवोंकी अधिकताका न होना तथा बीज, अकुर, तृण, हरे पत्ते और कीचड़ आदिका न होना मार्गशुद्धि है । सूर्यके प्रकाशका स्पष्ट फैलाव और उसकी व्यापकता उद्योतशुद्धि है । चन्द्रमा नक्षत्र आदिका प्रकाश अस्पष्ट होता है और दीपक आदिका प्रकाश व्यापक नहीं होता । पैर उठाने और रखनेके देशमें जीवोंकी रक्षामें चित्तकी सावधानता उपयोग शुद्धि है । गुरु, तीर्थ, चैत्य और यतिकी वन्दनाके लिए गमन करना आदि किसीके पास शास्त्रका अपूर्व अर्थ या अपूर्व शास्त्रके अर्थका ग्रहण करनेके लिए गमन करना, मुनियोंके योग्य क्षेत्रकी खोजके लिए गमन करना, वैयावृत्य करनेके उद्देशसे गमन करना, अनियत आवासके उद्देशसे गमन करना, स्वास्थ्य लाभके लिए गमन करना, श्रमपर विजय पानेके लिए गमन करना, नाना देशोंकी भाषा सीखनेके लिए गमन करना, शिष्य समुदायका प्रतिबोधन करनेके लिए गमन करना, इत्यादि प्रयोजनोंकी अपेक्षा गमन करना आलम्बन शुद्धि है ।

सूत्रानुसार गमन इस प्रकार है—न बहुत जल्दी और न बहुत विलम्बसे सामने युगमात्र भूमि देखकर चलना, पादनिक्षेप अधिक दूर न करना, भय और आश्चर्यके बिना गमन करना, लीलापूर्वक गमन न करना, पैर अधिक ऊँचा न उठाते हुए गमन करना, लांघना दौड़ना आदि नहीं, दोनों भुजा लटकाकर गमन करना, विकार रहित, चपलता रहित, ऊपर तिर्यक् अवलोकन

कृतासकृत्प्रतिलेखन, अप्रतिसारितप्रतिमार्गायायिसघट्टन दुष्टधेनुबलीबर्हसारमेयादिपरिहृतचतुरं, परिहृतबुस-  
तुषमषोभस्मार्द्रगोमयतुणनिचयजलोपलफलक, दूरीकृतचोरीकलहं, अनारूढसक्रम निरूपयतां यतेरीर्या-  
समिति ॥११८५॥

भाषासमितिनिरूपणार्थोत्तरगाथा—

सच्चं अमच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं ।

वदमाणस्सणुवीची भासासमिदी हवदि सुद्धा ॥११८६॥

चतुर्विधा वाक्—सत्या, मृषा, मत्यसहिता मृषा, असत्यमृषा चेति । सता हिता सत्या । न सत्या  
न च मृषा या सा अमच्चमोसा । द्विप्रकारा वाचमित्यभूता । 'अलिगाविदोसवज्जं' व्यलीकता अर्थाभाव,  
पारुष्य, पैशुन्यमित्यादिदोषरहित । 'अणवज्जं' पापास्रवो न भवति इत्यनवद्य । 'वदमाणस्स' व्याहरत ।  
'अणुवीची' सूत्रानुसारेण 'भासासमिदी सुद्धा हवदि' भाषासमिति शुद्धा भवति ॥११८६॥

सत्यवचनभेद निरूपयति—

जणवदसंमदिठवणा णामे रूवे पडुच्चववहारे ।

संभावणववहारे भावेणोपम्मसच्चेण ॥११८७॥

'जणवदसमिदि' नानाजनपदप्रसिद्धा मुसकेतानुविधायिनी वाणी जनपदसत्य । गच्छति इति गौ, गर्ज-

रहित गमन करना, तरुण तृण पत्रोसे एक हाथ दूर रहते हुए गमन करना, पशु पक्षी और  
मृगोको भयभीत न करते हुए गमन करना, विरुद्ध योनिवाले जीवोके मध्यसे जानेपर उनको  
होनेवाली बाधाको दूर करनेके लिए पीछीसे अपने शरीरकी बारबार प्रतिलेखना करते हुए गमन  
करना, सामनेसे आते हुए मनुष्योसे न टकराते हुए गमन करना, दुष्ट गाय, दुष्ट बैल, कुत्ता  
आदिसे चतुरतापूर्वक बचते हुए गमन करना, भुस, तुष, मसी, गीला गोबर, तृणसमूह, जल,  
पाषाण और लकडीके तख्तसे बचकर गमन करना, चोरी और कलहसे दूर रहना और पुलपर न  
चढ़ना । ये सब करते हुए गमन करना ईर्यासमिति है ॥११८५॥

आगे भाषासमितिका कथन करते है—

गा०—वचनके चार प्रकार है—सत्य, असत्य, सत्यसहित असत्य और असत्यमृषा ।  
सज्जनोके हितकारी वचनको सत्य कहते हैं । जा वचन न सत्य होता है और न असत्य उसे  
असत्यमृषा कहते है । इस प्रकार सत्य और असत्यमृषा वचनको बोलना तथा असत्य, कठोरता,  
चुगली आदि दोषोंसे रहित और अनवद्य अर्थात् जिससे पापका आस्रव न हो ऐसा वचन सूत्रा-  
नुसार बोलनेवालेके शुद्ध भाषासमिति होती है ॥११८६॥

सत्यवचनके भेद कहते है—

गा०—जनपद सत्य, सम्मति सत्य, स्थापना सत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य,  
सम्भावना सत्य, व्यवहार मत्य, भाव सत्य और उपमा सत्य इस प्रकार सत्यवचनके दस भेद हैं ।

टी०—विभिन्न जनपदोमे जो उस उस जनपदके संकेतके अनुसार प्रचलित वाणी है वह

तीति गज इत्येवमादिका अवयवार्थानुगमाभावेऽपि विवक्षितार्थप्रवृत्तिनिमित्तभूता । सम्मदिशब्देन संस्थानाम्युपगम उच्यते । गजेन्द्रो नरेन्द्र इत्यादिका । शब्दाः शुभलक्षणयोवात् केषाञ्चित् स्वतो लक्षणत्वात् नामीश्वरत्वेनाभ्युपगममाश्रित्य क्वचिद्गजे मानवे वा प्रयुज्यमाना सम्मत्तिसत्यशब्देनोच्यन्ते । अर्हन्निन्द्र. स्कन्द इत्येवमादयः सद्भावात्सद्भावस्थापनाविषया स्थापनासत्य । अरिहृन्ननं, रजोहृन्नन, इन्दन इत्येवमादीना क्रियाणा तत्राभावाद्ब्यलीकता नाशङ्कनीया आकारमात्रे परमार्थत्वात्सर्वभावाना । तस्य च स्थापनाया वस्त्वास्तित्वाद् बुद्धिपरिग्रहेण वा सद्भावात् । इन्द्रादिसज्ञा स्वप्रवृत्तिनिमित्तजातिगुणक्रियाद्रव्यनिरपेक्षा तच्छब्दाभिधेयसम्बन्धपरिणतिमात्रेण वस्तुन प्रवृत्ता नामसत्यं । रूपग्रहण उपलक्षण प्रवृत्तिनिमित्ताना नीलमुत्पल, धवलो हि मृगलाञ्छन इत्येवमादिक रूपसत्य । सम्बन्ध्यन्तरापेक्षाभिव्यय च वस्तुस्वरूपालम्बनं दीर्घो ह्रस्व इत्येवमादिक प्रतीत्यसत्यं । वस्तुनि तथाऽप्रवृत्तेऽपि तथाभूतकार्ययोग्यतादर्शनात् सम्भावनाया वृत् सम्भावनासत्य । अपि दोर्म्या समुद्रं तरेत्, शिरसा पर्वतं भिन्नात् इत्यादि । वर्तमानकाले स परिणामो यद्यपि नास्ति तथाप्यतीतानागत-

जनपद सत्य है । जैसे गमन करे वह गाय है गर्जन करे वह गज—हाथी है । यद्यपि गमनरूप और गर्जनरूप अर्थ नहीं होनेपर भी इन अर्थोंकी प्रवृत्तमे निमित्तभूत वाणी जनपद सत्य है । अर्थात् जैसे गाय और गजशब्द गमन और गर्जन अर्थको लेकर निष्पन्न हुए हैं और उनका संकेत गाय और गजमे किया गया है । गाय बैठी हो तब भी उसे गाय कहते हैं । इस प्रकार प्रत्येक देशकी भाषामे शब्द जनपद सत्य हैं ।

सम्मत्ति शब्दसे आकार विशेषकी स्वीकृति कही जाती है । जैसे गजेन्द्र नरेन्द्र इत्यादि शब्द शुभलक्षणके योगसे व्यवहृत होते हैं । किन्हीमे स्वयं शुभलक्षण पाये जानेसे उन्हें इन्द्र या ईश्वरके रूपमे स्वीकार करके किसी गजको गजेन्द्र या मनुष्यको सुरेन्द्र कहना सम्मत सत्य है । किसी तदाकार या अतदाकार वस्तुमें अर्हन्त, इन्द्र या स्कन्दकी स्थापना करके उसे अर्हन्त आदि कहना स्थापना सत्य है । मूर्तिमे स्थापित अर्हन्त या इन्द्रमें अर्हन्तशब्दका अर्थ अरि—कर्मशत्रुका हनन करना या कर्मरजका हनन करना और इन्द्र शब्दका अर्थ इन्दन क्रिया नहीं पाई जाती, इसलिए उसमे असत्यपनेकी आशका नहीं करनी चाहिए । क्योंकि सभी पदार्थ आकारमात्रमे परमार्थ माने जाते हैं । और वह आकार तदाकार स्थापनामें वस्तुरूपसे रहता है अथवा अतदाकार स्थापनामे उसमे उस प्रकारकी बुद्धि कर ली जाती है ।

इन्द्रादि नामोंकी प्रवृत्तिमें निमित्त जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यकी अपेक्षा न करके जो उस शब्दका अपने वाच्यार्थके साथ सम्बन्ध है केवल उसी दृष्टिसे रखा वस्तुका इन्द्रादि नाम नामसत्य है । रूपका ग्रहण शब्दकी प्रवृत्तिके निमित्तोंका उपलक्षण है । जैसे कमलका नीला रूप देखकर नीलकमल कहना या चन्द्रमा सफेद कहना रूप सत्य है । अन्य वस्तुके सम्बन्धसे व्यक्त होनेवाला वस्तुका स्वरूप प्रतीत्य सत्य है जैसे किसीको लम्बा या ठिगना कहना ।

वस्तुमें वैसा नहीं होने पर भी उस प्रकारके कार्यकी योग्यता देखकर जो संभावना मूलक वचन है वह संभावना सत्य है । जैसे कहना अमुक व्यक्ति हाथोंसे समुद्र पार कर सकता है या सिरसे पर्वत तोड़ सकता है । इत्यादि । यद्यपि वर्तमान कालमे वस्तुमे वह परिणाम नहीं है तथापि

परिणामा<sup>१</sup> इदमेव द्रव्यमिति कृत्वा प्रवृत्तानि वचांसि ओदन पच, कट कुबित्येवमादीनि व्यवहारसत्य । अहिंसा-  
लक्षणो भाव<sup>२</sup> पाल्यते येन वचसा तद्भावसत्य निरीक्ष्य स्वप्रयत्नाचारो भवेत्येवमादिक । पल्योपमसागरोप-  
मादिकमुपमा सत्यम् ॥११८७॥

मूषादिवचनत्रयलक्षणं कथयन्ति—

तत्त्विवरीदं मोसं तं उभयं जत्थ सच्चमोसं तं ।

तत्त्विवरीया भासा असच्चमोसा ह्वे दिट्ठा ॥११८८॥

'तत्त्विवरीदं' सत्यविपरीत । 'मोसं' मूषा । 'असच्चमिधानमनूत' [त० सू० ७] इति वचनात् । मिथ्या-  
ज्ञानमिथ्यादर्शनयोरसयमस्य वा निमित्त वचनमसदभिधान अप्रशस्त तत्सत्यविपरीतं । 'तं उभयं' तत्सत्यमनू-  
त्तं उभयं । 'जत्थ' यस्मिन् वाक्ये । 'तं' तद्वाक्य । 'सच्चमोसं' सत्यमृषेत्युच्यते । 'तत्त्विवरीया भासा' सत्याद-  
नूतान्मिश्राच्च पृथग्भूता । 'भासा' भाषा वचन 'असच्चमोसा' असत्यमृषेति । 'ह्वे' भवेत् । 'दिट्ठा'  
दृष्टा पूर्वागमेषु । एकान्तेन न सत्या नापि मूषा नोभयमिश्रा किंतु जात्यन्तर यथा वस्तु नैकान्तेन नित्य नापि  
अनित्य नापि सर्वथा एकान्तयो समुच्चय किंतु कथंचिद्रूपान्तिथान्तिथ्यात्मकं । एवमियं भारती ॥११८८॥

सा नवप्रकारा तस्याश्च भेदा<sup>२</sup> इयन्त इति गाथाद्वयेनाचष्टे—

आमंतणि आणवणी जायणि संपुच्छणी य पणवणी ।

पच्चक्खाणी भासा भामा इच्छणुलोमा य ॥११८९॥

अतीत और अनागत परिणाम रूप यही द्रव्य है ऐसा मानकर किया गया वचन व्यवहार सत्य है  
जैसे भात पकाओ या चटाई बुनो । ये दोनो परिणाम वर्तमानमे नही हैं क्योंकि चावल पकने पर  
भात बनेगा और बुनने पर चटाई होगी । फिर भी अनागत परिणामकी अपेक्षा इनका व्यवहार  
होता है । जिस वचनके द्वारा अहिंसा रूप भाव पाला जाता है वह वचन भाव सत्य है । जैसे  
देखकर सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करो आदि । पल्योपम, सागरोपम आदिका जो कथन आगममे  
कहा है वह उपमा सत्य है ॥११८७॥

असत्य आदि तीन वचनोंका लक्षण कहते हैं—

गा०—टी०—सत्यसे विपरीत वचन असत्य है । तत्त्वार्थ सूत्रमे कहा है 'असत् कहना झूठ  
है ।' जो वचन मिथ्याज्ञानमे, मिथ्याश्रद्धानमे और असयममे निमित्त होता है वह वचन असत्  
कथन रूप होनेसे अप्रशस्त है । अतः सत्यसे विपरीत है । जो वचन सत्य और असत्य दोनो रूप  
होता है वह वचन सत्यमूषा है । जो वचन सत्य, असत्य और सत्य असत्यसे विपरीत होता है उसे  
पूर्व आगमोंमे असत्यमूषा कहा है । वह वचन न तो एकान्तसे सत्य होता है न एकान्तसे असत्य  
होता है और न सत्यासत्य होता है किन्तु जात्यन्तर होता है । जैसे वस्तु न तो एकान्तसे नित्य है,  
न अनित्य है और न सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य है, किन्तु कथंचित् नित्यानित्य है । उसी  
प्रकार यह असत्यमूषा वचन भी होता है ॥११८८॥

उस असत्यमूषा वचनके नौ भेद दो गाथाओसे कहते हैं—

१ मान्यति इद-मू० । भिषेयागं-आ० मू० । २. दा यत् इति-अ० । दा य इति-आ० ।

'आमंत्रणी' यथा वाचा परोऽभिमुखीक्रियते सा आमन्त्रणी । हे देवदत्त इत्यादि । अगृहीतसंकेतं नाभिमुखी करोति इति न सत्यैकान्तेन गृहीतमभिमुखी करोति तेन न यथा गृहीतागृहीतसंकेतयोः प्रतीतिनिमित्तमनिमित्तं चेति द्वयात्मकता । स्वाध्यायं कुर्वत, विरमतासंयमात् इत्यादिका अनुशासनवाणी आणवणी । चोदिताया. क्रियाया. करणमकरणं चापेक्ष्य नैकान्तेन सत्या न मूर्षव वा । 'आवणी' ज्ञानोपकरण पिच्छादिक वा भवद्भिर्दातव्यं इत्यादिका याचनी । दातुरपेक्षया पूर्वबहुभयरूपा । निरोध<sup>१</sup> वेदनास्ति भवता न वेति प्रश्नवाक् 'संपुच्छणी' । यद्यस्ति सत्या न चेदितरा इति । वेदनाभावाभावमपेक्ष्य प्रवृत्तेरुभयरूपता । 'पणवणी' नाम धर्मकथा । सा बहून्निदिश्य प्रवृत्ता कैश्चिन्मनसि करणमितरैरकरणं चापेक्ष्य द्विरूपा । 'पुच्छानुलोमा' नाम केनचिद्गुरुमननुज्ञाप्य हृद क्षीरादिकं इत्यन्त काल मया प्रत्याख्यातं इत्युक्त. कार्यान्तरमुद्दिश्य<sup>२</sup> तत्कुर्वित्युदित गुरुणा प्रत्याख्यानावधिकालो<sup>३</sup> न पूर्ण इति नैकान्तत<sup>४</sup> सत्यता गुरुवचनात्प्रवृत्तो न दोषायेति न मूर्षैकान्त. । 'इच्छानुलोमा य' ज्वरितेन पुष्टं घृतशर्करामिधं क्षीरं न शोभनमिति । यदि परो ब्रूयात् शोभनमिति माधुर्यादि-

गा०—आमन्त्रणी, आणवणी, याचनी, संपुच्छणी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी और इच्छानुलोमा ।

टी०—जिस वचनसे दूसरेको बुलाया जाता है वह आमंत्रणी भाषा है । जैसे हे देवदत्त ! यह वचन जिसने संकेत ग्रहण नहीं किया उसे बुलाने वालेके अभिमुख नहीं करता अर्थात् वह बुलाने पर नहीं आता । इसलिए यह वचन सत्य भी नहीं है और जिसने सर्वथा संकेत ग्रहण किया है उसे अभिमुख करता है इसलिए असत्य भी नहीं है । इस तरह यह वचन गृहीत संकेत वालेको तो प्रतीति करानेमें निमित्त होता है किन्तु जिसने संकेत ग्रहण नहीं किया उसको प्रतीति करानेमें निमित्त नहीं होनेमें दो रूप है । 'स्वाध्याय करो, असंयमसे विरत होओ,' इत्यादि अनुशासन वचन आणवणी है । जो काम करनेकी प्रेरणा की गई है वह करने या करनेकी अपेक्षा यह वचन न तो एकान्तमें सत्य है और न एकान्तसे असत्य है । आप मुझे ज्ञानके उपकरण अथवा पीछी आदि प्रदान करे, इत्यादि वचन याचनी भाषा है । यह भी दाताकी अपेक्षा पहलेकी तरह न तो सर्वथा सत्य है और न सर्वथा असत्य है क्योंकि माँगने पर दाता दे भी सकता है और नहीं भी दे सकता ।

आपकी वेदना—कष्ट रुका या नहीं ? या निरोध—जेलमें आपको कष्ट है या नहीं ? इस प्रकार पुच्छना संपुच्छनी भाषा है । यदि वेदना है तो सत्य है, नहीं है तो मिथ्या है । इस प्रकार वेदनाके भाव और अभावकी अपेक्षासे प्रवृत्त होनेसे यह वचन उभयरूप है ।

धर्मकथाको पणवणी या प्रज्ञापनी कहते हैं । यह बहुतसे श्रोताओंको लक्ष करके होती है अतः कुछ तो अपने मनमें उसका पालन करनेका विचार करते हैं और कुछ नहीं करते । इस अपेक्षा यह भी उभयरूप है । प्रत्याख्यानी भाषा इस प्रकार है—किसीने गुरुसे निवेदन किये बिना यह दूध आदि मैंने इतने कालतक त्यागा' ऐसा नियम किया । किसी अन्य कार्यको लक्ष करके गुरुने कहा ऐसा करो । उसके त्याग करनेकी मर्यादाका काल पूरा नहीं हुआ, इसलिए उसका प्रत्याख्यान सर्वथा सत्य नहीं है और गुरुकी आज्ञासे उसने त्यागी हुई वस्तुमें प्रवृत्ति की इसलिए दोष भी न होनेसे सर्वथा असत्य भी नहीं है ।

इच्छानुलोमा भाषा इस प्रकार है—किसी ज्वरके रोगीने पूछा—धी और शक्कर मिला

१. धो वेदनाया अस्ति-आ० । निरोधो वेदनास्ति-ज० २ इय तद्गुरुहितं-ज० इय तरुहिवगु-अ० । इय तद्गुरुहितं न-आ० । ३. कालेन पूर्वं इति-अ० । कालो न पूर्वं इति-ज० ।

प्रशस्यगुणसद्भावं ज्वरवृद्धिनिमित्तां चापेक्ष्य न शोभनमिति वचो मूर्षकान्ततो नापि सत्यमेवेति द्वयारम-  
कता ॥११८९॥

**संसयवयणी य तहा असच्चमोसा य अट्टमी भासा ।**

**णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसा ह्वदि णेया ॥११९०॥**

‘संसयवयणी’ किमयं स्थाणुरुत पुरुष इत्यादिका द्वयोरकस्य सद्भावमितरस्याभाव चापेक्ष्य  
द्विरूपता । ‘अणक्खरगदा’ अङ्गुलिस्फोटादिध्वनि कृताकृतसकेतपुरुषापेक्षया प्रतीतिनिमित्ततामनिमित्तता च  
प्रतिपद्यते इत्युभयरूपा ॥११९०॥

**उग्गमउप्पायणएसणाहिं पिंडमुवधि सेज्जं च ।**

**सोधितस्स य मुणिणो विसुज्झए एसणासमिदी ॥११९१॥**

‘उग्गमउप्पायणएसणाहिं’ उद्गमोत्पादनैषणादोषरहित भक्तमुपकरण वसति च गृह्यत एषणासमितिर्भ-  
वतीति सूत्रार्थ । दशवैकालिकटीकाया श्रीविजयोदयाया प्रपञ्चिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रत-  
न्यन्ते ॥११९१॥

आदाननिक्षेपणसमित्तिनिरूपणा गाथा—

**सहसाणाभोगिददुप्पमज्जिय अपच्चवेसणा दोसो ।**

**परिहरमाणस्स हवे समिदी आदाणणिक्खेवो ॥११९२॥**

‘सहसाणाभोगिद’ आलोकनप्रमार्जने कृत्वा आदान निक्षेप इत्येको भङ्ग । अनालोक्य प्रमार्जन कृत्वा

दूष उत्तम नहीं है ? यदि दूसरा कहे कि माधुर्य आदि प्रशस्त गुणोंकी अपेक्षा तो उत्तम है किन्तु  
ज्वरको बढ़ानेवाला होनेसे उत्तम नहीं है तो इस प्रकारके वचन न सर्वथा असत्य हैं और न सर्वथा  
सत्य हैं किन्तु दोनो रूप होनेसे उभयात्मक हैं । यहाँ उभयात्मकसे इन वचनोंको सत्य और  
असत्यरूप नही समझना चाहिए । किन्तु सत्य भी नही और असत्य भी नही अर्थात् अनुभयरूप  
समझना चाहिए ॥११८९॥

गा०—आठवी असत्यमृषा भाषा सशय वचनो है । जैसे यह स्थाणु है या पुरुष । दोनोमेंसे  
एकके सद्भाव और दूसरेके अभावकी अपेक्षा यह वचन उभयरूप है । और नौवी असत्यमृषा  
भाषा अनक्षरात्मक भाषा है । जैसे अंगुलि चटकाने आदिका शब्द । जिस पुरुषने सकेत ग्रहण  
किया है उसे तो ध्वनिसे प्रतीति होती है दूसरेको नही होती । इस तरह यह वचन उभयरूप  
है ॥११९०॥

अब एषणा समितिका कथन करते हैं—

या०—उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित भोजन, उपकरण और वसतिको  
ग्रहण करनेवाले मुनिकी एषणा समिति निर्मल होती है ॥११९१॥

आदाननिक्षेपण समितिका कथन करते हैं—

गा०—टी०—विना देखे और विना प्रमार्जन किये पुस्तक आदिका ग्रहण करना या रखना



आदानं निक्षेपी वेति द्वितीयो भङ्गः । आलोक्य दुःप्रमृष्टं इति तृतीयः । आलोकितं प्रमृष्टं च न पुनरालोकितं शुद्धं न शुद्धं वेति चतुर्थो भङ्गः । एतद्दोषचतुष्टयं परिहरतो भवति आदाननिक्षेपणसमितिः ॥११९२॥

एदेण चेव पदिट्ठावणसमिदीवि वणिणया होदि ।

बोसरणिज्जं दच्चं थंडिल्ले बोसरितस्स ॥११९३॥

'एदेण चेव' आदाननिक्षेपविषययत्नकथनेन । 'पदिट्ठावणसमिदीवि वणिणया होदि' प्रतिष्ठापनसमित्ति-वर्णिता भवति । 'बोसरणिज्जं' परित्यक्तव्यं मूत्रपुरीषादिकं मलं । 'थंडिल्ले बोसरितस्स' स्थंडिले निर्जन्तुके, निश्च्छिद्रे, समे व्युत्सुजतः ॥११९३॥

एदाहिं सदा जुत्तो समिदीहिं जगम्मि विहरमाणो हु ।

हिंसादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकायाउले साहु ॥११९४॥

'एदाहिं समिदीहिं' एताभिः । 'सदा जुत्तो' सदा युक्तः । 'जगम्मि विहरमाणो हु' जगति विचरन्नपि । कीदृशी ? 'जीवणिकायाउले' षड्जीवनिकायाकीर्णः । 'हिंसादीहिं' हिंसादिभिः । 'ण लिप्पइ' न लिप्यते साधु । आदिग्रहणेन परितापन, सघट्टनं, अङ्गन्यूनताकरणादिपरिग्रह । समितिषु प्रवर्तमान प्रमादरहित । 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसेत्युच्यते' । हिंसादिसहितानि कर्माणि हिंसाशब्दोच्यन्ते । कार्यं कारणशब्द-प्रवृत्ति प्रतीततरत्वात् ॥११९४॥

यद्यपि विवर्जननिमित्तगुणान्वित तत्र प्रवर्तमानमाप तेन न लिप्यते यथा स्नेहगुणान्वित तामरसपत्र

सहसा नामक प्रथम दोष है । विना देखे प्रमाजंन करके पुस्तक आदिको ग्रहण करना या रखना अनाभोगित नामक दूसरा दोष है । देखकर भी सभ्य प्रतिलेखना न करके पुस्तक आदिको ग्रहण करना या रखना दुःप्रमृष्ट नामक तीसरा दोष है । देखा भी और प्रमाजंन भी किया किन्तु यह शुद्ध है या अशुद्ध, यह नहीं देखा यह चतुर्थ अप्रत्यवेक्षण नामक दोष है । इन चारों दोषोंको जो दूर करता है उसके आदान निक्षेपण समिति होती है ॥११९२॥

प्रतिष्ठापन समिति कहते हैं—

गा०—आदान और निक्षेप विषयक सावधानताका कथन करनेसे प्रतिष्ठापन समितिका कथन हो जाता है । त्यागने योग्य मूत्र विष्टा आदिको जन्तुरहित और छिद्ररहित समभूमिमें त्यागना प्रतिष्ठापन समिति है ॥११९३॥

गा०—टी०—इन पाँच समितियोंका सदा पालन करनेवाला मुनि छ प्रकारके जीवनिकायो-से भरे हुए लोकमें गमनागमन आदि करता हुआ भी हिंसा आदिसे लिप्त नहीं होता । 'आदि' शब्दसे छहकायके जीवोंको कष्ट देना, उनका परस्परमे सघट्टन करना, उनके अंग उपायोंको छिन्न-भिन्न करना आदि पापोंसे लिप्त नहीं होता । समितियोंमें प्रवृत्ति करते हुए मुनि प्रमादसे रहित होता है । और प्रमत्तयोगसे प्राणोंके घातको हिंसा कहा है । हिंसा आदिसे सहित कर्म हिंसा आदि शब्दसे कहे जाते हैं । क्योंकि कार्यमें कारणशब्दकी प्रवृत्ति अति प्रसिद्ध है । आदान निक्षेपमें निमित्त गुणोंसे युक्त मुनि प्रवृत्ति करते हुए भी हिंसा आदि पापसे लिप्त नहीं होता ॥११९४॥

जैसे चिक्कणगुणसे युक्त कमल नीलमणिके समान निर्मल जलमें सदा रहते हुए भी

काचनीलनीरनिरन्तरवत्स्यपि नाम्बुना लिप्यते । निरन्तरनिश्चितजीवनिकायाकुलेऽपि जगति सञ्चरन्पि मुनिर्न लिप्यते<sup>१</sup> अप्रमत्ततया प्रवृत्तः पञ्चेषु समितिष्विति कथयति—

**पउमणिपत्तं व जहा उदयेण ण लिप्यदि सिणेहगुणजुचं ।**

**तह समिदीहिं ण लिप्यइ साधू काएसु इरियंतो ॥११९५॥**

'पउमणिपत्तं' इत्यनया गायया-पद्यपत्र यथा नोदकेन विलिप्यते स्नेहगुणसमन्वितः । तथा कार्येषु शरीरेषु प्राणभूता प्रवर्तमानोऽपि न लिप्यते साधु समितिभिर्हेतुभूताभिः ॥११९५॥

**सरवासे वि पडते जह दढकवचो ण विज्झदि सरेहिं ।**

**तह समिदीहिं ण लिप्यइ साधू काएसु इरियंतो ॥११९६॥**

'सरवासे वि पडते' शरवर्षेऽपि पतति सति च रणाङ्गणे यथा दृढकवचो न शरीरिभ्यते, यथा समितिभिर्हेतुभूताभिर्न लिप्यते कार्येषु वर्तमानो मुनिः ॥११९६॥

**जत्थेव चरइ बालो परिहारण्हू वि चरइ तत्थेव ।**

**वज्झदि पुण सो बालो परिहारण्हू वि मुच्चइ सो ॥११९७॥**

'जत्थेव चरइ बालो' यत्रैव क्षेत्रं चरति जीवपरिहारक्रमानभिज्ञः । परिहारण्हू वि' जीवबाधापरिहार-क्रमज्ञोऽपि तत्रैव चरति । तथापि 'वज्झदि सो पुण बालो' वध्यते पुनरसौ ज्ञानबालश्चारिबालश्चासौ । 'परिहारण्हू' परिहारज्ञः । 'मुच्चइ' मुच्यते कर्मलेपात् ॥११९७॥

उक्तमर्थमुपसहरत्युत्तरगाथया—

**तम्हा चेद्धिदुकामो जइया तइया भवाहि त समिदो ।**

**समिदो हू अण्णमण्णं णादियदि खवेदि पोरणं ॥११९८॥**

जलसे लिप्त नही होता । पाँचो समितियामे अप्रमादीरूपसे प्रवृत्ति करनवाला मुनि भी निरन्तर जीव निकायोसे भरे हुए जगत्से गमनागमन करते हुए पापसे लिप्त नहीं होता । यह कहन है—

गा०—जैसे स्नेह गुणसे युक्त कमलपत्र जलसे लिप्त नहीं होता । उसी प्रकार प्राणियोंके शरीरोंके मध्यमेसे गमनागमन करते हुए भी साधु समितिका पालन करनेसे पापसे लिप्त नहीं होता ॥११९५॥

गा०—जैसे दृढ कवचसे युक्त योद्धा युद्धभूमिमे बाणोंकी वर्षा होते हुए भी बाणोंसे नहीं छिदता । उसी प्रकार षट्कायके जीवोंके मध्यमे विचरण करता हुआ भी समितियोंके कारण हिंसा आदिसे लिप्त नहीं होता ॥११९६॥

गा०—जीवोंकी हिंसासे बचनेके उपायोंको न जाननेवाला जिस क्षेत्रमे विचरण करता है, जीवोंकी हिंसामे बचनेके उपायोंको जाननेवाला भी उसी क्षेत्रमे विचरण करता है । तथापि वह ज्ञान और चार्ित्रमे बालकके समान अज्ञ तो पापमे बद्ध होता है किन्तु उपायोंको जाननेवाला पापसे लिप्त नहीं होता बल्कि उससे मुक्त होता है ॥११९७॥

भागो उक्त कथनका उपसंहार करते है—

१ गति अथ प्रमत्ततया प्रमत्त प-आ० ज० ।

यस्मात्समितिषु प्रवर्तमानो न बध्यते, पापेन मुच्यते । असमितस्तु महता बध्यते कर्मसमूहेन 'लम्हा' तस्मात् । 'वेष्टिदुक्तानो' गमनभावणाद्यभिलाषी । 'बद्धया तद्धया' यदा तदा । 'स' भवान् 'समिदो भवति' समितिपरो भवति निर्यापकसूरिराह क्षपकं । 'समिदो सु' समितः सम्यक्प्रवृत्तः ईर्यादिषु । 'अण्णमण्णं कर्म' अन्यत् अन्यत् । प्रत्यय । 'आदिदिदि' नैवावत्ते । 'अवेदि पोरान्' प्राक्तन च कर्म क्षपयति निर्जरति ॥११९८॥

**एदाओ अट्टपवयणमादाओ णाणदंसणचरिचं ।**

**रक्खंति सदा मुणिणो मादा पुत्तं व पयदाओ ॥११९९॥**

'एदाओ अट्टपवयणमादाओ' एता अट्टप्रवचनमातृकाः 'पयदाओ' प्रयता । 'णाणदंसणचरिचं' रक्खंति' समीचीनज्ञानदर्शनचारित्राणि पालयन्ति सदा मुने । 'मादा पुत्तं च जणा' जननी पुत्र यथा । प्रयता माता पुत्र पालयत्यपायस्थानेभ्यः ॥११९९॥

व्रतभावनानिरूपणायोत्तरप्रबन्ध । त्रयोदशा वध चारित्रं अखण्डमाराधयतश्चारित्राराधना । तत्र व्रतानां स्थैर्यं सम्पदयितुं भावना एकैकस्य पञ्च पञ्चाभिहितास्तत्रेमा अहिंसाव्रतभावना इति बोधयति ।

एषणासमितिनिरूप्यते—

**एसणणिकखेवादाणिरियासमिदी तथा मणोगुची ।**

**आलोयभोजणं च य अहिंसाए भावणा होंति ॥१२००॥**

'एसणणिकखेवादाणिरियासमिदी' एसणसमिदी एषणासमितिरादाननिक्षेपणासमिति, ईर्यासमितिरतथा मनोगुप्ति । 'आलोयभोजणं च' आलोकभोजन च । 'अहिंसाए' अहिंसाव्रतस्य । 'भावणा' भावना । 'होंति' भवन्ति ।

भिक्षाकाल, बुभुक्षाकालोऽत्रग्रहकालश्चेति कालत्रयं ज्ञातव्यं । ग्रामनगरादिषु इयता कालेन आहार-

गा०—टी०—यतः समित्तियोका पालक पापसे लिप्त नही होता किन्तु उससे छूटता है और समित्तिका पालन न करनेवाला महान् कर्मसमूहसे बँधता है अतः जब तुम गमन करना या बोलना चाहो तो समित्तिमे तत्पर रहो । ऐसा निर्यापकाचार्य क्षपकसे कहते है । क्योंकि ईर्या आदिमे सम्यक् प्रवृत्ति करनेवाला नवीन-नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता ओर पूर्वमे बाँधे कर्मों की निर्जरा करता है ॥११९८॥

गा०—जैसे सावधान माता पुत्रकी अनिष्टोंसे रक्षा करके उसका पालन करती है । वैसे ही सम्यक् रूपसे पालित ये आठ प्रवचन मातायें मुनिके सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की रक्षा करती हैं ॥११९९॥

आगे व्रतकी भावनाओंका कथन करते हैं । जो तेरह प्रकारके चारित्रकी निर्दोष आराधना करता है उसके चारित्राराधना होती है । उनमेंसे व्रतोंको स्थिर करनेके लिए एक-एक व्रतकी पाँच-पाँच भावना कही है । उनमेंसे अहिंसाव्रतकी भावना कहते हैं—

गा०—टी०—एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति, ईयासमिति, मनोगुप्ति और आलोक भोजन ये पाँच अहिंसाव्रतकी भावना हैं । उनमेंसे एषणा समिति कहते है—भिक्षाकाल, बुभुक्षा-काल और अचग्रहकाल ये तीन काल जानना चाहिए । अमुक मासोंमें ग्राम नगर आदिमें अमुक

निष्पत्तिर्भवति, अमीषु मासेषु, अस्य वा कुलस्य वाय भोजनकाल इच्छायाः प्रमाणादिना भिक्षाकालोऽव-  
गन्तव्यः । क्षुब्ध मम तीव्रा मन्दा वेति स्वशरीरव्यवस्था च परीक्षणीया । अयमवग्रहः पूर्वं गृहीतः एवंभूत  
आहारो मया न भोक्तव्य इति । अद्यायमवग्रहो ममेति मीमासा कार्या । तदनन्तरं पुरतो युगान्तरमात्रभूभाग-  
लोकनरत अदुतं, अविलम्बित, असम्प्राप्त व्रजेत् प्रलम्बबाहुरविकृष्टचरणन्यासो निविकार ईषदवनतोत्तमाङ्ग  
अकर्दमेनानुदकेन अत्रसहरितबहुलेन वर्त्मना । दृष्ट्वा तु खरान्, करभान्, बलोबर्हान्, गजान्तुरगान्महिषान्सा-  
रमेयान्कलहकारिणो वा मनुष्यान्दूरत परिहरेत् । पक्षिणो मृगाश्चाहारकालोद्यता वा यथा न बिभ्यति, यथा  
वा स्वमाहारं मुक्त्वा न व्रजन्ति तथा यायात् । मृदुना प्रतिलेखनेन कृत्तप्रमार्जनो गच्छेद्यदि निरन्तरासुस-  
माहितफलादिकं वाग्रतो भवेत् मार्गान्तरमस्ति भिन्नवर्णा वा भूमिं प्रविशन्तद्वर्णभूभाग एव अङ्गप्रमार्जनं  
कुर्यात् । तुषगोमयभस्मबुसपलालनिचय, दलोपलफलादिकं च परिहरेत् । निन्दमानो न क्रुध्येत्, पूज्यमानो-  
ऽपि न तुष्येत् । न गीतनृत्यबहुल, उच्छ्रितपताक वा गृहं प्रविशेत् । तथा मत्ताना गृहं न प्रविशेत् । सुरापण्या-  
ङ्गनालोकगर्हितकुल वा, यज्ञशाला, दानशाला, विवाहगृह, वार्यमाणानि, रक्ष्यमाणानि; अमुक्तानि च गृहाणि  
परिहरेत् । दरिद्रकुलानि उत्क्रमादद्यकुलानि न प्रविशेत् । ज्येष्ठाल्पमध्यानि सममेवाटेत् । द्वारमर्गल कवाट वा  
नोद्धाटयेत् । बालवत्स गलक, शुनो वा नोल्लङ्घयेत् । पुष्पं फलबीजैर्वावकीर्णां भूमिं वर्जयेत् तदानीमेव अव-  
लिप्ता । भिक्षाचरेषु परेषु लाभार्थेषु स्थितेषु तद्गृहं न प्रविशेत् । तथा कुटुम्बेषु व्यग्रविषण्णदीनमुखेषु च

समय भोजन वनता है, अथवा अमुक कुलका या अमुक मुहालका अमुक समय भोजनका है !  
इस प्रकार इच्छाके प्रमाण आदिसे भिक्षाका काल जानना चाहिए । तथा मेरी भूख आज मन्द है  
या तीव्र है इस प्रकार अपने शरीरकी स्थितिकी परीक्षा करनी चाहिये । मैंने पहले यह नियम  
लिया था कि इस प्रकारका आहार मैं नहीं लूँगा और आज मेरा यह नियम है इस प्रकार विचार  
करना चाहिए । उसके पश्चात् आगे केवल चार हाथ प्रमाण जमीन देखते हुए न अधिक शीघ्रता-  
से, न रुक-रुककर किसी प्रकारके वेगके बिना गमन करना चाहिए । गमन करते समय हाथ  
लटकते हुए हो, चरण निक्षेप अधिक अन्तरालसे न हो, शरीर विकाररहित हो, सिर थोड़ा झुका  
हुआ हो, मार्गमें कीचड़ और जल न हो तथा त्रसजीवो और हरितकायकी बहुलता न हो । यदि  
मार्गमें गधे, ऊँट, बैल, हाथी, घोड़े, भैंसे, कुत्ते अथवा कलह करनेवाले मनुष्य हो तो उस मार्गसे  
दूर हो जाये । पक्षी और खाते पीते हुए मृग भयभीत न हो और अपना आहार छोड़कर न भागें,  
इस प्रकारसे गमन करे । आवश्यक होनेपर पीछीसे अपने शरीरकी प्रतिलेखना करे । यदि मार्गमें  
आगे निरन्तर इधर उधर फलादि पड़े हों, या मार्ग बदलता हो या भिन्न वर्णवाली भूमिमें प्रवेश  
करना हो तो उस वर्णवाले भूमिभागमें ही पीछीसे अपने शरीरको साफ कर लेना चाहिये । तुष,  
गोबर, राख, भुस, और घासके ढेरसे तथा पत्तों, फल, पत्थर आदिसे बचते हुए चलना चाहिये,  
इनपर पैर नहीं पडना चाहिये । कोई निन्दा करे तो क्रोध न करे और पूजा करे तो प्रसन्न न  
हो । जिस घरमें गाना नाचना होता हो, झण्डियाँ लगी हो उस घरमें न जावे । तथा मतवालोंके  
घरमें न जावे । शराबी, वेध्या, लोकमें निन्दित कुल, यज्ञशाला, दानशाला, विवाहवाला घर  
तथा जिन घरोंमें जानेकी मनाई हो, आगे रक्षक खड़ा हो, सब कोई न जा सकता हो ऐसे घरोंमें  
नहीं जाये । दरिद्रकुलोंमें और आचारहीन सम्पन्नकुलोंमें भी प्रवेश न करे । बड़े छोटे और मध्यम  
गृहोंमें एक साथ ही भ्रमण करे । द्वारपर यदि साकल लगी हो या कपाट बन्द हों तो उन्हें खोलें  
नहीं । बालक, बछड़ा, मेढा और कुत्तेको लार्धकर न जावे । जिस भूमिमें पुष्प, फल और बीज  
फैले हो उसपरसे न जावे । तत्कालकी लिपी भूमिपर न जावे । जिस घरपर अन्य भिक्षार्थी

सस्यु नो तिष्ठेत् । भिक्षाचर भिक्षामार्गणभूमिप्रतिक्रम्य न गच्छेत् । याञ्चामभ्यन्तस्वर्गं त्रा स्थागमननिवेद-  
नार्थं न कुर्यात् । विद्युदिव स्वा तनु<sup>१</sup> च दर्शयेत् कोऽमलभिक्षां दास्यतीति अभिसंधि न कुर्यात् । रहस्यगृह,  
वनगृहं, कदलीलतागुल्मगृहं, नाट्यगान्धर्वशालाश्च अभिन्नधमानीऽपि न प्रविशेत् । बहुजनप्रचारे प्राणिरहिते  
अगुच्यपरोपरोधवर्जिते, अनिर्गमनप्रवेशमार्गे गृहभिरनुज्ञातस्तिष्ठेत् । समे विच्छिद्रे, भूभागे चतुरङ्गुलपा-  
दास्तरो निश्चलः कुडघस्तम्भादिकमनवलम्ब्य तिष्ठेत् । छिद्रद्वारं कवाटं, प्राकारं वा न पश्येत् चोर इव ।  
दातुरागमनमार्गं अवस्थानवेशं, कडुच्छकभाजनादिकं च शोधयेत् । स्तनं प्रयच्छन्त्या, गर्भिण्या वा दीयमान न  
गृह्णीयात् । रोगिणा, अतिवृद्धेन, बालेनोन्मत्तेन, पिशाचेन, मुग्धेनान्धेन, मूकेन, दुर्बलेन, भीतेन, शङ्कितेन,  
अत्यासन्नेन<sup>२</sup>, दूरेण, लज्जाव्यावृतमुष्या, आवृतमुष्या, उपानदुपरिन्त्यस्तपादेन वा जनेनोन्नतदेशावस्थितेन वा  
दीयमानं न गृह्णीयात् । न खण्डेन भिन्नेन वा कडकच्छुकेन दीयमान कपालोच्छिष्टभाजने पद्मकदलीपत्रादि-  
भाजने निक्षिप्य दीयमान वा मांसं, मधु, नवनीतं, फलं<sup>३</sup> अवारितं, मूलं, पत्रं, साङ्कुरं, कन्दं च वर्जयेत् ।  
तत्सस्पृष्टानि सिद्धान्यपि विपन्नरूपरसगन्धानि, कुपितानि, पुष्पितानि, पुराणानि, जन्तुसस्पृष्टानि च<sup>४</sup> न दद्यात्  
खादेत्, न स्पृशेच्च । उदगमोत्पादनैषणादोषदुष्टं नाम्यवहरेत् । नवकोटिपरिशुद्धाहारग्रहणमेवणासमिति ।

भिक्षाके लिए खड़े हों उस घरमें प्रवेश न करे । जिस घरके कुटुम्बी घबराये हों, उनके मुखपर  
विषाद और दीनता हो वहाँ न ठहरे । भिक्षार्थियोंके लिए भिक्षा माँगनेकी जो भूमि हो, उस  
भूमिसे आगे न जावे । अपना आगमन बतलानेके लिए याचना या अव्यक्त शब्द न करे । बिजली-  
की तरह अपना शरीरमात्र दिखला दे । कौन भूझे निर्दोष भिक्षा देगा ऐसा भाव न करे । एकान्त  
घरमें, उद्यान घरमें, केले लता और झाड़ियोंसे बने घरमें, नाट्यशाला और गायनशालामे  
आदरपूर्वक आतिथ्य पानेपर भी प्रवेश न करे । जहाँ बहुतसे मनुष्योंका आना जाना हो, जीव  
जन्तुसे रहित, अपवित्रता रहित, दूसरेके द्वारा रोक-टोकसे रहित तथा जाने आनेके मार्गसे  
रहित स्थानमें गृहस्थोंकी प्रार्थनासे ठहरे । सम और छिद्ररहित जमीनपर दोनो पैरोंके मध्यमें  
चार अंगुलका अन्तर रखकर निश्चल खड़ा हो और दीवार स्तम्भ आदिका सहारा न ले ।  
चोरकी तरह द्वारमें लगे कपाटोंके छिद्र अथवा चार दीवारीके छिद्रमेंसे न देखे । दाताके आनेके  
मार्ग, उसके खड़े होनेके स्थान और करछुल आदि भाजनोकी शुद्धताकी ओर ध्यान रखे । जो  
स्त्री बालकको दूध पिलाती हो या गर्भिणी हो, उसके द्वारा दिये गये आहारको ग्रहण न करे ।  
रोमी, अतिवृद्ध, बालक, पागल, पिशाच, मूढ, अन्धा, गूंगा, दुर्बल, डरपोक, शंकालु, अति  
निकटवर्ती, दूरवर्ती मनुष्यके द्वारा, जिसने लज्जासे अपना मुख फेर लिया या मुखपर घूँघट  
डाला है ऐसी स्त्रीके द्वारा, जिसका पेर जूतेपर रखा है या जो ऊँचे स्थानपर खड़ा है ऐसे  
व्यक्तियोंके द्वारा दिये गये आहारको ग्रहण नहीं करे । टूटे हुए या फूटे हुए करछुल आदिसे दिया  
हुआ आहार ग्रहण न करे । तथा कपालमें, जूटे पात्रमें, कमल केले आदिके पत्ते आदिमें रखकर  
दिया हुआ आहार ग्रहण न करे । मांस, मधु, मक्खन, बिना कटा फल, मूल, पत्र, अंकुरित तथा  
कन्द ग्रहण न करे । इनसे जो भोजन छू गया हो उसे भी ग्रहण न करे । जिस भोजनका रूप  
रस गन्ध बिगड़ गया हो, दुर्गन्ध आती हो, फफून्द आ गई हो, पुराना हो गया हो और जीव-  
जन्तु जिसमें पड़े हों उसे न तां किसीको देना चाहिये, न स्वयं खाना चाहिये और उसे छूनातक

१. तनुं न च-अ० ज० ।

२. न्नेन अपुरे-अ० ज० म० ।

३. फलाई हरितं-अ० ।

४. चराव-अ० । च दीनाव-अ० ।

यन्निष्पद्यते यत्र यथादीयते यतस्तदुभयं प्रतिलेखनायोग्यं न वेति विलोक्य पश्चात्कृतमार्जनं पुनरवलोक्य निष्पिपेद् गृह्णीयाद्वा । एषा आदाननिक्षेपणसमिति । ईर्यासमितिनिरूपितैव तथा मनोगुप्तिसुच । स्फुटतरप्रकाशा-  
वलोकितस्य अन्नस्य भोजनमित्यर्हिसाव्रतभावना पञ्च ॥१२००॥

द्वितीयव्रतभावना उच्यन्ते—

**क्रोधभयलोभहस्सपदिण्णा अणुवीचिभासणं चेव ।**

**विदियस्स भावणाओ वदस्स पंचेव ता होंति ॥१२०१॥**

क्रोधभयलोभहास्याना प्रत्याख्यानानि चतस्रः । 'अणुवीचिभासणं चेव' सूत्रानुसारेण च भाषण । सत्या, मृषा, सत्यमृषा, असत्यमृषा चेति चतस्रो वाचः । तत्र सत्या असत्यमृषा वा व्यवहरणीया नेतरद्वय । क्रोधादीनामसत्यवचनकारणाना प्रत्याख्याने असत्यावाक्परिहृता भवति नान्यथा ॥१२०१॥

तृतीयव्रतभावना उच्यन्ते—

**अणुणुणादग्गहणं असंगबुद्धी अणुणुणवित्ता वि ।**

**एदावतियउग्गहजायणमध उग्गहाणुस्स ॥१२०२॥**

'अणुणुणावग्गहणं' तस्य स्वामिभिरननुज्ञातस्य अग्रहण ज्ञानोपकरणदे । 'असंगबुद्धी अणुणुण वित्ता वि' पगनुज्ञा सम्पाद्य गृहीतेऽपि असक्तबुद्धिता । 'एदावतिय उग्गहजायण' एतत्परिमाणमिदं भवता दातव्य-  
मिति प्रयोजनमात्रपरिग्रहं यावद्याचितो यावद्गृह्णामि इति न बुद्धि कार्या । 'उग्गहाणुस्स' ग्राह्यवस्तुज्ञस्य इदं

नहीं चाहिये । जो भोजन उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषसे दुष्ट है उसे नहीं खाना चाहिये । इस तरह नौ कोटियोंसे शुद्ध आहार ग्रहण करना एषणा समिति है । जो वस्तु जिस स्थानपर रखी जाय और जो वस्तु जिस स्थानसे उठाई जाये वे दोनों प्रतिलेखनाके योग्य है या नहीं, यह देखनेके पश्चात् पीछीसे उनको झाडकर पुन देखे और तब रखे या ग्रहण करे । यह आदान निक्षेपण समिति है । ईर्यासमिति पहले कही है और मनोगुप्ति भी कही है । अति स्पष्ट प्रकाशसे देखे गये अन्नका भोजन आलोकभोजन है । ये पाँच अर्हिसाव्रतकी भावना है ॥१२००॥

दूसरे सत्यव्रतकी भावना कहते हैं—

गा०—क्रोधका त्याग, भयका त्याग, लोभका त्याग, हास्यका त्याग और सूत्रके अनुसार बोलना ये पाँच सत्यव्रतकी भावना है । वचनके चार भेद हैं—सत्य, असत्य, सत्य असत्य तथा न सत्य न असत्य । इनमेसे सत्य और अनुभय वचन बोलने योग्य है । शेष दो नहीं बोलने चाहिये । क्रोध आदि झूठ बोलनेमें कारण होते हैं । उनको त्याग देने पर असत्य वचनका त्याग ही जाता है अन्यथा नहीं होता ॥१२०१॥

तीसरे व्रतकी भावना कहते हैं—

गा०—टी०—ज्ञानोपकरण आदिके स्वामीकी स्वीकृतिके बिना ज्ञानोपकरण आदिको स्वी-  
कार न करना, स्वामीकी स्वीकृति मिलने पर स्वीकार की गई वस्तुमें भी आसक्ति न होना, 'आपको इतना देना चाहिये' इस प्रकार जितनेसे प्रयोजन हो उतना ही ग्रहण करना, जितना माँगा है उतना ही ग्रहण करूँगा ऐसी बुद्धि नहीं रखनी चाहिये । जो ग्रहण करने योग्य वस्तुको

ज्ञानसंयमयोरन्यतरस्य साधनमन्तरेण ज्ञानं चारित्र्यं वा मम न सिध्यतीति तस्य ग्रहणं तानुपयोगि नो भाव-  
तश्च ते ॥१२०२॥

**बज्जममणपुण्णादग्निहृष्यवेसस्त गोयरादीसु ।**

**उग्गहजायमभुवीचिए तहा भावणा तइए ॥१२०३॥**

‘बज्जममणपुण्णादग्निहृष्यवेसस्त’ गृहस्वामिभिरनुज्ञातगृहप्रवेशवर्जनं भावना । ‘गोयरादीसु’ गोयरा-  
दिषु इदं वेद्यं प्रविश, अत्र वा तिष्ठेति भोजननुज्ञातो देशस्तस्य वप्रवेशानं । ‘उग्गहजायमभुवीचिए’ अथग्रह-  
याचना सूत्रानुसारेण तृतीये भावनाः ॥१२०३॥

**महिलालोयणपुव्वरदिसरणसंसत्तवसहिविकहाहिं ।**

**पणिदरसेहिं य विरदी भावणा पंच बंमस्स ॥१२०४॥**

‘महिलालोयणपुव्वरदिसरणसंसत्तवसहिविकहाहिं’ स्त्रीणामालोकनं, पूर्व्वरतस्मरणं, स्त्रीभिराकुला या  
वसति शृङ्गारकथा इत्येतद्विरतयः । ‘पणिदरसेहिं य विरदी’ बलवर्षकरेभ्यो विरतिश्चेति पञ्च व्रत-  
भावना ॥१२०४॥

**अपडिग्गहस्स मुण्णिणो सहफरिसरसरुवगंघेसु ।**

**रागहोसादीणं परिहारो भावणा हुंति ॥१२०५॥**

‘अपरिग्गहस्स’ परिग्रहरहितस्य । ‘मुण्णिणो’ मुनेः । सहफरिसरसरुवगंघेसु’ शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु ।  
मनोज्ञानोजेषु । ‘रागहोसादीणं’ रागद्वेषयोः परिहारो विषयभेदात्पञ्चप्रकारभावनाः पञ्चमस्य ॥१२०५॥

जानता है कि यह वस्तु ज्ञान और संयमसे एककी साधन है इसके बिना मुझे ज्ञान अथवा  
चारित्र्यकी सिद्धि नहीं होगी और उसीको ग्रहण करता है, अनुपयोगी वस्तुको ग्रहण नहीं करता ।  
उसीके ये भावना होती है ॥१२०२॥

११०—गोचरी आदिमें गृहस्वामीके द्वारा अनुज्ञा नहीं दिये घरमें प्रवेश न करना अर्थात्  
इस घरमें प्रवेश करें, अथवा यहाँ ठहरें इस प्रकारसे जहाँ गृहस्वामीकी अनुज्ञा प्राप्त न हो उस  
देशमें प्रवेश न करे और शास्त्रके अनुसार ग्रहण करने योग्य वस्तुकी याचना करना, ये पाँच  
अवसादानविरमणव्रत की भावना हैं ॥१२०३॥

११०—स्त्रियोंकी ओर देखना, पूर्व्वमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण, स्त्रियोंसे युक्त वसति, शृ-  
ङ्गारकथा और इन्द्रियोंमें मद और बल पैदा करनेवाले रस, इन सबसे विरत होना ब्रह्मचर्य-  
व्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥१२०४॥

११०—परिग्रह रहित मुनिका मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धमें राग और द्वेषका  
त्याग अर्थात् मनोज्ञसे राग और वसनोज्ञसे द्वेष न करना विषयोके भेदसे पाँच प्रकारकी भावना  
पाँचवें अपरिग्रह व्रत की हैं ॥१२०५॥

१. नो याच्यते—अ० । नो योग्य लभ्यते—अ० । ग्रहणं, इत्यस्य अग्रे पाठो नास्ति आ० ।

भाव माहात्म्यं कथयति—

ण करेदि भावणाभाविदो खु पीडं वदाण सञ्चेसिं ।

साधू पासुत्तो समुहदो व किमिदाणि वेदंतो ॥१२०६॥

‘ण करेदि खु’ न करोत्येव । क. ? ‘भावणाभाविदो’ भावनाभिभावितः । ‘पीडं’ पीडा । ‘वदाण’ व्रताना । ‘सञ्चेसिं’ सर्वेषां । ‘साधू’ साधुः । ‘पासुत्तो’ प्रकर्षेण निद्रामुपगत । ‘समुहदो व’ समुदात्तं गतो वा । ‘किमिदाणि’ किमिदानो । ‘वेदंतो’ चेतयमानः ॥१२०६॥

एदाहिं भावणाहिं हु तम्हा भावेहिं अप्पमत्तो तं ।

अच्छिदाणि अखंडाणि ते भविस्संति हु वदाणि ॥१२०७॥

‘एदाहिं’ एताभिः । ‘भावणाहिं’ भावनाभिः । ‘तम्हा’ तस्मात् । ‘भावेहिं’ भावय । ‘अप्पमत्तो तं’ अप्रमत्तस्त्वं । ‘अच्छिदाणि’ अच्छिद्राणि । नैरन्तर्येण प्रवृत्तानि । ‘अखंडाणि’ सम्पूर्णानि तव भविष्यन्ति व्रतानि ॥१२०७॥

व्रतपरिणामोपघातनिमित्तानि शल्यानि ततस्तद्वर्जनं कार्यमित्याचष्टे—

णित्सल्लस्सेव पुणो महव्वदाइं हवंति सञ्चाइं ।

वदमुवहम्मदि तीहिं दु णिदाणमिच्छत्तमायाहिं ॥१२०८॥

‘णित्सल्लस्सेव’ शल्यरहितस्यैव । शृणाति हि नस्तीति शल्य शरकण्टकादि शरीरादिप्रवेशेन तेन तुल्य यत्प्राणिनो बाधानिमित्तं, अन्तर्निविष्टं परिणामजातं तच्छल्यमिह गृहीतं । ‘महव्वदाइं’ महाव्रतानि भवन्ति । शल्य कस्यचिदेव व्रतस्योपघातक, यथा एषणासमित्यभावो अहिंसाव्रतस्येत्याशङ्का निरस्यति सर्वशब्दी । ननु व महत्त्वेन व्रतमवशेष्यं । मिथ्यात्वादिशल्य अणुव्रतान्यपि हन्त्येव । सत्यं प्रस्तुतत्वान्महाव्रतानामित्यमुक्तं ।

भावनाका माहात्म्यं कहते हैं—

गा०—भावनाओसे भावित साधु गहरी नीदमे सोला हुआ भी अथवा मूर्छित हुआ भी सब व्रतोंमें दोष नहीं लगाता । तब जागते हुए की तो बात ही क्या है ॥१२०६॥

गा०—इसलिये हे क्षपक । तुम प्रमाद त्यागकर इन भावनाओसे अपनेको भावित करो । इससे तुम्हारे व्रत निरन्तर बने रहेंगे और सम्पूर्ण होंगे ॥१२०७॥

शल्य व्रतरूप परिणामोंके घातमें निमित्त होते हैं । अतः उनको त्यागना चाहिये, यह कहते हैं—

गा०—टी०—शल्यरहितके ही सब महाव्रत होते हैं । ‘शृणाति’ अर्थात् जो कष्ट देता है वह शल्य है । जैसे शरीर आदिमें घुसनेवाला बाण, काँटा आदि । उनके समान जो अन्तरंगमें घुसा परिणाम प्राणीको कष्ट पहुँचानेमें निमित्त है उसे यहाँ शल्य शब्दसे कहा है । जैसे एषणासमिति-का अभाव अहिंसा व्रतका घातक है वैसे ही शल्य किसी एक व्रतका घातक है क्या ? इस आशका को दूर करनेके लिये सर्व शब्दका प्रयोग किया है ।

शंका—मिथ्यात्व आदि शल्य अणुव्रतोंका भी घात करते हैं । यहाँ उन्हें महाव्रतोंका घातक क्यों कहा ?



अत्र श्लोकं—हिंसादिभ्यो विरतिपरिणाममात्राणि व्रतानि । शल्ये मिथ्यात्वादिके सति किं न भवति । येनैव-  
मुच्यते निःशल्यस्यैव महाव्रतानि भवन्ति इति ? एतत्प्रतिविधानमायाह—‘ब्रह्मबुद्ध्यात्’ व्रतमुपहन्यते । ‘तीहिं हुं  
तिसुमि । ‘जिवाणमिच्छत्तमायाहिं’ निदानमिथ्यात्वमायाभिः । अत्याक्षरत्वमायाशब्दस्य पूर्वनिपात इति  
चेन्न—मिथ्यात्वं व्रतविघातं प्रकर्षेण करोतीति प्रधानं ततो मिथ्यात्वं माया चेति द्विपदे द्वन्द्वे मिथ्यात्वशब्दस्य  
पूर्वनिपातं पश्चान्निदानशब्देन द्वन्द्वः तस्यात्याक्षरत्वात्पूर्वनिपातः । सम्यक्चारित्र्यमिह मोक्षमार्गत्वेन प्रस्तुतं,  
तच्च नासतोऽस्यदर्शनज्ञानयोर्भवति । सति मिथ्यात्वे विरोधिनि न ते स्तः समीचीनज्ञानदर्शने । रत्नत्रय-  
त्वान्मुक्तेः अनन्तज्ञानादिकाश्चात्थत्र चित्तप्रणिधानं इदमेतत्फलं स्यादिति निदानं । तच्च सम्यग्दर्शनाधि-  
परम्परया व्रतोपघातकारि । मनसा स्वातिचारनिगूहनलक्षणा माया च व्रतमुपहन्यतीति मन्वते ॥१२०८॥

तत्थं णिदाणं तिविहं होइ पसत्थापसत्थभोगकदं ।

तिविधं पि तं णिदाणं परिपंथो सिद्धिमग्गस्स ॥१२०९॥

‘तत्थं’ तेषु शल्येषु । ‘जिवाणं’ निदानार्थं शल्यं । ‘तिविधं’ त्रिविधं । ‘होइ’ भवति । ‘पसत्थमप्य-  
सत्थभोगकदं’ प्रशस्तनिदानमप्रशस्तनिदानं, भोगनिदानं चेति । ‘तिविधं पि तन्निदानं’ त्रिप्रकारमपि निदानं ।  
‘परिपंथो’ विघ्नः । ‘सिद्धिमग्गस्स’ रत्नत्रयस्य ॥१२०९॥

समाधान—आपका कहना सत्य है किन्तु यहाँ महाव्रतका प्रकरण होनेसे महाव्रतोंका घातक कहा है ।

शंका—व्रत तो हिंसा आदिसे विरतिरूप परिणाम मात्र है । वे मिथ्यात्व आदि शल्यके होने पर क्यों नहीं होते, जिससे यह कहा गया है कि निःशल्यके ही महाव्रत होते हैं ?

समाधान—इस शब्दाका निराकरण करनेके लिये कहते हैं—निदान, मिथ्यात्व और माया इन तीनोंके द्वारा व्रतका घात होता है ।

शंका—माया शब्द अल्प अच्वाला है अतः उसे पहले रखना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व व्रतका घात प्रकर्ष रूपसे करता है अतः प्रधान है । तब ‘मिथ्यात्व और माया’ ऐसा द्वन्द्व समास करने पर मिथ्यात्व शब्दका पूर्व निपात होता है । फिर निदान शब्दके साथ द्वन्द्व करने पर निदान शब्दका पूर्व निपात होता है क्योंकि वह अल्प अच्वाला है । यहाँ मोक्षके मार्ग रूपसे सम्यक्चारित्र्यका कथन है । वह सम्यक्चारित्र्य सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके अभावमें नहीं होता । क्योंकि विरोधी मिथ्यात्वके रहते हुए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन नहीं होते । रत्नत्रयरूप अथवा अनन्त ज्ञानादिरूप मुक्तिसे अन्यत्र चित्तका उपयोग लगाना कि इसका यह फल मुझे मिले, निदान है । वह सम्यग्दर्शन आदिकी परम्परासे व्रतका घातक है । तथा मनसे अपने दोषोको छिपाने रूप माया भी व्रतका घात करती है ।

विशेषार्थ—निदानसे सम्यग्दर्शनमें अतिचार लगता है और व्रतका मूल सम्यग्दर्शन है । तथा निदानसे व्रतोंका घात होता है ॥१२०८॥

गण०—उक्त शल्योंमें निदान नामक शल्यके तीन भेद हैं—प्रशस्त निदान, अप्रशस्त निदान और भोग निदान । तीनों ही प्रकारका निदान मोक्षके मार्ग रत्नत्रयका विरोधी है ॥१२०९॥

प्रशस्तनिदाननिरूपणार्थोत्तरगाथा—

**संजमहेतुं पुरिसत्तसवलविरियसंचदणुद्धी ।**

**सावअबंधुकुलादीणि णिदाणं होदि हु पसत्थं ॥१२१०॥**

'संजमहेतु' समयनिमित्त । 'पुरिसत्तसवलविरियसंचदणुद्धी' पुरुषत्वमुत्साह, बलं शरीरगतं दाढघं, वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयोपशमञ्ज परिणामः । अस्थिवन्धविषया वज्रऋषभनाराचसंहननादिः । एतानि पुरुषत्वादीनि संयमसाधनानि मम स्युरिति चित्तप्रणिधान प्रशस्तनिदानं । 'सावअबंधुकुलादिनिदानं' श्रावकबन्धुनिदानं । 'अदरिद्रकुले, अबन्धुकुले वा उत्पत्ति प्रार्थना प्रशस्तनिदानं ॥१२१०॥

अप्रशस्तनिदानमाचष्टे—

**माणेण जाइकुलरूबमादि आइरियगणधरजिणत्तं ।**

**सोभग्माणादेयं पत्थंतो अप्पसत्थं तु ॥१२११॥**

'माणेण' मानेन हेतुना । 'जातिकुलरूबमादि' जातिर्मातृवशः, कुल पितृवशः, जातिकुलरूपमात्रस्य सुलभत्वात्प्रशस्तजात्यादिपरिग्रहः । इह 'आइरियगणधरजिणत्तं' आचार्यत्व, गणधरत्व, जिनत्वं । 'सोभग्माणादेवञ्च' सौभाग्य, आज्ञा, आदेयत्वं च । 'पत्थंतो' प्रार्थयत । 'अप्पसत्थं तु' अप्रशस्तमेव निदानं मानकषायदूषितत्वात् ॥१२११॥

प्रशस्त निदानका कथन करते हैं—

गा०—संयममें निमित्त होनेसे पुरुषत्व, उत्साह, शरीरगत दृढ़ता, वीर्यान्तरायके क्षयोपशम से उत्पन्न वीर्यरूप परिणाम, अस्थियोंके बन्धन विशेष रूप वज्रऋषभनाराच संहनन आदि, ये संयम साधन मुझे प्राप्त हों, इस प्रकार चित्तमे विचार होना प्रशस्त निदान है । तथा मेरा जन्म श्रावक कुलमे हो, ऐसे कुलमें हो जो दरिद्र न हो, बन्धु बान्धव परिवार न हो, ऐसी प्रार्थना प्रशस्त निदान है ॥१२१०॥

विशेषार्थ—एक प्रतिमें दरिद्रकुल तथा एकमे बन्धुकुल पाठ भी मिलता है । दीक्षा लेनेके लिये दरिद्रकुल भी उपयोगी हो सकता है और सम्पन्न घर भी उपयोगी हो सकता है । इसी तरह बन्धु बान्धव परिवारवाला कुल भी उपयोगी हो सकता है और एकाकीपना भी । मनुष्यके मनमें विरक्ति उत्पन्न होने की बात है ॥१२१०॥

अप्रशस्त निदान कहते हैं—

गा०—मानकषायके वश जाति, कुल, रूप आदि तथा आचार्यपद, गणधरपद, जिनपद, सौभाग्य, आज्ञा और आदेय आदिकी प्राप्तिकी प्रार्थना करना अप्रशस्त निदान है ॥१२११॥

टी०—माताके वंशको जाति और पिताके वंशको कुल कहते हैं । जाति कुल और रूप मात्र तो सुलभ है क्योंकि मनुष्य पर्यायमे जन्म लेनेपर ये तीनों अवश्य मिलते हैं । इसलिये यहाँ जाति कुल और रूपसे प्रशंसनीय जाति आदि लेना चाहिये । मान कषायसे दूषित होनेसे यह अप्रशस्त निदान है ॥१२११॥

१. दरिद्रकुले—अ० ।

**कूटो वि अप्सप्तत्वं मरणे पत्वेऽ परवचादीयं ।**

**जह उग्रासेनघादे कदं निदानं वसिष्ठेण ॥१२१२॥**

'कूटो वि' कूटोऽपि । 'अप्सप्तत्वं' परवचाविकं । 'मरणे' मरणकाले । 'पत्वेऽ' प्राययते । 'जहा' यथा 'उग्रासेनघादे' उग्रसेनमरणे । 'कदं निदानं' कृतं निदानं 'वसिष्ठेण' वसिष्ठेन यतिना ॥१२१२॥

भोगनिदाननिरूपणा—

**देविगमाणुसभोगे गारिस्सरसिद्धिसत्त्ववाहत्वं ।**

**केसवचक्रकघरत्तं पत्यते होदि भोगकदं ॥१२१३॥**

'देविगमाणुसभोगे' देवेषु मनुजेषु च भवान्भोगान् । 'पत्यते' अभिलषति । 'भोगकदं' भोगकृतं निदानं । 'गारिस्सरसिद्धिसत्त्ववाहत्वं' नारीत्व, ईश्वरत्वं, श्रेष्ठित्वं, सार्थवाहत्वं च । 'केसवचक्रकघरत्तं' वासुदेवत्व सकलचक्रवर्तित्वं च वाञ्छति भोगार्थं । भोगनिदानं भवति ॥१२१३॥

**संजम सहारूढो घोरतवपरकमो तिगुप्तो वि ।**

**पगरिज्ज जह निदानं सोवि य बड्ढेइ दीहसंसारं ॥१२१४॥**

'संजमसहारूढो' संयमं शिखरमिव दुरारोहत्वावचलत्वाद्वा । एतदुक्तं भवति । प्रकृष्टसयमोऽपि । 'घोरतवपरकमो' घोरे तपसि पराक्रम उत्साहो यस्य सोऽपि दुर्घरतपोजुष्ठाव्यपि । 'तिगुप्तो वि' गुप्तिप्रय-समन्वितोऽपि । 'पगरिज्ज जह निदानं' निदानं यदि कुर्यात् । "सो विव" अत्यवर्णितगुणोऽपि 'बड्ढेइ' वर्धयति संसारमात्मन । किमपरस्मिन्निदानकारिणि वाच्यम् ॥१२१४॥

**जो अप्सुक्खहेदुं कुणइ निदानमविगणियपरमसुहं ।**

**सो कागणीए विक्केइ मणि बहुकोडिसयमोळ्ळं ॥१२१५॥**

गा०—क्रोध कषायके वश होकर भी कोई मरते समय दूसरेका बध करनेकी प्रार्थना करता है । जैसे वशिष्ठ ऋषिने उग्रसेनका घात करनेका निदान किया था ॥१२१२॥

विशेषार्थ—वशिष्टतापसने उग्रसेनको मारनेका निदान किया था । इस निदानके फलसे वह मरकर उग्रसेनका पुत्र कंस हुआ । और उसने पिताको जेलमे डालकर राज्यपद प्राप्त किया । पीछे कृष्णके द्वारा स्वयं भी मारा गया ॥१२१२॥

भोगनिदानका कथन करते हैं—

गा०—देवों और मनुष्योंमें होनेवाले भोगोंकी अभिलाषा करना तथा भोगोंके लिए नारीपना, ईश्वरपना, श्रेष्ठपना, सार्थवाहपना, नारायण और सकल चक्रवर्तीपना प्राप्त होनेकी वांछा करना भोगनिदान है ॥१२१३॥

गा०—टी०—संयम पर्वतके शिखरके समान है क्योंकि जैसे पर्वतका शिखर अचल और दुःखसे चढ़ने योग्य है वैसा संयम भी है । उस संयमपर जो आरूढ है अर्थात् उत्कृष्ट संयमका धारी है, घोर तप करनेमें उत्साही है अर्थात् दुर्घर तप करता है और तीन गुप्तियोंका धारी है, वह भी यदि निदान करता है तो अपना संसार बढ़ाता है, फिर दूसरे निदान करनेवालेका तो कहना ही क्या है ॥१२१४॥

'जो अल्पसुखहेतु' योज्यसुखनिमित्तं निदानं करोति, परमे मुक्तिमुखे अनादरं कृत्वा । स काकण्या विक्रीणीते मणिं बहुकोटिघातमल्यम् ॥१२१५॥

सो भिदइ लोहत्थं णावं भिदइ मणिं च सुत्तत्थं ।

अरकदे भोसीरं उहदि णिदाणं खु जो कुणदि ॥१२१६॥

'सो भिदइ' स भिनसि कील्लोहार्यं नाव अनेकवस्तुभूता । भिनसि रत्न च सूनायं । गोशीर्यं चन्दन वहति भस्मार्थं यो निदानं करोति स्वल्पार्थं । सारस्त्रिमाशसाधर्म्यादिभेदभावात्—सूपकारोपरं कथा यो निदानकारी, तेन नीप्रभृतिकं विनाशितं । अर्थाख्यानकानि वाच्यानि ॥१२१६॥

कोढी संतो लद्धं ण उहइ उच्छं रसायणं एसो ।

सो सामण्यं णासेइ भोयहेतुं णिदाणेण ॥१२१७॥

'कोढी संतो' कुष्ठी सन् रसायनभूतमित्तुं लब्ध्वा दहति य समानता नाशयति सर्वदुःखव्याधिविनाशनोद्यता भोगार्थनिदानेन ॥१२१७॥

पुरिसत्तादिणिदाणं पि मोक्खकामा मुणी ण इच्छंति ।

जं पुरिसत्ताइमओ भवो भवमओ य संसारो ॥१२१८॥

'पुरिसत्तादिणिदाणं' पुष्यत्वादिनिदानमपि मोक्षाभिलाषिणो मुनयो न वाञ्छन्ति । यस्मात्पुष्यत्वा-दिरूपो भवपर्याय । भवात्मकश्च संसारः भवपर्यायपरिवर्तस्वरूपत्वात् ॥१२१८॥

दुक्खक्खयकम्मक्खयसमाधिभरणं च बोधिलाभो य ।

एयं पत्थेयव्वं ण पत्थणीयं तओ अण्णं ॥१२१९॥

गा०—जो मुक्तिके उत्कृष्ट सुखका अनादर करके अल्पसुखके लिए निदान करता है वह करोड़ों रुपयोंके मूल्यवाली मणिको एक कौडीके बदले बेचता है ॥१२१५॥

गा०—जो निदान करता है वह लोहेकी कोलके लिए अनेक वस्तुओंसे भरी नाव को—जो समुद्रमे जा रही है तोड़ता है, भस्मके लिए, गोशीर्यचन्दनको जलाता है और धागा प्राप्त करनेके लिए मणिनिमित्त हारको तोड़ता है । इस तरह जो निदान करता है वह थोड़ेसे लाभके लिए बहुत हानि करता है । एक सूपकारने अपनी मूर्खतासे अपनी नाव नष्ट कर डाली थी । इनकी कथाएँ ( कथाकोशसे ) जानना ॥१२१६॥

गा०—जैसे कोई कोढ़ी मनुष्य अपने रोगके लिए रसायनके समान ईखको पाकर उसे जलाकर नष्ट करता है वैसे ही भोगके लिए निदान करके मूर्ख मुनि सर्व दुःख और व्याधियोंका विनाश करनेमे तत्पर मुनि पदको नष्ट करता है ॥१२१७॥

गा०—मोक्षके अभिलाषी मुनिगण 'मै मरकर पुष्य होऊँ' या 'मेरे वज्रशृषभनाराच संहनन आदि हो, इस प्रकारका भी निदान नहीं करते । क्योंकि पुष्य आदि पर्याय भवरूप है और भवपर्यायका परिवर्तन स्वरूप होनेसे संसार भवमय है । अर्थात् नाना भवधारण करने रूप ही तो संसार है ॥१२१८॥

‘दुःखकालव्य’ दुःखानां शारीराणा, आगन्तुकानां स्वाभाविकानां च क्षयो भवतु । तथा कर्मणां तत्कारणभूतानां रत्नत्रयसम्पादनपुरःसरं मरणं, दीक्षाभिमुखो बोधिलाभश्च एतत्प्रार्थनीयं नाम्यत् ॥१२१९॥

**पुरिसत्तादीणि पुणो संजमलामो य होइ परलोण ।**

**आराधयस्स णियमा तदत्थमकदे णिदाणे वि ॥१२२०॥**

‘पुरिसत्तादीणि’ पुरुषत्वादिकं, संयमलाभश्च भविष्यति परजन्मनि । कस्य ? कृतरत्नत्रयाराधनस्य निश्चयेन । तदर्थमकृतेऽपि निदाने ॥१२२०॥

**माणस्स भंजणत्थं चित्तेदब्बो सरीरणिव्वेदो ।**

**दोसा माणस्स तद्दा तद्देव संसारणिव्वेदो ॥१२२१॥**

‘माणस्स भंजणत्थं’ मानभङ्गनाथं ध्यातव्यं शरीरनिर्वेदं । तथा दोषाश्च मानस्य । तथैव संसार-निर्वेदश्च ध्यातव्य इति क्षपकं निर्यापकसूरिः शिक्षयति । शरीरस्य अशुचित्वादिस्वभावचिन्तनतः । किमेतेन शरीरेणेति शरीरे अनादरं शरीरनिर्वेदं । स कथं मानस्य भङ्गने निमित्तं । स हि शरीरानुरागमेव विहृन्ति तत्प्रतिपक्षत्वात् । अत्रोच्यते—मानशब्द सामान्यवचनोऽपि रूपाभिमानविषयो गृहीतः । स च शरीरनिर्वेदेन भज्यते । मानस्य दोषा नीचकुलेषूत्तिर्मान्यगुणालाभः, सर्वविद्वेष्यता, रत्नत्रयाश्चलाभ इत्यादिका । संसारस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभ्रवपरिवर्तनरूपस्य पराङ्मुखता संसारनिर्वेदः । तत्रोपयुक्तस्य अहङ्कारनिमित्तानां विनाशात्,

गा०—हमारे शारीरिक, आगन्तुक और स्वाभाविक दुःखोंका नाश हो । तथा उनके कारणभूत कर्मोंका क्षय हो । रत्नत्रयका पालन करते हुए मरण हो और जिनदीक्षाकी ओर अभिमुख करनेवाले ज्ञानका लाभ हो, इतनी ही प्रार्थना करने योग्य है । इनके सिवाय अन्य प्रार्थना करना योग्य नहीं है ॥१२१९॥

गा०—जो रत्नत्रयकी आराधना करता है उसे निदान न करने पर भी आगामी जन्ममें पुरुषत्व आदि का तथा संयमका लाभ निश्चय ही होता है ॥१२२०॥

गा०—टी०—निर्यापकाचार्य क्षपकको शिक्षा देता है कि तुम्हें मानकषायका विनाश करने-के लिए शरीरसे निर्वेदका, मानके दोषों का और संसारसे निर्वेदका चिन्तन करना चाहिये । शरीरके अशुचित्व आदि स्वभावका चिन्तन करनेसे ‘इस शरीरसे क्या लाभ’ इस प्रकार शरीरसे अनादर होता है उसे ही शरीर निर्वेद कहते हैं ।

शङ्का—शरीरका चिन्तन मानकषायको दूर करनेमें निमित्त कैसे हो सकता है उससे तो शरीरमें अनुराग का ही घात होता है क्योंकि शरीर निर्वेद उसका प्रतिपक्षी है ?

समाधान—यद्यपि मान शब्द मानसामान्यका वाचक है तथापि यहाँ रूपविषयक अभिमान लिया है । वह शरीरके निर्वेदसे नष्ट होता है । नीच कुलोंमें जन्म, आदरणीय गुणोंका प्राप्त न होना, सबका अपनेसे द्वेष करना, रत्नत्रय आदिका लाभ न होना, ये सब मानकषायसे होनेवाले दोष हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भ्रवपरिवर्तन रूप संसारसे विमुख होना संसार-निर्वेद है । संसारनिर्वेदमें उपयोग लगानेसे अहंकारके निमित्तोंका विनाश होता है । क्योंकि

निष्कानां च गुणानां बहूनां असङ्कल्पवृत्तिः अनेकप्राणिलभ्यत्वात् । स्वप्राप्तेभ्यो गुणेभ्योऽतिक्रियितानां गुणा-  
नामभ्यैश्वर्यलभनात् ॥१२२१॥

कुलामिमाननिरासोपायमाकष्टे—

णीचो वि होइ उच्चो उच्चो णीचत्तणं पुण उवेइ ।

जीवाणं खु कुलाइं पधियस्स व विस्समंताणं ॥१२२२॥

'जीचो वि होवि' स्थानमावैश्वर्यादिभिस्तिरोभूतो नीच इत्युच्यते । सोपि 'होवि' भवति । 'उच्चो' तैरेवोन्नतः । स उच्चो अतिशयितस्थानमानादिकोऽपि 'नीचत्तणं' तैर्न्यूनता । 'पुण उवेवि' पुन. उपैति । 'जीवानां खु' जीवानां खलु । 'कुलाइं' कुलानि । कीदृग्भूताना ? 'विस्समत्ताणं' विश्रमता बहूनि कुलानि कुलबहुत्वप्रकटनेन कुलानित्यता दाशिता । अनियतकुलस्य क कुलगर्वः । 'पधियस्स' पधिकस्य यथा विश्रामस्थान न नियतमस्ति तद्वदेवास्येति भाव ॥१२२२॥

किं च गर्वो ह्यात्मनो वृद्धि परस्य वा हानि बुद्धया सद्येपते तस्य युक्तोज्झकारः न चास्य वृद्धिहानी स्त इति कथयति—

उच्चासु व णीचासु व जोणीसु ण तस्स अत्थि जीवस्स ।

वड्ढी वा हाणी वा सच्चत्थ वि तिसिओ चेव ॥१२२३॥

'उच्चासु व णीचासु व' यत्र स्थित आत्मा शरीरं निष्पादयति तद्योनिशब्देनोच्यते । न तस्य उच्चता नीचता वा तत. किमुच्यते उच्चासु व णीचासु व इति । अत्रोच्यते—योनिसाब्देन कुलमेवात्रोच्यते । तेनाय-  
मर्थः । मान्ये कुले गर्हिते वा उत्पन्नस्य न तस्य जीवस्य वृद्धिर्हीनिर्वा सर्वत्र तत्परिमाण एव ज्ञानादि-

अनेक निन्दनीय गुण, जो अहंकारमे निमित्त होते है, अनेक प्राणियोमे पाये जाते हैं । तथा अपने-  
को जो गुण प्राप्त हैं उनसे भी अतिशयशाली गुण दूसरोको प्राप्त है । अत उनका अभिमान  
कैसा ? ॥१२२१॥

कुलका अभिमान दूर करनेका उपाय कहते हैं—

गा०टी०—स्थान, मान, ऐश्वर्य आदिसे हीन व्यक्तिको नीच कहते हैं । जो स्थान, मान,  
ऐश्वर्य आदिसे हीन होता है वही नीच हो जाता है । जीवोंके कुल पधिकके विश्राम स्थानकी  
तरह हैं । जैसे पधिकके विश्राम लेनेका स्थान नियत नहीं है वैसे ही कुल भी नियत नहीं है । तब  
अनियत कुलका गर्व कैसा ? 'कुलानि' पद बहुवचनान्त होनेसे कुलोंकी बहुतायत प्रकट करता है ।  
और कुलोंकी बहुतायतसे कुलोंकी अनित्यता दिखलाई है ॥१२२२॥

आगे कहते हैं कि अपनी वृद्धि और दूसरेकी हानिकी भावनासे गर्व होता है उसका अहं-  
कार करना युक्त है किन्तु उच्च या नीच कुलमें जन्म लेनेसे आत्माकी हानि वृद्धि नहीं होती—

गा०—टी०—शांका—जिसमें रहकर जीव अपने शरीरको रक्ता है उसे योनि कहते हैं ।  
योनि तो उच्च या नीच होती नहीं । तब 'उच्चासु व णीचासु' क्यों कहा ?

समाधान—यहां योनि शब्दसे कुलको ही कहा है । अत. ऐसा अर्थ होता है—मान्य कुलमे  
अथवा निन्दनीय कुलमें उत्पन्न हुए जीवकी वृद्धि या हानि नहीं होती । सर्वत्र जीवका परिमाण

गुणातिशयादेव उत्कृष्टता । निन्दितगुणः कुलीनोऽपि न पूज्यतेतरामभ्यैः । अमान्येऽपि कुले सम्भूतो यदि गुणी स्यात् । उक्तं च—

संसारवशे भ्रमसो हि अंतोर्न चात्र किञ्चित्कुलमस्ति मित्यं ।

त एव नीचोत्तममध्यजातीः स्वकर्मवशः समुपैति तास्ता ॥

नृपशच दासः इवपशच विप्रो दरिद्रवंशश्च समृद्धवंशः ।

चोरामिनदावाहितव्याचिता (?) च संजग्यते कर्मवशात् एव ॥

को बाधिकार सुकुलेषु नृणां का वा विहितान्यकुलमघ्नता ।

कार्योऽधिकारो ननु वनं एव कार्यं विहितमपि च कुकुतेषु ॥ [ ] ॥१२२३॥

कालमणंतं णीचागोदो होदूण लहइ सगिमुच्चं ।

जोणीमिदरसलागं ताओ वि गदा अणंताओ ॥१२२४॥

‘कालमणंतं णीचागोदो होदूण’ अनन्तकाल नीचगोत्रो भूत्वा । ‘लभवि सगिमुच्चं जोणियं’ लभते सकृदुच्चगोत्रं । कीदृशी ‘इदरसलागं’ इतरशलाका । इतरा नीचैर्योनय शलाका यस्या उच्चैर्योनेस्ता इतर-शलाका । ‘ताओ वि’ ता अपि ‘अन्तराले लब्धा अपि उच्चैर्योनय’ । ‘गदा अणंताओ’ अनन्ता प्राप्ता एकेन जीवने ॥१२२४॥

उतना ही रहता है । जानादि गुणोंमें अतिशय होनेसे ही उत्कृष्टता होती है । कुलीन भी यदि निन्दित गुण वाला होता है तो दूसरे उसका आदर सम्मान नहीं करते । और अनादरणीय कुलमें उत्पन्न होकर भी यदि गुणी होता है तो दूसरे उसका सम्मान करते हैं । कहा है—संसारमें भ्रमण करते हुए प्राणीका कोई कुल स्थायी नहीं है । वही जीव अपने कर्मके अधीन होकर नीच, उत्तम अथवा मध्यम कुलोमें जन्म लेता है । वही जीव अपने कर्मके वश होकर राजा और दास, चाण्डाल या ब्राह्मण, दरिद्र वंश वाला या सम्पन्न वंश वाला होता है तथा चोर, आग और दावानलसे पीडित तथा माँगने वाला होता है । उच्च कुलोंमें मनुष्योंको जन्म लेनेका गर्व कैसा ? और नीच कुलोमें जन्म लेने पर घृणा कैसी ? गर्व करना हो तो धर्मसे ही करना चाहिए और घृणा भी पापसे करनी चाहिए ॥१२२३॥

गा०—टी०—यह जीव अनन्तकाल तक नीच गोत्रमें जन्म लेकर एक बार उच्च गोत्रमें जन्म लेता है । इस प्रकार उच्च गोत्रकी शलाका नीच गोत्र है । शलाकासे मतलब है अनन्तकाल नीच गोत्रमें जन्म लेकर एक बार उच्च गोत्रमें जन्म । नीच गोत्रोंके अन्तरालमें प्राप्त उच्च गोत्र भी एक जीवने अनन्त बार प्राप्त किये हैं ॥१२२४॥

विशेषार्थ—यद्यपि यह जीव संसारमें भ्रमण करते हुए अनन्तबार नीच गोत्रमें जन्म लेता है तब कहीं एक बार उच्च गोत्रमें जन्म लेता है । तथापि अनन्त बार नीच गोत्रमें जन्म लेनेके पश्चात् एक बार उच्च गोत्रमें जन्म लेनेकी परम्पराको भी इसने अनन्त बार प्राप्त किया है अर्थात् इस क्रमसे इसने उच्च गोत्रमें भी अनन्त बार जन्म लिया है ॥१२२४॥

१. अन्तराले अन्तराले लब्धा अपि—ज० मूलारा० ।

बहुसो वि लद्धविजडे को उच्चत्तम्मि विग्भओ गाम ।

बहुसो वि लद्धविजडे णीचत्ते चाबि किं दुखं ॥१२२५॥

'एवं बहुसो वि' बहुशोऽपि, 'लद्धविजडे' लब्धपरित्यक्ते च । 'उच्चत्तम्मि' मान्यकुलप्रसूतत्वे । 'को गाम विग्भओ' को नाम विस्मय । कदाचिदलब्धपूर्वमिदानीमेव लब्धमिति भवेद्गर्व । 'बहुसो वि' बहुशोऽपि । 'लद्धविजडे' लब्धपरित्यक्ते । 'णीचत्ते चाबि' नीचगोत्रप्रसूतत्वे अपि । 'किं दुखं' किमिदं दुःखं ॥१२२५॥

उच्चत्तणम्मि पीदी संकप्पवसेण होइ जीवस्स ।

णीचत्तणे ण दुखं तह होइ कसायबहुलस्स ॥१२२६॥

'उच्चत्तणम्मि' मान्यकुलत्वे । 'पीदी' प्रीति । 'संकप्पवसेण' संकल्पवशेन 'होइ जीवस्स' भवति जीवस्य प्रशस्ते कुले जातोऽहमिति मनोनिधानात् प्रीतो भवत्यस्यर्थं जन. नेत्यभूत संकल्पमन्तरेण सामान्यकुलत्वे सत्यपि प्रीतिर्भवति । नीचकुलत्वमेव च न दुःखस्य निमित्तं । अपि च 'णीचत्तणे य' नीचगोत्रत्वे च दुःखं 'तथा होइ' तथा भवति । प्रीतिरिव परनिमित्तक भवति । कस्य ? 'कसायबहुलस्स' कसायशब्द सामान्य-वचनोऽपि मानकषाये वर्तते । तेनायमर्थं प्रचुरमानकषायो जनयति दुःखमस्य न नीचगोत्रत्वमेव ॥१२२६॥

प्रीतिपरितापी संकल्पायत्तावित्येतत्पष्टयत्युत्तरगाथया—

उच्चत्तणं व जो णीचत्तं पिच्छेज्ज भावदो तस्स ।

उच्चत्तणे व णीचत्तणे वि पीदी ण किं होज्ज ॥१२२७॥

'उच्चत्तणं व' उच्चगोत्रत्वमिव 'जो णीचत्तं पिच्छेज्ज' यो नीचगोत्रं प्रेक्षते इदं चण्डालत्व वरमिति । भावशब्दोऽनेकार्थवाच्यमपि इह चित्तवाची । यत् येन लब्धं तत्तस्य शोभनं । अलभ्येन शोभनेनापि किं तेनेति मनसि करोति यदा तदा तत्रैव प्रीतिरस्य जायते इति वदति 'उच्चत्तणं वि' मान्यकुलत्व इव 'णीचत्तणेऽपि' नीचगोत्रत्वेऽपि । 'पीदी किं ण होज्ज' प्रीतिः किं न भवेत् भवत्येवेति यावत् ॥१२२७॥

गा०—इस प्रकार अनन्त बार प्राप्त करके छोड़े हुए उच्च कुलमे जन्म लेनेका गर्व कैसा ? गर्व तो तब होता जब अभी तक न पानेके बाद प्रथम बार ही इसे प्राप्त किया होता । तथा अनन्त बार प्राप्त करके छोड़े हुए नीच गोत्रमे जन्म लेनेका दुःख कैसा ॥१२२५॥

गा०—टी०—'मे उच्च कुलमे जन्मा हूँ' ऐसा मनमे संकल्प होनेसे जीवका उच्चकुलमें अत्यन्त अनुराग होता है । इस प्रकारके संकल्पके बिना सामान्य कुलमे जन्म होने पर भी अनुराग नहीं होता । तथा नीच कुलमें जन्म लेना ही दुःखका कारण नहीं है । दुःखका कारण है मान-कषायकी बहुतायत । गाथामे कषाय शब्द सामान्यवाची है तथापि यहाँ उसका अर्थ मानकषाय लेना चाहिए । मानकषायकी बहुतायत जीवको दुःख देती है, केवल नीच गोत्रमे जन्म ही दुःखका कारण नहीं होता ॥१२२६॥

अनुराग और दुःख संकल्पके अधीन हैं, यह कहते हैं—

गा०—टी०—गाथामें आये भाव शब्दके यद्यपि अनेक अर्थ हैं तथापि यहाँ उसका अर्थ चित्त लिया है । जो मनसे उच्च गोत्रके समान नीच गोत्रको देखता है अर्थात् यह चाण्डाल कुलमे जन्म श्रेष्ठ है ऐसा मानता है । मनमे विचारता है कि जो जिसको प्राप्त है वही उसके लिए उत्तम है । जो प्राप्त नहीं है वह श्रेष्ठ भी हो तो उससे क्या ? ऐसा विचार करते ही उच्च कुलके समान नीच



णीचसणं व जो उच्चसं पेच्छेज्ज भावदो वस्स ।

णीचसणेव उच्चसणे वि दुक्खं ण किं होज्ज ॥१२२८॥

एतद्विपरीतार्थोत्तरगाथा । स्पष्टतया<sup>१</sup> वस्तुस्थिति नापेक्षते । सकल्पामयता प्रीतिरप्रीतिर्वैत्यनुभव-  
सिद्धमेतदखिलस्य जगत इति वदति । यस्मादुच्चैर्गोत्रत्वेऽपि न सुखदुःखयोर्भावाभावा च भवत-  
संकल्पात् ॥१२२८॥

तम्हा ण उच्चणीचत्तणाइं पीदिं करेति दुःक्खं वा ।

संकल्पो से पीदीं करेदि दुक्खं च जीवस्स ॥१२२९॥

‘तम्हा’ तस्मात् । ‘उच्चणीचत्तणाणि’ मान्यामान्यकुलत्वानि । ‘न करेति पीदिं दुक्खं वा’ न कुस्तः  
प्रीतिं दुःख वा । ‘संकल्पो पीदिं करेदि’ सकल्पो ‘से’ अस्य जीवस्य तस्मात् प्रीतिं करोति दुक्खं वा । सति संकल्पे  
भावादसति अभावाच्च ॥१२२९॥

मानकषायमाध्योऽयं दोष इति कथयति—

कुणदि य माणो णीयागोदं पुरिसं भवेसु बहुएसु ।

पत्ता हु णीचजोणी बहुसो माणेण लच्छिमदी ॥१२३०॥

‘कुणदि य’ करोति । ‘माणो’ अहंकार । ‘णीयान्गोदं पुरिसं’ नीचैर्गोत्रमस्येति नीचैर्गोत्र ‘पुरिसं’  
आत्मान । ‘भवेसु’ जन्मसु । ‘बहुएसु’ बहुषु । ‘पत्ता’ प्राप्ता । ‘णीचजोणी हु’ नीचैर्गोत्रमेव । का ? ‘लच्छि-  
मदी’ लक्ष्मीमती । केन निमित्तेन ? ‘माणेण’ सुरूपा यौवनानुकूला कुलीना चेति गर्वेण ॥१२३०॥

कुलमें भी अनुराग क्यो नही होगा ? अवश्य ही होगा ॥१२२७॥

आगेकी गाथामे इससे विपरीत कथन करते हैं—

गा०—जो जीव भावसे उच्चपनेको नीचपनेकी तरह देखता है उसको नीचपनेकी तरह  
उच्चपनामे क्या दुःख नहीं होता ? होता ही है । किसीसे प्रीति या अप्रीति तो संकल्पके अधीन है  
यह बात समस्त जगत्के अनुभवसे सिद्ध है । क्योंकि संकल्पसे उच्च गोत्र होते हुए भी सुखका  
भाव और दुःखका अभाव नहीं होता ॥१२२८॥

गा०—अतः उच्च कुल या नीच कुल सुख या दुःख नहीं देता । किन्तु जीवका संकल्प  
सुख या दुःख करता है । संकल्पके होने पर सुख दुःख होता है और संकल्पके अभावमे नहीं  
होता ॥१२२९॥

आगे कहते हैं कि मानकषायके कारण यह दोष होता है—

गा०—मानकषाय अर्थात् अहंकार पुरुषको अनेक जन्मोंमें नीच गोत्री बनाता है । देखो,  
लक्ष्मीमती, मैं सुन्दर हूँ, कुलीन हूँ यौवनवती हूँ इस गर्वके कारण अनेक बार नीच गोत्रमें उत्पन्न  
हुई ॥१२३०॥

विशेषार्थ—बृहत्कथा कोशमें १०८ नम्बरमें इसकी कथा दी है ॥१२३०॥

पूयावमाणरूपविरुद्धं सुभगत्तदुभगत्तं च ।

आणायाणा य तथा विधिणा तेषेव पडिसेज्ज ॥१२३१॥

‘पूयावमाणरूपविरुद्धं’ पूजा, अवमानं परिभवः । रूपशब्दः सामान्यवचनोऽपि शोभनाशोभनरूपविषयतया इह विरूपशब्दसन्निधाने प्रयुज्यमानोऽतिशयिते रूपे प्रवर्तते । तेन सौरूप्य चेत्यर्थः । ‘सुभगत्तदुभगत्तं च’ सौभाग्यं दुर्भाग्यं च सर्वेषां प्रियत्व द्वेष्यत्वं चेति यावत् । ‘आणायाणा य तथा’ आज्ञा आदेशाप्रतिघातः अनाज्ञा च तथा । ‘विधिणा’ माननिषेधप्रकारेणैव । ‘पडिसेज्ज’ प्रतिषेध्या । अभिधेयवशात्स्वल्पवचनप्रवृत्तिरिति लिप्यन्तरेण पूजाविषयबोधोपनीतेन प्रतिषेध्यशब्दस्याभिसम्बन्धः । परिभवं प्राप्तोऽपि बहुधा कदाचित्पूज्यते । एवमपि प्राप्ता ह्यनन्तेषु पूजास्तत्र कोऽनुरोयोऽप्य । दुःखं वा परिभवप्राप्तौ । ‘पूज्यमानोऽपि बहुषु पुनः परिभवानवाप्स्यति । न चात्मनः पूजायां काचिद् वृद्धिः परिभवे वा हानिः । सकल्पवशादेवात्मनो जायते प्रीतिपरितापी न केवलं पूजापरिभवाभ्यामेवेति । उक्तं च—

यः स्तुयते शुचिगुणैर्बन्धुरैर्बन्धोभिः स निश्चते च परवैदचने<sup>१</sup> विधिने ।

हा चित्रतां कथमयं भवसंकटस्थः प्राप्नोत्यनेकविधिकर्मफलोपभोगं ॥

भूत्वा मनुष्यपतयः पुनरेव वासा होना भवन्ति शुचयोऽशुचयश्च भूयः ।

कान्त्या<sup>२</sup> च ये युवतिभिर्विषयानुभूया द्वेष्या भवन्त्यनुभगत्त्वमुपेत्य भूयः ॥

वृष्टः क्वचित्प्रवररत्नविभूषणो यः संबुध्यते विकल्पुष्यतया दरिद्रः ।

भूयश्च मित्रबन्धुबंधुजनोषगूढः संलक्ष्यते व्यसनभारभूवेक<sup>३</sup> एव ॥ [ ] ॥१२३१॥

गा०—टी०—मानकषायका जैसे निषेध किया है वैसे ही पूजा, अपमान, सौरूप्य, वैरूप्य, सौभाग्य, दुर्भाग्य, आज्ञा अनाज्ञाका भी निषेध जानना । गाथामें आगत रूपशब्द यद्यपि सामान्य-वाची होनेसे सुन्दर और असुन्दर दोनों ही प्रकारके रूपका वाचक है तथापि विरूप शब्दके साथमें प्रयुक्त होनेसे अतिशयरूपको कहता है । अतः उसका अर्थ सौरूप्य और वैरूप्य लिया गया है । सौभाग्यका अर्थ है सबको प्रिय होना और दुर्भाग्यका अर्थ है सबके द्वारा तिरस्कृत होना । जिसने अनेक जन्मोंमें तिरस्कार पाया है वह भी कभी पूजा जाता है । इसी प्रकार अनन्त जन्मोंमें पूजा प्राप्त करनेवाला भी तिरस्कृत होता है । अतः उनमें अनुराग कैसा और तिरस्कार पानेपर दुःख कैसा ? जो बहुत जन्मोमें पूजा जाता है वह पुनः तिरस्कारको प्राप्त करेगा । पूजा होनेपर आत्मामें वृद्धि नहीं होती और तिरस्कार होनेपर आत्मामे कोई हानि नहीं होती । सकल्पके कारण ही प्रीति और सन्ताप होते हैं केवल पूजा और तिरस्कारसे नहीं होते । कहा भी है—

जो मधुर वचनोंके द्वारा अपने निर्मल गुणोंके लिये संस्तुत होता है वही नाना प्रकारके कठोर वचनोंसे निन्दाका पात्र होता है । कैसा आश्चर्य है कि ससाररूपी संकटमे पड़ा हुआ यह प्राणी अनेक प्रकारके कर्मोंके फलको भोगता है । मनुष्योंका स्वामी होकर उनका नीच दास हो जाता है । पवित्र होकर पुनः अपवित्र हो जाता है । जो युवतियोंके प्रिय होते हैं वे ही दुर्भाग्य आनेपर द्वेषके पात्र बनते हैं । जो मनुष्य कभी उत्कृष्ट रत्नभूषणोंसे भूषित देखा गया है वही मनुष्य पुण्यहीन होनेपर दरिद्र देखा जाता है । जो बहुतसे मित्रों और बन्धु-जानघवोंसे घिरा हुआ

१. पूजातोऽपि—अ० । २. नैर्बधित्वा—अ० ज० । ३. कान्ता च येषु युवतिः—अ० विषयानुरूप्या द्वेष्या भवत्यनुभवन्धुमुपेत्य भूयः—आ० ज० । ४. कर्तव्ये च—अ० ।

‘इच्छेवमादि अविधिस्तयो भाष्यो ह्येज्ज पुरिसस्सं ।

एदे सम्मं अत्थे पसदो षो होइ भाष्यो हु ॥१२३२॥

जइदा उच्चत्तादिणिदाणं संसारवहुणं होदि ।

कह दीहं ण करिस्सदि संसारं परवघणिदाणं ॥१२३३॥

‘जइदा’ यदि तावत् । ‘उच्चत्तादिणिदाणं’ उच्चैर्गोत्रता, पुरुषत्व, स्थिरशरीरता, अदरिद्रकुलप्रसूति-  
बन्धुतेत्येवमादिकं मुक्ते परम्परया कारणमपि चित्ते क्रियमाणमपि । ‘संसारवहुणं होदि’ संसारवृद्धिं करोति ।  
‘किञ्च ण करिस्सदि’ कथं न करिष्यति । ‘दीहंसंसारं’ दीर्घसंसारं । ‘परवघणिदाणं’ परवधे चित्तप्रणि-  
धान ॥१२३३॥

आचार्यगणधरत्वादिप्रार्थना कथमशोभना रत्नत्रयातिशयलाभप्राप्तिता हि सेत्याशङ्क्यामुच्यते—

आयरियत्तादिणिदाणे विं कदे णत्थि तस्स तम्मि भवे ।

धणिदं पि संजमंतस्स सिज्झणं माणदोसेण ॥१२३४॥

‘आयरियत्तादिणिदाणे विं कदे’ आचार्यत्वादिनिदानेऽपि कृते । ‘णत्थि तस्स’ नास्ति तस्य । ‘तम्मि  
भवे’ तस्मिन्भवे निदानकरणभवे । ‘धणिदं पि संजमंतस्स’ नितरामपि संयमं कुर्वत । किं नास्ति ‘सिज्झणं’  
सेधनं मुक्तिः । केन ? ‘माणदोसेण’ मानकषायदोषेण । स ह्याचार्यत्वादिप्रार्थना करोति । पृष्टो भविष्यामीति  
सकल्पेन, ततोऽप्यहंयुता ॥१२३४॥

भोगदोषचिन्ताया सत्यां निदानं तथा न भवति इति कथयति—

होता है, विपत्तिमें पडनेपर वही एकाकी देखा जाता है ॥१२३१॥

गा०—इत्यादि बातोंका विचार न करनेवाले पुरुषको मान होता है । और जो इन  
बातोंको सम्यक् रूपसे देखता है उसको मान नहीं होता ॥१२३२॥

गा०—उच्चगोत्र, पुरुषत्व, शरीरकी स्थिरता, अदरिद्रकुलमें जन्म, बन्धु-बान्धव आदि  
परम्परासे मुक्तिके कारण हैं ऐसा चित्तमें विचारकर इनका निदान करना कि ये मुझे प्राप्त हों,  
यदि संसारको बढानेवाला है तो दूसरेके बधका चित्तमें निदान करना दीर्घ संसारका कारण  
क्यों नहीं है ? अवश्य है ॥१२३३॥

यहाँ कोई शका करता है कि रत्नत्रयमें अतिशय लाभकी भावनासे मैं आचार्य गणधर  
आदि बनें ऐसी प्रार्थना क्यों बुरी है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—आचार्य पद आदिका निदान करनेपर भी जिस भवमें निदान किया है उस भवमें  
अत्यन्त संयमका पालन करनेपर भी मानकषायके दोषके कारण उसकी मुक्ति नहीं होती, क्योंकि  
वह ‘मैं पूज्य होऊँ’ इस संकल्पसे आचार्य आदि होनेकी प्रार्थना करता है । इससे उसका अहंकार  
प्रकट होता है ॥१२३४॥

आगे कहते हैं कि भोगोंके दोषोंका चिन्तन करनेसे भोगोंका निदान नहीं होता—

भोगा चित्तेद्व्या किपाकफलोवमा कडुविवागा ।

मधुरा व भुंजमाणा पच्छा बहुदुःखमयपउरा ॥१२३५॥

'भोगा चित्तेद्व्या' भोगाश्चित्त्या । 'किपाकफलोवमा' किम्पाकफलसदृशा । 'कडुविवागा' कटु अनिष्टं विपाक' 'फलं एषामिति कटुविपाका । 'मधुरा व' मधुरा इव । 'भुंजमाणा' भुज्यमानाः । 'पच्छा' मध्ये । 'बहुदुःखमयपउरा' विवित्रदुःखभयाः ॥१२३५॥

भोगनिदानदोष कथयति—

भोगनिदानेण य सामण्णं भोगत्थमेव होइ कदं ।

'साहालंगा जह अत्थिदो वणे को वि भोगत्थं ॥१२३६॥

'भोगनिदानेण य' भोगनिदानेन वा । 'सामण्णं' श्रामण्य । 'भोगत्थमेव होइ कदं' भोगार्थमेव कृतं न कर्मक्षयार्थं भवति । भोगनिदाने सति रागव्याकुलितचित्तस्य प्रत्यग्रकर्मप्रवाहस्वीकृती उद्यतस्य का संयत्ता ॥१२३६॥

आवडणत्थं जह ओसरणं मेसस्स होइ मेसादो ।

सणिदाणबंभचेरं अब्बंभत्थं तहा होइ ॥१२३७॥

'आवडणत्थं' अभिघातार्थं । 'जह' यथा । 'ओसरणं' उपगमः । 'मेसस्स होइ' मेषस्य भवति । 'मेसादो' मेषात् । 'सणिदाणबंभचेरं' सनिदानस्य यत्तेर्ब्रह्मचर्यं । 'अब्बंभत्थं' मैथुनार्थं । 'तहा होइ' तथा भवति ॥१२३७॥

जह वाणिया य पणियं लामत्थं विकिणंति लोभेण ।

भोगाण पणिदभूदो सणिदाणो होइ तह घम्मो ॥१२३८॥

गा०—ये भोग किपाकफलके समान हैं । जैसे किपाकफल खाते समय मीठा लगता है किन्तु उसका परिणाम अतिकटुक होता है । उसको खानेवाला मर जाता है । उसी प्रकार इन्द्रियोके भोग भोगनेमें मधुर लगते हैं किन्तु उनका फल अतिकटु होता है पीछेसे जीवको बहुत दुःख और भय भोगना पडता है ॥१२३५॥

भोगनिदानके दोष कहते हैं—

गा०—टी०—मुनिपद धारण करके भोगका निदान करनेसे तो मुनिपद भोगोके लिए ही धारण किया कहलायेगा । कर्मक्षयके लिये नहीं कहलायेगा । क्योंकि भोगका निदान करनेपर चित्त रागसे व्याकुल रहता है और ऐसा होनेसे नवीन कर्मोंका बन्ध होता है तब उसके मुनिपद कैसा ? जैसे कोई वनमें वृक्षकी शाखामे लगे फलोंको खानेमें लग जाये तो उसके अपने इच्छित स्थानपर पहुँचनेमें विघ्न आ जाता है वैसे ही भोगका निदान करनेवाले श्रमणकी भी दशा होती है ॥१२३६॥

गा०—जैसे एक मेढा दूसरे मेढेपर अभिघात करनेके लिये पीछे हटता है वैसे ही भोगोंका निदान करनेवाले यत्तिका ब्रह्मचर्य भी अब्रह्म अर्थात् मैथुनके लिए ही होता है ॥१२३७॥

१. साहोर्लंबो—म०, मूलारा० । साहासंगा—आ० ।

'जह्वा चण्डिका' यथा चण्डिकाः । 'चण्डिका' पथ्यं । 'आत्मन्' लाभाय । 'विश्वकर्मा' विश्वकर्मा । 'लोभेण' लोभेन । 'भोगार्थं' भोगार्थम् । 'पण्डितो भूयो' पण्डितः । 'सनिदानो' सनिदानः । 'तद्वा धर्मो होषि' तथा धर्मो भवति ॥१२३८॥

भोगनिदानवतः<sup>१</sup> आमण्यं प्रणिशति—

सपरिग्रहस्त अन्नंभचारिणो अविरदस्त से मणसा ।

काएण सीलवहणं होदि हु णडसमणस्स व ॥१२३९॥

'सपरिग्रहस्त' सपरिग्रहस्य भोगनिदानवतो वेदजनितो रागोऽभ्यन्तरः परिग्रह इति सपरिग्रहः । तस्य । 'अन्नंभचारिणो' मनसा मैथुनकर्मणि प्रवृत्तस्य । 'अविरदस्त' अव्यावृत्तस्य मैथुनात् । 'मणसा' चित्तेन । 'से' तस्य कायेन खु शरीरेणैव । 'सीलवहणं' ब्रह्मचर्यवहनं । 'होषि' भवति । 'णडसमणस्स व' नटानां श्रमण-रूपमिव । कायेन भावश्रामण्यरहितं यथा अफलमेवमिदमपि इति भावः ॥१२३९॥

रोगं इच्छेज्ज जहा पडियारसुहस्स कारणे कोइ ।

तह अण्णेसदि दुक्खं सणिदाणो भोगतण्हाए ॥१२४०॥

'रोगं इच्छेज्ज' व्याधिमभिलषति । 'जहा कोइ' यथा कश्चित् । किमर्थं ? 'पडियारसुहस्स कारणे' औषधसेवासुखाधिगमनाय । 'तह' तथा 'अविरदस्त' अव्यावृत्तस्य । 'अण्णेसदि' अन्वेषते । 'दुक्खं' दुःखं । क ? 'सणिदाणो' सनिदान । 'भोगतण्हाए' भोगतृष्णया ॥१२४०॥

खंधेण आसणत्थं वहेज्ज गरुगं सिलं जहा कोइ ।

तह भोगत्थं होदि हु संजमवहणं णिदाणेण ॥१२४१॥

'खंधेण' स्कन्धेन । 'जहा कोइ' यथा कश्चित् । 'गरुगं सिलं' गुर्वी शिला । 'वहेज्ज' वहति । किमर्थं ?

गा०—जैसे व्यापारी लोभवश लाभके लिये अपना माल बेचता है । वैसे ही निदान करनेवाला मुनि भोगोंके लिए धर्मको बेचता है ॥१२३८॥

भोगोंका निदान करनेवालेके मुनिपदकी निन्दा करते है—

गा०—टी०—भोगोंका निदान करनेवालोंके अभ्यन्तरमे वेदजनित राग रहता है अतः वह परिग्रही है । तथा वह मनसे मैथुन कर्ममें प्रवृत्त होनेसे अन्नह्यचारी है और मनसे मैथुनसे निवृत्त न होनेसे अविरत है । वह केवल शरीरसे ब्रह्मचर्यव्रत धारण करता है अतः वह नटश्रमण है । जैसे नट श्रमणका वेश धारण करता है वैसे ही उसने भी श्रमणका वेश धारण किया है । भावश्रामण्यके बिना केवल शरीरसे मुनि बनना जैसे व्यर्थ है उसी तरह उस मुनिका मुनिपद भी व्यर्थ है ॥१२३९॥

गा०—जैसे कोई औषधि सेवनके सुखकी अभिलाषासे रोगी होना चाहता है वैसे ही निदान करनेवाला भोगोंकी तृष्णासे दुःख चाहता है ॥१२४०॥

गा०—मैं इसके ऊपर सुखपूर्वक बैठूंगा, ऐसा मानकर जैसे कोई भारी शिलाको कन्धेपर उठाता है और उसके उठानेके कष्टकी परवाह नहीं करता । वैसे ही इस दुर्घर संयमको धारण

१. -वतः अमान्यं प्रणिशति—आ० ।

‘वास्तवत्वं’ आसनायै । अस्या उपरि सुखेनासे इति मत्वा स यथा गुरुशिलोद्ग्रहनखेदं नापेक्षते, स्वल्पं तस्या उपर्यासनसुखमपेक्षते स्वबुद्ध्या । ‘सह भोगत्वं च’ तथा भोगार्थमेव । ‘होदि’ भवति । ‘संखमवहणं’ दुर्वहं संयमधारणं । ‘जिहाषेच’ निदानेन सह ॥१२४१॥

बाह्यवस्तुजनितानिन्द्रियसुखात्तन्निमित्तवस्तुविनाशे यज्जायते दुःखं तदधिकतमं अतः स्वल्पसुखनिमित्तं को नाम सचेतनो दुःखभीरुः स्वाब्धौ पतेषिति दर्शयति—

**भोगोवभोगसोक्खं जं जं दुक्खं च भोगणासम्मि ।**

**एदेषु भोगणासे जातं दुक्खं पडिविसिद्धं ॥१२४२॥**

‘भोगोवभोगसोक्खं’ मृष्टाशनताम्बूलदिकैः स्त्रीवस्त्रालङ्कारादिभिश्च जनितं यत्सुखं । ‘भोगणासम्मि’ सुखसाधनस्य वस्तुनो विनाशे च । ‘जं जं दुक्खं च’ यद्यद्दुःखं जायते । ‘एदेषु’ एतयोः सुखदुःखयोः ‘भोगणासे’ सुखसाधनानां विनाशे च । ‘जातं दुक्खं पडिविसिद्धं’ अधिकतममिति यावत् ॥१२४२॥

**देहे छुहादिमहिदे चले य सत्तस्स होज्ज कह सोक्खं ।**

**दुक्खस्स य पडियारो रहस्सणं चेव सोक्खं खु ॥१२४३॥**

‘देहे’ शरीरे मनुजानां । ‘छुहादिमहिदे’ क्षुधा, पिपासया, शीतोष्णेन, व्याधिभिश्च मथिते । ‘चले’ अनित्ये च । ‘सत्तस्स’ आसक्तस्य । ‘किं च सुक्खं होज्ज’ किमत्र सुखं भवेत् । ‘दुक्खस्स य पडियारो’ दुःखस्य प्रतीकारः । ‘रहस्सणं चेव’ नृस्वकरण एव ‘सोक्खं’ सौख्यं । खु शब्दः पादपूरणे दुःखप्रतीकारोऽल्पता वा दुःखस्य सुखमित्यनेनाख्यातम् ॥१२४३॥

सुखमन्तरेणापि अस्ति दुःखं, सुखं पुनरिन्द्रियकं न जायते दुःखं विना तत् सुखार्थी दुःखमेव प्रागात्म-

करनेसे मुझे भोगोकी प्राप्ति हो इस निदानके साथ जो समय धारण करता है उसका समय धारण भोगोंके लिये है अर्थात् स्वल्पसुखके लिए बहुत दुःख उठाता है ॥१२४१॥

आगे कहते हैं कि बाह्य वस्तुसे उत्पन्न होनेवाले इन्द्रिय सुखसे उस सुखमे निमित्त वस्तुका विनाश होनेपर जो दुःख होता है वह अधिक है, अतः थोड़ेसे सुखके लिये कौन दुःखभीरु ज्ञानी दुःखके समुद्रमे गिरना पसन्द करेगा—

गा०—भोग अर्थात् मुस्वाद् भोजन पान आदि और उपभोग अर्थात् स्त्री वस्त्र अलंकार आदिसे होनेवाला सुख तथा सुखके साधनमे निमित्त वस्तुका विनाश होनेपर होनेवाला दुःख, इन दोनों सुख और दुःखमेसे भोगके साधनोंका विनाश होनेपर होनेवाला दुःख बहुत अधिक होता है ॥१२४२॥

गा०—यह शरीर भूख, प्यास, शीत, उष्ण तथा रोगसे पीडित और विनाशशील है । इसमें जो आसक्त है उसे क्या सुख होता है ? वास्तवमे दुःखका प्रतीकार अथवा दुःखको कम करना ही सुख है । अर्थात् दुःखके प्रतीकारको या दुःखकी कमीको ही सुख मान लिया गया है । वास्तवमे सुख नहीं है ॥१२४३॥

सुखके विना भी दुःख होता है किन्तु इन्द्रियजन्य सुख दुःखके विना नहीं होता । अतः

नोऽभिलषति न च दुःखामिलाषः प्राज्ञस्य युक्त इति कथयति—

**सोऽखं अणवेक्खित्ता बाधदि दुःखमणुगंपि जह पुरिसं ।**

**तह अणवेक्खिय दुःखं गत्थि सुहं णाम लोगम्मि ॥१२४४॥**

‘सोऽखं’ सौख्यं । ‘अणवेक्खित्ता’ अनपेक्ष्य । ‘बाधति दुःखमणुगं पि’ बाधते दुःखमण्वपि । ‘जह पुरिसं’ यथा पुरुष । ‘तह’ तथा । ‘अणवेक्खिय’ अनपेक्ष्य । ‘दुःखं’ दुःख । ‘लोगम्मि गत्थि सुहं’ लोके नास्ति सुख नामैन्द्रियकं । क्षुतिपासास्या पीडित एवाशन पानं वान्धेषते । कठोरातपतप्त एव शीत, शीतसकुचिततनुरेव प्रावरणादिक, वातातपाम्बुभिरंबोपद्रुतो भवनसभिलषति । स्थानासनोपजातभ्रम एव शय्या कामयते । पादगमनजातखेदव्यपोहनार्थं शिबिकादिक, बैरूप्यनिराकृतये एव वस्त्राणि भूषणानि च बौर्धन्धनाशनार्थं वतुष्ककालागुर्वादिक, खेदगमनार्थं रमण्य इति सर्वं दुःखप्रतीकारंमेव । त्रिविधवेदोदयजनितः प्राणिनां लिङ्गत्रयवर्तिना परस्परामिलाष । स तेषां परस्परशरीरसंसर्गं सत्यपि न विनश्यति । अभिलाषनिमित्तानां कर्मणा सद्भावात् । न हि कार्यमविकलकारणसन्निधौ न भवति । कामो हि सेव्यमानो वेदत्रयं प्रत्यग्रमकार्षति । सतोऽप्यनुभवमुपवृह्यते । कारणसम्पर्कार्थकार्यसम्पादो नित्यमिति निरन्तरामिलाषदहनदह्यमानचेतसो न कदाचिन्निवृत्तिरस्ति । अपनीते तु वेदत्रये कारणभावात् कार्याभाव इति निरवशेषवेदापगमे स्वास्थ्यं यदस्य तदेव सुखमिति मन्यमानो दृष्टान्तं दर्शयति ॥१२४४॥

जो इन्द्रिय सुखका अभिलाषी है वह पहले दुःख चाहता है किन्तु विद्वान्के लिए दुःखकी चाह युक्त नहीं है यह कहते हैं—

गो०—जैसे सुखकी अपेक्षाके बिना थोडा-सा भी दुःख पुरुषको कष्टदायक होता है वैसे ही लोकमें इन्द्रियजन्य सुख दुःखकी अपेक्षाके बिना नहीं है ॥१२४४॥

टी०—भूख और प्याससे पीडित पुरुष ही भोजन और पेयको खोजता है । कठोर घामसे पीडित शीतल प्रदेश खोजता है । शीतसे जिसका शरीर ठिठुर गया है वही ओढना आदि खोजता है । वायु घाम वर्षा आदिसे पीडित ही मकान खोजता है । उठने बैठनेमें थका हुआ ही शय्या चाहता है । पैदल चलनेसे हुए कष्टको दूर करनेके लिए ही सवारी आदि चाहता है । विरूपता दूर करनेके लिए ही वस्त्र आभूषण चाहता है । दुर्गन्ध दूर करनेके लिए ही सुगन्धित द्रव्य लोबान आदि होते हैं । खेद दूर करनेके लिए ही सुन्दर स्त्रियाँ होती हैं । इस तरह सब दुःखके प्रतीकारके लिए हैं । स्त्री लिङ्गी, पुरुष लिङ्गी और नपुंसक लिङ्गी प्राणियोंको स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेदके उदयसे परस्परमें रमण करनेकी अभिलाषा होती है । किन्तु वह अभिलाषा परस्परमें शारीरिक संसर्ग होनेपर भी नष्ट नहीं होती; क्योंकि उस अभिलाषामें निमित्त वेदकर्मका सद्भाव है । कारणोंके अविकल होते हुए कार्य अवश्य होता है । कामका सेवन करनेसे नवीन स्त्रीवेद पुरुषवेद या नपुंसकवेदका बन्ध होता है । तथा सत्तामें स्थित इन कर्मोंके अनुभागमें वृद्धि होती है क्योंकि कारणके होनेपर कार्य नित्य ही हुआ करता है । जिनके चित्त निरन्तर अभिलाषारूप आगसे जलते हैं उन्हें कभी भी शान्ति नहीं मिलती । तीनों वेदोंके चले जानेपर कारणका अभाव होनेसे कार्यका भी अभाव होता है । अत वेदोंका पूर्णरूपमें अभाव होनेपर जो स्वास्थ्य होता है वही सुख है ॥१२४४॥

जह कोडिल्लो अग्नि तप्यंतो जेव उवसमं लभदि ।

तह भोगे भुंजंतो खणं पि जो उवसमं लभदि ॥१२४५॥

‘जह कोडिल्लो’ यथा कुण्डेनोपहृत । ‘अग्नि तप्यंतो’ अग्निना दह्यमानमूर्तिरपि । ‘जेव उवसमं लभदि’ नैव व्याधेरुपशमं लभते । न ह्यग्निरुपशमकं कुण्डस्यापि तु वर्द्धकं । यद्यस्य वृद्धिनिमित्तं न तत्तदुपशमयति । यथा कुण्डं नोपशमयति वह्निः । वर्धयति चाभिलाष अबलादिसगमं ‘तह’ तथा । ‘भोगे भुंजंतो’ भोगानुभवनोद्यतः । ‘लभदि जो उवसमं लभदि’ क्षणमात्रमपि नोपशमं लभते भोगाभिलाषरोगस्य ॥१२४५॥

कच्छुं कंहुयमाणो सुहाभिमाणं करेदि जह दुक्खे ।

दुक्खे सुहाभिमाणं मेहुण आदीहिं कुणादि तहा ॥१२४६॥

‘कच्छुं’ कच्छुं । ‘कंहुयमाणो’ नल्लैर्मर्दयन् । ‘सुहाभिमाणं करेदि’ सुखाभिमानं करोति । ‘जह दुक्खे’ यथा दुःखे । ‘तह मेहुण आदीहिं’ तथा मैथुनादिदुःखं रमसालिङ्गने, अधरदशने, उरस्ताडने नल्लैर्निश्चितैरङ्गच्छेदने कचाकर्षणे । उक्तं च—

मत्तः प्रेत इवाविष्टः स्वमग्निविं क्षवन्निव ।

इवासायासपरिधान्तः स कामी रमते किल ॥१॥ इति ॥ [ ] ॥१२४६॥

घोसादकीं य जह किमि खंतो मधुरिच्छि मण्णादि वराओ ।

तह दुक्खं वेदंतो मण्णाइ सुक्खं जणो कामी ॥१२४७॥

‘घोसादकीं’ घोषातकी । ‘किमि’ कृमिः । ‘खंतो’ भक्षयन् । ‘जहा मधुरिच्छि’ यथा मधुरमिति मन्यते वराकः । ‘तह’ तथैव । ‘दुक्खं वेदंतो’ दुःखमनुभवन् । ‘मण्णादि सोक्खं’ जणो कामी’ मन्यते कामिजनसुखं ॥१२४७॥

इसे दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं—

गा०—जैसे कुछ रोगसे पीड़ित व्यक्तिका शरीर आगमे जलने पर भी कुछ गेग शान्त नहीं होता; क्योंकि आग कुछ रोगको शान्त नहीं करती, बल्कि बढ़ाती है। और जो जिसको बढ़ाता है वह उसको शान्त नहीं कर सकता। जैसे आग कुछ रोगको शान्त नहीं करती। उसी प्रकार स्त्रीका संगम स्त्री विषयक अभिलाषाको बढ़ाता है। अतः जो भोगोके भोगनेमें तत्पर है उसका भोगकी अभिलाषा रूप रोग एक क्षणके लिए भी शान्त नहीं होता ॥१२४५॥

गा०—टी०—जैसे खाजको नखोसे खुजाने वाला दुःखको सुख मानता है। उसी प्रकार मैथुनके समय वेगपूर्वक आलिंगन, ओष्ठ काटना, छाती मसलना, तोक्षण नखोसे शरीर नोचना, केश खीचना आदिसे होने वाले दुःखको कामी सुख मानता है। कहा भी है—कामी पुरुष पिशाचसे ग्रहीत पुरुषकी तरह नग्न होकर स्त्रीके साथ रमण करता है और द्वास तथा थकानसे पीड़ित होकर शब्द करते हुए श्वास लेता है ॥१२४६॥

गा०—जैसे बेचारा कीट घोषा नामक लताको खाते हुए उसे मीठी मानता है उसी प्रकार कामी जन दुःखका अनुभव करते हुए उसे सुख मानता है ॥१२४७॥



सुष्टु वि मग्गिज्जंतो कथं वि कयलीए णत्थि जह सारो ।  
तह णत्थि सुहं मग्गिज्जंतो भोगेसु अप्पं पि ॥१२४८॥

‘सुष्टु वि’ सुष्टु अपि । ‘मग्गिज्जंतो’ मृग्यमाणोऽपि । सारः कदल्यां क्वचिदपि मूले मध्येऽन्ते वा यथा नास्ति तथा भोगेष्वन्विष्यमाणं सुखं न विद्यते ॥१२४८॥

ण लहदि जह लेहंतो सुक्खल्लयमद्वियं रसं सुणहो ।  
से सगतालुगरुहिरं लेहंतो मण्णए सुखं ॥१२४९॥

‘जघ सुणगो सुक्खल्लयमद्वियं लेहंतो रसं जहा ण लभदि’ इवा शुष्कमस्थि लिहन् सन् यथा रस न लभते । ‘सगतालुगरुहिरं लेहंतो सो सोक्खं मण्णबे’ तीक्ष्णास्थिच्छिन्नस्वन्तालुगलितशबिरमास्वादयन्सुखाभिमानं करोति । ‘जह तह’ यथा तथा । ‘पुरिसो ण किंचि सुखं लभइ’ पुरुषो न किञ्चित्सुखं लभते ॥१२४९॥

महिलादिभोगसेवी ण लहदि किंचिवि सुहं तथा पुरिसो ।  
सो मण्णदे वराओ सगकायपरिस्समं सुक्खं ॥१२५०॥

‘महिलादिभोगसेवी’ स्त्र्यादिभोगसेवनोद्यतः । तथा ‘पुरिसो ण किंचि वि सुहं लहदि’ तथा पुरुषो न किञ्चिदपि सुखं लभते एव । ‘सो वराओ सगकायपरिस्समं सोक्खं मण्णबे’ स वराक स्वकायश्रमं सौख्यमन्यते ॥१२५०॥

अनुभवसिद्धं सुखं कथं नास्तीति शक्यते वक्तुं इत्याशङ्क्य असत्यपि सुखे सुखज्ञानं जगतो भवति विपर्यस्तं सुखकारणस्येति दृष्टान्तोपन्यासेन वदति—

दीसइ जलं व मयतण्हिया ह्नु जह वणमयस्स तिसिदस्स ।  
भोगा सुहं व दीसंति तह य रागेण तिसियस्स ॥१२५१॥

‘दीसइ वणमयस्स तिसिदस्स जहा जलं मयतण्हिया’ वने मृगेण हरिणापिना तृषाभिमूतेन जलकाशा-

गा०—जैसे अच्छी तरह खोजने पर भी केलेके वृक्षमें मूल मध्य या अन्तमें कहीं भी कुछ सार नहीं है वैसे ही खोजने पर भी भोगोमें कुछ भी सार नहीं है ॥१२४८॥

गा०—जैसे कुत्ता सूखी हड्डीको चबाते हुए रस प्राप्त नहीं करता । किन्तु तीक्ष्ण हड्डीके द्वारा कटे अपने तालुसे झरते हुए रक्तका स्वाद लेते हुए सुख मानता है ॥१२४९॥

गा०—उसी तरह पुरुष स्त्री आदि विषयभोगमें किञ्चित् भी सुख प्राप्त नहीं करता वह बेचारा अपने शरीरके श्रमको ही सुख मानता है ॥१२५०॥

विषयभोगमें सुख अनुभवसे सिद्ध है आप कैसे कहते हैं कि उसमें सुख नहीं है ऐसी आशंका करने पर दृष्टान्त द्वारा कहते हैं कि सुखके नही होने पर भी सुखके कारणमें विपरीत बुद्धि होनेसे जगत्को सुखका बोध होता है—

गा०—जैसे बनमें हरिण आदि जब प्यासेसे व्याकुल होकर जलकी इच्छा करते हैं तो उन्हें मरीचिका जलके समान प्रतीत होती है किन्तु हरिणके उसे जल मानने पर भी वह जल रूप नहीं होती । उसी प्रकार रागके प्यासेको भोग सुखकी तरह प्रतीत होते हैं ॥१२५१॥

वता जलमिव दृश्यते मृगतृष्णिका । न सा मृगेण जलतयोपलब्धेऽपि जल भवति । तथा 'रागेण तिसिद्धस्त भोगा सुहं व दीर्घाति' रागतृषितेन भोगाः सुखमिव दृश्यन्ते ॥१२५१॥

**वग्धो सुखेज्ज मदयं अवगासेऊण जह मसाणम्मि ।**

**तह कुणिमदेहसंफसणेण अबुहा सुहायति ॥१२५२॥**

'वग्धो सुखेज्ज' 'स्मशाने व्याघ्रो मृतकमवग्रास्य तृप्यति यथा तथा कुधितवेहसंस्पर्शनेनावुधा सुखावि-  
गमहर्षनिर्भरा भवन्ति ॥१२५२॥

भवतु नाम सुख भोगस्तथापि तदत्यल्पमिति निवेदयति—

**तह अप्पं भोगसुहं जह धावंतस्स अठितवेगस्स ।**

**गिम्हे उण्हातत्तस्स होज्ज छायासुहं अप्पं ॥१२५३॥**

'तथा अप्पं भोगसुहं धावंतस्स अठितवेगस्स गिम्हे उण्हातत्तस्स जहा छायासुहं अप्पं तह अप्पं भोगसुहं'  
धावतोऽस्थितवेगस्य ग्रीष्मे उष्माभितप्तस्य यथा मार्गस्थैकतरुच्छायासुखमल्पं भोगसुखं तथा ॥१२५३॥

**अहवा अप्पं आसाससुहं सरिदाए उप्पियंतस्स ।**

**भूमिच्छिक्कगुट्ठस्स उब्भमाणस्स होदि सोत्तेण ॥१२५४॥**

'अहवा' अथवा । 'अप्पं' अल्प । 'आसाससुहं' आश्वास एव सुख । 'सरिदाए' नद्या । 'उप्पियंतस्स'  
निमज्जत । 'भूमिच्छिक्कगुट्ठस्स' भूमिस्पृष्टाङ्गुठस्य । 'सोत्तेण उब्भमाणस्स' स्रोतसा प्रवाहेनोद्भयमानस्य ।  
अल्पं आश्वाससुखं तद्वदिन्द्रियसुखमत्यल्पमित्यतिक्रान्तेन मबन्ध ॥१२५४॥

इन्द्रियसुखानि यद्यलब्धपूर्वाणि युक्तो विस्मयस्तव तानि सर्वाणि अनन्तवारपरिभूक्तानि तेषु भवतेषु  
परित्यक्तेषु न युक्तो विस्मय इति अनादरं जनयति तेषु सूरि —

**जावंति केइ भोगा पत्ता सब्बे अणंतखुत्ता ते ।**

**को णाम तत्थ भोगेसु विंभओ लद्धविजडेसु ॥१२५५॥**

गा०—जैसे स्मशानमें व्याघ्र मुर्देको खाकर सुखी होता है वैसे ही दुर्गन्धित शरीरके  
आर्लिगनमें अज्ञानी सुख मानकर हर्षसे भर जाते हैं ॥१२५२॥

आगे कहते हैं कि भोगमें भले ही सुख हो किन्तु वह सुख अति अल्प है—

गा०—जैसे ग्रीष्म ऋतुमें अत्यन्त वेगसे दौड़ते हुए और मध्यकालके सूर्यकी किरणोंसे सतप्त  
पुरुषको मार्गमें स्थित एक वृक्षकी छायामें जानेसे थोडा-सा सुख होता है वैसे ही भोगमें अति  
अल्प सुख है ॥१२५३॥

गा०—अथवा नदीमें डूबते हुए और प्रवाहके द्वारा बहाकर ले जाते हुए मनुष्यको भूमिसे  
अगूठके छू जाने पर जैसा अल्प आश्वास सुख होता है कि मैं तट पर लग जाऊंगा, उसी प्रकार  
इन्द्रियजन्य सुख अति अल्प होता है ॥१२५४॥

गा०—यदि इन्द्रिय सुख पूर्वमें कभी प्राप्त न हुए होते तो उनकी प्राप्तिमें हर्ष होना

१ स्मशाने मृतक शव भुक्त्वा व्याघ्रस्तृप्यति—आ० ।

'जावति केइ भोगा' यावन्तः केचन भोगाः । 'ते लब्धे पत्ता भणंत्तुत्ता ते' सर्वे प्राप्ता अनन्तवारं तव । 'को नाम तत्प भोगेषु' को नाम तेषु भोगेषु विस्मयः लब्धेषुज्जितेषु ॥१२५५॥

भोगतृष्णा निरन्तर दहति भवन्तः, सेव्यमानाः पुनर्भोगस्तामेव तृष्णा बर्द्धयन्ति ततो भोगेच्छां शिथिलतां नेयेति वदति—

जह जह भुंजइ भोगे तह तह भोगेषु बद्धदे तण्हा ।  
अग्गीव इंधणाइ' तण्हं दीविति से भोगा ॥१२५६॥

'जह जह भुंजइ भोगे' यथा यथा भोगान्भुङ्कते । 'तह तह' तथा तथा । 'भोगेषु बद्धदे तण्हा' भोगेषु बर्द्धते तृष्णा । 'अग्गी व' अग्नि वा । यथा 'इंधणाइ' इन्धनानि । 'दीविति' दीपयन्ति । 'तहा' तथा । 'तण्हं' तृष्णा दीपयन्ति । 'से' तस्य भोक्तुर्भोगाः । तथा चोक्त—

तृष्णाचित्तं परिवहन्ति न क्षान्तिरासां । इष्टेन्द्रियावधिभवैः परिवृद्धिरेव ॥ [बृहत्संख्यभू०] ॥१२५६॥

जीवस्स णत्थि तिच्ची चिरं पि भोएहिं भुंजमाणेहिं ।  
तिच्चीए विणा चित्तं उच्चूरं उच्चुदं होइ ॥१२५७॥

'जीवस्स' जीवस्य । नास्ति तृप्तिश्चिरकालमपि भोगाननुभवत पत्योपमत्रय कालं भोगभूमिषु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमकाल अमरेषु । तृप्त्या च विना चित्तं । 'उच्चूरं उच्चुदं' उत्पूर उच्छृत भवतीति सूत्रार्थं ॥१२५७॥

जह इंधणेहिं अग्गी जह व समुदो णदीसइस्सेहिं ।  
तह जीवा ण हु सकका तिप्पेटुं कामभोगेहिं ॥१२५८॥

'जह इंधणेहिं' यथेन्धनैरग्निर्न तृप्यति । यथा वा समुद्रो नदीसहस्रं । तथा जीवो न शक्यो भोगैस्तपयितुः ॥१२५८॥

उचित था, किन्तु उन सबको तुमने अनन्त बार भोगा है । उन भोगकर छोड़े गये विषयोमे हर्ष मानना उचित नहीं है । इस प्रकार आचार्य विषयोके प्रति अनादर भाव उत्पन्न करते है—जितने संसारके भोग है वे सब तुमने अनन्त बार प्राप्त किये है उन प्राप्त करके छोड़े गये विषयोमे आश्चर्य कैसा ? ॥१२५५॥

आगे कहते हैं कि तुम्हें भोगोकी तृष्णा निरन्तर जलाती है । भोगोका सेवन उसी तृष्णाको बढ़ाता है अतः भोगोकी इच्छाको कम करो—

गा०—जैसे जैसे भोगोको भोगते हो वैसे वैसे भोगोकी तृष्णा बढ़ती है । जैसे इंधनसे आग प्रज्वलित होती है वैसे ही भोगोसे तृष्णा बढ़ती है । कहा भी है—यह तृष्णारूपी ज्वाला सदा जलाती है, इष्ट इन्द्रियोके विषयोसे इनकी तृप्ति नहीं होती, बल्कि बढ़ती है ॥१२५६॥

गा०—तोन पत्य तक भोगभूमिमें, तेतीस सागर तक देवोंमें इस तरह चिरकाल तक भोगों को भोगते हुए भी तृप्ति नहीं होती और तृप्तिके विना चित्त अत्यन्त उत्कण्ठित रहता है ॥१२५७॥

गा०—जैसे ईंधनसे आगकी तृप्ति नहीं होती । अथवा जैसे हजारों नदियोसे समुद्रकी

देविंदचक्रकवट्टी य वासुदेवा य भोगभूमिया ।

भोगेहि ण तिप्पन्ति इ तिप्पदि भोगेसु किह अण्णो ॥१२५९॥

‘देविंद’ देवानामधिपतय’, चक्रलाञ्छना वासुदेवा अर्धचक्रवर्तिनः, भोगभूमिजाश्च भोगीन् तृप्यन्ति । कथमन्यो जनस्तृप्तिमुपेयाद्भोगी । सुलभमित्तभोगसाधनाश्चरजोविनः स्वतन्त्राश्चामी । अन्ये तु भवादृशा जठरभरणमात्रमपि कर्तुं अशक्ता स्वल्पायुष, पराधीनवृत्तयश्च तृप्यन्तीति का कथा ॥१२५९॥

संपत्तिविषत्तीसु य अज्जणरक्खणपरिग्गहादीसु ।

भोगत्थं होदि णरो उद्धुयचित्तो य घण्णो य ॥१२६०॥

संपत्तिविषत्तीसु य’ सम्पत्सु विपत्सु च । ‘अज्जणरक्खणपरिग्गहादीसु’ द्रव्यस्यालब्धस्यार्जने’, पुञ्जीकरणे, राशीकृतस्य रक्षणम् । पर हस्ते विप्रकीर्णस्य ग्रहणे । आविशब्देन तद्व्ययकरणे वा । भोगत्थं अनुभवार्थं । अर्जनादिषु प्रवृत्तः । ‘उद्धुयचित्तो य णरो होदि’ चरुचित्त उत्कण्ठावाश्च भवति नरः । द्रव्यसम्पत्तिजातायां रागाच्चलचित्तं भवति । द्रविणादिविनाशे कथं जीवामि पुनर्द्रव्यार्जनं करोमिति ॥१२६०॥

उद्धुयमणस्स ण सुहं सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी ।

पीदीए विणा ण रदी उद्धुयचित्तस्य घण्णस्स ॥१२६१॥

‘उद्धुयमणस्स’ व्याकुलचित्तस्य ‘ण सुहं’ न सुखं भवति । ‘सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी’ सुखेन विना कुतो भवति प्रीतिस्तृप्ति । ‘पीदीए विणा’ प्रीत्या विना । ‘ण रदी’ न रति । ‘उद्धुयचित्तस्स’ व्याकुलचेतसः । ‘घण्णस्स’ उत्कण्ठाहाकिन्या गृहीतस्य ॥१२६१॥

तृप्ति नहीं होती, वैसे ही भोगोंसे जीवकी तृप्ति नहीं होती ॥१२५८॥

गा०—टी०—देवोंके अधिपति इन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव अर्थात् अर्धचक्री और भोगभूमियाँ जीव भी भोगोंसे तृप्त नहीं होते । तब साधारण मनुष्य कैसे भोगोंसे तृप्त हो सकता है ? अर्थात् इनके लिए भोगोंके अपरिमित साधन सुलभ है, तथा इनकी आयु भी बहुत होनेसे चिरकालतक ये जीवित रहते हैं और किसीके अधीन न होनेसे स्वतन्त्र होते हैं । आप सरीखे साधारण मनुष्य तो पेट भरनेमें भी असमर्थ और थोड़ी आयुवाले तथा पराधीन होते हैं । अतः उनकी भोगोंसे तृप्ति होनेकी तो बात ही क्या है ? ॥१२५९॥

गा०—सम्पत्ति होनेपर मनुष्य अप्राप्त द्रव्यके कमानेमें, एकत्र हुए द्रव्यके रक्षणमें, दूसरेके हाथमें गई सम्पत्तिको उससे लेनेमें और आदि शब्दसे उसे खर्च करनेमें, तथा भोगनेमें व्याकुल रहता है और विपत्तिमें अर्थात् धन आदिका विनाश होनेपर कैसे मैं जीवित रहूँगा ? कैसे पुनः द्रव्य कमाऊँगा इस उत्कण्ठासे व्याकुल रहता है ॥१२६०॥

गा०—जिसका चित्त व्याकुल रहता है उसे सुख नहीं होता । सुखके विना प्रीति नहीं होती । प्रीतिके विना रति नहीं होती । इस तरह जिसका चित्त व्याकुल रहता है और जो उत्कण्ठारूपी डाकिनीसे ग्रस्त है उसे सुख कैसे हो सकता है और सुखके विना प्रीति और प्रीतिके विना रति सम्भव नहीं है ॥१२६१॥

जो पुण इच्छदि रमितुं अज्ज्ञप्पसुहम्मि निम्बुदिकरम्मि ।

कुणादि रदि उवसंतो अज्ज्ञप्पसमा हु णत्थि रदी ॥१२६२॥

‘जो पुण इच्छदि रमितुं’ य’ पुना रमितुं इच्छति । ‘लो कुणादि रदि’ स करोतु रति । नव ? ‘अज्ज्ञप्प-सुहम्मि’ अध्यात्मसुखे । ‘निम्बुदिकरम्मि’ निवृत्तिकरे । ‘उवसंतो’ उपशान्तरागकोप । एतदुक्तं भवति—मनो-ज्ज्ञानोन्नविषयसन्निधाने स्वसंकल्पहेतुको यो रागद्वेषौ तौ परित्यज्य निवृत्तितृप्तिकरे अध्यात्मसुखे रतिं करोतु । ‘अज्ज्ञप्पसमा’ आत्मस्वरूपविषया रतिरध्यात्मशब्देनोच्यते । तथा सदृशी रति । ‘णत्थि कु’ न विद्यते एव । यस्मात् भोगरतिरध्यात्मनो रत्या न सदृशी ॥१२६२॥

कथम् ?

अप्यायत्ता अज्ज्ञप्परदी भोगरमणं परायत्तं ।

भोगरदीए चइदो होदि ण अज्ज्ञप्परमणेण ॥१२६३॥

‘अप्यायत्ता’ स्वायत्ता । ‘अज्ज्ञप्परदी’ आत्मस्वरूपविषया रतिः परद्रव्यानपेक्षणात् । ‘भोगरमणं’ भोगरतिः ‘परायत्तं’ परायत्ता परद्रव्यालम्बनत्वात् । तेषा च कश्चिदेव सांनिध्यं क्वचिदेव कस्यचिदेवेति । एतेन स्वायत्ततया परायत्ततया चासाम्यमाख्यातं । प्रकारान्तरेणापि वैषम्यं दर्शयति । ‘भोगरदीए चइदो होदि’ भोगरत्या व्युत्तो भवति । न प्रच्युतो भवति ‘अज्ज्ञप्परमणेण’ अध्यात्मरत्या ॥१२६३॥

अनेकविघ्नसहिता विनाशिनी च भोगरतिः, अध्यात्मरतेस्तु भाविताया न नाशो नापि विघ्न इति कथयत्युत्तरगाथा—

भोगरदीए णासो णियदो विग्घा य होंति अदिबहुगा ।

अज्ज्ञप्परदीए सुभाविदाए णासो ण विग्घो वा ॥१२६४॥

गा०—टी०—हे क्षपक ! जो तू रमण करना चाहता है तो रागद्वेषका शमन करके परम तृप्तिकारक अध्यात्म सुखमें रति कर । कहनेका अभिप्राय यह है कि इष्ट और अनिष्ट विषयोंके प्राप्त होनेपर ‘यह अच्छा है और यह बुरा है’ इस प्रकारके संकल्पके कारण जो रागद्वेष होते हैं उन्हें त्यागकर तृप्तिकारक अध्यात्म सुखमें रमण कर । यहाँ अध्यात्म शब्दसे आत्मस्वरूप विषयक रति कही है । उसके समान कोई रति नहीं है । क्योंकि भोगसम्बन्धी रति अध्यात्म विषयक रति-के समान नहीं है ॥१२६२॥

गा०—टी०—क्योंकि आत्मस्वरूप विषयक रति अपने अधीन है उससे परद्रव्यकी अपेक्षा नहीं है । किन्तु भोग रति पराधीन है क्योंकि उससे परद्रव्यका अवलम्बन लेना होता है । और परद्रव्य कभी-कभी ही किसी किसीको ही थोड़े बहुत प्राप्त होते हैं । इससे स्वाधीन और पराधीन होनेसे दोनोंमें असमानता कही । अन्य प्रकारसे भी दोनोंमें विषयता बतलाते हैं—

भोग रतिसे तो मनुष्य वंचित हो जाता है किन्तु अध्यात्म रतिसे नहीं होता क्योंकि आत्म द्रव्य सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा उसके पास रहता है ॥१२६३॥

भोग रतिमें अनेक विघ्न रहते हैं और वह नष्ट होने वाली है किन्तु भावित अध्यात्म रतिका कभी नाश नहीं होता और न उसमें विघ्न आता है, यह आगे कहते हैं—

‘भोगरती’ भोगरत्याः । ‘निवृत्तो नाशो’ नियतो विनाशः । ‘विगधा य इति’ विघ्नाश्च भवन्ति । ‘अविबहुगा’ अतीव बहवः । ‘अज्जलप्परदीए’ अध्यात्मरतेः । ‘सुभाविवाए’ सुष्ठु भावितायाः । ‘नाशो’ नाशो, न विद्यते । ‘विगधा वा’ विघ्ना वा न सन्ति । नियतं नश्वरतयाऽनश्वरतया वा बहुविघ्नतया, निविघ्नतया च तयो रत्योर्वेषम्यमिति भावः ॥१२६४॥

इन्द्रियसुख शत्रुतया सङ्कल्पनीय तथा च तत्रादरो जन्तोनिवृत्ते अतो अतीन्द्रियसुखत्वमेव वीतरागत्व-हेतुके मवरे इति मत्वा सूरिचूलामणिराह—

**दुःखं उप्पादिता पुरिसा पुरिसस्स होंति जदि सत्तू ।  
अदिदुःखं कदमाणा भोगा सत्तू किहुं ण हुंती ॥१२६५॥**

‘दुःखं उप्पादिता’ दुःखमुत्पाद्या । ‘जदि सत्तू होंति’ यदि शत्रवो भवन्ति । ‘पुरिसा पुरिसस्स’ पुरुषाः पुरुषस्य । ‘अदिदुःखं कदमाणा भोगा’ अतीव दुःखं कुर्वन्तो भोगा इन्द्रियसुखानि । ‘किष्ण सत्तू ण हुंति’ कथं शत्रवो न भवन्ति भवन्त्येवेति । कथं भोगानां दुःखहेतुता एव मन्यते ? इन्द्रियसुख नाम स्त्रीवस्त्रगन्धमालादि-परद्रव्यसन्निधानजन्य । तच्च स्त्र्यादिकं दुर्लभतमं निद्रविणस्य, तेन तदर्थं कृष्यादिकर्मणि प्रयतितव्यं । ततो महानायासः । इहैव भवानुगामी दुःखनिमित्तं च कर्म हिंसादिषु प्रवर्तमानोऽर्जयति । तदिमं दुरन्ते ससाराम्भोधौ निमज्जयति । तत्र च निमग्नेन कतमं दुःखमनेन नावाप्यते ॥१२६५॥

शत्रुतमा भोगा इति कथयति—

**इहइं परलोगे वा सत्तू भित्तत्तणं पुणमुवेति ।  
इहइं परलोगे वा सदावि दुःखावहा भोगा ॥१२६६॥**

‘इहइं’ अस्मिन्नेव जन्मनि । ‘परलोगे वा’ परजन्मनि वा । ‘सत्तू’ शत्रवः । ‘भित्तत्तणं’ मित्रता ।

गा०—भोग रतिका नियमसे विनाश होता है तथा उससे विघ्न भी बहुत है । किन्तु अच्छी गीतसे भावित अध्यात्म रतिका न विनाश होता है और न उसमें कोई विघ्न आते है । इस तरह भोगरति नियमसे नश्वर और बहुत विघ्न वाली है तथा अध्यात्मरति निविघ्न और अविनाशी है इसलिए दोनोंमे कोई समानता नहीं है ॥१२६४॥

आचार्य कहते हैं कि इन्द्रिय सुखको शत्रुके समान मानो । ऐसा करनेसे उनमे जो आदर-भाव है वह दूर होगा । तथा अतीन्द्रिय सुख ही वीतरागताका कारण होनेसे संवर रूप है—

गा०—टी०—यदि दुःख देने वाले पुरुष पुरुषके शत्रु होते है तो अति दुःख देने वाले भोग अर्थात् इन्द्रिय सुख शत्रु क्यों नहीं है ? अवश्य है । भोग दुःखके कारण क्यों है यह विचार करें । स्त्री, वस्त्र, गन्धमाला आदि परद्रव्यके मिलनेसे जो होता है उसे इन्द्रिय सुख कहते है । वह स्त्री आदि धनहीनके लिए अत्यन्त दुर्लभ हैं । अतः धनकी प्राप्तिके लिए कृषि आदि कर्म करना चाहिए । उससे महान् आरम्भ होता है । हिंसा आदिमे प्रवृत्ति करनेमें इसी भव तथा परभवमे दुःख देने वाले कर्मका उपार्जन करता है । और वह कर्म उसे ऐसे ससार समुद्रमे डुबाता है जिसका पार पाना अत्यन्त कठिन है । उस संसार समुद्रमें डूबकर यह जीव कौन दुःख नहीं भोगता ॥१२६५॥

आगे कहते है कि भोग सबसे बड़े शत्रु है—

गा०—इस जन्ममे अथवा परजन्ममे शत्रु शत्रुताको छोडकर मित्र बन जाते है । अर्थात्

‘पुण्यमुच्यते’ पुनर्दीकन्ते । शत्रवः शत्रुतामपि बह्युः । कार्यवशात्, उपकारप्रतिशयसम्पादनान्मिमततां वा यान्ति च । वाचा न स्फुटतरा । इहैव तथा परलोके वा ‘सत्त्वदा दुःखदायहा भोगा’ सर्वदा दुःखायहा भोगाः । ततः शत्रुतमा इति भावनीयं ॥१२६६॥

एगम्मि चैव देहे करेज्ज दुक्खं ण वा करेज्ज अरी ।

भोगा से पुण दुक्खं करंति भवकोटिकोडीसु ॥१२६७॥

‘एगम्मि चैव देहे’ एकस्मिन्नेव देहे । ‘करेज्ज दुक्खं’ ण वा करेज्ज अरी’ कुर्याद्दुःखं न वा शत्रु । ‘भोगा पुण’ भोगा पुन । ‘से’ तस्य । ‘दुःखं करंति’ दुःखं कुर्वन्ति । ‘भवकोटिकोडीसु’ अनन्तेषु भवेषु । एवं भोगदोषानवेत्यात्र निदान त्वया न कार्यं इत्युपदिष्टं सूचिणा ॥१२६७॥

मधुमेव पिच्छदि जहा तडिओलंबो ण पिच्छदि पपादं ।

तह सणिदाणो भोगे पिच्छदि ण हु दीहसंसारं ॥१२६८॥

‘मधुमेव पिच्छदि’ मध्वेव पश्यति यथा तटेज्वलन्ब्रमानः । ‘ण पिच्छदि’ न प्रेक्षते । ‘पपादं’ प्रपातमात्मनः । ‘तह’ तथा ‘सणिदाणो’ निदानसहितः । ‘भोगे पिच्छदि’ भोगान्प्रेक्षते । ‘ण हु वैच्छदि’ नैव प्रेक्षते । ‘दीहसंसारं’ दीर्घसंसार ॥१२६८॥

जालस्स जहा अंते रमंति मच्छा भयं अयाणंता ।

तह संग्गादिसु जीवा रमंति संसारमगणंता ॥१२६९॥

‘जालस्स’ जालस्य । ‘अंते’ मध्ये । ‘जहा मच्छा रमंति’ यथा मत्स्या रमन्ते । ‘भयमयाणंता’ भयमनवबुध्यमाना । ‘तह संग्गादिसु’ तथा परिग्रहादिषु । ‘जीवा रमंति’ जीवा रमन्ते । ‘संसारमगणंता’ संसारमगणयन्त ॥१२६९॥

दुक्खेण देवमाणुसभोगे लद्धण चावि परिवड्ढिदो ।

णियदमदीदि कुजोणी जीवो सधरं पउत्थो वा ॥१२७०॥

उपकार आदि करनेसे प्रभावित होकर शत्रु मित्र बन जाते हैं वह भी केवल कहनेके लिए नहीं किन्तु खुले दिलसे मित्र बन जाते हैं । किन्तु भोग इस जन्ममें और परजन्ममें सदा ही दुःखदायी होते हैं । इसलिए वे शत्रुसे भी बडे शत्रु हैं ॥१२६६॥

शा०—शत्रु एक ही भवमें दुःख दे या न भी दे । किन्तु भोग तो अनन्त भवोंमें दुःख देते हैं ॥१२६७॥

इस प्रकार भोगोंके दोष जानकर हे क्षपकः तुम्हे निदान नहीं करना चाहिए, ऐसा आचार्य उपदेश देते हैं—

शा०—इस प्रकार जैसे कुएँकी दीवारके एक ओर लटका हुआ मनुष्य टपकने वाले मधुकी बूंदोंको ही देखता है किन्तु अपने गिरनेको नहीं देखता । वैसे ही निदान करने वाला भोगोंको तो देखता है किन्तु अपने दीर्घ संसारको नहीं देखता ॥१२६८॥

शा०—जैसे मत्स्य भयको न जानते हुए जालके मध्यमें उछलते-कूदते है, वैसे ही जीव संसारकी चिन्ता न करके परिग्रह आदिमें आनन्द मानते हैं ॥१२६९॥

‘दुष्कृतेषु लब्धुषु’ क्लेशेन लब्ध्वा । ‘देवभावसुभोगे’ दीवान्मानुषाश्च भोभान् । ‘परिवर्द्धितो’ परिपतितः प्रच्युतस्ततो भोगाज्जीवः । ‘कुञ्जोर्नी नियममदीवि’ कुत्सिता योनिं नियतमुपैति । किमिव ? ‘सघर’ स्वगृह, ‘पद्मस्यो वा’ प्रवासीव ॥११७०॥

जीवस्स कुञ्जोणिगदस्स तस्स दुक्खाणि वेदयंतरस ।

किं ते करंति भोगा मदोव वेज्जो मरंतस्स ॥१२७१॥

‘जीवस्स कुञ्जोणिगदस्स’ कुयोनिगतस्य जीवस्य । ‘दुक्खाणि वेदयंतरस’ दुःखानि वेदयमानस्य । ‘किं ते करंति भोगा’ किं ते कुर्वन्ति भोगा. स्त्रीवस्त्रावयः । नैव किञ्चिदपि दुःखलवमपनेतु क्षमा । ‘मदोव वेज्जो’ वैद्यो मृतो यथा । ‘मरंतस्स’ म्रियमाणस्य न किञ्चित्कतुं क्षम. ॥१२७१॥

जह सुत्तबद्धसउणो दूरं पि गदो पुणो व एदि तहिं ।

तह संसारमदीहि हु दूरं पि गदो णिदाणगदो ॥१२७२॥

‘जह सुत्तबद्धसउणो’ यथा सूत्रेण दीर्घेण बद्ध’ पक्षी । ‘दूरं पि गदो’ दूरमपि गत । ‘पुणो एदि तहिं’ पुनरप्येति तमेव देशं । ‘तह संसारमदीवि खु’ संसारशब्दात्पर. खु शब्दो द्रष्टव्यः, ततोऽयमर्थः—संसार-मेवाधिगच्छतीति । ‘दूरं पि गदो’ महर्द्धिकं स्वर्गादिस्थानमुपगत. । ‘णिदाणगदो’ निदान परभवसुखातिशये मनःप्रणिधानं गतः ॥१२७२॥

कश्चिद्बुद्ध कारगृहे इयता कालेन तव द्रविण दास्यामि भवदीयमेव तावत्प्रयच्छेति गृहीत्वा द्रव्य रोषकेभ्यः प्रदाय स्वगृहे सुखं वसन्नपि पुनर्यथा तैरुत्तमर्णैर्धायंते तथैव निदानकारी स्वकृतेन पुण्येन परिप्राप्त-स्वर्गोऽपि पुनरध. पततीति निगदति—

इन्द्रिय सुख नियमसे कुयोनियोमे भ्रमण करनेका मूल कारण है क्योंकि अत्यधिक राग-द्वेषकी उत्पत्तिमें निमित्त है । उन कुयोनियोमें उत्पन्न होकर नाना प्रकारके दुःखोका अनुभव करने वाले जीवके दुःखोंको, देवगति आदिके भोग वस्त्र अलंकार भोजन आदि दूर करनेमें समर्थ नहीं हैं, ऐसा आगे कहते हैं—

गा०—जैसे देशान्तरमें गया व्यक्ति सर्वत्र घूमकर अपने घरको ही जाता है वैसे ही बड़े कष्टसे प्राप्त वेव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोंको भोगकर उन भोगोके नष्ट हो जाने पर नियमसे कुयोनिमें जाता है ॥१२७०॥

गा०—जैसे मरा हुआ वृद्ध मरते हुएकी रक्षा नहीं कर सकता । वैसे ही कुयोनिमें जाकर उस दुःख भोगते हुए जीवका स्त्री वस्त्र आदि भोग क्या कर सकते हैं ? वे उसका किञ्चित् भी दुःख दूर नहीं कर सकते ॥१२७१॥

गा०—जैसे लम्बे धागेसे बंधा पक्षी सुदूर जाकर भी पुनः वही लौट आता है । वैसे ही परभव सम्बन्धी विषय सुखमें मन लगाने बाला निदानो महान् वृद्धिसे सम्पन्न स्वर्गादि स्थानोंमें जाकर भी संसारमें ही लौट आता है ॥१२७२॥

जैसे कोई जेलखानेमें पड़ा व्यक्ति, मैं इतना समय बीतने पर तुम्हारा धन तुम्हें लौटा दूंगा तुम मुझे धन दो, ऐसा वादा करके धन लेता है और वह धन जेलके रक्षकोको देकर अपने घरमें सुखपूर्वक निवास करता है किन्तु उसे पुनः कर्ज देने वाले पकड़ लेते हैं उसी प्रकार निदान करने



दाऊण जहा अत्थं रोधणमुक्को सुहं धरे वसइ ।

पत्ते समए य पुणो रुंभइ तह चैव धारंजओ ॥१२७३॥

‘दाऊण’ दत्त्वा । ‘अत्थं’ अर्थ । ‘जह’ यथा । ‘रोधणमुक्को’ रोधेन मुक्तः । ‘सुहं धरे वसति खु’ सुखेन गृहे वसति । ‘पत्ते समये य’ प्राप्ते चावधिकाले । ‘पुणो रुंभइ’ पदचान्च संभ्यते । ‘तथा चैव’ पूर्ववदेव । ‘धारणीओ’ अधमर्ण ॥१२७३॥

दाष्टान्तिके योजयति—

तह सामण्णं किच्चा किलेसमुक्कं सुहं वसइ सग्गे ।

संसारमेव गच्छइ तत्तो य चुदो णिदाणकदो ॥१२७४॥

संभूदो वि णिदाणेण देवसुक्खं च चक्कहरसुक्खं ।

पत्तो तत्तो य चुदो उववण्णो तिरियवासम्मि ॥१२७५॥

‘संभूदो वि णिदाणेण’ निदानेन समूत कश्चित् । ‘देवसुक्खं’ देवसुख । ‘चक्कधरसोक्खं’ चक्रधर-सौख्य । ‘पत्तो’ प्राप्ते । ‘तत्तो य चुदो’ तस्मात्सुखात्प्रच्युतः उत्पन्न । ‘उववण्णो’ उपपन्न । ‘तिरियवासम्मि’ तिर्यग्गावास ॥१२७४॥

णच्चा दुरंतमद्धयमत्ताणमतप्पयं अविस्सायं ।

भोगसुहं तो तम्हा विरदो भोक्खे मदि कुज्जा ॥१२७६॥

‘णच्चा’ ज्ञात्वा । ‘दुरंतं’ दुरवसानदुःखफलमिति यावत् । ‘अद्धयुव’ अनित्य । ‘अत्ताणं’ अत्राणं । ‘अतप्पयं’ अतर्पक । ‘अविस्सायं’ असंकुद्वृत्त । ‘भोगसुखं’ भोज्यन्ते, सेव्यन्ते इति भोगाः स्थावय, तैर्जनितं सुख । ‘तो’ पश्चात् । ‘तम्हा’ तस्मात् । भोगसुखात्, दुरन्तादिदुष्टदोषात् । ‘विरदो’ व्यावृत्त । ‘भोक्खे’ भोक्ते

वाला अपने द्वारा किये गये पुण्यसे स्वर्ग प्राप्त करके भी पुनः गिरता है, यह कहते हैं—

गा०—जैसे धन देकर कारागारसे मुक्त हुआ कर्जदार सुखपूर्वक घरमे रहता है । किन्तु कर्ज चुकानेका समय आने पर पुन पकड़कर बन्द कर दिया जाता है ॥१२७३॥

गा०—वैसे ही मुनिपद धारण करके निदान करने वाला स्वर्गमे क्लेश रहित सुखपूर्वक रहता है और वहाँसे च्युत होकर संसारमें ही भ्रमण करता है ॥१२७४॥

गा०—संभूत नामक व्यक्ति निदानके द्वारा देवगतिके सुख और चक्रवर्तिके सुखको प्राप्त हुआ अर्थात् मरकर सौधर्म स्वर्गमे उत्पन्न हुआ और वहाँसे मरकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती हुआ । उसके पश्चात् मरकर तिर्यङ्गगति (नरक गति) में उत्पन्न हुआ ॥१२७५॥

गा०—जो भोगे जाते हैं उन स्त्री आदिको भोग कहते हैं । उनसे होने वाला सुख ऐसा दुःख देता है जिसका अन्त होना दुष्कर है, तथा वह भोग जन्य सुख अनित्य है, अरक्षक है, उससे तृप्ति नहीं होती, अनादि संसारमे उसे जीवने अनेक बार भोगा है । अतः उससे मनको हटाकर समस्त कर्मके अपायरूप मोक्षमें मन लगाना चाहिए । अर्थात् चारित्र्य और तपका पालन करनेसे

निरवशेषकर्मापाये । 'अबि कुण्डा' मति कुर्यात्, अनुष्ठीयमानेन चारित्र्येण तपसा वा कर्मसयोऽस्तीति मतिं कुर्यात्, न निदान कुर्यादित्यर्थः ॥१२७६॥

निदानदोषं विस्तरत उपदर्श्य अनिदानत्वे गुण व्याचष्टे—

अणिदाणो य मुणिवरो दंसणणाणचरणं विसोधेदि ।

तो सुद्धणाणचरणो तवसा कम्मकत्तयं कुणइ ॥१२७७॥

'अणिदाणो य मुणिवरो' अनिदानो यतिवृषभः, 'दंसणणाणचरणं' रत्नत्रय, 'विसोधेदि' विशोधयति, निदानाभावादनतिचार सम्यग्दर्शनं शुद्धं भवति, तस्मिन्निरमले निर्मलं ज्ञानं, निर्मलं विशुद्धज्ञानपुरोगं चारित्र्यं विशुद्धं भवति, 'तवसा कम्मकत्तयं कुणइ' तपसा कर्माणि निरवशेषाणि वियोजयत्यात्मनः ॥१२७७॥

इच्चवेमेदमविचितयदो होज्ज हु णिदाणकरणमदी ।

इच्चेवं पस्सतो ण हु होदि णिदाणकरणमदी ॥१२७८॥

'इच्चवेमेदमविचितयदो' इत्येवमेतद्वस्तुजातं अविचिन्तयत । 'होज्ज हु' भवेदेव, 'णिदाणकरणमदी' निदानकरणे बुद्धिः, 'इच्चेवं पस्सतो' इत्येवमेतत्पश्यन्, 'न खु होदि' नैव भवति 'णिदाणकरणमदी' निदानकरणमतिः । णिदाण ॥१२७८॥

मायासल्लस्सालोयणाधियारम्मि वणिणदा दोसा ।

मिच्छत्तसल्लदोसा य पुच्चमुववणिण्या सच्चवे ॥१२७९॥

'मायासल्लस्स' मायाशल्यस्य, 'आलोयणाधियारम्मि' आलोचनाधिकारे 'वणिणदा दोसा' वणिता दोषा, 'मिच्छत्तसल्लदोसा' मिथ्यात्वशल्यदोषाश्च । 'सच्चवे' सर्वे, 'पुच्चमुववणिण्या' पूर्वमेव व्यावर्णिता, शल्यत्रयगतदोषा भवतो व्यावर्णिता इत्यनेन मूरिरेतत्कथयति आबुद्धदोषेण शल्यत्रयं त्वया त्याज्यमिति ॥१२७९॥

मायाशल्यापरित्यागात्प्राप्तदोषमर्थाख्यानेन दर्शयति—

कर्मक्षय होता है ऐसी मति करना चाहिए । निदान नहीं करना चाहिए ॥१२७६॥

विस्तारसे निदानके दोष बतलाकर निदान न करनेमें गुण कहते हैं—

गा०—निदान न करने वाले मुनिवर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य रूप रत्नत्रयको विशुद्ध करते हैं । अर्थात् निदान न करनेसे निरतिचार सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है । सम्यग्दर्शनके निर्मल होने पर ज्ञान निर्मल होता है । और निर्मल विशुद्ध ज्ञान पूर्वक चारित्र्य विशुद्ध होता है । तब विशुद्ध ज्ञान चारित्र्यसे सम्पन्न मुनि तपके द्वारा सब कर्मोंका क्षय करता है ॥१२७७॥

गा०—उक्त प्रकारसे जो वस्तुस्वरूपका विचार नहीं करता उसकी मति निदान करनेमें लगती है । और जो उसका विचार करता है उसकी मति निदान करनेमें नहीं लगती ॥१२७८॥

गा०—आलोचना अधिकारमें मायाशल्यके दोष कह आये हैं । और मिथ्यात्व शल्यके दोष पूर्वमें ही कहे हैं । इस प्रकार हे क्षपक ! तीनों शल्योंके दोष आपसे हमने कहे हैं । अब इन दोषोंको जानकर तुम्हें तीनों शल्योंका त्याग करना चाहिए । इससे आचार्य क्षपकके प्रति ऐसा कहते हैं ॥१२७९॥

मायाशल्यका त्याग न करनेसे प्राप्त हुए दोषको दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

पद्मदुबोधिलाभा मायासन्धेण आसि बुद्धिही ।

दासी सागरदत्तस पुष्करंता हु बिरदा वि ॥१२८०॥

‘पद्मदुबोधिलाभा’ प्रभ्रष्टो विनष्टो दीक्षाभिमुखबुद्धिलाभो यस्याः सा प्रभ्रष्टबोधिलाभा । ‘आसी’ आसीत् । का ? ‘पूढीमुहो’ पूतिमुखीसंज्ञिता । ‘सागरदत्तस दासी’ सागरदत्तवैश्यस्य दासी । केन ? ‘मायासन्धेण’ मायाशाल्येन । ‘पुष्करंता हु बिरदा वि मायासन्धेण पद्मदुबोधिलाभा आसी’ इति पदसम्बन्धाः पुष्पदत्ताख्या संयता च मायया प्रभ्रष्टबोधिलाभा आसीत् । मायाशाल्यं ॥१२८०॥

मिच्छत्सत्सल्लदोसा पियधम्मो साधुवच्छलो संतो ।

बहुदुक्खे संसारे सुचिरं पडिहिडिओ मरीची ॥१२८१॥

‘मिच्छत्सत्सल्लदोसा’ मिथ्यात्वशाल्यदोषात् । ‘पियधम्मो’ प्रियधर्मः । ‘साधुवच्छलो संतो’ साधूनां वत्सलोऽपि सम् मरीचि । ‘संसारे सुचिरं पडिहिडिओ’ संसारे सुचिरं भ्रान्त, कीदृशे ? ‘बहुदुक्खे’ बहुदुःखे । मिथ्याशाल्य ॥१२८१॥

एवं निर्यापकेण सूरिणा सस्तूयमान साधुवर्गो निर्वाणपुट प्रविशतीति दर्शयति उत्तरप्रबन्धेन—

इय पव्वज्जाभंढिं समिदिबइल्लं तिगुत्तिदिदधक्कं ।

रादियभोयणउद्धं सम्मत्तक्खं सणाणधुरं ॥१२८२॥

‘इय सारमिज्जंतो साधुवर्गस्तथो साधुवर्णयो संसारमहाद्वारं तरति’ पदवचना । व्यावर्णितक्रमेण सस्क्रियमाण साधुवृन्दसार्थं संसारमहाद्वी तरति । ‘पव्वज्जाभंढिमाहंइय पच्छिओ’ प्रव्रज्याभण्डिमाहंइय प्रस्थित, ‘समिदिबइल्लं’ समितिबलीवद्वा, ‘तिगुत्तिदिदधक्कं’ त्रिगुण्णितदधक्का, ‘सम्मत्तक्खं’ सम्यक्त्वाक्षां, ‘सणाणधुरं’ समीचीनज्ञानधूर्वन्ती ॥१२८२॥

गा०—पुष्पदन्ता नामकी आर्यिका आर्यिका होनेपर भी मायाशाल्यके कारण दीक्षाके अभिमुख होनेकी बुद्धिके लाभसे भ्रष्ट होकर सागरदत्त वैश्यके घरमें पूतिमुखी नामकी दासी हुई ॥१२८०॥

विशेषार्थ—इसकी कथा बृहत्कथाकोशमें ११० नम्बरपर कही है ॥१२८०॥

मायाशाल्यका वर्णन हुआ ।

गा०—धर्मप्रेमी और साधुओंके प्रति वात्सल्यभाव रखनेवाला मरीचिकुमार मिथ्यात्वशाल्य दोषके कारण बहु दुःखपूर्ण संसारमें भ्रमता हुआ ॥१२८१॥

विशेषार्थ—यह मरीचिकुमार भरतका पुत्र था जो महावीर तीर्थंकर हुआ । भगवान् आदिनाथके मुखसे अपना तीर्थंकर होना सुनकर यह भ्रष्ट हो गया था ॥१२८१॥

आगे कहते हैं कि इस प्रकार निर्यापकाचार्यके द्वारा संस्तुत साधुवर्गके साथ क्षपक मोक्षनगरमें प्रवेश करते हैं—

गा०—इस प्रकार क्षपकसाधुरूपी व्यापारी दीक्षारूपी गाड़ीपर साधुओंके संघके साथ चढ़कर निर्वाणरूपी भौंडके लिए सिद्धिपुरीकी ओर प्रस्थान करता है । उस दीक्षारूपी गाड़ीमें

वदभंडभरिदमारुहिसाधुसत्थेण पत्थिदो समयं ।

गिन्वाणभंडहेदुं सिद्धपुरीं साधुवाणियओ ॥१२२३॥

‘वदभंडभरिदं’ व्रतभाण्डपूर्णं । ‘साधुसत्थेण पत्थिदो समयं’ साधुसार्थेन सह प्रस्थितः । किं प्रति ? सिद्धिपुरं । ‘गिन्वाणभंडहेदुं’ निर्वाणद्रव्यनिमित्तं । ‘साधुवाणियओ’ क्षपकसाधुवणिक् ॥१२२३॥

आयरियसत्थवाहेण गिच्छजुत्तेण सारविज्जंतो ।

सो साहुवग्गसत्थो संसारमहाडवि तरइ ॥१२२४॥

‘आयरियसत्थवाहेण’ आचार्यसार्थवाहेन । ‘गिच्छजुत्तेण’ सर्वदानपायिना । ‘सारविज्जंतो’ ‘ससू य-  
माणः ॥१२२४॥

तो भावणादियंतं रक्खदि तं साधुसत्थमाउचं ।

इंदियचोरेहितो कसायबहुसावदेहिं च ॥१२२५॥

‘तो’ तत् । ‘भावणादियंतं रक्खदि’ भावनादिभिः प्रयत्नं रक्षति । ‘तं साधुसत्थं’ तं साधुसार्थं । ‘आउत्तं’ आयुक्तं आत्मना । कुतो रक्षति इत्याद्यङ्गाया उत्तर—‘इंदियचोरेहितो’ इन्द्रियचोरेभ्यः । ‘कसाय-  
बहुसावदेहिं च’ कषायबहुहवापदेभ्यश्च ॥१२२५॥

विसयाडवीए मज्झे ओहीणो जो पमाददोसेण ।

इंदियचोरा तो से चरित्तभंडं विलुंपति ॥१२२६॥

‘विसयाडवीए मज्झे’ स्पर्शरसरूपगन्धशब्दादिविषया अटवीव ते दुरतिक्रामणीया । तस्या विषया-  
टव्या मध्ये । ‘जो ओहीणो’ य साधुरपसृतः । ‘पमाददोसेण’ प्रमादाख्येन दोषेण । ‘इंदियचोरा’ इन्द्रियाख्या-  
चोरा । ‘से’ तस्यापसृतस्य साधुवणिजः । ‘चरित्तभंडं’ चरित्रभाण्ड । ‘विलुंपति’ अपहरन्ति । सन्निहित-  
मनोज्ञामनोज्ञविषयजा इन्द्रियमत्यनुयायिनो रागद्वेषाश्चारित्र्य विनाशयन्ति प्रमादिनः । आचार्यस्तु ध्याने  
स्वाध्याये प्रवर्तयन् प्रमादमपसारयतीति नेन्द्रियचौरैर्बध्यते इति भावः ॥१२२६॥

समित्तिरूपी बल जुडे है, तीन गुप्तिरूपी उसके मजबूत चक्के हैं । रात्रि भोजनसे निवृत्तिरूप दो दीर्घ दण्डे है । सम्यक्त्वरूपी अक्ष है समीचीनज्ञानरूपी घुरा है ॥१२२२-२३॥

गा०—आचार्य उस सघके नायक है जो निरन्तर सावधान है । उनके द्वारा बार-बार सन्मार्गमें लगाया गया वह आराधक साधु समुदाय ससाररूपी महावनको पार करता है ॥१२२४॥

गा०—वह सघपति आचार्य अपने द्वारा भावना आदिमें नियुक्त उस साधु समुदायकी इन्द्रियरूपी चोरोसे और कषायरूपी अनेक जगली हिंसक जानवरोंसे रक्षा करता है ॥१२२५॥

गा०—टी०—स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द आदि विषय अटवीके समान बड़े कष्टसे लांघे जाते हैं इसलिए उन्हे अटवी (घोर वन) की उपमा दी है । उस विषयरूपी अटवीके मध्यमें जो साधु प्रमाद दोषसे जाता है उसके चारित्ररूपी धनको इन्द्रियरूपी चोर चुरा लेते हैं । अर्थात् प्राप्त इष्ट अनिष्ट विषयोको लेकर इन्द्रिय बुद्धिके अनुसार उत्पन्न हुए रागद्वेष उस प्रमादी मुनिके चारित्रको नष्ट कर देते है । किन्तु आचार्य ध्यान और स्वाध्यायमें लगाकर प्रमादोंको दूर करता

अहवा तन्लिच्छाहं कूराहं कसायसावदाहं तं ।

खज्जंति असंजमदाढाहिं संकिलेसादिदंसेहिं ॥१२८७॥

‘अहवा’ अथवा । ‘तन्लिच्छाहं’ अपसृतजनलिप्सावन्तः । ‘कूराहं’ कूराः । ‘कसायसावदाहं’ कषाय-  
व्यालमृगाः । त अपसृतं । ‘खज्जंति’ भक्षयेयुः । ‘असंजमदाढाहिं’ असंयमदंष्ट्राणि । ‘संकिलेसादिदंसेहिं’  
सक्लेशादिदंशैश्च । इन्द्रियाणां कषायाणां वा वशी निपतत्यसति निर्यापके सूरारविति भावः ॥१२८७॥

तयोरिन्द्रियकषाययो प्रवृत्तिरनेकदोषमूलेति कथयति—

ओसण्णसेवणाओ पडिसेवंतो असंजदो होइ ।

सिद्धिपहपच्छिदाओ ओहीणो साधुसत्थादो ॥१२८८॥

इंदियकसायगुरुगत्तणेण सुहसीलभाविदो समणो ।

करणाालसो भविता सेवदि ओसण्णसेवाओ ॥१२८९॥

‘इंदियकसायगुरुगत्तणेण’ तीव्रेन्द्रियकषायपरिणामतया । ‘सुहसीलभाविदो समणो’ सुखसमाधिभाविताः  
श्रमणः । ‘करणाालसो’ त्रयोदशविधासु क्रियासु अलसः । ‘भवित्ता’ भूत्वा । ‘सेवदि’ सेवते । ‘ओसण्णसेवाओ’  
अवसन्नसेवा भ्रष्टचारित्राणां क्रियासु प्रवर्तते इति धावत् । ओसण्णो ॥१२८९॥

केई गहिदा इंदियचोरेहिं कसायसावदेहिं वा ।

पंथं छंडिय जिज्जंति साधुसत्थस्स पासम्मि ॥१२९०॥

‘केई गहिदा इंदियचोरेहिं’ केचिद्गृहीता इन्द्रियचौरैः । ‘कसायसावदेहिं तथा’ कषायश्वापवैश्च  
गृहीताः । ‘साधुसत्थस्स पंथं छंडिय’ साधुसार्थस्य पन्थानं त्यक्त्वा । ‘पासम्मि जिज्जंति’ पार्ष्वं  
यान्ति ॥१२९०॥

है इसलिए इन्द्रिय चोर नहीं सताते, यह उक्त कथनका भाव है ॥१२८६॥

गा०—अथवा उस विषयरूपी अटवीमे फँसे हुए लोगोको खानेके इच्छुक क्रूर कषायरूपी  
सिंहादि उस आगत साधुको असयमरूपी दाढीसे और रागद्रोष मोहरूपी दाँतोसे खा जाते हैं ।  
कहनेका भाव यह है कि निर्यापकाचार्यके अभावमें क्षपक इन्द्रियो और कषायोके फन्देमे फँस  
जाता है ॥१२८७॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय और कषायकी प्रवृत्ति अनेक दोषोका मूल है—

गा०—जो साधु चारित्र भ्रष्ट साधुओंकी क्रिया करता है वह असयमी होकर साधुओंके  
संघसे बाहर हो जाता है और मोक्षमार्गसे दूर हो जाता है ॥१२८८॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप तीव्र परिणाम होनेसे सुखपूर्वक समाधिमें लगा साधु तेरह  
प्रकारकी क्रियाओंमें आलसी होकर चारित्र भ्रष्ट साधुओंकी क्रिया करने लगता है ऐसा साधु  
अबसन्न कहलाता है ॥१२८९॥

गा०—कोई साधु इन्द्रियरूपी चोरों और कषायरूपी हिंसक जीवोंके द्वारा पकड़े जाकर  
साधु संघके मार्गको छोड़कर साधुओंके पार्ष्ववर्ती हो जाते हैं । साधु संघके पार्ष्ववर्ती होनेसे इन्हें  
पासत्थ या पार्ष्वस्थ कहते हैं ॥१२९०॥

तो साधुसत्त्वपंथं छंडिय पासम्मि णिज्जमाणा ते ।  
गारवगहिणकुडिल्ले पडिदा पार्वेति दुक्खाणि ॥१२९१॥

‘तो साधुसत्त्वपंथं’ साधुसार्थस्य पन्थानं । ‘छंडिय’ त्यक्त्वा । ‘पासम्मि’ पार्वे । ‘णिज्जमाणा ते’ नीयमानास्ते । ‘गारव गहिण कुडिल्ले’ चिरऋद्धिरससातगौरवसञ्छन्ने गहने । ‘पडिदा’ पतिता । ‘पार्वेति’ प्राप्नुवन्ति । ‘दुक्खाणि’ दुःखानि ॥१२९१॥

सल्लविसकंटएहिं विद्धा पडिदा पडंति दुक्खेसु ।  
विसकंटयविद्धा वा पडिदा अडवीए एगागी ॥१२९२॥

‘सल्लविसकंटएहिं विद्धा’ मिथ्यात्वमायानिदानशाल्यकण्टकीर्वा विद्धा. ‘पडिदा’ पतिता । ‘दुक्खेसु पडंति’ दुःखेषु पतन्ति । ‘विसकंटयविद्धा अडवीए एगागी पडिदा इव’ विषकण्टकेन विद्धा अटव्यामेकाकिन पतिता यथा दुःखेषु पतन्ति तथैवेति दाष्टान्तिके योजना ॥१२९२॥

पंथं छंडिय सो जादि साधुसत्त्वस्स चेव पासाओ ।  
जो पडिसेवदि पासत्थसेवणाओ हु णिद्धम्मो ॥१२९३॥

साधुसार्थस्य पन्थानं त्यक्त्वा कस्य पार्वे याति यस्यामी दोषा व्यावर्णिता—गौरवगहने पात शल्य-विषकण्टकवेधादयश्चेत्याशङ्क्याया वदति । ‘पंथं छंडिय साधुसत्त्वस्स सो जादि’ परित्यज्य साधुसार्थस्य पन्थान-मसौ याति । ‘पासम्मि’ पार्वे । ‘जो पडिसेवदि’ य. प्रतिसेवते, ‘पासत्थसेवणाओ हु’ पार्वस्थसेवना., ‘णिद्धम्मो’ धर्मचरित्रं तस्मादपगतः, धर्मादपगतः सन्पार्वस्थाचरणीयासु क्रियासु प्रवर्तते ॥१२९३॥

सर्वं कथं निर्धर्मता तस्येत्याशङ्क्य वदन्ति—

इंदियकसायगरुयत्तणेण चरणं तणं व पस्संतो ।

णिद्धम्मो हु सविता सेवदि पासत्थसेवाओ ॥१२९४॥

‘इंदियकसायगरुयत्तणेण’ इन्द्रियकषायविषयैर्गौरवाच्च रागद्वेषपरिणामयो क्रोधादिपरिणामाना च

गा०—साधु समूहके मार्गको छोडकर पार्वस्थ मुनिपनेको प्राप्त हुए वे ऋद्धिगौरव, रस-गौरव और सातगौरवसे भरे गहन वनमें पड़कर तीव्र दुःख पाते हैं ॥१२९१॥

गा०—अथवा जैसे बिषले काँटोंसे बिंधे हुए मनुष्य अटवीमें अकेले पड़े हुए दुःख पाते हैं, वैसे ही मिथ्यात्व माया और निदानशाल्यरूपी काँटोंसे बीधे हुए वे पार्वस्थ मुनि दुःख पाते हैं ॥१२९२॥

गा०—वह पार्वस्थ मुनि साधु संघका मार्ग त्यागकर ऐसे मुनिके पास जाता है जो चरित्रसे भ्रष्ट होकर पार्वस्थ मुनियोंका आचरण करता है ॥१२९३॥

वह मुनि चरित्र भ्रष्ट क्यों है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०-टी०—इन्द्रिय, कषाय और विषयोके कारण रागद्वेषरूप परिणामों और क्रोधादि

सीधत्वात् । 'चरणे' चारित्र्यं, 'तर्ष' च' तुष्णमित्य, 'पस्संतो' पश्यन् रसाद्ययोऽप्यशुभपरिष्कारमास्तत्त्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकप्रतीक सकलार्थं ज्ञानचारित्र्यं निस्सारमित्य पश्यति, तत एव तत्राङ्गकादरः चारित्र्यादपैतीति निर्द्धर्मतास्य । ततः पार्श्वस्थसेवासु प्रयतते । 'पस्सन्तो' ॥१२९४॥

इ'दियचोरपरद्धा कसामसावदमएण वा केई ।

उम्मगणेण पलायंति साधुसत्त्वस्स दूरेण ॥१२९५॥

'इ'दियचोरपरद्धा' इन्द्रियचोरकृतोपद्रवाः । 'कसामसावदमएण वा केई' कषायव्यालमृगभयेन वा केचित् । 'उम्मगणेण' उन्मार्गेण 'पलायंति' पलायनं कुर्वन्ति । 'साधुसत्त्वस्स दूरेण' साधुसार्धस्य दूरात् ॥१२९५॥

तो ते कुसीलपडिसेवणावणे उप्पघेण घावंता ।

सण्णाणदीसु पडिदा किल्लेससीदेण बुद्धंति ॥१२९६॥

'तो' ततः साधुसार्धाद्दूरादपसृताः, 'कुसीलपडिसेवणावणे' कुसीलप्रतिसेवनावने, 'उप्पघेण' उन्मार्गेण । 'घावंता' घावन्तः । 'सण्णाणदीसु' सज्जनदीपु । 'पडिदा' पतितः । 'किल्लेससीदेण' क्लेशज्योतसा । 'बुद्धंति' ते बुद्धन्ति ॥१२९६॥

सण्णाणदीसु ऊढा बुद्धा थाहं कहंपि अलहंता ।

तो ते संसारोदधिमदंति बहुदुक्खभीसम्मि ॥१२९७॥

'सण्णाणदीसु ऊढा' सज्जनदीभिराकृष्टा संतो निर्मन्ताः । 'थाहं' अवस्थानं 'कहंपि' क्वचिदपि 'अलहंता' अलममाना । 'तो' पश्चात् । 'संसारोदधिमदंति' संसारसागरं प्रविशन्ति । 'बहुदुक्खभीसम्मि' बहुदुःखभीष्मं ॥१२९७॥

आसागिरिदुग्गाणि य अदिगम्म तिदंडकक्खडसिलसु ।

उल्लोडिदपम्भट्टा सुप्पंति अणंतयं कालं ॥१२९८॥

परिणामोक्ते तीव्र होनेसे वह चारित्र्यको तृणके समान मानता है । क्योंकि रसादिरूप अशुभ परिणाम तत्त्वज्ञानके प्रतिबन्धक होते हैं । अतः उसका ज्ञान दूषित होनेसे वह चारित्र्यको सारहीन मानता है । इसीसे वह उसमें आदरभाव न रखनेके कारण चारित्र्यसे च्युत होता है । इसीसे उसे चारित्र्य भ्रष्ट कहा है । चारित्र्य भ्रष्ट होकर वह पार्श्वस्थ मुनियोंकी सेवामें लग जाता है । यह पार्श्वस्थ मुनिका कथन है ॥१२९४॥

शा०—अथवा कोई मुनि इन्द्रियरूपी चोरोसे पीड़ित होकर कषायरूप हिंसक प्राणियोंके भयसे साधु संघसे दूर होकर उन्मार्गमें चले जाते हैं ॥१२९५॥

शा०—साधु संघसे दूर होकर वे मुनि कुसील प्रतिसेवनारूप वनमें उन्मार्गसे चौड़ते हुए आहार भय भेषुन परिग्रहरूप संज्ञाचक्षीमें गिरकर कण्ठरूपी प्रवाहमें पड़कर डूब जाते हैं ॥१२९६॥

शा०—संज्ञारूप नदीमें डूबनेपर उन्हें कहीं भी ठहरनेका स्थान नहीं मिलता अतः वे बहुत दुःखोंसे भयानक संसार समुद्रमें प्रवेश करते हैं ॥१२९७॥

शा०—संसार समुद्रमें प्रवेश करनेपर अज्ञारूपी पहाड़ोंको लांचते हुए मन-वचन-कायकी

‘आसागिरिदुर्गायै नमः’ आसागिरिदुर्गायै नमः । ‘अविमन्म’ अतिक्रम्य । ‘तिर्वन्दककडितिलासु’ त्रिदशक-  
कंशशिलासु । ‘उल्लोडिव’ ‘पञ्चदहा’ अवलुण्ठिताः सन्तः प्रप्रण्टाः ‘अबैति’ भ्रमयन्ति । ‘अणंतयं कालं’ अनंतं  
कालं ॥१२९८॥

बहुपावकम्मकरणाडवीसु महदीसु विप्पणट्टा वा ।

अदिट्टणिब्बुद्विपधा भमंति सुचिरंपि तत्थेव ॥१२९९॥

‘बहुपावकम्मकरणाडवीसु’ बहुविधाम्यशुभकर्मण्येवाटव्यः तासु ‘महदीसु’ दीर्घासु । ‘विप्पणट्टा’ विप्र-  
नष्टाः । ‘अदिट्टणिब्बुद्विपधा’ अदृष्टनिवृत्तिमार्गाः । ‘भमंति’ भ्रमन्ति । ‘सुचिरंपि’ सुचिरमपि । ‘तत्थेव’  
तत्रैव ॥१२९९॥

दूरेण साधुसत्थं छंडिय सो उप्पघेण सु पलादि ।

सेवदि कुशीलपडिसेवणाओ जो सुत्तदिट्टाओ ॥१३००॥

‘दूरेण साधुसत्थं’ दूरास्तामुसारं । ‘छंडिय’ त्यक्त्वा । ‘सो’ सः । ‘उप्पघेण सु’ उन्मार्गेण । ‘पलादि’  
पलायते । ‘सेवदि कुशीलपडिसेवणाओ’ सेवते कुशीलप्रतिसेवना । ‘जो’ यः । ‘सुत्तदिट्टाओ’ सूत्र-  
निदिष्टा ॥१३००॥

इं दियकसायगुरुगत्तणेण चरणं तणं व पस्संतो ।

णिइंसो भवित्ता सेवदि हु कुशीलसेवाओ ॥१३०१॥

‘इं दियकसायगुरुगत्तणेण’ इन्द्रियकषायपरिणामाना गुह्यत्वेन । ‘चरणं तणं व पस्संतो’ चरणं तृणमिव  
पश्यन् । ‘णिइंसो भवित्ता’ अह्नीको भूत्वा । ‘सेवदि’ सेवते कुशीलसेवाः ॥ कुशीला ॥१३०१॥

सिद्धिपुरसुवन्लीणा वि केइ इंदियकसायचोरेहिं ।

पविलुत्तचरणमंडा उवहदमाणा णिवट्टंति ॥१३०२॥

दुष्प्रवृत्तिरूप शिलाओंपर लुठकते हुए गिरकर अनन्तकाल बिताते है ॥१२९८॥

बिज्ञोषार्थं—पहले वे उत्तरगुण छोड़ते है फिर मूलगुण और सम्यक्त्वसे भी भ्रष्ट होकर  
संसारमें भ्रमण करते हैं ॥१२९८॥

गा०—अनेक प्रकारके अशुभकर्मरूप सुदीर्घ अटवीमें भटकते हुए वे निर्वाणका मार्ग कभी  
देखा न होनेसे चिरकालतक वही भ्रमण करते रहते है ॥१२९९॥

गा०—वे दूरसे ही साधुसंगको त्यागकर कुमार्गमें दौड़ते है । और आगममें कहे कुशील  
मुनिके दोषोंको करते हैं ॥१३००॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंकी तीव्रताके कारण चारित्रको तृणके समान  
मानते हैं और निर्लज्ज होकर कुशीलका सेवन करते हैं ॥१३०१॥

इस प्रकार कुशील मुनिका कथन हुआ ।

गा०—कोई-कोई मुक्तिपुरीके निकट तक जाकर भी इन्द्रिय और कषायरूपी चोरोके  
द्वारा चारित्ररूपी धन चुराये जानेपर संयमका अभिमान त्यागकर उससे लौट आते हैं ॥१३०२॥



'सिद्धिपुरमुक्तालीना वि' सिद्धिपुरमुपलीना अपि । 'किं' केचित् । 'इन्द्रियकलाभोरेहि' इन्द्रियकलाय-  
चोरेः । 'बिन्दुसत्तरणभंडा' अपहृतचारित्रभाण्डाः । 'उषहृदनाम्न' उपहृताभिमानाः । 'निबद्धति' निब-  
धन्ते ॥१३०२॥

तो ते शीलदरिद्रा दुःखमणंतं सदा वि पावति ।

बहुपरियणो दरिद्रो पावति तिव्वं जघा दुःखं ॥१३०३॥

'तो' पश्चात् । 'ते शीलदरिद्रा' ते शीलदरिद्राः । 'दुःखं' दुःखं । 'जघंतं' अन्तातीतं । 'सदा वि  
पावति' सदा प्राप्नुवन्ति । 'बहुपरियणो' बहुपरिजनो । 'दरिद्रो' दरिद्रः । 'पावति दुःखं तिव्वं' प्राप्नोति  
दुःखं तीव्रं यथा ॥१३०३॥

सो होदि साधुसत्थादु णिग्गदो जो भवे जघाछंदो ।

उत्सुत्तमणुवदिदुं च जधिच्छाए विकप्पंतो ॥१३०४॥

'सो होवि' स भवति । 'साधुसत्थादु णिग्गदो' साधुसार्थान्निवृत्तः । 'जो हवे जघाछंदो' यो भवति  
स्वेच्छावृत्तिः । 'उत्सुत्तं' उत्सूत्र । 'अणुवदिदुं' अनुपदिष्टं च स्थविरैः । 'जधिच्छाए विकप्पंतो' यथेच्छया  
विकल्पयन् ॥१३०४॥

जो होदि जघाछंदो तस्स घणिदंयि संजमितस्स ।

णत्थि दु चरणं चरणं खु होदि सम्मत्तसहचारी ॥१३०५॥

'जो होवि जघाछंदो' यो भवति स्वेच्छावृत्तिः । 'तस्स घणिदंयि संजमितस्स' तस्य नितरामपि सयमे  
प्रवर्तमानस्य । 'णत्थि दु' नास्त्येव । 'चरणं' चारित्रं । 'चरणं खु होदि सम्मत्तसहचारी' सम्यक्त्वसहचार्येव  
यत्तेश्चारित्रं । स्वच्छन्दवृत्तेस्तु यत्किञ्चित्परिकल्पयतः सूत्रमननुसरतः नैव सम्यग्दर्शनमस्ति । तदन्तरेण सम्य-  
क्चारित्रं नैव भवति ॥१३०५॥

इंदियकसायगुरुगतणेण सुत्तं पमाणमकरंतो ।

परिमाणेदि जिणुत्ते अत्थे सच्छंददो खेव ॥१३०६॥

गा०—पश्चात् वे शीलसे दरिद्र मुनि सदा अनन्त दुःख पाते हैं । जैसे बहुत परिवारवाला  
दरिद्र मनुष्य तीव्र दुःख पाता है ॥१३०३॥

अब यथाच्छन्द मुनिका स्वरूप कहते हैं—

गा०—साधुसंघसे निकलकर जो पूर्वाचार्योके द्वारा नहीं कहे आगम विरुद्ध मार्गीकी अपनी  
इच्छानुसार कल्पना करता है वह यथाच्छन्द मुनि होता है ॥१३०४॥

गा०—टी०—जो स्वच्छन्दचारी मुनि होता है वह संयममें अत्यन्त प्रवृत्ति भी करे तो भी  
उसका चारित्र चारित्र नहीं है क्योंकि सम्यक्त्वके साथ जो चारित्र होता है वही चारित्र होता  
है । जो स्वच्छन्दचारी होता है वह तो जो उसकी इच्छा होती है तदनुसार आचरण करता है ।  
आगमका अनुसरण नहीं करता, अतः उसके सम्यग्दर्शन नहीं है । और सम्यग्दर्शनके बिना  
सम्यक्चारित्र नहीं होता ॥१३०५॥

'इन्द्रियकसायगुरुत्वगणे' कषयाक्षगुरुकृतत्वेन सूत्रमप्रमाणयन् । 'परिभाषेदि' अन्यथा गृह्णाति ।  
'निवृत्ते अन्वे' जिनोक्तानयन् । 'सच्छब्दो वेव' श्वेच्छान्निप्रायणव ॥ अथाच्छब्द ॥१३०६॥

इन्द्रियकसायदोसेहिं अथवा सामण्यजोगपरिततो ।

जो उच्चायदि सो होदि जियत्तो साधुसत्थादो ॥१३०७॥

'इन्द्रियकसायदोसेहिं' इन्द्रियकषायदोषे । 'अथवा सामण्यजोगपरिततो' अथवा सामान्ययोगेन वान्त ।  
'जो उच्चायदि' यश्चारित्राच्छयवते । 'सो होदि' स भवति । 'जयत्तो साधुसत्थादो' निवृत्त साधु-  
साधत् ॥१३०७॥

इन्द्रियकसायवसिया केई ठाणाणि ताणि सव्वाणि ।

पाविज्जंते दोसेहिं तेहिं सव्वेहिं संसत्ता ॥१३०८॥

'इन्द्रियकसायवसिया' इन्द्रियकषायवशगा । 'केई' केचित् । 'ठाणाणि ताणि सव्वाणि' तान्यशुभस्था-  
नपरिणामानि । 'पाविज्जंति' प्राप्यन्ते । 'दोसेहिं तेहिं सव्वेहिं संसत्ता' दोषैस्तैः सर्वे संसक्ता ।  
संसत्ता ॥१३०८॥

इय एदे पंचविधा जिणेहिं सवणा दुगुंच्छिदा सुत्ते ।

इन्द्रियकसायगुरुत्वगणेण णिच्चंपि पडिक्कुद्धा ॥१३०९॥

पासत्यत्तिगव ॥१३०९॥

दुद्धा चवला अदिदुज्जया य णिच्चं पि समणुबद्धा य ।

दुक्खावहा य भीमा जीवाणं इन्द्रियकसाया ॥१३१०॥

'दुद्धा' दृष्टा आत्मोपद्रवकारित्वात् । 'चवला' अनवस्थितत्वात् । 'अदिदुज्जया य' अतोव दुर्जयाः अनु-  
पलब्धचारित्रमोहक्षयोपशमप्रकर्षेण जीवेन दुःखेन अभिभूयन्ते इति । 'णिच्चंपि' नित्यमपि । 'समणुबद्धा य'

गा०—इन्द्रिय और कषायोकी प्रबलताके कारण वह आगमको प्रमाण नहीं मानता ।  
और अपनी इच्छाके अनुसार जिनभगवान्के द्वारा कहे गये अर्थको विपरीतरूपसे ग्रहण करता  
है ॥१३०६॥

गा०—इन्द्रिय और कषायोके दोषसे अथवा सामान्य योगसे विरक्त होकर जो चारित्रसे  
गिर जाता है वह साधु सगसे अलग हो जाता है ॥१३०७॥

अब संसक्त मुनिका स्वरूप कहते हैं—

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके वशमे हुए कोई मुनि उन सब दोषोमे संसक्त होकर उन सब  
अशुभ स्थान रूप परिणामोंको प्राप्त होते हैं ॥१३०८॥

गा०—इस प्रकार ये पाँच प्रकारके मुनि जिन भगवान्के द्वारा आगममें निन्दनीय कहे  
हैं । ये इन्द्रिय और कषायोकी प्रबलता होनेसे नित्य ही जिनागमसे विमुख रहते हैं ॥१३०९॥

गा०-टी०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणाम बड़े दुष्ट हैं क्योंकि ये आत्मामे उपद्रव पैदा  
करते हैं । अनवस्थित होनेसे चपल हैं । इनको जीतना अति कठिन है क्योंकि जिस जीवके चारित्र-

सम्यग्नुबद्धाश्चारित्रमोहोदयस्य स्वकारणस्य सदा सद्भावात् । नित्यमश्वेतकथं चपलाः । 'नित्यशब्दो ध्रौव्ये न प्रयुक्तः कित्वमीक्षणे मुहुर्मुहुरुनुबद्धा इत्यर्थः' । चपलता तु परिणामानां अनवस्थितत्वं अतो न विरोधः । 'दुःखा-  
बहवः' दुःखावहाश्च । 'जीवान्' जीवानां । अभिमतभोग्यालाभे प्राप्तस्य चाभ्यासे महत् दुःखमित्यनुभवसिद्ध-  
मेव सर्वप्राणभृतां । कषायास्तु क्रोधादयः कषायन्ति' हृदयं । अथवा दुःखकारणासद्वैभार्जननिमित्तत्वात्  
दुःखावहाः । इन्द्रियकषायवशात् जीवान् हिनस्ति । दुःखकरणेन वासवत्यसद्वेद्यं इति । यत एव दुःखावहा  
अतएव भीमाः । 'इन्द्रियकषाया' इन्द्रियकषायपरिणामाः ॥१३१०॥

मरुतेऽपि पियंतो वत्यो जह वादि पूदियं गंधं ।

तद्य दिक्खिदो वि इन्द्रियकषायगंधं बहदि कोइ ॥१३११॥

'तुष्कतैलमपि' 'पियंतो' पिबन्, 'वत्यो' वस्तः अन्वयोतः । 'जह वादि' भूमियं गंधं' पूतिगन्ध यथा  
वाति । प्राकृतगन्ध यथा न जहाति सन्धियमाणोऽपि सुरमिणा द्रव्येण, 'तद्य दिक्खिदो वि' तथा दीक्षितो-  
ऽपि परित्यक्तासंयमोऽपि । 'इन्द्रियकषायगंधं बहदि' इन्द्रियकषायदुर्गन्धमुद्रहति इति यावत् ॥१३११॥

भुंजंतो वि सुभोग्यमिच्छदि जघ सुयरो समलमेव ।

तद्य दिक्खिदो वि इन्द्रियकषायमलिणो हवदि कोइ ॥१३१२॥

'भुंजंतो वि सुभोग्यं' भुञ्जानोऽपि शोभनमाहारं । 'सुयरो जघ समलमेव इच्छदि' सूकरो यथा  
समलमेवाभिलषति चिरन्तनाभ्यासात् । 'तह' तथा । 'दिक्खिदो वि' दीक्षितोऽपि कृतव्रतपरिग्रहसंस्कारोऽपि ।  
'कोइ' कश्चित् । 'इन्द्रियकषायमलिणो हवदि' इन्द्रियकषायाख्याशुभपरिणामोपनतो भवति । मव्योऽपि जन-

मोहके क्षयोपशमका प्रकर्षं नहीं है वह जीव बड़े कष्टसे इन्हे वशमें कर पाता है । तथा इनका  
कारण चारित्रमोहका उदय सदा रहता है अतः ये नित्य बने रहते हैं ।

शङ्का—यदि ये नित्य है तो चपल कैसे हैं ?

समाधान—नित्य शब्दका प्रयोग ध्रौव्यके अर्थमें नहीं है किन्तु बार-बारके अर्थमें है । और  
परिणामोंके स्थिर न होनेको चपलता कहते हैं अतः कोई विरोध नहीं है ।

तथा ये जीवोंको दुःखदायी हैं । इष्ट भोगकी प्राप्ति न होने पर अन्धता प्राप्त भोगका  
विनाश होने पर महान् दुःख होता है यह सभी प्राणियोंको अनुभवसिद्ध है । क्रोधादि कषाय  
हृदयको संताप पहुँचाती है । अथवा दुःखका कारण जो असातावेदनीय कर्म है उसके बन्धमें  
निमित्त है इसलिए दुःखदायी हैं । जो इन्द्रिय और कषायके वशमें होता है वह जीवोंका घात  
करता है । जीवोंके दुःख देनेसे असातावेदनीय कर्मका आस्वव होता है । और यतः ये इन्द्रिय तथा  
कषाय दुःखदायी हैं, अतएव भयंकर हैं ॥१३१०॥

शा०—जैसे बकरीका बच्चा सुगन्धित तेल भी पिये फिर भी अपनी पूर्व दुर्गन्धको नहीं  
छोड़ता । उसी प्रकार दीक्षा लेकर भी अर्थात् असंयमको त्यागने पर भी कोई कोई इन्द्रिय और  
कषाय रूप दुर्गन्धको नहीं छोड़ पाते ॥१३११॥

जैसे सुअर सुन्दर स्वादिष्ट आहार खाते हुए भी चिरंतन अभ्यास वश विष्टा ही खाना  
पसन्द करता है । उसी प्रकार वस्तुओंको ग्रहण करके भी कोई कोई इन्द्रिय और कषायरूप अशुभं

बुरूपदेशादधिगतदुःखनिवृत्त्युपायतया परित्यक्तेन्द्रियकषायोऽपि गार्हस्थ्यपरित्यागकाले पुनरपि तत्रापत-  
तीति ॥१३१२॥

एतद् अनेकदृष्टान्तोपन्यासेन दर्शयति सूत्रिस्तरप्रबन्धेन—

**वाहभएण पलादो जूहं दट्टूण वागुरापडिदं ।**

**सयमेव भओ वागुरमदीदि जह जूहत्तण्हाए ॥१३१३॥**

‘वाहभएण’ व्याधभयेन । ‘पलादो भगो’ कृतपलायनो मृग । ‘वागुरापडिदं जूहं दट्टूण’ वागुरापतितं स्वयूषं दृष्ट्वा । ‘सयमेव वागुरमदीदि भगो’ स्वयमेव वागुरा प्रविशति मृग । ‘जह’ यथा, कृत । ‘जूहत्तण्हाए’ गृह्यतृष्णया । ‘एवं के वि निहवासं भुञ्जा’ इत्यनया गायवा संबन्ध. कार्यं ॥१३१३॥

**पंजरमुक्को सउणो सुइरं आरामएसु विहरंतो ।**

**सयमेव पुणो पंजरमदीदि जघ णीडत्तण्हाए ॥१३१४॥**

‘पंजरमुक्को सउणो’ पञ्जरान्मुक्तः पक्षी । ‘सुइरं आरामएसु विहरंतो’ आरामेषु स्वेच्छया विहरन् । ‘सयमेव’ स्वयमेव । ‘पुणो’ पुनः । ‘पंजरमदीदि’ पञ्जरमुपैति । ‘जघ णीडत्तण्हाए’ यथा णीडत्तृष्णया ॥१३१४॥

**कलभो गएण पंकादुद्धरिदो दुत्तरादु बल्लिएण ।**

**सयमेव पुणो पंके जलत्तण्हाए जह अदीदि ॥१३१५॥**

‘कलभो’ गजपोत. महति कर्दमे पतित । ‘गएण पंकादुद्धरिदो’ गजेन परेण पङ्कादुद्धृतो । ‘दुत्तरादु’ दुस्तरात् पङ्कात् बल्लिष्वतिशयवता गजेन । ‘सयमेव पुणो पंके जह अबीदि’ स्वयमेव कलभो यथा पङ्क-  
मुपैति । ‘जलत्तण्हाए’ जलत्तृष्णया ॥१३१५॥

**अग्गिपरिक्खित्तादो सउणो रुक्खादु उप्पडित्ताणं ।**

**सयमेव तं दुमं सो णीडणिमित्तं जघ अदीदि ॥१३१६॥**

परिणाम वाले होते हैं । भव्य जीव भी गुरुके उपदेशसे गृहस्थाश्रमका परित्याग करते समय दुःख-  
की निवृत्तिका उपाय जानकर इन्द्रिय और कषाय रूप परिणामोका त्याग करता है किन्तु फिर  
भी वह उन्हीके चक्रमे पड जाता है ॥१३१२॥

आगे आचार्य अनेक दृष्टान्तोके द्वारा इसीको दर्शति है—

गा०—जैसे व्याधके भयसे भागा हुआ हिरन अपने झुण्डको जालमे फँसा देखकर झुण्डके  
मोहसे स्वयं भी जालमें फँस जाता है वैसे ही कोई मुनि गृह त्यागनेके बाद स्वयं ही उसमें फँस  
जाता है ॥१३१३॥

गा०—जैसे पीजरेसे मुक्त हुआ पक्षी उद्यानोमे स्वेच्छापूर्वक विहार करते हुए स्वयं ही  
अपने आवासके प्रेमवश पीजरेमें चला जाता है ॥१३१४॥

गा०—जैसे महती कीचड़में फँसा हाथीका बच्चा बलवान् हाथीके द्वारा निकाला गया ।  
किन्तु पानीकी प्यासवश वह स्वयं ही कीचड़में फँस जाता है ॥१३१५॥

गा०—जैसे पक्षी आगसे घिरे वृक्षसे उड़कर स्वयं ही अपने घोंसलेके कारण उस वृक्षपर  
जा पहुँचता है ॥१३१६॥

‘अग्निपरिक्षिप्तताबो’ वृधावुत्पत्य सकुमः । कीदृग्भृतात् ? ‘अग्निपरिक्षिप्तताबो’ अग्निना समन्ताद्द्वेषितात् । ‘सयमेव तं वृत्तं बहू अबीधि’ स्वयमेवासी पक्षी अग्निपरिक्षिप्तदुग्ममधिगच्छति । ‘बीडधि-मिर्त्त’ स्वावासनिमित्तं ॥१३१६॥

लंघिज्जंतो अहिणा पासुतो कोइ जग्गमाणेण ।

उट्ठविदो तं वेत्तुं इच्छदि जध कोदुग्गहलेण ॥१३१७॥

‘लंघिज्जंतो अहिणा’ लङ्घ्यमानोऽहिना, ‘कोइ पासुतो’ कश्चित्प्रसुप्तः, ‘जग्गमाणेण उट्ठविदो’ जाग्रता उत्थापितः । ‘बहू तं वेत्तुमिच्छति’ यथा सर्पं ग्रहीतुमिच्छति, ‘कोदुग्गहलेण’ कौतूहलेन ॥१३१७॥

सयमेव वंतमसणं णिण्लज्जो णिग्घणो सयं चैव ।

लोलो किविणो मुंजदि सुणहो जध असणतण्हाए ॥१३१८॥

‘सयमेव वंतमसणं’ स्वयमेव वान्तमशनं । ‘सुणहो णिण्लज्जो णिग्घणो’ इवा निर्लज्जः निर्घृणः । ‘जहा’ यथा । ‘सयमेव भुंजदि’ स्वयमेव भुङ्क्ते । ‘लोलो’ आसक्तः । ‘किविणो’ कुपणः । ‘असणतण्हाए’ अशनतृष्णया ॥१३१८॥

एवं केइ गिहवासदोसमुक्का वि दिक्खिदा संता ।

इंदिक्कसायदोसेहि पुणो ते चैव गिण्हंति ॥१३१९॥

‘एवं केइ’ एव केचित् । ‘गिहवासदोसमुक्का वि’ गृहवासेभ्यो ये दोषास्तेभ्यो मुक्ता । ‘दिक्खिदा वि संता’ दीक्षिता अपि सन्तः । ‘इंदिक्कसायदोसे’ इन्द्रियकषायदोषान् । ‘ते चैव’ तांश्चैव गृहवासगतान् । ‘गिण्हंति’ गृह्णन्ति । कीदृग्गृहवासो येन दुष्ट इति भण्यते । ममेवं भावाधिष्ठानं अनुपरतमायालोभोत्पादन-प्रवीणजीवनोपायप्रवृत्तः कषायानामाकर परेषा पीडानुग्रहयोराबद्धपरिकरः पुण्यिभ्यन्तेजोवायुवनस्पतिष्वनारत-वृत्तव्यापारो, मनोवाक्कार्ये, सच्चित्ताचित्तानेकाणुस्थूलद्रविणग्रहणवर्द्धनोपजातायासः, यत्र स्थितो जनोऽसारता, अनित्ये नित्यता, अशरणे शरणता, अशुचौ शुचिता, दुःखे सुखिता, अहिते हितता, असंश्रये संश्रयणीयता,

गा०—जैसे किसी सोते हुए मनुष्यपरसे सर्प जा रहा है । उसे कोई जागता हुआ मनुष्य उठाता है और वह उठकर कौतूहलवश उस सर्पको पकड़ना चाहता है ॥१३१७॥

गा०—जैसे कोई निर्लज्ज घिनावना कुत्ता अपने ही वमन किये भोजनको भोजनकी तृष्णावश लोलुपतासे खाता है ॥१३१८॥

गा०—टी०—वैसे ही गृहवासके दोषोंसे मुक्त कोई दीक्षा स्वीकार करके भी गृहवासके उन्ही इन्द्रिय और कषायरूप दोषोंको स्वीकार करता है । गृहवासकी बुरा क्यों कहा यह बतलाते हैं— गृहस्थाश्रम ‘यह मेरा है’ इस भावका अधिष्ठान है, निरन्तर माया और लोभको उत्पन्न करनेमें दक्ष जीवनके उपायोंमें लगानेवाला है, कषायोंकी खान है, दूसरोंको पीड़ा देने और अनुग्रह करनेमें तत्पर रहता है, पुण्यी जल आग वायु और वनस्पतिमें उसका व्यापार सदा चला करता है, मन वचन कायसे सच्चित्त अचित्त अनेक सूक्ष्म और स्थूल द्रव्योंके ग्रहण और बढ़ानेके लिए उसमें प्रयास करना होता है । उसमें रहकर मनुष्य असारमें सारता, अनित्यमें नित्यता, अशरणमें शरणता, अशुचिमें शुचिता, दुःखमें सुखपना, अहितमें हितपना,

शत्रुभूते मित्रता च भयमानः परितः परिधावति । सभयसङ्कोऽपि पदमधिगच्छति । दुस्तरकाकलोहपञ्जरो-  
 दरमत्तो हरिरेव, बापुरापतितमृगकुलमिव, अन्यायकर्ममोन्मग्नी जरत्कुञ्जर इव हताशः, पाशबद्धो विह्व इव,  
 चारकावद्वस्तस्कर इव, व्याघ्रमध्यमध्यासीनोऽल्पबलो मृग इव, तदन्तिकोपयानजातसङ्कटः कूटपाशावकुण्ठो  
 जलचर इव, यत्रावस्थितो जनः कामबहुलतमपटलेनाविद्यते । रागमहानागंस्पृष्टं चिन्ताडाकिनीभिः कवली-  
 क्रियते, शोकवृक्षैरनुगम्यते, कोपपावकेन भस्मसात् क्रियते, दुराशालतिकाभिर्निश्चल बध्यते, प्रियविप्रयोगाश-  
 निभिरनिशं शकलीक्रियते, प्रार्थितालाभशरशतैस्तूणीरता नीयते, मायास्यविरिकया गाढमालिङ्ग्यते, परिभ-  
 कठिनकुठारैर्विदायते, अयशोमलेन लिप्यते, मोहमहाबनवारणेन हन्यते, पापघातकैरबोधः पात्यते, भयाय-  
 शलाकामिस्तुद्यते, आयासवायसैः प्रतिवासर भिष्यते, ईर्ष्यामध्या विरूपता परिप्राप्यते, परिग्रहग्रहैर्गृह्यते ।  
 यत्रावस्थितोऽसंयमाभिमुखो भवति । असूयाज्जायायाः प्रियता याति, मानदानवाधिपतितो अनुभवति, विशाल-  
 धवलचारित्रातपत्रयच्छायासुखं न लभते, संसारचारकावात्मानं नापनयति, कर्मनिर्मूलनाय न प्रभवति, मरण-  
 विषपादप न दहति, मोहघनशृङ्खला न शोचयति, विचित्रयोनिमुखसचरणं न निषेधति । तत इत्यभूताद्गृहवास-  
 दोवात्यक्ता सन्तोऽपि दीक्षिता 'इद्वियकसायबोसे हिं' इन्द्रियकषायदोषान् । हिं शब्दं समुच्चयार्थं । तेनैव-  
 मभिसवध्यते 'पुणो हिं' पुनरपि 'ते जीव' तानेव । 'गिण्हुंति' गृह्णन्ति ॥१२१९॥

अनाश्रयमें आश्रयपना, शत्रुमें मित्रता मानता हुआ सब ओर दौड़ता है । भय और शकासे युक्त  
 होते हुए भी आश्रय प्राप्त करता है । जिससे निकलना कठिन है ऐसे कालरूपी लोहेके पीजरेके  
 पेटमें गये सिंहकी तरह, जालमें फसे हिरणोंकी तरह, अन्यायरूपी कीचड़में फँसे बूढ़े हाथीकी  
 तरह, पाशसे बद्ध पक्षीकी तरह, जेलमें बन्द चोरकी तरह, व्याघ्रोंके मध्यमें बैठे हुए दुर्बल  
 हिरणकी तरह, जिसके पासमें जानेसे सकट आया है ऐसे जालमें फँसे मगरमच्छकी तरह, जिस  
 गृहस्थाश्रममें रहनेवाला मनुष्य कालरूपी अत्यन्त गाढ़े अन्धकारके पटलसे आच्छादित हो जाता  
 है । रागरूपी महानाग उसे सताते हैं । चिन्तारूपी डाकिनी उसे खा जाती है । शोकरूपी भेड़िये  
 उसके पीछे लगे रहते हैं । कोपरूप आग उसे जलाकर राख कर देती है । दुराशारूपी लताधोसे  
 वह ऐसा बँध जाता है कि हाथ पैर भी नहीं हिला पाता । प्रियका वियोगरूपी वज्रपात उसके  
 टुकड़े कर डालता है । प्रार्थना करनेपर न मिलनेरूपी सैकड़ों बाणोंका वह तरकस बन जाता है  
 अर्थात् जैसे तरकसमें बाण रहते हैं वैसे ही गृहस्थाश्रममें वाँछित वस्तुका लाभ न होनेरूपी बाण  
 भरे हैं । मायारूपी बुढ़िया उसे जोरसे चिपकाये रहती है । तिरस्काररूपी कठोर कुठार उसे  
 काटते रहते हैं । अपयशरूपी मलसे घह लिप्त होता है । महामोहरूपी जगली हाथीके द्वारा वह  
 मारा जाता है । पापरूपी घातकोके द्वारा वह ज्ञानशून्य कर दिया जाता है । भयरूपी लोहेकी  
 सुइयासे कोचा जाता है । प्रतिदिन श्रमरूपी कौओंके द्वारा खाया जाता है । ईर्ष्यारूपी काजलसे  
 विरूप किया जाता है । परिग्रहरूपी मगरमच्छोंके द्वारा पकड़ा जाता है । जिस गृहस्थाश्रममें  
 रहकर असंयमकी ओर जाता है । असूयारूपी पत्नीका प्यारा होता है । अर्थात् दूसरोके गुणोंमें  
 भी दोष देखता है, अपनेको मानरूपी दानवका स्वामी मानने लगता है । विशाल धवल चारित्र-  
 रूपी तीन छत्रोंकी छायाका सुख उसे नहीं मिलता । वह अपनेको संसाररूपी जेलसे नहीं छुड़ा  
 पाता । कर्मोंका जड़मूलसे विनाश नहीं कर पाता । मृत्युरूपी विषवृक्षको नहीं जला पाता ।  
 मोहरूपी मजबूत साँकलको नहीं लौड़ता । विचित्र योनियोंमें जानेको नहीं रोक पाता । दीक्षा

बंधनमुक्तो पुनरेव बंधनं सो अचेयगोदीदि ।

इदियकसायबंधनमुवेदि जो दिक्खिदो संतो ॥१३२०॥

'बंधनमुक्तो' बन्धनमुक्तः । 'पुनरेव बंधनं' पुनर्बन्धन । 'अचेयि' प्रतिपद्यते । 'सो अचेयगो' सोऽजः ।  
कः ? 'जो दिक्खिदो संतो इ' इदियकसायबंधनमुवेदि' यो दीक्षित' इतिप्रियकषायबन्धमुपैति । इन्द्रियकषायपरि-  
णामाः कर्मबन्धनक्रियायां साधकतमतया इह बन्धनशब्देतोच्यन्ते ॥१३२०॥

मुक्तो वि णरो कलिणा पुणो वि तं चेव मग्गदि कलिं सो ।

जो दिक्खिदो वि इ'दियकसायमहयं कलिमुवेदि ॥१३२१॥

प्रसिद्धार्थ ॥१३२१॥

उत्तरनाथा—

सो णिच्छदि मोत्तुं जे हत्थगयं उम्भुयं सुपज्जलियं ।

सो अक्कमदि कण्हसत्थं छादं वग्घं च परिमसदि ॥१३२२॥

'सो णिच्छदि' स नेच्छति । 'मोत्तुं' मोक्तु । कि ? 'हत्थगयं' हस्तस्थितं हस्तगतं वा । 'उम्भुयं  
सुपज्जलियं' उत्सुकं सुष्ठु प्रज्वलितं । 'सो कण्हसत्थं' स कृष्णसर्पमाक्रामति । 'छादं वग्घं च परिमसदि'  
दुषोपद्रुतं व्याघ्रं च स्पृशति ॥१३२२॥

सो कठोन्लुगिदसिलो दहमत्थाहं अदीदि अण्णाणी ।

जो दिक्खिदो वि इ'दियकसायवसिमो हवे साधु ॥१३२३॥

'सो कठोन्लुगिदसिलो' स कण्ठावलम्बितशिलः । 'दहमत्थाहं' दहमगाथं । 'अदीदि' प्रविशति ।  
'अण्णाणी' अन्नः । 'जो दिक्खिदो वि व' यो दीक्षितोऽपि 'इ'दियकसायवसिमो' इन्द्रियकषायव्रणवर्ती सादृश्याद-  
भेदव्यवहारः ॥१३२३॥

धारण करके इस प्रकारके गृहवास सम्बन्धी दोषोंसे मुक्त होकर भी पुनः उन्हीं दोषोंको स्वीकार करता है ॥१३१९॥

गा०—जो दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायोंके बन्धनमें पड़ता है वह अज्ञानी बन्धनसे मुक्त होकर पुनः बन्धनको प्राप्त होता है ॥१३२०॥

गा०—जो दीक्षित होकर भी इन्द्रिय कषायमयी कलिको स्वीकार करता है वह मनुष्य कलिकालसे मुक्त होकर भी पुनः उसी कलिकी खोजता है ॥१३२१॥

गा०—जो साधु दीक्षित होकर भी इन्द्रिय और कषायोंके बन्धनमें पड़ता है वह हाथमें स्थित बल्लते हुए अलातको छोड़ना नहीं चाहता, वह काले साँपको लाँघता है और भूखे व्याघ्र-का स्पर्श करता है ॥१३२२॥

गा०—जो साधु दीक्षित होकर भी इन्द्रिय और कषायके अधीन होता है वह अज्ञानी अपने गलेमें पत्थर बाँधकर अगाध लालाजमें प्रवेश करता है ॥१३२३॥

इं दियगहोवसिद्धो उवसिद्धो ण दु गहेण उवसिद्धो ।  
कुणदि गहो एयमवे दोसं इदरो भवसदेसु ॥१३२४॥

‘इं दियगहोवसिद्धो’ इन्द्रियग्रहगृहीतः । ‘उवसिद्धो’ गृहीत । ‘ण दु गहेण उवसिद्धो’ नैव ग्रहेणोप-  
सृष्टः । कुतः ? यस्मात् । ‘कुणदि गहो एयमवे दोसं’ एकस्मिन्नेव भवे ग्रहो बुद्धिव्यामोहलक्षणं दोषं करोति ।  
‘इदरो भवसदेसु’ इन्द्रियकषायग्रहो भवशतेषु दोषं करोति ॥१३२४॥

होदि कसाउम्मत्तो उम्मत्तो तध ण पित्तउम्मत्तो ।  
ण कुणदि पित्तुम्मत्तो पावं इदरो जधुम्मत्तो ॥१३२५॥

‘होदि कसाउम्मत्तो’ अग्निं पदघटना । ‘उम्मत्तो होदि’ उन्मत्तो भवति यथा । कः ? ‘कसायउम्मत्तो’  
कषायोन्मत्त । यथा ‘उम्मत्तो ण होदिसि’ पदघटना तथा उन्मत्तो न भवति । कः ? ‘पित्तउम्मत्तो’ पित्तो-  
न्मत्त । एतेन पित्तकृतादुन्मादात् कषायकृतस्योन्मादस्य जघन्यता ख्याता । कथं ? ‘न कुणदि पित्तुम्मत्तो’  
पाप न करोति पित्तोन्मत्त । ‘पावं इदरो जधुम्मत्तो’ कषायोन्मत्तो यथा पाप करोति, तथाभूत न करोति ।  
यत् एकैकोऽपि क्रोधादि हिंसादिषु प्रवर्तयति । कर्मणा स्थितिबन्धं दीर्घीकरोति । विवेकज्ञानमेव तिरस्करोति  
पित्तोन्मादः । ततोऽनयोर्महदन्तर इति भावः ॥१३२५॥

इं दियकसायमइओ णरं पिसायं करंति हु पिसाया ।  
पावकरणबेलंबं पेच्छणयकरं सुयणमज्झे ॥१३२६॥

‘इं दियकसायमइओ’ इन्द्रियकषायमयः पिशाचः । ‘णरं पिसायं करंति’ नर पिशाचं करोति । कीदृ-  
ग्भूतं पिशाचं करोति ? ‘सुयणमज्झे पेच्छणयकरं’ सुजन्ममध्ये प्रेक्षणिककारण । ‘पावकरणबेलंबं’ हिंसादिपाप-  
क्रियाविलम्बनो प्रेक्षणोत्त्वेन सपादयन्तं पिशाचं करोतीति यावत् ॥१३२६॥

कुलजस्स जसमिच्छंतगस्स णिघर्णं वरं खु पुरिसस्स ।  
ण य दिक्खिदेण इं दियकसायवसिएण जेदुंजे ॥१३२७॥

गा०—जो इन्द्रियरूपी ग्रहसे पकड़ा हुआ है वही ग्रह पीड़ित है । जो ग्रहसे पकड़ा हुआ है  
वह ग्रहपीड़ित नहीं है । क्योंकि ग्रह तो एक ही भवमें कष्ट देता है किन्तु इन्द्रियरूपी ग्रह सैकड़ों  
भवोंमें कष्ट देता है ॥१३२४॥

गा०—टी०—जो कषायसे उन्मत्त (पागल) है वही उन्मत्त है । जो पित्तसे उन्मत्त है वह  
उन्मत्त नहीं है । इससे पित्तके द्वारा हुए उन्मादसे कषायके द्वारा हुए उन्मादको निकृष्ट बतलाया  
है । क्योंकि कषायसे उन्मत्त पुरुष जैसा पाप करता है पित्तसे उन्मत्त वैसा पाप नहीं करता ।  
एक-एक भी क्रोधादि कषाय हिंसा आदिमें प्रवृत्त करता है । कर्मोंके स्थितिबन्धको बढ़ाता है ।  
किन्तु पित्तसे हुआ उन्माद केवल विवेकमूलक ज्ञानका ही तिरस्कार करता है । इसलिए इन  
दोनोंमें बहुत अन्तर है ॥१३२५॥

गा०—इन्द्रिय और कषायमय पिशाच मनुष्यको सुजनोंके मध्यमें देखने योग्य पापक्रिया-  
की विडम्बनाओंको करनेवाला पिशाच बना देता है ॥१३२६॥



'कुलावस्तु नुरिसस्त अस्तमिच्छंस्तस्य' कुलप्रसूतस्य पुंसः यशोऽभिक्षाधिपः । 'मिषणं वरं' मृतिः शोभना । 'न तु जीवितुं जे' नैव वर जीवनं । 'दिविच्छेपेण इ'दियकसायवसिगो' दीक्षितस्येन्द्रियकषायवशवर्तिनः जीवनं न शोभनमित्यर्थः ॥१३२७॥

जघ सण्णद्धो पम्माहिदवावकंडो रथी पल्लायंतो ।

धिदिज्जदि तघ इ'दियकसायवसिगो वि पन्वज्जिदो ॥१३२८॥

'कथा रथी पल्लायंतो निविच्छेपि' यथा रथी पल्लायन्निन्दते । कीदृक् ? 'सण्णद्धो पम्माहिदवावकंडो' सन्नाद्धः उपगृहीतचापकाण्ड । तथा 'इ'दियकसायवसिगो वि पन्वज्जिदो' तथा इन्द्रियकषायवशवर्त्यमि प्रव्रजितो निन्दते ॥१३२८॥

जघ भिक्खं हिडंतो मउड्ढादि अलंकिदो गहिदसत्थो ।

धिदिज्जइ तघ इ'दियकसायवसिगो वि पन्वज्जिदो ॥१३२९॥

'जघ भिक्खं हिडंतो' मुकुटादिभिरलंकृतो गृहीतशस्त्रो भिक्षां भ्रमन् निन्दते । तथा निन्दते इन्द्रियकषायवशवर्ती प्रव्रजित ॥१३२९॥

इ'दियकसायवसिगो मुंडो णगो य जो मलिणगतो ।

सो चित्तकम्मसमणोच्च समणरूवो असमणो हु ॥१३३०॥

'इ'दियकसायवसिगो' इन्द्रियकषायवशीकृतः, मुण्डो नग्नश्च यो मलिनगात्र सन् । 'सो समणरूवो न समणो' स श्रमणरूपो न श्रमण 'स चित्तकम्मसवणो च्च' स चित्रकर्मश्रमण इव । परमार्थश्रमणसदृशरूपोऽपि यथा चित्रश्रमणो न श्रमणस्तद्वदशुभपरिणामप्रवणः ॥१३३०॥

ज्ञान नरस्य दोषानपहरति इन्द्रियकषायजयमुखेन यथा सत्त्ववतः प्रहरणमावरण व शत्रु' नाशयती-

शा०—कुलीन और यशके अभिलाषी पुरुषका मरना श्रेष्ठ है किन्तु दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायके वशमे रहकर जीना श्रेष्ठ नहीं है ॥१३२७॥

शा०—जैसे धनुष बाण लेकर युद्धके लिए तैयार रथारोही यदि युद्धसे भागता है तो निन्दाका पात्र होता है। उसी प्रकार दीक्षित साधु यदि इन्द्रिय और कषायके वशमें होता है तो निन्दाका पात्र होता है ॥१३२८॥

शा०—जैसे मुकुट आदिसे सुशोभित और हाथमें शस्त्र लिये हुए कोई भिक्षाके लिए घूमता है तो निन्दाका पात्र होता है। वैसे ही दीक्षित होकर इन्द्रिय और कषायके वशमे होनेवाला भी निन्दाका पात्र होता है ॥१३२९॥

शा०—टी०—जो भ्रुण्डित नग्न और मलिन शरीरवाला होकर भी इन्द्रिय और कषायके वशमें होता है वह चित्रमें अंकित श्रमणके समान श्रमणरूपका धारी होनेपर भी श्रमण नहीं है। अर्थात् जैसे चित्रमे अंकित श्रमण वास्तविक श्रमणके समान रूपवाला होनेपर भी श्रमण नहीं है उसी प्रकार श्रमणका बेष धारण करके भी जिसके परिणाम अशुभ हैं वह श्रमण नहीं है ॥१३३०॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय और कषायको जीतनेके द्वारा ज्ञान मनुष्यके दोषोंको दूर करता

तदुत्तरमाचार्यः इन्द्रियकषायजये ज्ञानं दोषापहारित्वाख्यं अतिशयनं न लभते यथा सत्त्वहीनस्यावरजसन्ना-  
हाख्यं प्रहरणं च खड्गचक्रादिकं शत्रुजयत्वमतिशयं नासादयति—

**पाणं दोसे णासिदि णरस्स इं दियकसायविजयेण ।**

**आउहरणं पहरणं जह णासेदि अरिं ससत्तस्स ॥१३३१॥**

‘पाणं’ ज्ञानं ‘दोसे’ दोषान् । ‘णासिदि’ नाशयति । ‘णरस्स’ नरस्य । ‘इं दियकसायविजयेण’ ।  
‘जह’ यथा । ‘आउहरणं पहरणं’ आयुषो हरणं प्रहरणं शस्त्रं । सह सत्त्वेन वर्तते इति ससत्त्वस्तस्य । ‘अरिं  
रिपुं । ‘णासेदि’ नाशयति ॥१३३१॥

**पाणां पि कुणदि दोसे णरस्स इं दियकसायदोसेण ।**

**आहारो वि हु पाणो णरस्स विससंजुदो हरदि ॥१३३२॥**

‘पाणं पि कुणदि दोसे णरस्स’ ज्ञानं दोषानपि करोति नरस्य । ‘इं दियकसायदोसेण’ इन्द्रियकषायपरि-  
णामदोषेण । उपकार्यं अनुपकारितामुद्रहति परससर्गेण । यथा प्राणधारणनिमित्तोऽप्याहारो विषमिश्रं प्राणा-  
न्विनाशयति ॥१३३२॥

**पाणं करेदि पुरिसस्स गुणे इं दियकसायविजयेण ।**

**बलरूववण्णमाऊ करेहि जुत्तो जघाहारो ॥१३३३॥**

‘पाणं करेदि’ ज्ञानं करोति । ‘पुरिसस्स गुणे’ पुरुषस्य गुणान् । कथं ? ‘इं दियकसायविजयेण’ इन्द्रिय-  
कषायविजयेण । ‘बलरूववण्णमाऊ करेदि’ बल, रूप, तेजः, आयुश्च करोति । ‘जुत्तो जघाहारो’ युक्त-  
शोभनो यथाहारः विषेणामिश्रित ॥१३३३॥

**पाणं पि गुणे णासेदि णरस्स इं दियकसायदोसेण ।**

**अप्पवघाए सत्थं होदि हु कापुरिसहत्थगयं ॥१३३४॥**

है । जैसे सत्त्वसम्पन्न मनुष्यका शस्त्र और कवच शत्रुका नाश करता है । तथा इन्द्रिय और कषायको न जीतनेपर ज्ञान दोषोको दूर करनेरूप अतिशयको प्राप्त नहीं करता । जैसे सत्त्वहीन पुरुषका कवच और तलवार चक्र आदि शस्त्र शत्रुको जीतनेरूप अतिशयको नहीं प्राप्त करता ॥१३३०॥

गा०—इन्द्रिय और कषायको जीतनेसे ज्ञान मनुष्यके दोषोको नष्ट करता है । जैसे सत्त्व-  
शालीका आयुको हरनेवाला शस्त्र शत्रुको नष्ट करता है ॥१३३१॥

गा० इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंके दोषसे ज्ञान भी मनुष्योंमें दोष उत्पन्न करता  
है । दूसरेके संसर्गसे उपकारी भी अनुपकारी हो जाता है । जैसे आहार प्राण धारणमें विमिश्र  
है किन्तु विषसे मिला आहार प्राणोंका घातक होता है ॥१३३२॥

गा०—और इन्द्रिय तथा कषायको जीतनेसे ज्ञान पुरुषमें गुण उत्पन्न करता है । जैसे  
विषसे रहित उत्तम आहार बल, रूप, तेज और आयुको बढ़ाता है ॥१३३३॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंके दोषसे ज्ञान भी पुरुषके गुणोंको नष्ट करता  
है । जैसे कायर पुरुषके हाथमें गया शस्त्र उसके ही बधमें निमित्त होता है ॥१३३४॥

ज्ञानमपि गुणाप्राप्तयति नरस्य इन्द्रियकषायपरिणामदीप्तेन । आत्मवधाय भवति शस्त्रं कानुबहुस्तगतं  
इति ॥१३३४॥

उत्तरभाषार्थः—

सुबहुस्सुदो वि अबमाभिज्जदि इन्द्रियकसाय'दोसेण ।

गरमाउभहृत्थंपि हु मदयं गिद्धा परिमवति ॥१३३५॥

'सुबहुस्सुदोवि' सुष्ठुबहुश्रुतोऽप्यवमन्यते इन्द्रियकषायदोषेण । गृहीतास्त्रमपि नरं मृतं गृह्णाः परि-  
भवन्ति यथा ॥१३३५॥

इन्द्रियकसायवसगो बहुस्सुदो वि चरणे ण उज्जमदि ।

पक्खीव छिण्णपक्खी ण उप्पददि इच्छमाणो वि ॥१३३६॥

'इन्द्रियकसायवसगो' इन्द्रियकषायवशमः बहुश्रुतोऽपि चारित्रे नोद्यमं करोति । यथा छिन्नपक्षः पक्षी  
नोत्पतति इच्छन्नपि ॥१३३६॥

णस्सदि सग बहुगं पि णाणमिन्द्रियकसायसम्मिस्सं ।

विससम्मिसिददुद्धं णस्सदि जध सकराकट्ठिदं ॥१३३७॥

'णस्सदि सग बहुगंपि णाणं' नश्यति स्वयं बहुपि ज्ञानं इन्द्रियकषायसमिश्रं । शर्कराकवधितं दुग्धं  
विषमिश्रमिव । माधुर्यात्सातिशयता दुग्धस्य शर्कराकवधितशब्देन कथ्यते ॥१३३७॥

इन्द्रियकसायदोसमलिणं णाणं वदुदि हिदे से ।

वदुदि अण्णस्स हिदे खरेण जह चंदणं उद्धं ॥१३३८॥

ज्ञानं यदीयं तस्मै उपकारितया प्रसिद्धमपि सन्नोपकारि भवति इन्द्रियकषायमलिन, परोपकारि तु  
भवति खरेणोढ चन्दनादिकमिबेति सूत्रार्थः ॥१३३८॥

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके दोषसे अच्छे प्रकारसे बहुतसे शास्त्रोंका ज्ञान भी विद्वान्  
अपमानका पात्र होता है । जैसे हाथमे अस्त्रके होते हुए भी मरे मनुष्यका गूढ़ खा जाते  
है ॥१३३५॥

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके वशमें हुआ बहुश्रुत भी विद्वान् चारित्रमें उद्योग नहीं  
करता । जैसे जिसका पर कट गया है ऐसा पक्षी इच्छा करते हुए भी नहीं उड़ सकता ॥१३३६॥

गा०—इन्द्रिय और कषायके योगसे बहुत भी ज्ञान स्वयं नष्ट हो जाता है । जैसे शक्करके  
साथ कड़ा हुआ दूध विषके मिलनेसे नष्ट हो जाता है अर्थात् अपने स्वभावको छोड़ देता है ।  
यहाँ शक्करके साथ कड़ाया हुआ कहनेसे मिठासके कारण दूधकी सातिशयता बतलाई है । ऐसा  
दूध भी विषके मेलसे हानिकर होता है ॥१३३७॥

गा०—जिसका ज्ञान होता है उसीका उपकारी होता है यह बात प्रसिद्ध है किन्तु इन्द्रिय  
और कषायसे मलिन ज्ञान जिसका होता है उसका उपकार नहीं करता, दूसरोंका उपकार

ज्ञानं प्रकाशकत्वमपि स्वं जहाति इन्द्रियकषायपरिणामबशादिति निगदति—

**इं दियकसायणिग्गह्णिमीलिदस्स हु पयासदि ण णाणं ।**

**रत्तिं चक्खुणिमीलस्स जघा दीवो सुपज्जलितो ॥१३३९॥**

‘इन्द्रियकसायणिग्गह्णिमीलिदस्स’ इन्द्रियकषायनिग्रहे निमीलितस्यात्मनो ज्ञानं न प्रकाशक । ‘रत्तिं’ रात्राविव । ‘चक्खुणिमीलिदस्स’ निमीलितचक्षुः पुंसः । ‘जघा दीवो सुपज्जलितो’ यथा सुप्रज्वलित प्रदीपः ॥१३३९॥

**इं दियकसायमइलो बाहिरकरणणिहुदेण वेसेण ।**

**आवहदि को वि विसए सउणो बादंसणेण ॥१३४०॥**

‘इन्द्रियकसायमइलो’ इन्द्रियकषायपरिणाममालिनः । ‘बाहिरकरणणिहुदेण वेसेण’ बाह्याया गमनागमनादिकायाः क्रियाया निभूतेन वेसेण । ‘कोई विसए आवहदि’ कश्चिद्विषयानावहति आत्मनो भोगाय ॥१३४०॥

**घोटगालिडसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स ।**

**बाहिरकरणं किं से काहिदि बगणिहुदकरणस्स ॥१३४१॥**

‘घोटगालिडसमाणस्स’ घोटकालिडसमानस्य यथा बहिर्मसृणता न तद्वदन्तर्मसृणता । तद्वत्कस्यचिद्बाह्य चरण समीचीन नाभ्यन्तरा परिणामा शुद्धा । स एवमुच्यते । ‘बाहिरकरणं किं काहिदि’ बाह्यक्रिया अनशनादिका किं करिष्यति । ‘अब्भंतरम्मि कुधिदस्स’ अन्तः कुथितस्स । इन्द्रियकषायसजाऽशुभपरिणामेन नष्टाभ्यन्तरतपोवृत्तेरिति यावत् । ‘बगणिहुदकरणस्स’ बकवन्निभृतक्रियस्य ॥१३४१॥

करता है । जैसे गधेपर लदा चन्दन दूसरोका उपकार करता है ॥१३३८॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय कषायरूप परिणामोंके दोषसे ज्ञान अपने प्रकाशकत्व धर्मको भी छोड़ देता है—

गा०—टी०—इन्द्रिय और कषायोका निग्रह करनेमे जो अपना उपयोग नहीं लगाता अर्थात् जो इन्द्रिय और कषायोसे प्रभावित है, उसका ज्ञान वस्तुस्वरूपका प्रकाशक नहीं होता । जैसे, जिसने आँखे मूँदी है उसके लिए तीव्रतासे जलता हुआ दीपक पदार्थोका प्रकाश नहीं करता ॥१३३९॥

गा०—जिसका परिणाम इन्द्रिय और कषायसे मलिन होता है ऐसा कोई साधु बाह्य गमन आगमन आदि क्रियाओके द्वारा अपने बेशको छिपाकर अपने भोगके लिये विषयोको ग्रहण करता है जैसे निश्चल बैठा पक्षी अपनी चोंचसे अपने शिकारको ग्रहण करता है ॥१३४०॥

गा०—टी०—जैसे घोड़ेकी लीद ऊपरसे चिकनी और भीतरसे खुरदरी होती है वैसे ही किसीका बाह्य आचरण तो समीचीन होता है किन्तु अभ्यन्तर परिणाम शुद्ध नहीं होते । ‘उसे घोड़ेकी लीदके समान कहा है । जिसके अभ्यन्तर परिणाम शुद्ध नहीं है उसको बाह्यक्रिया अनशन आदि क्या करेगी ? अर्थात् इन्द्रिय और कषायरूप अशुभ परिणामके द्वारा अभ्यन्तर तपोवृत्ति जिसकी नष्ट हो चुकी है वह बाह्य अनशन आदि तप करे भी तो क्या लाभ है । वह तो नदीके तटपर निश्चल बैठे हुए बगुलेकी तरह है ॥१३४१॥

बाह्यं तपः करणीयतयीपदिष्टं तत्स्वफलं सम्पादयत्येव किमुच्यते बाह्यक्रिया किं करोतीत्याशङ्क्य सूरिराचष्टे—

**बाहिरकरणविशुद्धी अब्धन्तरकरणसोषणत्वात् ।**

**ण हु कुंडयस्स सोधी सका सतुसस्स कादुं जे ॥१३४२॥**

‘बाहिरकरणविशुद्धी’ बाह्यक्रियाविशुद्धिः । ‘अब्धन्तरकरणसोषणत्वात्’ अभ्यन्तरक्रियाणां विनयादीनां शुद्धये, अभ्यन्तरतपसां लघ्वेव बहुतरकर्मनिर्जराश्रमाणां परिवृद्धये श्रूयन्ते बाह्याभ्यन्तरशानादितपासि । ततोऽन्वयतया बाह्याभ्युपदिष्टानि । यद्धि यदर्थं तत्प्रधानं इति प्रधानताभ्यन्तरतपस तत्त्व शुभशुद्धपरिणामात्मकं । तेन विना न निर्जरायै बाह्यमलं । उक्तं च—बाह्यं तपः परमदुश्चरनाचरंस्त्वमाभ्यात्मिकस्य तपसः परिवृंहणार्थं । इति । ‘ण खु कुंडयस्स सोधी सका कादुं जे’ नैधान्तर्मलस्य शुद्धिः शक्या कर्तुं । कस्य ? ‘सतुसस्स’ सतुषस्य धान्यस्य ॥१३४२॥

**अब्धन्तरसोधीए सुद्धं णियमेण बाहिरं करणं ।**

**अब्धन्तरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरं दोसं ॥१३४३॥**

‘अब्धन्तरसोधीए’ अभ्यन्तरशुद्धया । ‘सुद्धं णियमेण बाहिरं करणं’ शुद्धं निश्चयेन बरह्य करणं । ‘अब्धन्तरदोसेण खु’ अन्तःपरिणामदोषेणैव इन्द्रियकषायपरिणामादिना । ‘कुणदि णरो बाहिरं दोसं’ करोति नरो बाह्यान्दोषान्वाक्कायाश्रयान् ॥१३४३॥

**लिंगं च होदि अब्धन्तरस्स सोधीए बाहिरा सोधी ।**

**भिउडीकरणं लिंगं जह अंतोजादकोधस्स ॥१३४४॥**

‘लिंगं च होदि’ चिह्नं च भवति । ‘अब्धन्तरस्स परिणामसोधीए’ अभ्यन्तरस्य परिणामस्य शुद्धेः । ‘बाहिरा सोधी’ बाह्या शुद्धिरशानादितपोविषया । ‘भिउडीकरणं लिंगं’ भृकुटीकरणं लिङ्गं । ‘जह’ यथा ।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि ऊपर बाह्यतप करनेका उपदेश किया है वह अपना फल अवश्य देता है । तब आप कैसे कहते हैं कि बाह्यक्रिया क्या करेगी ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं—

गा०—टी०—अभ्यन्तर क्रिया विनय आदिकी शुद्धिके लिये बाह्यक्रियाकी विशुद्धि कही है । शीघ्र ही बहुतसे कर्मोंकी निर्जरामें समर्थ अभ्यन्तर तपकी वृद्धिके लिए बाह्य अनशन आदि तप सुने जाते है । इसीलिए उनका बाह्य नाम सार्थक है । जो जिसके लिये होता है वह प्रधान होता है । इसलिए अभ्यन्तर तपकी प्रधानता है । वह अभ्यन्तर तप शुभ और शुद्ध परिणामरूप होता है । उसके विना बाह्यतप निर्जरामे समर्थ नहीं होता । कहा भी है—‘भगवन् ! आपने आध्यात्मिक तपकी वृद्धिके लिए अत्यन्त कठोर बाह्यतप किया ।’ ठीक ही है, क्योंकि छिलकेके रहते हुए धान्यकी अन्तः शुद्धि सम्भव नहीं है ॥१३४२॥

गा०—नियमसे अभ्यन्तर शुद्धिके होनेसे ही बाह्यशुद्धि होती है । इन्द्रियकषाय परिणाम आदि अन्तरंग परिणाम दोषसे ही मनुष्य वचन और कायसम्बन्धी बाह्य दोषोंको करता है ॥१३४३॥

गा०—टी०—अनशन आदि तपविषयक बाह्यशुद्धि अभ्यन्तर परिणामोंकी विशुद्धिका

‘अंतोऽग्निः प्रदीपस्त’ अन्तर्जातस्य कोपस्य लिङ्गं लिङ्गभावः । बाह्यानामभ्यन्तराणां चैवं भवति यदि परस्परा-  
विनाभाविता स्यादन्तर्धूमयोरेव । प्रसिद्धस्य लिङ्गलिङ्गभावः कार्येण बाह्येण कारणस्याभ्यन्तरस्येति  
भावार्थः ॥१३४४॥

ते चैव इन्द्रियाणं दोसा सञ्चे ह्वन्ति णादञ्चा ।

कामस्स य भोगाणं य जे दोसा पुञ्चणिदिट्ठा ॥१३४५॥

‘ते चैव इन्द्रियाणं दोसा’ त एवेन्द्रियाणां सर्वेषां दोषा भवन्ति इति ज्ञातव्याः । के ? ‘ये दोसा पुञ्च  
णिदिट्ठा’ ये दोषाः पूर्वनिदिष्टाः । ‘कामस्स य भोगाणं य’ कामस्य भोगानां च संबन्धितया निदिष्टा  
दोषाः ॥१३४५॥

महुल्लिप्तं असिधारं तिक्खं लेहिज्ज जघ णरो कोई ।

तघ विसयसुहं सेवदि दुहावहं इहहि परलोणे ॥१३४६॥

‘महुल्लिप्तं’ मधुना लिप्तां । ‘असिधारं’ अनेधारां । ‘तिक्खं’ तीक्ष्णा । ‘जघ णरो कोई लेहिज्ज’ यथा  
नरः कश्चिदास्त्रादयति जिह्वाया । ‘तघ विसयसुहं सेवदि’ तथा विषयसुखं सेवते । ‘दुहावहं इह य परलोणं’  
दुःखावहमत्र जन्मनि परत्र च, स्वल्पसुखतया बहुदुःखतया च साम्यं दृष्टान्तदाष्टीन्तिकयोः ॥१३४६॥

एकैकेन्द्रियविषयवशावर्तिभिर्भृगादिभिरुपद्रवो ह्याप्तः, किं पुनरशेषेन्द्रियविषयलम्पटैर्जने प्राप्येऽनर्थं  
वाच्यमिति मत्वाचष्टे—

सहेण मओ रूवेण पदंगो वणगओ वि फरिसेण ।

मच्छो रसेण ममरो गंधेण य पाविदो दोसं ॥१३४७॥

चिह्न है । जैसे क्रोध उत्पन्न होनेका चिह्न भृकुटी चढाना होता है । इस प्रकार बाह्य और  
अभ्यन्तरकी अग्नि और धूमकी तरह परस्परमें अविनाभाविता है । अर्थात् जैसे आगके होनेपर  
ही धूम होता है अतः जहाँ धूम होता है वहाँ आग अवश्य होती है । इसीको अविनाभाविता  
कहते हैं । धूम लीग है आग लीगी है । इसी प्रकार बाह्य कार्यके साथ अभ्यन्तर कारणका लीग-  
लीगी भाव सम्बन्ध जानना ॥१३४४॥

गा०—जो दोष पहले काम और भोगके सम्बन्धमें कहे हैं वे ही सब दोष इन्द्रियोंके  
सम्बन्धमें जानना ॥१३४५॥

गा०—टी०—जैसे कोई मनुष्य जिह्वाके द्वारा मधुसे लिप्त तलवारकी तीक्ष्ण धारको  
चाटता है वैसे ही मनुष्य विषय सुखका सेवन करता है जो इस जन्ममें और परजन्ममें दुःखदाया  
है । जैसे मधुलिप्त तलवारकी धारको जिह्वासे चाटनेसे प्रारम्भमें मधुके कारण थोड़ा सुख  
होता है किन्तु जीभ कट जानेपर बहुत दुःख होता है उसी प्रकार विषय भोगमें भी सुख अल्प है  
दुःख बहुत है ॥१३४६॥

आगे कहते हैं कि एक एक इन्द्रियके विषयमें आसक्त हिरन आदि कष्ट भोगते हैं तब समस्त  
इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त जनोंके द्वारा प्राप्य अनर्थका क्या कहना है—

'सद्वेष ममो' शब्देन मृग' वाष्पच्छेदसरससुरमितृणाप्रभासेन, मृदुपवनानीतशैत्यस्फटिकसंकाशपानीय-  
पानेन च पुष्टभृतिरन्त' करणमिव लघुतरप्रयाणो हरिणो व्याधकलगीतश्रवणेन सुखाकूणितलोचनः, दुष्टयमदंष्ट्रा-  
समाननिधितविशिखावलीभिन्नतनुर्जहाति प्रियतमान्प्राणान् । 'स्वेषेण पर्वणो च' एककलिकाकारप्रवीपरूपेण अनि-  
तानुरागः पतंगो दीपार्चिषि भस्मसाद्भावमुपधाति । 'वणममो वि करिसेण' वनगजइव विलासिनोहृदयमिव  
दुष्प्रवेशासु, संसृतिरिव महतीषु अरण्यानीषु, विपद इव दुरतिक्रमणीयासु सल्लकीतरुणतदशाखाहारः, रम्य-  
गिरिनदीविपुलन्हृदेषु, स्वेच्छापानतरुणनिमज्जनोन्मज्जनैरुपगतप्रीतिः, अनुकूलाने करिणीकदम्बकेनातुगम्यमानो  
वासिताविशालजघनस्पर्शनोपनीतप्रीतिर्दकलो विचेतनो रागबहलतिमिरपटलावगुण्ठितलोचनो महति गर्ते निप-  
तित पर व्यसनमवगाहते । 'मच्छो' मत्स्यः युवजनममः'सरोनपाग्निबिलसिनोविलोचनविभ्रमविलम्बनोद्यतः  
स्वल्पाहाररसलोलुपो विपदमाहववश. प्रयाति । विचित्रसुरभिप्रसूनप्रकररजोऽङ्गरागो भ्रमर. विषयादपकुमुम-  
गन्धेनापहृतप्रियतमप्राणो भवति । एवमेते दोषान्प्रापिताः ॥१३४७॥

तिरश्चां दुःख प्रतिपाद्य विषयरागजनितं मनुजगती दर्शयति—

इदि पचहि पंच हदा सहरसफरिसगंधरूवेहिं ।

इस्को कहं ण हम्मदि जो सेवदि पंच पंचेहिं ॥१३४८॥

गा०—टी०—वनमे हिरण मुखके वाष्पसे टूटनेवाले सरस सुगन्धित तृणोके अग्रभागोंको  
खाकर और कोमल वायुके द्वारा शीतल किये गये स्फटिकके समान स्वच्छ जलको पीकर पुष्ट  
होता है । उसकी गति मनसे भी तीव्र होती है । वह व्याधके मनोहर गीतको सुनकर सुखसे  
अपनी आँखें मूँद लेता है । और दुष्ट यमराजकी दाढ़के समान तीक्ष्ण विशाल बाणोंके द्वारा  
छेदा जाकर अत्यन्त प्रिय प्राणोको त्याग देता है । एक कलिकाके आकार दीपकके रूपसे अनुराग  
करनेवाला पतंगा दीपककी लौमें जलकर भस्म हो जाता है । वनका हाथी स्त्रीके हृदयकी तरह  
जिसमें प्रवेश करना कठिन है, जो संसारकी तरह महान् है और विपत्तिकी तरह जिससे लाचना  
अशक्य है ऐसे महान् वनमें सल्लकीके तरुण वृक्षोंकी शाखा खाता है, रमणीक पहाड़ी नदी और  
बड़े-बड़े तालाबोंमें स्वेच्छापूर्वक जल पीता है, अवगाहन करता है, डुबकी लगाता है, अनेक  
अनुकूल हथिनियोंका समूह उसके पीछे चलता है, हथिनीके विशाल जघन भागके स्पर्शनमें  
अनुरक्त होकर मदमत्त हो, रागकी अधिकतारूपी अन्धकारके पटलसे आँखें बन्द कर लेता है और  
महान् गर्तमें गिरकर कष्ट भोगता है । युवा पुरुषोंके मनरूपी सरोवरमें विलास करनेवाली स्त्रियों-  
के लोचनके हावभावका अनुकरण करनेवाला मच्छ थोड़ेसे भोजनकी लोलुपतावश शीघ्र ही  
विपत्तिमें पड़ जाता है । अनेक प्रकारके सुगन्धित फूलोंके समूहकी रजसे आवेष्टित और विष-  
वृक्षके फूलकी गन्धसे प्राण खो देता है । इस प्रकार एक एक इन्द्रियके वश होकर ये कष्ट उठाते  
हैं ॥१३४७॥

तिर्यञ्चोका विषयरागसे उत्पन्न दुःख कहकर मनुष्य गतिमें कहते हैं—

गा०—इस प्रकार शब्द, रस, स्पर्श, गन्ध, रूप इन पाँच विषयोंके द्वारा पाँच जीव अपने  
प्राण गँवाते हैं । तब जो एक ही पुरुष पाँचों इन्द्रियोंके द्वारा पाँचों विषयोंका सेवन करता है वह  
प्राण क्यों न गँवायेगा ॥१३४८॥

१. मत्सरो—आ० । २. एतां दीकाकारो नेच्छति ।

सरजूए गंधमित्तो घाणिदियवसगदो बिणीदाए ।

विसपुष्कगंधमगघाय मदो गिरयं च संपत्तो ॥१३४९॥

'सरजूए' सरय्या नद्यां । 'गंधमित्तो' गंधमित्तो नाम भूपालः । 'सधो' मृतः । 'बिणीदाए' विनीतापुरी-  
पतिः । 'घाणिदियवसगदो' घ्राणेन्द्रियवशंगतः । 'विसगंधपुष्कमगघाय' विषचूर्णवासितपुष्पमाघ्रायः । 'सधो'  
मृतः । गिरयं च संपत्तो नरकं च संप्राप्तः तीव्रविषयरागाज्जातेन कर्मभारेण ॥१३४९॥

पाडलिपुत्ते पंचालगीदसहेण मुच्छिदा संती ।

पासादादो पडिदा णट्टा गंधव्वदत्ता वि ॥१३५०॥

पाटलिपुत्रे पांचालस्य गीतशब्देन मूर्च्छिता सती प्रासादात्पतिता नष्टा गन्धर्वदत्ता नामधेया  
गणिका ॥१३५०॥

माणुसमंसपसत्तो कंपिल्लवदी तधेव भीमो वि ।

रज्जवमट्टो णट्टो मदो य पच्छा गदो गिरयं ॥१३५१॥

'माणुसमंसपसत्तो' मानुषमांसप्रसक्तः काम्पिल्यपुराधिपो भीमो राज्यभ्रष्टो नष्टो मृतः पश्चान्नरक-  
मुपयातः ॥१३५१॥

चोरो वि तह सुवेगो महिलारूवम्मि रत्तदिट्ठीओ ।

विट्ठीो सरेण अच्छीसु मदो गिरयं च संपत्तो ॥१३५२॥

'चोरो वि तह सुवेगो' सुवेगनामधेयश्चोरोऽपि युवतिरूपाकृष्टदृष्टिः शरीरविद्वेषणे मृतो नरकमुप-  
गतः ॥१३५२॥

फासिदिएण गोवे सत्ता गिहवदिपिया वि णासक्के ।

मारेट्ठण सपुत्तं धूयाए मारिदा पच्छा ॥१३५३॥

'फासिदिएण' स्पृशनेन्द्रियेण हेतुना । 'गोवे सत्ता' आत्मीये गोपाले आसक्ता । 'गिहवदिपिया'

गा०—अयोध्यापुरीका राजा गन्धमित्र घ्राणेन्द्रियके वशमे होकर सरयू नदीमें विषैले फूल-  
की गन्धको सूँघकर मरा और नरकमे गया ॥१३४९॥

विशेषार्थ—उसके बड़े भाईने भयंकर विषसे फूलको सुवासित करके दिया था । इसकी  
कथा बृहत्कथाकोशमे ११३ नम्बर पर है ।

गा०—पाटलीपुत्र नगरमे गंधर्वदत्ता नामक गणिका पंचालके गीतके शब्द सुनकर मूर्च्छित  
हो महलसे नीचे गिरकर मर गई ॥१३५०॥

विशेषार्थ—इसकी कथा बृहत्कथाकोशमे ११४ नम्बर पर है ।

गा०—कंपिला नगरीका राजा भीम मनुष्यके मासका प्रेमी था । वह राज्यसे निकाला  
जाकर मरकर नरकमें गया ॥१३५१॥

विशेषार्थ—बृहत्कथाकोशमें ११५ नम्बर पर इसकी कथा है ।

१. यदि गिहिणी—अ० आ० ।



रोष्ट्रकूटशायी । 'नासिकके' नासिकके नगरे । 'वारेरुण सपुत्रं' स्वपुत्रं हत्वा । 'ब्रह्मण' दुहिता । 'पञ्च' पञ्चात् । 'भरिवा' मृति नीता ॥१३५३॥ इदिया ।

एवमिन्द्रियदोषानुपदर्श्य कोपदोषप्रकटनार्थं प्रक्रम्यते—

रोसाइद्वो णीलो हृदप्यभो अरदिअग्गिसंसत्तो ।

सीदे वि णिवाइज्जदि वेवदि य गहोवसिद्धो व ॥१३५४॥

'रोसाइद्वो' रोषाविष्टः । नीलवर्णो भवति 'हृदप्यभो' विनष्टवीर्यः । 'अरदिअग्गिसंसत्तो' अरत्य-  
ग्निसंसत्तः । 'सीदे वि णिवाइज्जदि' शोतेऽपि तृपितो भवति । 'वेवदि' वेपते च । 'गहोवसिद्धो' ग्रहेणोपसृष्ट  
इव ॥१३५४॥

भिउडीतिवलियवयणो उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खसखो ।

कोवेण रक्खसो वा णराण भीमो णरो भवदि ॥१३५५॥

'भिउडीतिवलियवयणो' भृकुटीनिवलितावधनो । 'उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खसखो' उद्गतनिश्चलसुरत्त-  
लक्षेक्षणः । 'कोवेण' रोषेण हेतुना । 'रक्खसो' राक्षस इव । 'णराण भीमो णरो' होबि' नराणा भीमो भयावहो  
भवति नरः ॥१३५५॥

जह कोइ तत्तलोहं गहाय रुद्धो परं हणाभिसि ।

पुच्चदरं सो डज्जदि डहिज्ज व ण वा परो पुरिसो ॥१३५६॥

'जह कोइ' यथा कश्चित् 'तत्तलोहं गहाय' तप्तलोहं गृहीत्वा । किमर्थं ? 'रुद्धो परं हणाभिसि'

गा०—सुवेग नामक चोर युवती स्त्रियोके रूपको देखनेका अनुरागी था । उसकी आँखमें  
बाण लगा और वह मरकर नरक गया ॥१३५२॥

विशेषार्थ—वृ० क० को० में इसकी कथा ११६ वी है । उसमें सुवेगको म्लेच्छराज  
कहा है ॥१३५२॥

गा०—नासिक नगरमे गृहपति सागरदत्तकी भार्या नागदत्ता स्पर्शन इन्द्रियके कारण अपने  
ग्वाले पर आसक्त थी । उसने अपने पुत्रको मारा तो उसकी लड़कीने अपनी मांको मार  
दिया ॥१५५३॥

विशेषार्थ—इसकी कथा उसी कथाकोशमे ११७ नम्बर पर है ॥१३५३॥

इस प्रकार इन्द्रियके दोष बतलाकर क्रोधके दोष बतलाते हैं—

गा०—टी०—जो क्रोधसे ग्रस्त होता है उसका रंग नीला पड़ जाता है, कान्ति नष्ट हो  
जाती है, अस्तिरूपी आगसे संसप्त होता है । ठंडमें भी उसे प्यास सताती है और पिशाचसे गृहीत  
की तरह क्रोधसे काँपता है ॥१३५४॥ भृकुटी चढ़नेसे मस्तक पर तीन रेखाएँ पड़ जाती है, लाल  
लाल निश्चल आँखें बाहर निकल आती है । इस तरह क्रोधसे मनुष्य दूसरे मनुष्योंके लिए राक्षस-  
की तरह भयानक हो जाता है ॥१३५५॥

गा०—जैसे कोई पुरुष छुट होकर दूसरेका घात करनेके लिए तपा लोहा उठाता है ।  
ऐसा करनेसे दूसरा उससे जले या न जले, पहले वह स्वयं जलता है ॥१३५६॥

कष्टः परं हन्तीति । 'पुण्यवरं स्त्री वृषभवि' पूर्वतरं स एव दहते तेन सप्तैन लोहेन गृहीतेन । 'उज्ज्वल परो ण वा पुरितो' दहते परं पुरुषो न वा दहते ॥१३५६॥

तथ रोसेण सयं पुण्यमेव डज्जदि हु कलकलेणेव ।

अण्णस्स पुणो दुबखं करिज्ज रुट्ठो ण य करिज्ज ॥१३५७॥

'तथ रोसेण' तथा रोषेण स्वयं पूर्वं दहते द्रवीकृतलोहसंस्थानीयेन । अन्यस्य पुनर्दुःखं कुर्यान्नि वा रुट्ठ ॥१३५७॥

णासेदूण कसायं अग्गी णसदि सयं जधा पच्छा ।

णासेदूण तथ णरं णिरासवो णस्सदे कोधो ॥१३५८॥

कोधो सत्तगुणकरो णीयाणं अप्पणो य सण्णकरो ।

परिभवकरो सवासे रोसो णासेदि णरमवसं ॥१३५९॥

'रोसो सत्तगुणकरो' रोषं शत्रुयो गुणो धर्मोऽपकारित्वं नाम तं करोति । अथवा शत्रूणां गुणमपकारं करोति रोषः । यतोऽस्य हि रोषदहनेन दह्यमानं तं दृष्ट्वा ते तुष्यन्ति । कथमस्य रोषमुत्पादयाम इत्येवमादृतास्ते सदापीति । 'णीयाणं अप्पणो वा' बान्धवानां आत्मनवचं शोकं करोति । 'परिभवकरो सवासे' स्वनिवासस्थाने परिभवमानयति । 'रोसो णासेदि णरमवसं' रोषो नरमवशं नाशयति ॥१३५९॥

ण गुणे पेच्छदि अववददि गुणे जंपदि अजंपिदव्वं च ।

रोसेण रुह्हिदओ णारगसीलो णरो होदि ॥१३६०॥

'ण गुणे पेच्छदि' गुणं न पश्यति, यस्मै कुप्यति । 'अववददि' निन्दति । 'गुणे' गुणानपि तदीयान् । 'जंपदि अजंपिदव्वं च' वदत्यवाच्यमपि । 'रोसेण रुह्हिदओ' रोषेण रौद्रचित्तः । 'णारगसीलो णरो हव्वि' नारकशीलो भवति नरः ॥१३६०॥

गा०—उसी प्रकार पिघले हुए लोहेकी तरह क्रोधसे पहल वह स्वयं जलता है । दूसरेको वह दुःखी करे या न करे ॥१३५७॥

गा०—जैसे आग ईंधनको नष्ट करके पीछे स्वयं बुझ जाती है उसी प्रकार क्रोध पहले क्रोधी मनुष्यको नष्ट करके पीछे निराधार होनेसे स्वयं नष्ट हो जाता है ॥१३५८॥

गा०—टी०—क्रोध शत्रुका जो धर्म है अपकार करना, उसे करता है अथवा क्रोध शत्रुका उपकार करता है क्योंकि उसे क्रोधकी आगमें जलते हुए देखकर शत्रु प्रसन्न होते हैं । वे सदा इस प्रयत्नमें रहते हैं कि कैसे इसे क्रोध उत्पन्न करे । क्रोध अपने और बन्धु बान्धवोंको शोकमें डालता है । अपने ही घरमें अपना तिरस्कार कराता है । परवश मनुष्यका नाश करता है ॥१३५९॥

गा०—क्रोधी जिसपर क्रोध करता है उसके गुणोंको नहीं देखता । उसके गुणोंकी भी निन्दा करता है । जो कहने योग्य नहीं है वह भी कहता है इस प्रकार क्रोधसे रौद्र हृदय मनुष्यका स्वभाव नारकी जैसा होता है ॥१३६०॥

जघ करिसयस्स धण्णं वरिसेण समज्जिदं खलं पत्तं ।

इहदि फुल्लिगो दित्तो तथ कोहग्गी समणसारं ॥१३६१॥

'जह करिसयस्स' यथा कर्षकस्य धान्यं वर्षेण समाजितं खलप्राप्तं दहति विस्फुल्लिगो दीप्तस्तथा क्रोधाग्निर्दहति श्रमणस्य सारं पुण्यपण्यं ॥१३६१॥

जघ उग्गविसो उरगो दम्भतणं कुरहदो पकुप्पंतो ।

अचिरेण होदि अविस्सो तथ होदि जदी वि निस्सारो ॥१३६२॥

'जह उग्गविसो उरगो' यथोपविष उरगो । दम्भतूणाङ्कुरहतं तत्प्रकृष्टरोषवशमुपनयन् स्पष्टतूणादिकं भक्षयित्वा झटिति निविषो भवति । तथा यतिरपि निस्सारो भवत्यचिरेण रत्नत्रयविनाशात् ॥१३६२॥

पुरिसो मक्कडसरिसो होदि सरूवो वि रोसइदरूवो ।

होदि य रोसणिमित्तं जम्मसहस्सेसु य दुरूवो ॥१३६३॥

'पुरिसो मक्कडसरिसो' पुरुषो मर्कटसदृशो भवति सुरूपोऽपि सन् रोषोऽपहतरूपः । इह जन्मनि बोधानुपदर्श्य पारभविकमाचष्टे—'होदि' भवति । जन्मसहस्रेषु दुरूप एकभवकृतात्कोपात् ॥१३६३॥

सुट्ठु वि पिओ मुहुत्तेण होदि वेसो जणस्स कोषेण ।

पधिदो वि जसो णस्सदि कुद्धस्स अकज्जकरणेण ॥१३६४॥

'सुट्ठुवि' नितरामपि । जनस्य प्रियो मुहूर्तमात्रेणैव द्वेष्यो भवति रोषेण प्रथितमपि यशो नश्यति । कस्य ? 'कुद्धस्य अकज्जकरणेण' क्रुद्धस्य अकार्यकरणेण ॥१३६४॥

णीयल्लगो वि रुद्धो कुणदि अणीयल्ल एव सत्तू वा ।

मारोदि तेहिं मारिज्जदि वा मारोदि अप्पाणं ॥१३६५॥

गा०—जैसे चिनगारी एक वर्षके श्रमसे प्राप्त खलिहानमें आये किसानके धान्यको जला देती है उसी प्रकार क्रोधरूपी आग श्रमणके जीवन भरमें उपाजित पुण्य धनको जला देती है ॥१३६१॥

गा०—जैसे उग्र विषवाले सर्पको घासके एक तिनकेसे मारने पर वह अत्यन्त रोषमें आकर उस तिनके पर अपना विष बमन करके तत्काल विष रहित हो जाता है उसी प्रकार यति भी क्रोध करके अपने रत्नत्रयका विनाश करता है और शीघ्र ही निस्सार हो जाता है ॥१३६२॥

गा०—सुन्दर सुरूप पुरुष भी क्रोधसे रूपके नष्ट हो जाने पर बन्दरके समान लाल मुख-बाला विरूप हो जाता है । इस जन्ममें क्रोधके दोष दिखलाकर परलोकमें दिखलाते हैं एक भवमें क्रोध करनेसे हजारों जन्मोंमें कुरूप होता है ॥१३६३॥

गा०—क्रोध करनेमें अत्यन्त प्रिय व्यक्ति भी मुहूर्त मात्रमें ही द्वेषका पात्र होता है । तथा क्रोधी मनुष्यके अनुचित काम करनेसे उसका फैला हुआ यश भी नष्ट हो जाता है ॥१३६४॥

'गोयस्त्वो वि रूढो' बन्धुरपि बन्धून्करोति शत्रुवत् । हन्ति बान्धवान् । मार्यते वा स्वय तैरात्मानं  
वा हन्यात् ॥१३६५॥

पुञ्जो वि षरो अवमाणिज्जदि कोवेण तक्खणे चैव ।

जगविस्सुदं वि णस्सदि माहप्पं कोहवसियस्स ॥१३६६॥

'पुञ्जो वि' पूज्योऽपि नरो अवमन्यते रोषेण । तत्क्षण एव जगति विश्रुतमपि माहात्म्यं नश्यति  
रोषिणः ॥१३६६॥

हिंसं अलियं चोज्जं आचरदि जणस्स रोसदोसेण ।

तो ते सव्वे हिंसालियांदि दोसा भवे तस्स ॥१३६७॥

'हिंसं अलियं चोज्जं' हिंसामसत्यं चोयं वाचरति जनस्य रोषदोषेण । तस्मात्तस्य हिंसादिप्रभवा दोषा  
भवे भविष्यन्ति ॥१३६७॥

वारवदीय असेसा दड्ढा दीवायणेण रोसेण ।

बद्धं च तेण पावं दुग्गादिभयबंधणं घोरं ॥१३६८॥

'वारवती' द्वारवती । निवशेषा दग्धा रुष्टेन द्वीपायनेन । घोरं च पापं बद्धं दुर्गतिभयप्रवृत्तिनिमित्तं ।  
'कोधुत्तिं गबं' ॥१३६८॥

मानदोषप्रकटनार्थं प्रबन्ध उत्तर —

कुलरूवाणाबलसुदलाभस्सरयत्थमदितवादीहिं ।

अप्पाणमुण्णमंतो नीचागोदं कुणदि कम्मं ॥१३६९॥

'कुलरूवाणा' कुलेन रूपेण आज्ञया, बलेन, श्रुतेन, लाभेन, ऐश्वर्येण मर्यादा तपसाऽर्चनच आत्मानमुत्कर्षयन्तीचैर्गोत्रं कर्म बध्नाति ॥१३६९॥

गा०—क्रोधी मनुष्य अपने निकट सम्बन्धियोंको भी असम्बन्धी अथवा शत्रु बना लेता है ।  
उनको मारता है या उनके द्वारा मारा जाता है अथवा स्वयं मर जाता है ॥१३६५॥

गा०—पूजनीय मनुष्य भी क्रोध करनेसे तत्काल अपमानित होता है । क्रोधीका जगत्में  
प्रसिद्ध भी माहात्म्य नष्ट हो जाता है ॥१३६६॥

गा०—क्रोधके कारण मनुष्य लोगोंकी हिंसा करता है, उनके सम्बन्धमें झूठ बोलता है,  
चोरी करता है । अतः उसमें हिंसा झूठ आदि सब दोष होते हैं ॥१३६७॥

गा०—द्वीपायन मुनिने क्रोधसे समस्त द्वारका नगरी भस्म कर दी । और दुर्गतिमें ले  
जाने वाले घोर पापका बन्ध किया ॥१३६८॥

क्रोध का कथन समाप्त हुआ ।

आगे मानके दोष कहते हैं—

गा०—कुल, रूप, आज्ञा, बल, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य, तप तथा अन्य बातोंमें अपनेको बड़ा

ददृष्ट्वा अप्यणादो हीने मुखस्ताड विति माणकलिं ।

ददृष्ट्वा अप्यणादो अधिष्ण माणं णयंति बुधा ॥१३७०॥

‘ददृष्ट्वा अप्यणादो’ आत्मनो हीनान् दृष्ट्वा मूर्खा मानकालि उद्वहन्ति । बुधा पुनरात्मनोऽधिकान्बुद्ध्या-  
वलोक्ष्य मानं निरस्यन्ति ॥१३७०॥

माणी विस्सो सव्वस्स होदि कलहभयवेरदुक्खाणि ।

पावदि माणी णियदं इहपरलोए य अवमाणं ॥१३७१॥

‘माणी विस्सो सव्वस्स’ मानी सर्वस्य द्वेषो भवति । कलहं, भय, वैरं, जन्मान्तरानुगं दुःखं च  
प्राप्नोति । नियोगत इह परत्र चावमान ॥१३७१॥

सव्वे वि कोहदोसा माणकसायस्स होदि णादव्वा ।

माणेण खेव मेधुणहिंसालियचोज्जमाचरदि ॥१३७२॥

‘सव्वे वि कोहदोसा’ क्रोधस्य वर्णिता दोषाः । ‘न गुणे पिच्छवि’ इत्येवमादिसूत्रेण ते सर्वे मानकषाय-  
स्यापि ज्ञातव्याः । मानेन मैथुने चौर्ये हिंसायामसत्याभिधाने च प्रयतते ॥१३७२॥

सयणस्स जणस्स पिओ णरो अमाणी सदा इवदि लोए ।

णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च साहेदि ॥१३७३॥

‘सयणस्स’ मानरहितः । स्वजनस्य परजनस्य च सदा प्रियो जनो भवति । ‘लोए’ लोके । ‘णाणं’ ज्ञानं ।  
‘जसं’ यशः, ‘अत्थं’ द्रविणं लभते स्व कार्यमन्यदपि साधयति ॥१३७३॥

ण य परिहायदि कोई अत्थे मउगत्तणे पउत्तम्मि ।

इह य परत्त य लब्भदि विणाएण हु सव्वकन्लाणं ॥१३७४॥

‘ण य परिहायवि’ मार्दवे प्रयुक्ते नैव कश्चिदर्थो हीयते येनायमर्थहानिभयात् मानं कुर्यात् । मार्दवे तु  
प्रयुक्ते इह जन्मान्तरे च लभ्यते विनयेनैव सर्वकल्याण ॥१३७४॥

मानने वाला, उनका अहंकार करनेवाला नीच गोत्र नामक कर्मका बन्ध करता है ॥१३६९॥

गा०—अपनेसे हीन व्यक्तियोंको देखकर मूर्ख लोग मान करते हैं । किन्तु विद्वान् अपनेसे  
बड़ोंको देखकर मान दूर करते हैं ॥१३७०॥

गा०—मानीसे सब द्वेष करते हैं । वह कलह, भय, वैर और दुःखका पात्र होता है तथा  
इस लोक और परलोकमें नियमसे अपमानका पात्र होता है ॥१३७१॥

गा०—पहले जो क्रोधके दोष कहे हैं वे सब दोष मानकषायके भी जानना । मानसे मनुष्य  
हिंसा, असत्य बोलना, चोरी और मैथुनमें प्रवृत्ति करता है ॥१३७२॥

गा०—मान रहित व्यक्ति जगत्में स्वजन और परजन सदा सबका प्रिय होता है । वह  
ज्ञान, यश और धन प्राप्त करता है तथा अन्य भी अपने कार्यको सिद्ध करता है ॥१३७३॥

गा०—मार्दव युक्त व्यवहार करने पर कोई धनहानि नहीं होती जिससे धनहानिके भय-  
से मनुष्य मान करे । विनयसे इस जन्ममें और जन्मान्तरमें सर्व कल्याण प्राप्त होते हैं ॥१३७४॥

सङ्घि साहस्सीओ पुत्ता सगरस्स रायसीहस्स ।

अदिबलवेगा संता णड्डा माणस्स दोसेण ॥१३७५॥

‘सङ्घि साहस्सीओ’ सगरस्य राजसिंहस्य चक्रिण. षष्ठिसहस्रसख्या. पुत्रा महाबला विनष्टा मान-  
दोषेण ॥१३७५॥ माणस्सिगद ।

मायादोषनिरूपणायोत्तरगाथा—

जघ कोडिसमिद्धो वि ससल्लो ण लभदि सरीरणिव्वाणं ।

मायासल्लेण तहा ण णिव्वुदि तवसमिद्धो वि ॥१३७६॥

‘जघ कोडिसमिद्धो वि’ यथा कोटिसमृद्धोऽपि शरीरानुप्रविष्टशाल्यो न शरीरसुख लभते । तथा माया-  
शल्येन न निर्वृत्ति लभते तप समृद्धोऽपि ॥१३७६॥

होदि य वेस्सो अप्पच्चइदो तघ अवमदो य सुजणस्स ।

होदि अचिरेण सत्तू णीयाणवि णियडिदोसेण ॥१३७८॥

‘होदि य वेस्सो’ द्वेष्यो भवस्यप्रत्ययित तथा सुजनस्यावमत । बन्धवानामपि शत्रुरचिरेण भवति  
मायादोषेण ॥१३७८॥

पावइ दोसं मायाए महल्लं लहु सगावराधेवि ।

सच्चाण सहस्साणि वि माया एक्का वि णासेदि ॥१३७८॥

‘पावइ दोसं’ प्राप्नोति दोष महान्त अल्पापराधोऽपि मायया । एकापि माया सत्यसहस्राणि नाश-  
यति । महादोषप्रापणं सत्यसहस्रविनाशन च मायादोषो ॥१३७८॥

मायाए भित्तभेदे कदम्मि इधलोगिगच्छपरिहाणी ।

णासदि मायादोसा विसज्जुददुद्धवं सामणं ॥१३७९॥

गा०—सगर चक्रवर्तीके साठ हजार पुत्र महाबलशाली होते हुए भी मान दोषके कारण  
मृत्युको प्राप्त हुए ॥१३७५॥

मानके दोषोंका वर्णन पूर्ण हुआ ।

आगे मायाके दोष कहते हैं—

गा०—जैसे एक कोटी धनका स्वामी होने पर भी यदि शरीरमें कीलकाँटा घुसा हो तो  
शारीरिक सुख नहीं मिलता । उसी प्रकार तपसे समृद्ध होने पर भी यदि अन्तरमें मायारूपी  
शल्य घुसा है तो मोक्ष लाभ नहीं हो सकता ॥१३७६॥

गा०—माया दोषसे मनुष्य सबके द्वेषका पात्र होता है, उसका कोई विश्वास नहीं करता ।  
सुजन भी उसका अपमान करते हैं । वह शीघ्र ही अपने बन्धु-बान्धवोंका भी शत्रु बन जाता  
है ॥१३७८॥

गा०—अपने द्वारा थोडा सा अपराध होने पर भी मायाचारी महान् दोषका भागी बनता  
है । एक बारका भी मायाचार हज़ारो सत्त्वोंको नष्ट कर देता है इस प्रकार महादोषका भागी  
होना और हज़ार सत्त्वोंका विनाश ये मायाके दोष है ॥१३७८॥

'मायाए' मायया । 'मित्तमेवे' मैत्र्या विनाशे कृते । 'इह लोभिनश्चपरिहाणी' ऐहलौकिककार्यविनाशः । 'वासहि क्षामण्य' नश्यति श्रामण्यः । 'मायादोसा' मायास्य दोषरद्वेषोः । 'विससुबहुद' विषयुलदुग्धमिव । मित्रकार्यविनाशः क्षामण्यहानिद्वय मायाजनितदोषी ॥१३७९॥

माया करेदि जीवागोद इत्थी अबुसयं तिरियं ।

मायादोसेण य भवसएसु डभिज्जदे बहुसो ॥१३८०॥

'माया करेदि जीवागोद' माया करोति नीचगोत्रं कर्म । नीचैर्वा गोत्रमस्य जन्मान्तरे । 'इत्थी अबुसयं-तिरियं' स्त्रीवेदं, नपुंसकवेदं, तिर्यग्भक्तिं च नाशकर्म करोति । अथवा स्त्रीत्व, नपुंसकत्वं, तिर्यक्त्व वा । 'मायादोसेण' 'मायासज्जितेन दोषेण । 'भवसएसु' जन्मशतेषु । 'डभिज्जवि' वंच्यते । 'बहुसो' बहुधाः ॥१३८०॥

कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्णिहिदा ।

कोहमदलोहदोसा सब्बे मायाए ते होंति ॥१३८१॥

'कोहो माणो' क्रोधमानलोभास्तत्र जीवे सन्निहिता यत्र स्थिता माया । क्रोधमानलोभजन्या दोषा सर्वेऽपि मायावतो भवन्ति ॥१३८१॥

सस्सो य भरघगामस्स सत्तसंवच्छराणि णिस्सेसो ।

दड्ढो डंभणदोसेण कुंभकारेण रुद्धेण ॥१३८२॥

'सस्सो' सत्यं । 'भरघगामस्स' भरतनामधेयग्रामस्य । 'सत्तसंवच्छराणि' वर्षसप्तकं । 'णिस्सेसो दड्ढो' निरवशेषं वरधं । 'डंभणदोसेण' मायादोषेण हेतुना । 'दड्ढेण कुंभकारेण' कष्टेन कुम्भकारेण ॥१३८२॥ मायासिगवा ।

लोभदोषानाचष्टे—

लोभेणासाधत्तो पावइ दोसे बहुं कुणदि पावं ।

णीए अप्पाणं वा लोभेण णरो ण विगणेदि ॥१३८३॥

गा०—मायाचारसे मित्रता नष्ट हो जाती है और उससे इस लोक सम्पन्धी कार्योका विनाश होता है । तथा मायादोषसे विष मिश्रित दूधकी तरह मुनि धर्म नष्ट हो जाता है । इस प्रकार मित्रता और कार्यका नाश तथा मुनि धर्मकी हानि ये मायाके दोष हैं ॥१३७९॥

गा०—द्वी०—मायासे नीच गोत्र नामक कर्मका बन्ध होता है, जिससे दूसरे जन्ममें नीच कुलमें जन्म होता है । तथा स्त्रीवेद, नपुंसकवेद और तिर्यग्भक्ति नाम कर्मका बन्ध करती है । अथवा मायासे स्त्रीपना, नपुंसकपना और तिर्यग्भक्ति प्राप्त होता है । मायासे उत्पन्न हुए दोषसे सैकड़ों जन्मोंमें बहुत बार ठगाया जाता है अर्थात् किसीको एक बार ठगनेसे बार-बार ठगा जाता है ॥१३८०॥

गा०—जहाँ मायाचार है वहाँ क्रोध, मान लोभ भी रहते हैं । क्रोध मान और लोभसे उत्पन्न होने वाले सब दोष मायाचारीमें होते हैं ॥१३८१॥

गा०—मायाचारके दोषसे रूष्ट हुए कुम्भकारने भरत नामक गाँवका धान्य सात वर्ष तक पूर्ण रूपसे जलाया था ॥१३८२॥

१ मायासंजमितेन—मु० ।

'लोभेण' लोभेन हेतुना । 'अस्मान्मते' ममेवंभविष्यतीत्याशया प्रस्तः । 'बाधवि दोसे' प्राप्नोति दोषान् । बहुं क्रुधवि पापं' पापं च बहु करोत्याशावान् । 'वीए' बान्धवान् । 'अप्याणं वा' आत्मानं वा । 'लोभेण' लोभेन । 'परो च विगणोवि' न विगणयति । बान्धवानपि बाधते स्वशरीरश्चमं च नापेक्षते इति यावत् ॥१३८३॥

वस्तुनः सारासारतया न कश्चित् कर्मबन्धातिशयः येन केनचिद्द्रव्येण जविता मूर्च्छा कर्मबन्धे निमित्तं आत्मा शुभपरिणामनिमित्तत्वादिति मत्वा सूरिराचष्टे—

लोभो तणे वि जादो जणेदि पावमिदरत्थ किं वच्चं ।

'लगिदमउडादिसंगस्स वि हु ण पावं अलोहस्स ॥१३८४॥

'लोभो तणे वि जादो' लोभस्तृणोऽपि जातो । 'जणेवि पापं' जनयति पाप । 'इदरत्थ' इतरत्र सारवति वस्तुनि । 'किं वच्चं' किं वाच्यं । 'लगिदमउडादिसंगस्स वि' स्वशरीरविलग्नमुकुटादिपरिग्रहस्यापि न पापं भवति । 'अलोहस्स' लोभकषायबज्रस्य मुकुटादेः सारद्रव्यस्याति प्रत्यासत्तिर्न बन्धायेति मन्यते ॥१३८४॥

साकेदपुरे सीमंधरस्स पुत्तो मियद्धओ नाम ।

मह्यमहिसनिमित्तं जुवराय्या केवली जादो ॥१३८५॥

तृप्तिमापादयति द्रव्यमिति योऽनास्थानुरागः स नास्ति द्रव्यत इत्य.चष्टे—

विशेषार्थं—इसकी कथा वृ० क० को० में १२० नम्बर पर है उसमें गाँवका नाम भरण दिया है ॥१३८२॥

लोभके दोष कहते हैं—

गा०—लोभसे मनुष्य 'यह वस्तु मेरी होगी' इस आशासे प्रस्त होकर बहुत दोष करता है; बहुत पाप करता है । लोभसे अपने कुटुम्बियोंकी और अपनी भी चिन्ता नहीं करता । उन्हे भी कष्ट देता है और अपने शरीरको भी कष्ट देता है ॥१३८३॥

वस्तुके सारवान या असार होनेसे कर्मबन्धमें कोई विशेषता नहीं होती । जिससे किसी द्रव्यमें उत्पन्न हुआ ममत्व भाव कर्मबंधमें निमित्त होता है क्योंकि वह ममत्व भाव आत्माके अशुभ परिणाममें निमित्त होता है, ऐसा मानकर आचार्य कहते हैं—

गा०—तृणसे भी हुआ लोभ पापको उत्पन्न करता है तब सारवान् वस्तुमें हुए लोभका तो कहना ही क्या है ? जो लोभकषायसे रहित है उसके शरीरपर मुकुट आदि परिग्रह होनेपर भी पाप नहीं होता । अर्थात् सारवान् द्रव्यका सम्बन्ध भी लोभके अभावमें बन्धका कारण नहीं है ॥१३८४॥

गा०—साकेत नगरीमें सीमन्धरका पुत्र मृगध्वज नामक था । वह भद्रक नामक भैसेके निमित्तसे केवली हुआ ॥१३८५॥

विशेषार्थं—वृ क को. में मृगध्वजकी कथा १२१ नम्बर पर है ।

'द्रव्य तृप्ति देता है' इस भावनासे मनुष्यका द्रव्यमें जो अनुराग है वह नहीं होनेसे बन्ध नहीं होता, यह कहते हैं—



तेल्लोषकेण वि चित्तस्स जिब्बुदी णत्थि लोभकथस्स ।

संतुट्ठो हु अलोभो लभदि दरिदो वि जिब्वाणं ॥१३८६॥

'तेल्लोषकेण वि' त्रैलोक्येनापि । 'चित्तस्स जिब्बुदी णत्थि' चित्तस्य निर्वृत्तिर्नास्ति । 'लोभकथस्स' लोभकथस्तस्य । 'संतुट्ठो' सन्तुष्टः लब्धेन केनचिद्वस्तुना शरीरस्थितिहेतुभूतेन । 'अलोभो' द्रव्यगतभूच्छरिद्धितः । 'लभदि' लभते । 'दरिदो वि' दरिद्रोऽपि । 'जिब्वाणं' निर्वाणं । सन्तोषायसा चित्तनिर्वृत्तिर्न द्रव्यायसा, सत्यपि द्रव्ये महति असन्तुष्टस्य हृदये महति दुःखासिका ॥१३८६॥

सव्वे वि गंधदोसा लोभकसायस्स हुति णादव्वा ।

लोभेण चैव मेहुणहिंसालियचोज्जमाचरदि ॥१३८७॥

'सव्वे वि गंधदोसा' सर्वेऽपि परिग्रहस्य ये दोषाः पूर्वमाख्यातास्ते सर्वेऽपि । 'लोभकसायस्स' लोभकषायवत् लोभ कषायोऽप्येति लोभकषाय इति गृहीतत्वात् । अथवा लोभसंज्ञितस्य कषायस्य दोषा इति सम्बन्धनीय । 'लोभेण चैव' लोभेन चैव । मैथुन, हिंसा, अलीकं, चौर्यं वाचरति । ततः सावधक्रियाया सर्वस्या आदिमान् लोभ ॥१३८७॥

रामस्स जामदग्गिस्स वच्छं चित्तूण कत्तविरिओ वि ।

णिघणं पत्तो सकुलो ससाहणो लोभदोसेण ॥१३८८॥

'रामस्स' रामस्य । 'जामदग्गिस्स' जामदग्न्यस्य । 'वच्छं' व्रज । 'चित्तूण' गृहीत्वा । 'कत्तविरिओ वि' कार्तवीर्योऽपि । 'णिघणं पत्तो' निघनं प्राप्तं । 'सकुलो' सबन्धुवर्गः । 'ससाहणो' सबलः । 'लोभदोसेण' लोभदोषेण ॥१३८८॥ लोभः ।

ण हि तं कुणिज्जे सधू अग्गी बग्घो व कण्हसप्पो वा ।

जं कुणइ महादोसं जिब्बुदिभिग्घं कसायरिचू ॥१३८९॥

स्पष्टा ॥१३८९॥

गा०—टी०—जो लोभसे ग्रस्त हैं उसके चित्तको तीनों लोक प्राप्त करके भी सन्तोष नहीं होता । और जो शरीरकी स्थितिमें कारण किसी भी वस्तुको पाकर सन्तुष्ट रहता है, जिसे वस्तुमें ममत्वभाव नहीं है वह दरिद्र होते हुए भी सुख प्राप्त करता है । अतः चित्तकी शान्ति सन्तोषके अधीन है, द्रव्यके अधीन नहीं है । महान् द्रव्य होते हुए भी जो असन्तुष्ट है उसके हृदयमें महान् दुःख रहता है ॥१३८६॥

गा०—पूर्वमें परिग्रहके जो दोष कहे हैं वे सब दोष लोभकषायवालेके अथवा लोभ नामक कषायके जानना । लोभसे ही मनुष्य हिंसा, झूठ, चोरी और मैथुन करता है । अतः समस्त पाप-क्रियाओंका प्रथम कारण लोभ है ॥१३८७॥

गा०—जमदग्निनेके पुत्र परशुरामकी गायीको ग्रहणकर लेनेके कारण राजा कार्तवीर्य लोभदोषसे समस्त परिवार और सेनाके साथ मृत्युकी प्राप्त हुआ । परशुरामने सबको मार डाला ॥१३८८॥

विशेषार्थ—वृ. क. की. में कार्तवीर्यकी कथा १२९ नम्बर पर है ।

उत्तरगाथा—

इंद्रियकसायदुहं तस्सा पाडेंति दोसविसमेसु ।

दुःखावहेसु पुरिसे पसदिलिणिव्वेदखलिया हु ॥१३९०॥

‘इंद्रियकसायदुहंतस्सा’ इन्द्रियकषायदुर्दान्तास्वाः । ‘पाडेंति’ पातयन्ति । ‘दोसविसमेसु’ पापविषम-  
स्थानेषु । ‘दुःखावहेसु’ दुःखावहेषु । ‘पुरिसे’ पुरुषान् । ‘पसदिलिणिव्वेदखलिया’ प्रक्षिपित्स्त्रिर्वेद-  
खलिनाः ॥१३९०॥

इंद्रियकसायदुहं तस्सा णिव्वेदखणिलिदा सता ।

ज्जाणकसाए भीदा ण दोसविसमेसु पाडेंति ॥१३९१॥

‘इंद्रियकसायदुहंतस्सा’ इन्द्रियकषायदुर्दान्तितुरङ्गा वैराग्यखलीननियमिता सन्त ध्यानकषायुभीता  
न दोषविषमेषु पातयन्ति ॥१३९१॥

इंद्रियकसायपण्णगदट्टा बहुवेदणुहिदा पुरिसा ।

पम्भदुज्जाणसुक्खा संजमजीयं पविजहंति ॥१३९२॥

इन्द्रियकषायपन्नगदष्टा, बहुवेदनावष्टब्धा पुमास प्रभ्रष्टध्यानसुखा समयमजीव परित्य-  
जन्ति ॥१३९२॥

ज्जाणागदेंहि इंद्रियकसायभुजगा विरागमंतेहिं ।

णियमिज्जंता संजमजीयं साहुस्स ण हरंति ॥१३९३॥

ध्यानागदैरिन्द्रियकषायभुजगा वैराग्यमन्त्रनियम्यमाणा साधो समयमजीवितं न हरन्ति ॥१३९३॥

सुमरणपुंखा चिंतावेगा विसयविसलित्तरइधारा ।

मणघणुमुक्खा इंद्रियकंडा विंधेति पुरिसमयं ॥१३९४॥

गा०—शत्रु, आग, व्याघ्र और कृष्ण सर्प भी वह बुगई नहीं करता जो बुराई कषाय-  
रूपी शत्रु करता है । वह कषायरूप शत्रु मोक्षमे बाधोरूप महादांपका कारण है ॥१३९४॥

गा०—इन्द्रिय कषायरूपी घोड़े दुर्दमनीय है इनको वशमे करना बहुत कठिन है । वैराग्य-  
रूपी लगामसे ही ये वशमें होते हैं । किन्तु उस लगामके ढीले होनेपर वे पुरुषको दु खदायी पाप-  
रूपी विषम स्थानोंमें गिरा देते है ॥१३९०॥

गा०—किन्तु इन्द्रिय कषायरूपी दुर्दमनीय घोड़े जब वैराग्यरूपी लगामसे नियमित होते  
हैं और ध्यानरूपी कोड़ेसे भयभीत रहते हैं तो विषम पापस्थानमे नहीं गिराते ॥१३९१॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूपी सर्पोंसे डसे हुए मनुष्य बहुत कष्टसे पीड़ित होकर, उत्तम-  
ध्यानरूपी सुखसे भ्रष्ट हो, संयमरूपी जीवनको त्याग देते है ॥१३९२॥

गा०—किन्तु इन्द्रिय और कषायरूपी सर्प सम्यग्ध्यानरूपी सिद्ध औषधि और वैराग्यरूपी  
मंत्रोंसे वशमे होनेपर साधुके समयरूपी जीवनको नहीं हरते ॥१३९३॥

‘सुमरणपुंजा’ स्मरणपुंजाः किञ्चिन्नेवा’ विषयविषेयालिप्ता रतिवारा वेषां ते मनोबनुर्मुक्ताः इन्द्रिय-  
बाधाः पुरुषभृगं घातयन्ति ॥१३९४॥

तान्वाणान्पुरुषमुगहननोद्यतान्यतय एव वारयन्तीति कथयति—

धिदिसेडर्हि इ दियकंटे ज्ञाणवरसत्तिमंजुता ।

‘वारंति समणजोहा सुषाणदिद्वीहिं ददृण ॥१३९५॥

‘धिदिसेडर्हि’ धृतिसेटै इन्द्रियसाराम्भारयन्ति ध्यानसत्त्वसमन्विताः । ‘समणजोहा’ श्रमणयोधाः  
सम्यग्ज्ञानदृष्ट्या दृष्ट्वा ॥१३९५॥

गंथाडवीचरंतं कसायविसकंटया पमायमुहा ।

विद्वंति विसयतिक्खा अधिदिददोवाणहं पुरिसं ॥१३९६॥

‘गंथाडवीचरंतं’ परिग्रहवने चरन्तं कषायविषकंटकाः प्रमादमुक्ता विष्यन्ति विषयैस्तीक्ष्णा धृतिदूढोपान-  
द्रहित पुरुष ॥१३९६॥

सयतस्य पुनरेवपरिकरस्य कषायविषकंटकाः किञ्चिदपि न कुर्वन्ति इत्याचष्टे सूरि—

आइद्धधिदिददोवाणहस्स उवओगदिद्विजुत्तस्स ।

ण करिति किंचि दुक्खं कसायविसकंटया मुणिणो ॥१३९७॥

‘आइद्धधिदिददोवाणहस्स’ आबद्धधृतिदूढोपानत्कस्य ज्ञानोपयोगसहितदृष्टेर्मुने स्वल्पमपि दुःख न  
कुर्वन्ति कषायविषकंटकाः ॥१३९७॥

शा०—इन्द्रियां बाणके समान पुरुषरूपी हिरनको वींधती है । बाणमें पुंख होते हैं । भोगे  
हुए भोगोका स्मरण इनका पुख है । भोगोंकी चिन्ता इनका वेम है । रति इनको धारा-गति है जो  
विषयरूपी विषसे लिप्त है । ये इन्द्रियरूप बाण मनरूपी धनुषके द्वारा छोड़े जाते हैं ॥१३९४॥

आगे कहते है कि पुरुषरूप भृगोंका घात करनेमें तत्पर उन बाणोंको संयमीजन ही निवारण  
करते हैं—

शा०—ध्यानरूपी श्रेष्ठ शक्तिसे युक्त श्रमण योद्धा सम्यग्ज्ञानरूप दृष्टिसे देखकर धैर्यरूप  
फलकके द्वारा इन्द्रियरूप बाणोंका वारण करते हैं ॥१३९५॥

शा०—परिग्रहरूपी घोर वनसे कषायरूपी विषैले कटि फेले हैं । प्रमाद उनका मुख है  
और विषयोकी चाहसे वे तीक्ष्ण हैं । धैर्यरूपी दृढ जूतेको धारण किये बिना जो उस वनमें विचरण  
करता है, उसे वे कटि वींध देते हैं ॥१३९६॥

आगे कहते हैं इस प्रकारके धैर्यरूपी जूता धारण करनेवाले संयमीका वे कषायरूप विषैले  
कटि कुछ भी नहीं करते—

शा०—जिस मुनिने धैर्यरूपी दृढ जूता धारण किया है और जो सम्यग्ज्ञानोपयोग दृष्टिसे  
सम्पन्न है उसको वे कषायरूपी विषैले कटि कुछ भी दुःख नहीं देते ॥१३९७॥

उड्डहणा अदिचपला अणिग्गहिदकसायमक्कडा पावा ।

गंथफललोलहिदया णासंति हु संजमारामं ॥१३९८॥

'उड्डहणा' असयता अतिचपला अनिगृहीताः कषायमर्कटा , परिग्रहफलासक्तहृदया नाशयन्ति सयमारामं ॥१३९८॥

णिच्चं पि अमज्झस्थे तिकालदोसाणुसरणपरिहत्थे ।

संजमरज्जूहिं जदी बंधंति कसायमक्कडए ॥१३९९॥

'णिच्चं पि' नित्यमपि अमाध्यस्थान्, त्रिकालविषयदोषानुसरणपट्टन, कषायमकर्तान्यतय. सयमरज्जू-भिर्बंधन्ति ॥१३९९॥

धिदिवम्मिण्हिं उवसमसरेहिं साधुहिं णाणसत्थेहिं ।

इंदियकसायसत्तु सक्का जुत्ते हिं जेदुं जे ॥१४००॥

'धिदिवम्मिण्हिं' धृतिसन्नद्धैः, उपशमशरैः साधुभिर्ज्ञानशस्त्रैरुपयुक्तैरिन्द्रियकषायशत्रवो जेतुं शक्या ॥१४००॥

इंदियकसायचोरा सुभावणासंकलाहिं वज्झंति ।

ता ते ण विक्कुच्चंति चोरा जइ संकलावद्धा ॥१४०१॥

'इ'वियकसायचोरा' इन्द्रियकषायचोरा शुभध्यानभावशृङ्खलाभिर्बध्यन्ते । बन्धस्थास्ते न विकार कुर्वन्ति शृङ्खलावद्धचोरा इव ॥१४०१॥

इंदियकसायवग्घा संजमणरघादणे अदिपसत्ता ।

वेरग्गालोहददपंजरेहिं सक्का हु णियमेदुं ॥१४०२॥

'इ'वियकसायवग्घा' इन्द्रियकषायव्याघ्रा संयमनरभक्षणे अत्यासक्ता वैराग्यलोहददपंजरैः नियन्तुं शक्या ॥१४०२॥

गा०—ये कषायरूपी बन्दर असयत हैं, अतिचपल है, पापी है, इनका हृदय परिग्रहरूपी फलमें आसक्त है । इनका यदि निग्रह नहीं किया तो ये सयमरूपी उद्यानका विनाश कर देते हैं ॥१३९८॥

गा०—ये कषायरूपी बन्दर, निरन्तर चपल है, त्रिकालवर्ती दोषोका अनुसरण करनेमें चतुर हैं । इन्हें संयमी संयमरूपी रस्सीसे बाँधता है ॥१३९९॥

गा०—सन्तोषरूपी कवच, उपशमरूपी बाण और ज्ञानरूपी शस्त्रोंसे सहित साधुओंके द्वारा वे इन्द्रिय और कषायरूप शत्रु जीते जा सकते हैं ॥१४००॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूपी चोर शुभध्यानरूप भावोंकी साकलसे बाँधे जाते हैं । बाँधे जानेपर वे सांकलसे बाँधे चोरोंकी तरह विकार नहीं करते ॥१४०१॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूपी व्याघ्र सयमरूपी मनुष्यको खानेके बड़े प्रेमी होते हैं । इन्हें वैराग्यरूपी लोहके मजबूत पीजरेमें रोका जा सकता है ॥१४०२॥

इंदियकसायहत्थी वयकारिम हीणिदी उवायेण ।

विणयवरत्तावद्धा सक्का अवसा वसे कादु ॥१४०३॥

'इंदियकसायहत्थी' इन्द्रियकषायहस्तिनः उपायेन व्रतकारीमुपनीता विनयवरत्तावद्धा अवसा अपि वशे शक्या वशे नेतुं ॥१४०३॥

इंदियकसायहत्थी बोलेदुं सीलफलियमिच्छंता ।

धीरेहिं रुंमिदब्बा धिदिजमलारुप्पहारेहिं ॥१४०४॥

इन्द्रियकसायहस्तिनः शीलपरिघालंघनैषिणो रोद्धव्या धीरैर्घृत्तिकर्णतोवप्रहरैः ॥१४०४॥

इंदियकसायहत्थी दुस्सीलवणं जदा अहिलसेज्ज ।

णाणंकुसेण तइया सक्का अवसा वसं कादुं ॥१४०५॥

'इंदियकसायहत्थी' इन्द्रियकषायहस्तिनः दुःशीलवनं प्रवेष्टुं यदाभिलषन्ति तदा अवसा अपि वशे कर्तुं शक्यन्ते ज्ञानांकुशेन ॥१४०५॥

जदि विसयगंधहत्थी अदिणिज्जदि रागदोसमयमत्ता ।

विण्णाणज्झाणजोहस्स वसे णाणंकुसेण विण्णा ॥१४०६॥

'जदि विसयगंधहत्थी' यद्यपि विषयगन्धहस्तिनः स्वयं ग्रन्थाटवी प्रविशन्ति रागद्वेषमत्ता न तिष्ठेयुर्दि-  
ज्ञानध्यानयोधस्य वशे ज्ञानांकुशेन विना ॥१४०६॥

विसयवणरमणलोला बाला इंदियकसायहत्थी ते ।

पसमे रामेदब्बा तो ते दोसं ण काहिति ॥१४०७॥

'विसयवणरमणलोला' विषयवनरमणलोलाः बाला इन्द्रियकषायहस्तिनः ते रतिमुपनेयाः प्रघामेन ततस्ते दोषं न कुर्वन्ति ॥१४०७॥

गा०—इन्द्रिय कषायरूपी हाथी यद्यपि स्वच्छन्द है तथापि व्रतरूपी बाड़ेमें ले जाकर विनयरूपी रस्सीसे उपायपूर्वक बाँधे जानेपर वशमे लाये जा सकते हैं ॥१४०३॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप हाथी शीलरूपी अर्मलाको लांघना पसन्द करते हैं । अतः धीर पुरुषोको उनके दोनों कानोंके पास धैर्यरूपी प्रहार करके रोकना चाहिए ॥१४०४॥

गा०—इन्द्रिय और कषायरूप हाथी जब दुःशीलरूपी वनमें प्रवेश करना चाहे तो उसे ज्ञानरूपी अंकुशसे वशमें करना शक्य है ॥१४०५॥

गा०—यदि रागद्वेषरूपी मदसे मस्त विषयरूपी गन्धहस्ती ज्ञानांकुशके विना विज्ञान ध्यानरूपी योधाके वशमें नहीं रहता और परिग्रहरूपी वनमें प्रवेश करता है ॥१४०६॥

गा०—तो इन्द्रिय और कषायरूप बालहस्ती विषयरूपी वनमें क्रीड़ा करनेके प्रेमी होते हैं । उन्हें प्रशमरूपी वनमें अर्थात् आत्मा और शरीरके मोक्षज्ञानसे प्रकट हुए स्वाभाविक वैराग्यमें रमण कराना चाहिए तब वे दोष नहीं करेंगे ॥१४०७॥

सहे रूबे गंधे रसे य फासे सुमे य असुमे य ।

तम्हा रागदोसं परिहर तं इंदियज्जण ॥१४०८॥

‘सहे रूबे गंधे रसे य’ शुभाशुभेषु शब्दादिषु रागद्वेषं च निराकुरु त्वं इन्द्रियजयेत्युत्तरसूत्र-  
स्यार्थः ॥१४०८॥

जह पीरसं पि कडुयं ओसहं जीविदत्थिओ पिबदि ।

कडुयं पि इंदियजयं णिव्वुइहेदुं तह पिबिज्ज ॥१४०९॥

‘जह पीरसं पि’ यथा स्वादुरहित कटुकमप्यौषध जीवितार्थं पिबति । तथा इन्द्रियजय भजते कटुक-  
मपि निवृत्तिहेतुम् ॥१४०९॥

इन्द्रियजये क उपाय इत्याशङ्कामा इन्द्रियकषायविषयाणां शुभाशुभत्वे अनवस्थिते । ये शुभास्त एवे-  
दानीं अशुभा, अशुभा ये ते एव शुभा । ये तु अशुभतया दोषा इदानीं हरि ? से शुभा इति गृहीता न त्वशुभा  
जातास्त एवामी इति कथं नानुरागस्तत्र ये वाऽशुभास्तेषु कथं द्वेषे शुभता प्रतिपत्त्यमानेषु इति निबंदयति—

जे आसि सुभा एण्हि असुभा ते चेव पुग्गला जोदा ।

जे आसि तदा असुभा ते चेव सुभा इमा इण्हि ॥१४१०॥

‘जे आसि सुभा एण्हि’ ये पुद्गला शुभा आसन्नदानीं त एवाशुभा जाता । ये चासन्तदा अशुभा  
ते चैव शुभा इदानीं इति तौ न युक्तौ रागद्वेषौ इति गिष्यति ॥१४१०॥

सव्वे वि य ते भुत्ता चत्ता वि य तह अणंतखुत्तो मे ।

सव्वेसु एत्थ को मज्झ विंभओ भुत्तविज्जडेसु ॥१४११॥

गा०—इसलिए हे क्षपक ! इन्द्रियको जीतकर तू शुभ और अशुभ शब्द, रूप, गन्ध, रस  
और स्पर्शमें रागद्वेष मत कर ॥१४०८॥

गा०—जैसे जीवनका इच्छुक रोगी स्वादरहित कडुवी औषधी पीता है वैसे ही तू मोक्षके  
लिए कटुक भी इन्द्रियजयका सेवन कर ॥१४०९॥

इन्द्रिय जयका क्या उपाय है ऐसी शंका करनेपर कहते हैं—

गा०—टी०—इन्द्रिय और कषायके विषयोंमें अच्छा और बुरापना स्थिर नहीं है । जो  
विषय आज अच्छे लगते हैं कल वे ही बुरे लगते हैं । जो आज बुरे लगते हैं कल वे ही अच्छे  
लगते हैं । जिन्हे अच्छा मानकर स्वीकार किया वे ही बुरा लगनेपर द्वेषके पात्र होते हैं तो उनमें  
अनुराग कैसा ? और जो बुरे लगते हैं कल वे ही अच्छे लगनेवाले हैं अतः उनमें द्वेष कैसा ?  
जो पुद्गल इस समय अच्छे प्रतीत होते हैं वे ही बुरे लगने लगते हैं । जो पहले बुरे प्रतीत होते थे  
वे ही अब अच्छे प्रतीत होते हैं इसलिए उनमें रागद्वेष करना उचित नहीं है ॥१४१०॥

गा०—वे अच्छे बुरे सभी पुद्गल मैंने अनन्तवार भोगे हैं और अनन्तवार त्यागे हैं । उन  
भोगे और त्यागे हुए सब पुद्गलोंमें मुझे अचरज कैसा ? इस प्रकार हे क्षपक ! तुम्हें विचारना  
चाहिए ॥१४११॥

१. भजेज्ज सु०, मूलारा० ।

‘सखे वि ते भुक्ता’ सर्वेऽपि च ते पुद्गलाः शुभाशुभरूपा अनुभूतास्त्यक्ता अनन्वचारं मया । तेषु द्वेषेषु भुक्त्यकार्येषु को विस्मयो ममेति त्वया चिन्ता कार्या ॥१४११॥

सुखसाधनतया यदि तवानुरागो, दुःखसाधनतया च रोष संव सुखदुःखसाधनता शुभाशुभादीनां रूपाणां नैवास्ति सङ्कल्पमन्तरेणात्मनः इति वदति—

रूवं सुभं च असुभं किंचि वि दुःखं सुहं च ण य कुण्दि ।

संकल्पविसेसेण हु सुहं च दुःखं च होइ जए ॥१४१२॥

‘रूवं सुभं च असुभं’ रूपं शुभमशुभ वा किञ्चिद्दुःख सुखं च नैव करोति । सङ्कल्पवशेनैव सुख वा दुःखं भवति जगति ॥१४१२॥

इह य परत्त य लोए दोसे बहुगे य आवइइ चक्खु ।

इदि अप्पणो गणिता णिज्जेदव्वो हवदि चक्खु ॥१४१३॥

‘इह य परत्त य’ जन्मद्वयेऽपि बहून्दोषानावहति चक्षुरित्यात्मनावगणय्य निर्जेतव्यं चक्षुः ॥१४१३॥

एवं सम्मं सहरसगंधफासे विचारयित्ताणं ।

सेसाणि इंदियाणि वि णिज्जेदव्वानि बुद्धिमदा ॥१४१४॥

‘एवं सम्मं’ उभयजन्मगोचरानेकदोषावहत्व विचार्य स्वबुद्ध्या शेषाभ्यपीन्द्रियाणि शब्दरसगन्धस्पर्श-विषयाणि निर्जेतव्यानि बुद्धिमता । ‘सहरसगंधफासे’ इति वैषयिकी सप्तमी ॥१४१४॥

क्रोधजयोपायमाचष्टे—

जदिदा सबदि असत्तेण परो तं णत्थि मेत्ति ख्खिमिदव्वं ।

अणुकंपा वा कुज्जा पावइ पावं वरावोत्ति ॥१४१५॥

‘जदिदा सबदि असत्तेण’ यदि तावदसता दोषेण शपति परः स दोषो न मयास्तीति क्षमा कार्या । असद्वोषस्थापनेनास्य मम किं नष्टं इति । अधवानुकम्पां आक्रोशके कुर्याद्वराकोऽसदभिधानेन समार्जयति पाप-

आगे कहते हैं यदि सुखका साधन होनेसे इनमें तेरा अनुराग है और दुःखका साधन होनेसे द्वेष है तो अच्छे बुरे पुद्गलोंमें वही सुख-दुःख साधनता तेरे संकल्पके सिवाय यथार्थमें नहीं है—

गा०—कोई अच्छा या बुरा रूप सुख या दुःख नहीं करता । जगत्मे संकल्पवश ही सुख-दुःख होता है ॥१४१२॥

गा०—इस लोक और परलोकमें ये आँखें बहुत बुराई उत्पन्न करती हैं ऐसा जानकर चक्षु इन्द्रियको जीतना चाहिए ॥१४१३॥

गा०—इस प्रकार दोनों लोकोंमें अनेक दोष उत्पन्न करने वाली जान अपनी बुद्धिसे विचारकर शब्द, रस, गन्ध और स्पर्शको विषय करने वाली शेष इन्द्रियोंको भी बुद्धिमान् पुरुषको जीतना चाहिए ॥१४१४॥

क्रोधको जीतनेका उपाय कहते हैं—

गा०—टी०—यदि दूसरा व्यक्ति मेरेमें अविद्यमान दोषको कहता है तो वह दोष मुझमें नहीं है अतः उसे क्षमा करना चाहिए; क्योंकि असत् दोषको कहनेसे मेरी क्या हानि हुई ? अथवा

भारं अनेक दुःखावह । मदीयैर्वोषैरस्म किञ्चिन्न्यायाति दोषजात । गुणैर्वा किमस्मै किञ्चिद्भुवति ? प्राणिना प्रतिनियता गुणदोषास्तत्तमेव प्रति सुखदुःखयोजनास्ततो पुरस्तो (?) मुधानेन कर्मबन्धः सम्पाद्यते इति ॥१४१५॥

चिन्ता करुणात्मिका रोषं पक्षमपसारयति—

जदि वा सबेज्ज संतेण परो तह वि पुरिसेण खमिदव्वं ।

सो अत्थि मज्झ दोसो ण अलीयं तेण भणिदत्ति ॥१४१६॥

‘जदि वा सबेज्ज’ यदि वा शपेच्च सता दोषेण तथापि क्षमा कार्या । सोऽनेन कथ्यमानो दोषो ममास्ति न व्यलीकं तेनोक्तमिति <sup>१</sup>सङ्कल्पतया न हि <sup>२</sup>सन्तो दोषा परे चेद् न भ्रुवन्ति इति विनश्यन्ति ॥१४१६॥

यो यस्य समुपकार महान्तं चेतसि करोति स तस्यापराध अल्प सहते इति प्रसिद्धमेव लोके इति कथयति—

सत्तो वि ण च्चव हदो हदो वि ण य मारिदो च्चि य खमेज्ज ।

मारिज्जंतो ष्वि सहेज्ज च्चव धम्मो ण णट्ठोत्ति ॥१४१७॥

‘सत्तो वि च्चव’ शप्त एवास्मि न हत इत्यहनन गुण पृथुं चेतसि सस्थाप्य किमनेन शपनेन मे नष्टमिति क्षन्तव्य । एवमितरत्रापि योज्य । हत एव न मृत्यु प्रापित । मार्यमाणोऽपि सहेत विपत्तिमूर्त्तन-क्षमोऽभिलषितसुखसम्पादनोद्यतो धर्मो न विनाशित इति ॥१४१७॥

उपायान्तरमपि रोषविजये निरूपयति—

निन्दा करने वाले पर दया करना चाहिए—बेचारा झूठ बोलकर अनेक दुःख देने वाला पाप भार एकत्र करता है । मेरे दोषोंसे उसमें दोष उत्पन्न नहीं होते और न मेरे गुणोंसे ही उसका कोई लाभ होता है । प्राणियोंके अपने-अपने गुण दोष नियत है । उनसे होने वाला सुख-दुःख भी उन्हे ही होता है । अतः यह व्यर्थ ही कर्मबन्ध करता है ॥१४१५॥

आगे कहते हैं दया रूप चिन्तनसे कठोर क्रोध दूर होता है—

गा०—यदि दूसरा मेरेमें विद्यमान दोषको कहता है तब भी क्षमा करना चाहिए क्योंकि वह जिस दोषको कहता है वह मेरेमें है । वह झूठ नहीं कहता । विद्यमान दोषको दूसरे यदि न कहे तो वे नष्ट हो जाते हैं, ऐसी बात भी नहीं है ऐसा विचार करना चाहिए ॥१४१६॥

आगे कहते हैं कि जो जिसका महान् उपकार करता है वह उसके छोटेसे अपराधको सहता है यह बात लोकमे प्रसिद्ध ही है—

गा०—इसने मुझे अपशब्द ही कहे हैं मारा तो नहीं है, इस प्रकार उसके न मारनेके गुण-को चित्तमें स्थापित करके ‘अपशब्द कहनेसे मेरा क्या नष्ट हुआ’ अतः क्षमा करना चाहिए । मारे तो भी सहन करना चाहिए कि इसने विपत्तिको जड़से दूर करनेमे समर्थ और इष्ट सुखको देने वाले मेरे धर्मका नाश नहीं किया ॥१४१७॥

क्रोधको जीतनेका अन्य उपाय कहते हैं—

१ ना पर नुवो—अ० । ना पुर सूतो—आ० । ना परो सूतो—अ० । २, संकल्पतयता—मु० ।  
३ सतो बोषान्—आ० । ४, वि खमेज्ज—अ० आ० ।



रोसेण महाधम्मो णासिज्ज तणं च अग्निणा सव्वो ।

पावं च करिज्ज महं बहुगंपि णरेण खमिदव्वं ॥१४१८॥

‘रोसेण महाधम्मो’ दुरर्जनो दुर्लभो दुश्चरो धर्मोऽनुयायी रोषेण भदीयो नश्यति । अग्निना तृणमिव । तथा बाध्यमायि—

अज्ञानकाष्ठजनितस्त्वबमानवातेः संशुक्षितः पद्मवायुसविस्फुल्लिगः ।

हिंसासित्तोऽपि भ्रामृत्पित्तवैरधूमः क्रोधाग्निरदृष्टि धर्मवनं नराणाम् ॥ इति ॥ [ ] ॥१४१८॥

उपायान्तरमपि षदति—

पुव्वकदमज्झपावं पत्तं परदुःखकरणजादं मे ।

रिणमोक्खो मे जादो अज्जत्ति य होदि खमिदव्वं ॥१४१९॥

‘पुव्वकदमज्झपावं’ पापागमद्वारमजानता अनेनापि प्रमादिना पूर्वं कृतं यत्कर्म पाप परेषा दुःखकारणं तदद्य निवर्तित । ऋणमोक्षोऽद्य मम जात इति चिन्तयताऽप्यसारयितव्यो रोष ॥१४१९॥

पुव्वं सयमुवभुत्तं काले णाएण तेत्तियं दव्वं ।

को धारणीओ धणियस्स दितओ दुक्खिओ होज्ज ॥१४२०॥

‘पुव्वं सयमुवभुत्तं’ पूर्वं स्वयमेव भुक्त, अबधिकाले प्राप्ते । ‘णाएण’ नीत्या । द्रव्यं अधमर्णं उत्तमर्णाय प्रयच्छन् को दुःखं करोति ॥१४२०॥

गा०-टी०—आगसे तृणकी तरह क्रोधसे दुःखसे उपार्जन किया गया दुर्लभ और दुश्चर मेरा धर्म नष्ट होता है । कहा भी है—यह क्रोधरूपी आग मनुष्योंके धर्मवनको जलाती है । यह क्रोधरूपी आग अज्ञानरूपी काष्ठसे उत्पन्न होती है, अपमानरूपी वायु उसे भड़काती है । कठोर वचनरूपी उसके बड़े स्फुल्लिग है । हिंसा उसकी शिखा है और अत्यन्त उठा वैर उसका धूम है ।

तथा यह क्रोध मुझे पापका बन्ध कराता है जो अनेक भवोमे दुःखका बीज है । इसलिये चित्तमे क्षमा धारण करना चाहिए ॥१४१८॥

अन्य उपाय कहते हैं—

गा०—पापके आश्रवके द्वारको न जानते हुए मैने प्रमादवश जो पूर्वमे पापकर्म किया था, जो दूसरोंके दुःखका कारण था, वह आज चला गया । आज मै उस ऋणसे मुक्त हो गया । ऐसा विचारकर क्रोधको दूर करना चाहिए ॥१४१९॥

गा०-टी०—पूर्व जन्ममे मैने जिसका अपराध किया था उसके द्वारा इस जन्ममे उस अपराधसे उपार्जित पापकर्मकी उदीरणा किये जाने पर उसको भोगते हुए मुझे दुःख कैसा ? साहूकार से पहले कर्ज लेकर जिस धनको मैने स्वयं भोगा है, उतना ही धन उस ऋणका अवधिकाल आने पर देते हुए कौन कर्जदार दुःखी होता है ॥१४२०॥

इह य परत्त य लोए दोसे बहुए य आवहदि कोषो ।  
इदि अप्पणो गणित्ता परिहरिदन्वो हवह कोषो ॥१४२१॥

स्पष्टा उत्तरगाथा ॥१४२१॥

क्रोधजयोषायभूतान्परिणामानुपदर्श्य मानप्रतिपक्षपरिणामं निरूपयति—

को इत्थ मज्झ माणो बहुसो णीच्चत्तणं पि पत्तस्स ।

उच्चत्ते य अणित्त्वे उवट्ठिदे चावि णीचत्ते ॥१४२२॥

‘को इत्थ मज्झ माणो’ कोऽप्रासङ्गतप्राप्ते ‘ज्ञानादिकैरुन्नतत्वे गर्वो मम बहुशो ज्ञानकुलरूपतपोद्भविण-  
प्रभुत्वैरुन्नतता प्राप्तस्य प्राप्तेऽन्युन्नतत्वे अनवस्थायिनि सति उपस्थिते चोत्तरकालनीचत्वे ॥१४२२॥

अधिगेषु बहुसु संतेसु ममादो एत्थ को महं माणो ।

को विम्भओ वि बहुसो पत्ते पुच्चम्मि उच्चत्ते ॥१४२३॥

स्पष्टा ॥१४२३॥

उत्तरगाथा—

जो अवमाणणकरणं दोसं परिहरइ णित्त्वेमाउत्तो ।

सो णाम होदि माणी ण दु गुणचत्तेण माणेण ॥१४२४॥

‘जो अवमाणणकरणं’ योज्यमानकरणं दोषं परिहरति नित्यमुपयुक्तं स मानी भवति । न तु भवति  
मानी गुणरिक्तेन मानेन ॥१४२४॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुगे य आवहदि माणो ।

इदि अप्पणो गणित्ता माणस्स विणिग्गहं कुज्जा ॥१४२५॥

गा०—क्रोध इस लोक और परलोकमे बहुत दोषकारक है ऐसा जानकर क्रोधका त्याग  
करना चाहिए ॥१४२१॥

क्रोधको जीतनेके उपायभूत परिणामोको बतलाकर मानके प्रतिपक्षी परिणामोको  
कहते है—

गा०—टी०—ज्ञान, कुल, रूप, तप, धन, प्रभुत्व आदिमें मैं ऊँचा भी होऊँ, तो उसका गर्व  
कैसा, क्योंकि अनेक बार मैं इनमे नीचा भी हो चुका हूँ । उच्चता और नीचता ये दोनो अनित्य  
हैं ॥१४२२॥

गा०—इस लोकमे बहुतसे मुझसे भी ज्ञानादिमें अधिक हैं इनका मुझे अभिमान कैसा ?  
तथा पूर्व जन्मोमे मैं यह उच्चता अनेक बार प्राप्त कर चुका हूँ तब इनके प्राप्त होने पर आश्चर्य  
कैसा ? ॥१४२३॥

जो सदा मन लगाकर अपमान करने रूप दोषका त्याग करता है अर्थात् किसीका अपमान  
नहीं करता वह मानी होता है । गुण रहित मानसे मानी नहीं होता ॥१४२४॥

इह य परतय जन्मद्वये दोषान् बहुनाबहति माममिति विगणय्य माननिग्रहं कुर्वात्साधुजनः ॥१४२५॥

मायाप्रतिपक्षपरिणामस्वरूपं निगदति—

अदिगूहिदा वि दोसा जणेण कालंतरेण णज्जंति ।

मायाए पउचाए को इत्थ गुणो हवदि लद्धो ॥१४२६॥

‘अदिगूहिदा वि दोसा’ अतीव संयुता अपि दोषा जनेन ज्ञायन्ते कालान्तरे मायया प्रयुक्तया को गुणो लब्ध इति चिन्तया निहन्ति ॥१४२६॥

‘परिभागम्मि असंते णियडिसइस्सेहिं गूहमाणस्स ।

चंदगहोव्व दोसो खणेण सो पायडो होइ ॥१४२७॥

जणपायडो वि दोसो दोसोत्ति ण वेप्यए सभागस्स ।

जह समलत्ति ण धिप्पदि समलं पि जए तलायजलं ॥१४२८॥

‘जडपायडो वि दोसो’ लोकप्रकटोऽपि दोषो दोष इति न गृह्यते भाग्यवतः । यथा समलमिति न गृह्यते लोके तटाकजल समलमिति सदृशं । एतदुक्तं भवति पुण्यवतोऽपि मायया न किञ्चित्साध्यं । प्रकटोऽपि दोषे यतोऽसौ जगति मान्य । दोषनिग्रहं हि मान्यताविनाशभयादिति भावः ॥१४२८॥

अथ माया करोत्यर्थं तथापि सान्धिकेति वदति—

डंभसएहिं बहुणेहिं सुपउत्तेहिं अपडिभोगस्स ।

इत्थं ण एदि अत्थो अण्णादो सपडिभोगादो ॥१४२९॥

गा०—इस लोक और परलोकमे मान बहुत दोषकारी है । ऐसा जानकर अपने मानका निग्रह करना चाहिए ॥१४२५॥

अब मायाके विरोधी परिणामोका स्वरूप कहते हैं—

गा०—अत्यन्त छिपाकर भी की गई बुराई कालान्तरमे मनुष्योंको ज्ञात हो जाती है । तब मायाचार करनेसे क्या लाभ है । इस प्रकारके चिन्तनसे मायाको दूर करना चाहिए ॥१४२६॥

गा०—भाग्य प्रतिकूल हो तो हजार छलसे छिपाया हुआ भी काम चन्द्रमाके ग्रहणकी तरह क्षणमात्रमे प्रकट हो जाता है ॥१४२७॥

गा०—टी०—और भाग्यशालीका लोकमें प्रकट भी दोष दोष नहीं माना जाता । जैसे तालाबका जल मैला हो तब भी लोग उसे मैला नहीं मानते । आशय यह है कि पुण्यशालीको मायासे कोई लाभ नहीं है क्योंकि दोष प्रकट होनेपर भी वह जगत्मे मान्य रहता है । मान्यताके विनाशके भयसे ही मनुष्य दोषको छिपाता है ॥१४२८॥

आगे कहते हैं कि मनुष्य धनके लिए मायाचार करता है किन्तु वह व्यर्थ है—

गा०—अच्छी तरह सैकड़ों छलकपट करनेपर भी पुण्यहीनके हाथमे पुण्यशालीका धन नहीं आता ॥१४२९॥

१. परिभोगम्मि—ज० । एता टीकाकारो नेच्छति ।

'अंशस्येहि बहुर्षोहि' इत्यशतैर्बहुभिः सुप्रयुक्तैरपि अपुण्यस्य हस्त नायात्यर्थ । अग्न्यस्मात्स-  
पुण्यात् ॥१४२९॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ माया ।

इदि अप्पणो गणित्ता परिहरिदव्वा हवइ माया ॥१४३०॥

'इह य परत्त य' इहपरलोकयोर्बहुस्वोषानावहति माया । इति आत्मनि निरूप्य परिहर्तव्या भवति  
माया ॥१४३०॥

लोमे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस्स अपडिभोगस्स ।

अकएवि हवदि लोमे अत्थो पडिभोगवंतस्स ॥१४३१॥

'लोमे कवे' लोभे कृतेऽप्यर्थो न भवति पुरुषस्य अपुण्यस्य । अकृतेऽपि लोभेऽर्थो भवति पुण्यवत् । तत्  
अर्थासक्तिरर्थलोभे मम न निमित्तमपि तु पुण्यमित्यनया चिन्तया लोभो निराकार्य ॥१४३१॥

अपि च 'अर्थप्राप्तये जनः प्रयतते अर्था पुनरसकृत्प्राप्तास्त्यक्ताश्च तेषु को विस्मय इति मन प्रणि-  
धानं कुर्वन् लोभविजयायेति वदति—

सव्वे वि जए अत्था परिगहिदा ते अणंतखुत्तो मे ।

अत्थेसु इत्थ को मज्झ विमओ गहिदविजडेसु ॥१४३२॥

'सव्वे वि जये अत्था' सर्वेऽपि जगत्यर्था. परिगृहीता मयानन्तवार ममार्थेष्वमीषु को विस्मयो गृहीत-  
त्यक्तेषु ॥१४३२॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ लोभो ।

इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदव्वो हवदि लोभो ॥१४३३॥

इदियकसायत्तिगर्ब ॥१४३३॥

गा०—माया इस लोक और परलोकमे बहुतसे दोष लाती है ऐसा जानकर मायाका त्याग  
करना चाहिए ॥१४३०॥

गा०—लोभ करनेपर भी पुण्यहीन पुरुषके पास धन नहीं होता, और लोभ नहीं करनेपर  
भी पुण्यशालीके पास धन होता है । अतः धनका लोभ धनलाभमे निर्मित्त नहीं है किन्तु पुण्य  
निमित्त है ऐसा विचारकर लोभको त्यागना चाहिए ॥१४३१॥

अर्थकी प्राप्तिके लिए मनुष्य प्रयत्न करता है । किन्तु अर्थ अनेक बार प्राप्त हुआ और  
छोड़ा है । उसमे आश्चर्य कैसा ? इस तरह लोभको जीतनेके लिए मनमे चिन्तन करो, यह  
कहते हैं—

गा०—जगत्मे जितने पदार्थ हैं वे सब मैंने अनन्तवार प्राप्त किये । उन ग्रहण किये और  
त्यागे हुए पदार्थोंमें आश्चर्य कैसा ? ॥१४३२॥

गा०—लोभ इस भव और परभवमें बहुतसे दोष पैदा करता है ऐसा जानकर लोभको  
त्यागना चाहिए ॥१४३३॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कषायोंका कथन किया ।

एवमिन्द्रियकषायपरिणामनिरोधोपायभूताम्परिणामानुपद्विषय निद्राजयक्रमं निरूपयति सूत्रि—

**निद्रं जिघाहि णिच्चं णिहा हु णरं अचेयणं कुणइ ।**

**वड्डिज्ज हु पासुत्तो खवओ सन्नेसु दोसेसु ॥१४३४॥**

‘निद्रं जिघाहि’ निद्रां जय नित्यं । अजिता सा किमपकारं करोति इत्याशङ्क्य आह ‘णिहा हु णरं अचेयणं कुणइ’ निद्रा नर अचेतनं करोति । चैतन्यरहितावस्थाभावात्किमुच्यते करोतीति । अत्रोच्यते—विवेकज्ञानरहितत्वमेवात्राचेतनशब्देनोच्यते । यत एव योग्यायोग्यविवेकज्ञानरहित अत एव । ‘वड्डिज्ज हु’ वर्तते एव । ‘पासुत्तो’ प्रकर्षेण सुप्तः । ‘खवओ’ क्षपकः । ‘सन्नेसु दोसेसु’ हिंसामैथुनपरिग्रहादिकेषु ॥१४३४॥

निद्रा कर्मोदयवशाद्भूवति कथं मयापाकर्तव्या इत्यत्राह—

**जदि अधिवाधिज्ज तुमं णिहा तो तं करेहि सज्जायं ।**

**सुहुमत्थे वा चित्तेहि सुणसु संवेगणिव्वेगं ॥१४३५॥**

‘जदि अधिवाधिज्ज तुमं’ यद्यधिबाधेत भवन्तं निद्रा । ततस्त्व कुरु स्वाध्यायं । ‘सुहुमत्थे वा चित्तेहि’ सूक्ष्मान्वाऽर्थान् चिन्तय । ‘सुणसु संवेगणिव्वेगं’ शृणुष्व संवेजनी निर्वेजनी वा कथां ॥१४३५॥

प्रकारान्तरं निद्राविजयहेतुं निगदति—

**पीदी भए य सोमे य तथा णिद्दा ण होइ मणुयाणं ।**

**एदाणि तुमं तिण्णिवि जागरणत्थं णिसेवेहिं ॥१४३६॥**

‘पीदी भए य सोमे’ प्रीत्या भये शोके च सति चिद्रा मनुष्याणां न भवति । तेन प्रीत्यादिसेवां कुरु त्वं निद्राविजितये ॥१४३६॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोंको रोकनेके उपायरूप परिणामोंको कहकर निद्राको जीतनेका क्रम कहते हैं—

गा०—टी०—सदा निद्रापर विजय प्राप्त करो । नहीं जीतनेपर वह क्या बुराई करती है यह कहते हैं—निद्रा मनुष्यको अचेतन करती है ।

शंका—चेतन मनुष्यकी चैतन्यरहित अवस्था नहीं होती । तब कैसे कहते हैं कि निद्रा अचेतन करती है ?

समाधान—यहाँ अचेतन शब्दसे विवेकज्ञानसे रहित होना ही कहा है ।

इसलिए जो गहरी नीदमें सोया है वह क्षपक योग्य अयोग्यके विवेकज्ञानसे रहित होनेसे हिंसा मैथुन परिग्रह आदि सब दोषोंमें प्रवृत्ति करता है ॥१४३४॥

निद्रा कर्मके उदयसे होती है । उसे मैं कैसे दूर करूँ ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं—

गा०—यदि तुम्हें निद्रा सताती है तो स्वाध्याय करो । या सूक्ष्म अर्थोंका विचार करो । अथवा संवेग और निर्वेदको करनेवाली कथा सुनो ॥१४३५॥

निद्राको जीतनेका अन्य उपाय कहते हैं—

गा०—प्रीति, भय अथवा शोक होनेपर मनुष्योंको निद्रा नहीं आती । अतः तुम निद्राको जीतनेके लिए प्रीति आदिका सेवन करो ॥१४३६॥

प्रीतिभयशोकानां अशुभपरिणामत्वात्कर्मास्त्रनिमित्तता । निद्राया वा अविशिष्टत्वात् कथं सवराधिनी  
निरूप्यते प्रीत्यादिक इत्याशङ्क्या संवरहेतुभूततया तद्वधपदेशं प्रति नियतविषयमुपदर्शयति—

**भयमागच्छसु संसारादो पीदिं च उत्तमदृग्मि ।**

**सोगं च पुरादुच्चरिदादो णिद्दाविजयहेदुं ॥१४३७॥**

'भयमागच्छसु' भय प्रतिपद्यस्व । 'संसारादो' संसारात् पञ्चविधपरावर्तनरूपात् । प्रीतिं रत्नत्रयााराध-  
नायां । शोक उपैहि पूर्वकृताद्दुस्चरितात् निद्रां विजेतुं । नरकादिगतिष्वसकृत्परिवर्तमानेन शारीरमागन्तुकं,  
मानस, स्वाभाविक च दुःखं विचित्रमनुभूतं तत्पुनरप्यायास्यति इति मन प्राणिधेहि । सकलामापत्संहति-  
मुन्मूलयितुं, अम्बुदयनिश्रेयससुखानि च प्रापयितु, असारक्षरीभारमपनेतु, अनन्तावबोधदर्शनसाम्राज्यश्रिय-  
माकृष्टुं, कर्मविषवितपानुत्पाटयितु क्षमामिमां, अनन्तेषु भवेषु जनबाप्तपूर्वा रत्नत्रयााराधना कर्तुं उद्यतोऽस्मीति  
प्रीतिर्भावनीया । हिंसान्तस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेषु मिथ्यात्वकषायेष्वशुभमनोवाक्काययोगेषु विचित्रकर्माज्जनमूलेषु  
चतुर्विधबन्धपर्यायनिमित्तेषु अनारत मन्दभाग्य प्रवृत्तोऽस्मि हिताहितविचारणाविमुग्धबुद्धितया सन्मार्ग-  
स्थोपदेष्टृदृष्टामनुपलम्भात्प्रवरज्जाना वरणोदयात्तदुदीरितार्थतत्त्वानवबोधत् । अवगमे मत्यप्यश्रद्धाया, चारित्र-  
मोहोदयात्सन्मार्गोऽप्रवृत्तेश्च दुःखाम्भोघौ निमग्नोऽस्मीत्युद्विग्नचित्ततया च निद्रा प्रयाति ॥१४३७॥

यहाँ शंका होती है कि प्रीति भय और शोक तो अशुभ परिणामरूप होनेसे कर्मोंके  
आस्त्रवर्षे निमित्त होते हैं । अतः उनमें और निद्रामें कोई अन्तर नहीं है । तब जो संवरका  
इच्छुक है उसके लिए प्रीति आदि करनेको क्यों कहते हैं ? इसके उत्तरमें संवरके हेतु जो प्रीति  
आदि हैं उनके प्रतिनियत विषयको बतलाते हैं—

गा०—टी०—निद्राको जीतनेके लिये पाँच प्रकारके परावर्तन रूप संसारसे भय करो । रत्न-  
त्रयकी आराधनामें प्रीति करो और पूर्वमें किये दुराचरणके लिये शोक करो । नरकादि  
गतियोंमें बार-बार आने जानेसे मैंने शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक अनेक  
प्रकारका दुःख भोगा । वही दुःख आगे भी भोगनेमें आवेंगे, ऐसा मनमें विचार करो । समस्त  
आपत्तियोंके समूहका विनाश करनेके लिये, स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको प्राप्त करनेके लिये, असार  
शरीरका भार उतारनेके लिये, अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन रूप साम्राज्य लक्ष्मीको आकर्षित करने-  
के लिये, स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको प्राप्त करनेके लिये और कर्मरूपी विष वृक्षको उखाड़नेमें समर्थ  
इस रत्नत्रय आराधनाको, जिसे पहले अनन्तभवोंमें कमी प्राप्त नहीं किया, करनेके लिये मैं तत्पर  
हूँ । इस प्रकार प्रीतिकी भावना करो । हिंसा झूठ चोरी अब्रह्म परिग्रह, मिथ्यात्व कषाय और  
अशुभ मनोयोग अशुभ वचन योग अशुभ काययोगमें, जो नाना प्रकारके कर्मोंके संचयके मूल हैं  
और चार प्रकारके बन्धसे निमित्त हैं, मैं अभागा निरन्तर लगा रहा, क्योंकि हित अहितके विचार  
में मूढ बुद्धि होनेसे तथा सन्मार्गका उपदेश देने वालोंकी प्राप्ति न होनेसे अथवा प्रबल ज्ञानावरण-  
का उदय होनेसे उनके द्वारा कहे गये अर्थ तत्त्वको न जान सकनेसे, या जान लेने पर भी श्रद्धा न  
करनेसे और चारित्र्य मोहके उदयसे सन्मार्गमें प्रवृत्ति न करनेसे मैं दुःखके समुद्रमें डूबा हूँ । इस  
प्रकार चित्तके उद्विग्न होनेसे निद्रा चली जाती है ॥१४३७॥

जागरणत्वं इच्छेवसादिकं कुण कर्म सदा उच्यते ।

ज्ञानेण विना वञ्च्यो कालो हु तुमे ण कायञ्चो ॥१४३८॥

जागरणार्थं मिदानिरासार्थं एवमादिकं कुण कर्म संबोधयुक्तं । ध्यानेन विना बन्ध्यः कालो न कर्तव्य-  
स्त्वया ॥१४३८॥

संसारादविनिच्छरणमिच्छदो अणपणीय दोसाहिं ।

सोदुं ण खमो अहिमणपणीय सोदुं व सघरम्मि ॥१४३९॥

'संसारादविनिच्छरणमिच्छदो' संसारादविनिस्तरणमिच्छन्नपणाकृत्य दोषान् न हि स्वप्नुं क्षमः । अहिं  
अनपणीय स्वप्नुमिव गृहे ॥१४३९॥

को णाम 'णिरुव्वेगो लोमे मरणादिअग्गिपज्जलिदे ।

पज्जलिदम्मि व णामी घरम्मि सोदुं अभिलसिज्ज ॥१४४०॥

'को णाम णिरुव्वेगो लोमे मरणादि अभिरुव्वेज्जलिदे' जातिजरामरणव्याधयः, शोका भयानि, प्रार्थिता-  
'लाभो, अभिमतवियोग इत्यादिनाम्निना प्रज्वलिते । 'णामी लोमुमभिलसेज्ज' ज्ञानी स्वप्नुमभिलषेत् । 'पज्ज-  
लिदम्मि घरम्मि व' प्रज्वलिते गृहे इव ॥१४४०॥

को णाम णिरुव्वेगो सुविज्ज दोसेसु अणुवसंतेषु ।

गहिदाउहाण बहुयाण मज्झयारेव सत्तूणं ॥१४४१॥

'को णाम णिरुव्वेगो' को नाम निरुव्वेगः स्वपेद्रागादिषु संसारप्रवृत्तंषु दोषेषु अनुपशान्तेषु गृहीतायु-  
धाना शत्रूणां बहूनां मध्ये इव ॥१४४१॥

णिव्दा तमस्स सरिसो अण्णो णत्थि हु तमो मणुस्साणं ।

इदि णच्चा जिणसु तुमं णिव्दा ज्जाणस्स विग्घयरी ॥१४४२॥

गा०—निद्राको दूर करनेके लिये इस प्रकारके चिन्तनमें सदा लगे रहो । ध्यानके विना तुम्हें एक क्षण भी नहीं गंवाना चाहिए ॥१४३८॥

गा०—जैसे घरमें यदि सर्प घुसा हो तो उसे निकाले विना सोना शक्य नहीं है । उसी प्रकार जो संसार रूपी महावनसे निकलना चाहता है वह दोषोंको दूर किये विना सोनेमें समर्थ नहीं होता ॥१४३९॥

गा०—जलते हुए घरकी तरह लोकके जन्म, जरा, मरण, व्याधि, शोक, भय, प्रार्थितकी अप्राप्ति और इष्ट वियोग इत्यादि आगसे जलते रहने पर कौन ज्ञानी निर्भय होकर सोना चाहेगा ॥१४४०॥

गा०—जैसे शस्त्रधारी बहुतसे शत्रुओंके मध्यमें कोई निर्भय होकर नहीं सो सकता, उसी प्रकार संसारको बढ़ानेवाले रागादि दोषोंके उपशान्त हुए विना कौन निर्भय होकर सो सकता है ॥१४४१॥

‘गिहा तमस्स शरीरो’ तमस्सवृत्तान्पत्तमो नास्ति अनुज्जानो इति ज्ञात्वा निद्रा ध्यानस्य विघ्नकारिणीं जयेत् ॥१४४२॥

**कुण वा गिद्दामोक्खं गिद्दामोक्खस्स भणिद्वेलाए ।**

**जह वा होइ समाही खवणकिलितस्स तह कुणह ॥१४४३॥**

‘कुण वा गिद्दामोक्ख’ कुण वा निद्रामोक्षं । निद्रामोक्षस्य कषितायां वेलायां रात्रेस्तृतीये यामे इति यावत् । यथा वा समाधिर्भवति भवत् उपवासपरिभ्रान्तस्य तथा वा निद्रामोक्ष कुण ॥१४४३॥ गिद्दामोक्खं ।

उक्तार्थोपसंहारं वक्ष्यमाणं वाचिकारं दर्शयत्युत्तरगाथा—

**एस उवावो कम्मसवदारणिरोइणो हवे सव्वो ।**

**पोराणयस्स कम्मस्स पुणो तवसा खओ होइ ॥१४४४॥**

‘एस उवावो’ कर्मणामाक्षयद्वारनिरोधे उपायोऽयं सर्वोऽभिहितः । पौराणस्य कर्मणस्तपसा क्षयो भवति । संवरपूर्विका निर्जरा मुक्तये भवति न संवरहीनेति पूर्वं संवरोपन्यासः ॥१४४४॥

**अब्भंतरवाहिरगे तवम्मि सत्ति सगं अगूहंतो ।**

**उज्जमसु सुहे देहे अप्पडिबद्धो अणलसो तं ॥१४४५॥**

‘अब्भंतरवाहिरगे’ अभ्यन्तरे बाह्ये च तपस्युद्योगं कुण स्वा शक्तिमगूहमानः । सुखे शरीरे चानासक्तिः अणलस्यः । न हि शरीरे सुखे वा आदरभावात्प्रतिपक्षभूते तपसि प्रयतते । न<sup>१</sup> सालस्य प्रवर्तते तपसि । तपसः प्रत्यूहभावेन स्थितं सुखे शरीरे च प्रतिबद्धत्वमलसत्वभावोदितमनेन ॥१४४५॥

गा०—निद्रा रूपी अन्धकारके समान मनुष्योका कोई दूसरा अन्धकार नहीं है । ऐसा जानकर हे क्षपक ! तुम ध्यानमे विघ्न करने वाली निद्राको जीतो ॥१४४२॥

गा०—अथवा यदि निद्राको नहीं जीत सकते हो तो आगममे निद्रा त्यागनेका जो समय रात्रिका तीसरा पहर कहा है उस समय निद्रा त्यागो । अथवा उपवाससे थके हुए आपकी समाधि जिस प्रकार हो उस प्रकार करो ॥१४४३॥

आगे उक्त कथनका उपसंहार और आगेका अधिकार कहते हैं—

गा०—नवीन कर्मके आनेके द्वारको रोकनेका यह सब उपाय कहा है । पूर्व संचित्त कर्मोंका क्षय तपसे होता है । संवर पूर्वक निर्जरा मोक्षका कारण होती है, संवरके विना निर्जरा मोक्षका कारण नहीं है । इसलिये पहले संवरका कथन किया है ॥१४४४॥

गा०—श्री०—हे क्षपक ! अपनी शक्तिको न छिपाकर अभ्यन्तर और बाह्य तपमें उद्योग करो । सुखमे और शरीरमें आसक्त मत होओ और न आलस्य करो । जो शरीर और सुखमें आदरभाव रखता है वह उनके विरोधी तपमें प्रयत्न नहीं करता । तथा आलसी भी तपमें प्रवृत्ति नहीं करता । इससे सुख और शरीरमें आसक्ति तथा आलस्यको तपके लिये विघ्नकारी कहा है ॥१४४५॥

१. न आलस्यः—आ० । न आलस्य—मु०, मूलरा० ।



सुहृसीलदाए अलसत्तणेण देहपडिबद्धदाए य ।

जो सची संतीए ण करिज्ज तवं स सत्तिसमं ॥१४४६॥

'सुहृसीलदाए' सुखासक्ततया, अलसतया, देहप्रतिबद्धतया वा यः शक्तीं सत्यामपि तपो न करोति शक्तिसमम् ॥१४४६॥

तस्स ण भावो सुद्धो तेण यउत्ता तद्धे हवदि माया ।

ण य होइ धम्मसद्धा तिन्वा सुहदेहपिक्खाए ॥१४४७॥

'तस्स ण भावो' तस्य परिणामी न शुद्धस्तस्मात्तेन शक्तिसमे तपस्यवर्तमानेन माया प्रयुक्ता भवति । यतस्ततो न भावः शुद्धः, धर्मो तीव्रः च श्रद्धा न भवति । केन ? 'सुहदेहपिक्खाए' सुखे देहे च प्रेक्षया तत्र आसक्तया बुद्धया हेतुभूतया ॥१४४७॥

अप्या य वंचिओ तेण होइ विरियं च गूहियं भवदि ।

सुहृसीलदाए जीवो बंधदि हु असादवेदणियं ॥१४४८॥

'अप्या य वंचिओ' आत्मा वंचितस्तेन । शक्त्यनुरूपे तपस्यनभ्युद्यतेन शक्तिवच्च प्रच्छादिता भवति । सुखासक्ततया जीवो बध्नात्यसातवेदनीयं चानेकभवेषु दुःखावहं ॥१४४८॥

आलस्यदोषमाचष्टे—

विरियंतरायमलसत्तणेण बंधदि चरित्तमोहं च ।

देहपडिबद्धदाए साधु सपरिग्गहो होइ ॥१४४९॥

विरियतराय वीर्यान्तरायमलसतया बध्नाति चारित्रमोहनीयं च । शरीरासक्त्या साधुः सपरग्रहो भवति ॥१४४९॥

मायादोसा मायाए हुंति सच्चे वि पुब्बणिद्विद्धा ।

धम्मम्मि णिप्पिवासस्स होइ सो दुक्कलो धम्मो ॥१४५०॥

शा०—सुखमें आसक्त होनेसे, आलस्यसे और शरीरमें प्रतिबद्ध होनेसे जो शक्ति होते हुए भी शक्तिके अनुसार तप नहीं करता ॥१४४६॥ उसका परिणाम शुद्ध नहीं है । अतः शक्तिके अनुसार तपमें प्रवृत्ति न करने वाला मायाचारी है । तथा सुख और शरीरमें आसक्ति होनेसे उसको धर्ममें तीव्र श्रद्धा नहीं है ॥१४४७॥

शा०—जो शक्तिके अनुसार तपमें सत्पर नहीं है वह आत्माको ठगता है और अपनी शक्तिको छिपाता है । तथा सुखमें आसक्त होनेसे असातवेदनीयको बांधता है जो अनेक भवोंमें दुःखदायी है ॥१४४८॥

आलस्यके दोष कहते हैं—

शा०—आलसी होनेसे वह वीर्यान्तराय और चारित्र्य मोहनीय कर्मका बन्ध करता है । तथा शरीरमें आसक्ति रखनेसे वह साधु परिग्रही होता है ॥१४४९॥

‘सत्याज्ञेसा’ मायादोषाः सर्वेऽपि पूर्वनिश्चिन्ताः । मायाया तपसि स्वशक्तिनिगूहनलक्षणाया भवन्ति किं च धम्मन्नि धर्मे तपोलक्षणे । निष्पिशासस्त अनादरस्य जन्मान्तरे दुर्लभो भवति धर्मे ॥१४५०॥

दोषान्तरमपि निगदति—

पुञ्जतवगुणाणं चुको जं तेण वंचिओ होइ ।

विरियणिगूही बंधदि मायं विरियंतरायं च ॥१४५१॥

‘पुञ्जतवगुणाणं’ पूर्वोक्तसवरनिर्जरा चेत्येवमादिभिस्तपसाध्यैरुपकारैः । ‘चुको’ च्युतः । ‘जं’ यस्मात् । ‘तेण’ तेन तपसाध्योपकारप्रच्युतत्वेन । ‘बंधिओ होवि’ बन्धितो भवति । ‘विरियणिगूही बंधदि मायं’ वीर्यसंवरणपरो बध्नाति मायाकर्म ‘विरियंतरायं च’ वीर्यान्तरायं च ॥१४५१॥

तवमकरितस्सेदे दोसा अण्णे य होंति संतस्स ।

होंति य गुणा अण्णेया सचीए तवं कुणंतस्स ॥१४५२॥

‘तवमकरितस्स’ तपस्यनुद्यतस्येमे दोषा अन्ये च भवन्तीति जातव्याः । भवन्ति चानेकगुणा शक्त्या तपसि वर्तमानस्य ॥१४५२॥

तपोगुणप्रस्थापनायोत्तरप्रबन्ध —

इह य परत्त य लोए अदिसयपूयाओ लहइ सुतवेण ।

आवज्जिज्जंति तथा देवा वि सइंदिया तवसा ॥१४५३॥

इह जन्मनि परत्र च तपसा सम्यक् कृतेन अतिशयपूजा लभ्यते । आवर्ज्यन्ते च तपसा देवा सेम्रका ॥१४५३॥

अप्पो वि तवो बहुगं कन्लाणं फलइ सुप्पओगकदो ।

जह अप्पं वडवीअं फलइ वडमणेयपारोहं ॥१४५४॥

गा०—तपमे अपनी शक्तिको छिपाने रूप मायाचारमे वे सब दोष होते हैं जो पूर्वमे मायाके दोष कहे है । जो धर्ममें अनादर भाव रखता है उसको दूसरे जन्ममें धर्मकी प्राप्ति दुर्लभ होती है ॥१४५०॥

अन्य दोष भी कहते हैं—

गा०—पूर्वमे जो तपके द्वारा साध्य संवर निर्जरा इत्यादि उपकार कहे हैं उनसे च्युत होने से वह उनसे वंचित होता है । और अपनी शक्तिको छिपानेसे मायाकर्म और वीर्यान्तराय कर्मका बन्ध करता है ॥१४५१॥

गा०—जो तपमें तत्पर नहीं होता उसको ये दोष तथा अन्य दोष होते हैं और जो शक्तिके अनुसार तप करता है उसमे अनेक गुण होते हैं ॥१४५२॥

आगे तपके गुण कहते हैं—

गा०—सम्यक् रूपसे तप करनेसे इस जन्ममें और परजन्ममें सातिशय पूजा प्राप्त होती है । तथा तपसे इन्द्रसहित सब देव भी विनय करते हैं ॥१४५३॥

'अल्पो वि तपो' अल्पमपि तपः ब्रह्मकल्पाद्यं फलति सुखं यमनिष्पन्नं । सुष्ठु प्रबुध्यते प्रवस्यतेऽनेनेति च विग्रहे संयमः सुप्रयोगशब्देनोच्यते । यथा अल्पमपि बटबीजं फलति बटमन्त्रेकप्ररोहं अल्पमपि पुष्पुल फलदायितपः इत्येतदाख्यातमयथा ॥१४५४॥

सुदृढ कदाण वि सस्तादीणं विग्वा इचंति अदिबहुवा ।

सुदृढ कदस्स तवस्स पुण गत्थि कोइ वि अए विग्वा ॥१४५५॥

'सुदृढ कदाण वि' सम्यक् कृतानामपि शस्यादीनां अतीव निष्णा भवन्ति । तपसः पुनः सम्यक् कृतस्य जगति न कश्चिद् विघ्नः फलदाने । निविघ्नफलदायित्वं तपसो माहात्म्यं कथितम् अनया ॥१४५५॥

जणमरणादिरोगादुरस्स सुतवो वरोसधं होदि ।

रोगादुरस्स अदिविरियमोसधं सुप्पत्तं वा ॥१४५६॥

'जणमरणादिरोगादुरस्स' जन्ममरणाद्यापीडितस्य सुतपो वरोषधं भवति । रोगपीडितस्य सुप्रयुक्तमतिवीर्यमौषधमिव । जननमरणादीनां विनाशकत्वं तत्कारणकर्मविनाशाद्यनेनाख्यायते ॥१४५६॥

संसारमहाडाहेण उज्झमाणस्स होइ सीयधरं ।

सुतवोदाहेण जहा सीयधरं उज्झमाणस्स ॥१४५७॥

'संसारमहाडाहेण' संसारमहादाघेन दह्यमानस्य तपो भवति जलगृहं । यथा बह्यमानस्य सूयशुभिर्घारागृहम् । सांसारिकदुःखनिर्मूलनकारिता तपसोऽनेन सूच्यते ॥१४५७॥

णीयल्लओ व सुतवेण होइ लोगस्स सुप्पिओ पुरिसो ।

मायाव होइ विस्ससणिज्जो सुतवेण लोगस्स ॥१४५८॥

गा०-टी०-सम्यक् समयपूर्वकं किया गया थोड़ा भी तप बहुत कल्याणकारी होता है । गाथा में सुप्रयोग शब्दसे 'जिसके द्वारा सुष्ठुरूप प्रवर्तित होता है' इस विग्रहके अनुसार समय लिया गया है । जैसे छोटा-सा भी बटबीज अनेक शाखा प्रशाखासे पूर्ण बटवृक्षरूपसे फलता है उसी प्रकार थोड़ा भी तप बहुत फल देता है । यह इस गाथाके द्वारा कहा है ॥१४५४॥

गा०-धान्य आदिकी खेती बहुत सावधानतासे परिश्रमपूर्वक करनेपर भी उसमें बहुत विघ्न आते हैं । किन्तु सम्यक् रूपसे किये गये तपके फल देनेमें कोई विघ्न नहीं आता । निविघ्न फल देना तपका माहात्म्य है यह इस गाथाके द्वारा कहा है ॥१४५५॥

गा०-टी०-जैसे रोगसे पीड़ित पुरुषके लिए यत्नपूर्वक द्री गई अति शक्तिशाली औषध होती है । उसी प्रकार जन्ममरण आदि रोगसे पीड़ितकी श्रेष्ठ औषध तप है । तप करनेसे जन्ममरणके कारण कर्मोंका विनाश होता है । इससे तपको जन्ममरण आदिका विनाशक कहा है ॥१४५६॥

गा०-संसाररूपी महादाहसे जलते हुए प्राणीके लिए तप जलघर है, जैसे सूर्यकी किरणोंसे जलते हुए मनुष्यके लिए घाराघर होता है । तप सांसारिक दुःखोंको निर्मूल करता है, यह इससे सूचित किया है ॥१४५७॥

'वीरस्यसौ व' बन्धुरिव लोकस्य मित्रां प्रियो भवति पुरुषः । शोभनेन तपसा सर्वजगत्प्रियता करोति तप इत्यनेन आख्यातम् । 'जावाय होइ विश्वासविष्णो' मातेव विश्वसनीयो भवति लोकस्य । सर्वजगद्विश्वास्यत्वं तपःसम्पाद्यमानेन कथ्यते ॥१४५८॥

**कन्त्याग्निविदसुहाइं जावदियाइं हवे सुरणराणं ।**

**जं परमग्निञ्जुदिसुहं व ताणि सुतवेण लम्बन्ति ॥१४५९॥**

'कन्त्याग्निविदसुहाइ' कत्याणानि स्वर्गावतरणादीनि ऋद्धयो विभूतयश्चक्रलाञ्छनाना अर्द्धचक्रवर्तिना सुजाति च यानि देवानां मनुष्याणां च, यच्च परमनिर्वृत्तिसुक्' तानि शोभनेन तपसा लम्बन्ते ॥१४५९॥

**कामदुहा वरचेणू णरस्स चिन्तामणिञ्च होइ तओ ।**

**तिलओञ्च णरस्स तओ मानस्स विदूसणं सुतओ ॥१४६०॥**

'कामदुहा' कामदुहा वरचेणु, चिन्तामणिश्च तप यदभिलषित तस्य दानात् । तिलकाश्यालङ्कारो नरस्य शोभन तप, मानस्य विभूषण च । तपसा हि सर्वेण जगता मान्यस्य मान शोभते इति ॥१४६०॥

**होइ सुतओ य दीओ अण्णाणतमंघवारचारिस्स ।**

**सव्वावत्थासु तओ वड्ढदि व पिदा व पुरिसस्स ॥१४६१॥**

'होइ सुतओ व दीओ' सम्यक्तपः प्रदीपो भवति अज्ञानतमसि महति सचरतः । एतेन जगतां ज्ञानाख्य तमो विनाशयति तप इति सूचितं । सर्वावस्थासु हिते तपो वर्तते वितेव पुस ॥१४६१॥

**विसयमहापंकाउलगाड्ढाए संकमो तवो होइ ।**

**होइ य जावा तरिदुं तवो कसायातिचवलणदिं ॥१४६२॥**

गा०—सम्यक् तप करनेसे पुरुष बन्धुकी तरह लोगोंको प्रिय होता है। इससे यह कहा है कि सम्यक् तपसे मनुष्य सब जगत्का प्रिय होता है। तथा सम्यक् तपसे मनुष्य माताकी तरह लोकका विश्वासभाजन होता है। इससे तपसे सर्वजगत्का विश्वासपात्र होना कहा है ॥१४५८॥

गा०—स्वर्गसे अवतरित होना आदि पाँच कल्याणक, चक्रवर्ती और अर्धचक्रियोंकी विभूतियाँ तथा देवो और मनुष्योंके जितने सुख हैं, तथा जो मोक्षका परम सुख है वह सब सम्यक् तपसे प्राप्त होते हैं ॥१४५९॥

गा०—दो०—जो चाहो वह तपसे मिलता है इसलिए सम्यक् तप मनुष्यके लिए कामधेनु और चिन्तामणि रत्नके समान है। तथा मनुष्यके मस्तकपर शोभित होनेवाले तिलक नामक अलंकारके समान है और मानका विशिष्ट भूषण है अर्थात् तपसे सर्वजगत्के द्वारा मान्य पुरुषका मान शोभित होता है ॥१४६०॥

गा०—अज्ञानरूपी घोर अन्धकारमें विचरण करनेवालेके लिए सम्यक् तप दीपकके समान है। इससे सूचित किया है कि तप जगत्के अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट करता है। तथा सम्यक् तप सब अवस्थाओंमें पिताकी तरह पुरुषको हितमें लगाता है ॥१४६१॥

गा०—यह विषय महान् कीचड़से भरे गर्तके समान हैं क्योंकि उससे निकलना बहुत कठिन

'विषयमहापंकजलगाह्याय' विषयो महार्पकाकुलकर्तृ इव दुरस्तरत्वात् । तस्मिन् संक्रमो भवति । तदुत्तरपक्षहेतुर्भवति तपः । तपो नौरुत्संघयितुं कषायतिचपलनदीं ॥१४६२॥

**फलिहो व दुग्गदीणं अणोयदुक्खावहाण होइ तवो ।**

**आमिसतण्हाछेदणसमत्थमुदकं व होइ तवो ॥१४६३॥**

'फलिहो व दुग्गदीणं' दुर्गतीनां परिष इव । कीदृशां दुर्गतीनां ? अनेकदुःखावहाना । किं च विषय-तुष्णाच्छेदनसमर्थं च तपः उदकमिव तुष्णाच्छेदने ॥१४६३॥

**मणदेहदुक्खवित्तासिदाण सरणं गदी य होइ तवो ।**

**होइ य तवो सुतित्थं सव्वासुहदोसमलहरणं ॥१४६४॥**

'मणदेहदुक्खवित्तासिदाण' मानसाना शरीराणां दुःखाना ये विप्रस्तास्तेषां शरणं गतिश्च तपः । भवति च तपस्तीर्थं सर्वाशुभदोषमलनिरासकारि ॥१४६४॥

**संसारविसमदुग्गे तवो पणहुस्स देसओ होदि ।**

**होइ तवो पच्छयणं भवकंतारम्मि दिग्घम्मि ॥१४६५॥**

'संसारविसमदुग्गे' संसारो विषमदुर्ग इव दुरस्तरणीयत्वात् । तस्मिन्प्रणष्टस्य दिङ्मूलस्य । 'तवो देसओ होदि' तप उपदेष्टा भवति । संसारविषमदुर्गमुत्तारयतीति । 'होदि तवो पच्छयणं' भवति तपः पध्यदनं 'भवकंतारम्मि' भवाटव्या । 'दिग्घम्मि' दीर्घं ॥१४६५॥

**रक्खा भएसु सुतवो अम्युदयाणं च आगरो सुतवो ।**

**णिस्सेणी होइ तवो अक्खयसोक्खस्स भोक्खस्स ॥१४६६॥**

'रक्खा भएसु सुतवो' भयेषु रक्षा सुतपः । अम्युदयानां वाकरः सुतपः भोक्खस्य अक्षयसुखस्य निश्रयणी भवति तपः ॥१४६६॥

है । तप उससे निकलनेमें कारण है । तथा तप कषायरूप अति चपल नदीको पार करनेके लिए नौका है ॥१४६२॥

शा०—अनेक दुःखदायी दुर्गतियोंके लिए तप अर्गलाके समान है । तथा विषयोंकी तुष्णाको नष्ट करनेके लिए जलके समान है । जैसे जलसे प्यास बुझ जाती है वैसे ही तपसे विषयोंकी प्यास बुझ जाती है ॥१४६३॥

शा०—जो मानसिक और शारीरिक दुःखोंसे पीड़ित हैं उनके लिए तप शरण और गति है । तप सर्व अशुभ दोषरूप मलको दूर करनेवाला तीर्थ है ॥१४६४॥

शा०—यह संसार विषम दुर्गके समान है क्योंकि उससे निकलना कठिन है । उस संसार-रूपी दुर्गमें जो विशा भूल गये हैं उनके लिए तप उपदेशक है अर्थात् संसाररूपी विषम दुर्गसे निकलनेका मार्ग बतलाकर उससे निकाळता है । तथा सुदीर्घ भवरूपी भयानक वनमें कलवाके समान सहायक है ॥१४६५॥

शा०—सम्यक् तप भयमें रक्षा करता है, अम्युदयोंकी खान है और विनाशी सुख-स्वरूप भोक्खमें जानेके लिए नौकी है ॥१४६६॥

तं अत्थि जं ञ लब्ध् तवसा सम्मं कएण पुरिसस्स ।

अग्गीव तर्णं जल्लिओ कम्मतरणं डहदि य तवग्गी ॥१४६७॥

‘तण्णत्थि’ तन्नास्ति यन्न लम्पते तपसा सम्यक्कृतेन । तपोऽग्नि कर्मतृणं दहति तृणमिवाग्नि प्रज्वलितः ॥१४६७॥

सम्मं कदस्स अवरिस्सवस्स ञ फलं तवस्स वण्णेदुं ।

कोई अत्थि समत्थो जस्स वि जिब्भासयसहस्सं ॥१४६८॥

‘सम्मं कदस्स’ सम्यक् कृतस्य निरास्रवस्य तपसः फलं वर्णयितुं न कश्चित्समर्थोऽस्ति जिह्वागतसहस्रं यद्यप्यस्ति ॥१४६८॥

एवं णादूण तवं महागुणं संजमम्मि ठिच्चाणं ।

तवसा भावेदक्वा अप्पा णिच्च पि जुत्ते ण ॥१४६९॥

‘एवं णादूण’ एव ज्ञात्वा तपो महोपकारि समये स्थित्वा तपसा भावयितव्य आत्मा नित्यमपि उपयुक्तेन ॥१४६९॥

जह गहिदवेयणो वि य अदयाकज्जे णिउज्जदे भिच्चो ।

तह च्चैव दमेयव्वो देहो म्मुणिणा तवगुणोसु ॥१४७०॥

‘जह गहिववेयणो वि य’ यथा गृहीतवेतनोऽपि न दयाकार्ये नियुज्यते भूतक । तथैव दमितव्यो देहो मुनिना तपोगुणेषु । उत्तरगुण ॥१४७०॥

इच्चेव समणधम्मो कहिदो मे दसविहो सगुणादोसो ।

एत्थ तुममप्यमत्तो होहि समण्णागदमद्दीओ ॥१४७१॥

गा०—संसारमे ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो सम्यक् रूपसे किये गये तपके द्वारा न प्राप्त होता हो । जैसे प्रज्वलित आग तृणको जलाती है वैसे ही तपरूपी आग कर्मरूपी तृणोको जलाती है ॥१४६७॥

गा०—सम्यक् रूपसे किये गये और कर्मास्रवसे रहित तपके फलका वर्णन करनेमे जिसके एक हजार जिह्वा हों वह भी समर्थ नहीं है ॥१४६८॥

गा०—इस प्रकार तपको महान् उपकारी जानकर संयममें स्थित सयमीजनोको नित्य ही उपयोग लगाकर आत्मामें तपकी भावना करनी चाहिए ॥१४६९॥

गा०—जैसे वेतन लेनेवाले सेवकको कार्यमें नियुक्त करते समय उसपर दया नहीं की जाती । उसी प्रकार मुनिको अपने शरीरको तपरूप गुणमें लगाना चाहिए । अर्थात् जब शरीर को भोजनरूपी वेतन दिया जाता है उसपर दया न करके उसको तपकी साधनामें लगाना चाहिए ॥१४७०॥

‘इच्छेत् सप्तकम्मो’ इत्येवं भ्रमणधर्मः दशविधः सगुणदोषः कथितो मया । ‘एष तुल्यमप्यस्तो होहि’  
अत्र दशविधे धर्मे त्वमप्रमत्तो भवः, समागतस्मृतिक इति गणिना स्वशिक्षापरिसमाप्तिरादर्शिता ॥१४७१॥

तो खवगवयणकमलं गणिरविणो तेहिं वयणरस्सीहिं ।

चित्तप्यसायविमलं पफुल्लिदं पीदिमयरंदं ॥१४७२॥

‘तो खवगवयणकमलं’ ततः शिक्षानन्तरं तस्य क्षपकस्य वदनकमलं प्रफुल्लितं सूरिधर्मरश्मेस्तैर्ब-  
चनरश्मिभिः चित्तप्रसादविमलं प्रीतिमकरंदं ॥१४७२॥

वयणकमलेहिं गणिअभिमुहेहिं सा विभियच्छिपत्ते हिं ।

सोभइ इह<sup>१</sup> सरोदयम्मि फुल्लं व णलिणिवणं ॥१४७३॥

‘वयणकमलेहिं’ वदनकमलं यतीनां गणिनोऽभिमुखे विस्मिताक्षिपत्रं सा सभा शोभा बहति स्म ।  
सूर्योदये पुष्पितनलिनवनमिव ॥१४७३॥

गणिउवएसामयपाणएण पल्हादिदम्मि चित्तम्मि ।

जाओ य णिञ्चुदो सो पादूणय पाणयं तिसिओ ॥१४७४॥

‘गणिउवएसामयपाणएण’ गणिन उपदेशामृतपानकेन प्रह्लादिते चित्ते जातोऽसौ क्षपकः सुष्ठु निर्वृत-  
तृषित पानक पीत्वैव ॥१४७४॥

तो सो खवओ तं अणुसद्धिं सोऊण जादसंवेगो ॥

उद्धित्ता आयरियं वंदइ विणएण पणदंमो ॥१४७५॥

गा०—इस प्रकार हे क्षपक ! मैंने गुणदोषोंके विवेचनपूर्वक दस प्रकारके भ्रमण धर्मका  
कथन किया । उसको स्मरण करके तुम दस प्रकारके धर्ममें अप्रमादी होओ । इस प्रकार नियर्था-  
पकाचार्यने अपनी शिक्षाकी समाप्ति सूचित की है ॥१४७१॥

गा०—इस शिक्षाके अनन्तर उस क्षपकका मुखरूपी कमल आचार्यरूपी सूर्यके वचनरूपी  
किरणोंसे प्रफुल्लित हो जाता है, चित्तके प्रसन्न होनेसे उस मुख कमलकी विरूपता चली जाती  
है और उसमेंसे प्रीतिरूपी पुष्परस झरने लगता है ॥१४७२॥

गा०—जैसे सूर्यके उदय होनेपर खिला हुआ कमलोंका वन शोभित होता है उसी प्रकार  
आचार्यके अभिमुख हुए यत्तियोंके मुख कमलोंसे, जो आश्चर्ययुक्त नेत्ररूपी पत्रोंसे संयुक्त होते हैं,  
वह मुनिसभा शोभित होती है ॥१४७३॥

गा०—आचार्यके उपदेशरूपी अमृतका पान करके चित्तके आह्लादयुक्त होनेपर क्षपक  
वैसा ही सुखी होता है जैसा प्यासा अमृतमय पानक पीकर होता है ॥१४७४॥

गा०—उसके पश्चात् वह क्षपक आचार्यका उपदेश सुनकर वैराग्यसे भर जाता है और  
उठकर अंगोंको नम्र करके विनयपूर्वक आचार्यको वन्दना करता है ॥१४७५॥

१ हि विभि-आ० । सावत्थिदत्थिपत्तेहि-मु० । २, सोभदि ससभा सू-मु० । ३ विस्तृ-  
ताक्षि-मु० ।

‘सौ लो कवयो’ ततोऽसौ अपकः तदनुशासनं श्रुत्वा जातसंबन्ध उत्थाय आचार्यं बन्धते विनयेन प्रणताङ्गः ॥१४७५॥

भंते सम्मं णाणं सिरसा य पडिच्छिदं मए एदं ।

जं जह उचं तं तहं करेमि विणओ तदो भणइ ॥१४७६॥

‘भंते सम्मं णाणं’ भगवन् सम्यग्ज्ञान एतच्छिरसा मया परिगृहीतं । यद्यथोक्तं भवद्भिस्तथा करिष्यामि इति वदति ॥१४७६॥

अप्पा णिच्छरदि जहा परमा तुट्ठी य हवदि जह तुज्ज ।

जह तुज्ज य संघस्स य सफलो य परिस्समो होइ ॥१४७७॥

‘अप्पा णिच्छरदि जहा’ अह यथा निस्तीर्णो भवामि संसारात् । यथा युष्माकं परमा तुष्टिर्भवति । भवता सघस्य चास्मदनुग्रहे प्रवृत्तानां श्रमस्य फलं भवति ॥१४७७॥

जह अप्पणो गणस्य य संघस्स य विस्सुदा हवदि कित्ती ।

संघस्स पसायेण य तहहं आराहइस्सामि ॥१४७८॥

‘जह अप्पणो गणस्स य’ यथा मम गणस्य सघस्य च कीर्तिविश्रुता भवति तथाहमाराधयिष्यामि सघस्य प्रसादेन ॥१४७८॥

वीरपुरिसोहिं जं आयरियं जं च ण तरंति कापुरिसा ।

मणसा वि विचिंतेदुं तमहं आराहणं काहं ॥१४७९॥

‘वीरपुरिसोहिं’ वीरैः पुरुर्वर्या आचरिता, या च न शक्नुवन्त कापुरुषा मनसापि चिन्तयितुं तादृशीमाराधनामह करिष्यामि ॥१४७९॥

गा०—और कहता है—भगवन् ! मैंने आपके द्वारा दिया सम्यग्ज्ञान सिर नवाकर स्वीकार किया । आपने जो-जो जिस प्रकार कहा है मैं वैसा ही करूँगा ॥१४७६॥

गा०—जिस प्रकारसे मैं संसारसे पार उतरूँ, जिस प्रकारसे आपको परम सन्तोष हो, मेरे कल्याणमें संलग्न आपका और संघका परिश्रम जिस प्रकारसे सफल हो ॥१४७७॥

गा०—जिस प्रकार मेरी और संघकी कीर्ति फैले, मैं सघकी कृपासे उस प्रकार रत्नत्रयकी आराधना करूँगा ॥१४७८॥

गा०—वीर पुरुषोंने जिसका आचरण किया है, कायर पुरुष जिसकी मनमें कल्पना भी नहीं कर सकते, मैं ऐसी आराधना करूँगा ॥१४७९॥



एवं तुज्झं उवएसामिदमासाइदत्तु को णाम ।

वीहेज्ज छुहादीणं मरणस्स वि कायरौ वि णरो ॥१४८०॥

'एवं तुज्झं' एवं भवतामुपदेशामृतमास्वाद्य को नाम विभेति क्वत्तरोऽपि नरः क्षुधादीनां मृत्यो-  
र्वा ॥१४८०॥

किं जंपिएण बहुणा देवा वि सहंदिया महं विग्घं ।

तुम्हं पादोवग्गहगुणेण कादुं ण अरिहंति ॥१४८१॥

'किं जंपिएण बहुणा' किं बहुना जल्पितेन देवा अपि शतमखप्रमुखा मम विघ्नं कर्तुं असमर्थाः सब-  
त्यादोपग्रहणगुणेन ॥१४८१॥

किं पुण छुहा व तण्हा परिस्समो वादियादि रोगो वा ।

काहंति ज्झाणविग्घं इंदियविसया कसाया वा ॥१४८२॥

'किं पुण' किं पुन कुर्वन्नि ध्यानस्य विघ्नं क्षुधा, तृषा वा, परिश्रमो वा, धातिकादिरोगा वा,  
इन्द्रियाणां विषया, कषाया वा ॥१४८२॥

ठाणा चलेज्ज मेरु भूमी ओमच्छिया भविस्सिहिदि ।

ण य हं गच्छमि विगदिं तुज्झं पायप्पसाएण ॥१४८३॥

'ठाणा चलेज्ज' स्वस्मात्स्थानाच्चलियति मेरुः । भूमिः परावृतमस्तका भविष्यति । नाहं विकृतिं  
गमिष्यामि भवता पादप्रसादेन ॥१४८३॥

एवं खवओ संधारगओ खवइ विरियं अगूहंतो ।

देदि गणी वि सदा से तह अणुसङ्किं अपरिदंतो ॥१४८४॥

समासमनुशासनम् ॥१४८४॥

गा०—आपके इस प्रकारके उपदेशामृतको पीकर कौन कायर भी मनुष्य भूख प्यास और  
मृत्युसे डरेगा ॥१४८०॥

गा०—अधिक मैं क्या कहूँ, आपके चरणोंके अनुग्रहसे इन्द्रादि प्रमुख देव भी मेरी  
आराधनामें विघ्न नहीं कर सकते ॥१४८१॥

गा०—तब भूख, प्यास, परिश्रम, वातादि जन्य रोग, अथवा इन्द्रियोंके विषय और  
कषाय ध्यानमें विघ्न कैसे कर सकते हैं ॥१४८२॥

गा०—सुमेरु अपने स्थानसे विचलित हो जाये और पृथ्वी उलट जाये किन्तु आपके  
अनुग्रहसे मैं विकारसे विचलित नहीं होऊँगा ॥१४८३॥

गा०—इस प्रकार क्षपक संस्तर पर आरूढ़ होकर अपनी शक्तिको न छिपाकर पूर्वापार्जित  
अशुभ कर्म की निर्जरा करता है और आचार्य भी बिना विरक्त हुए उसे सदा सत् शिक्षा देता  
है ॥१४८४॥

१. एसां टीकाकारो लेच्छति ।

सारणेत्येतत्सुत्रपदव्याख्यानमुत्तरम्—

अकडुगमतिक्षयमणविलंच अकसायमलवणममधुरं ।  
अविरस'मदुरभिगंधं अच्छमणुण्हं अणदिसीदं ॥१४८५॥

'अकडुगं' अकटुक, अतिक्त, अनाम्ल, अकषाय, अलवण, अमधुर, अविरस, अदुरभिगंध, स्वच्छ-  
मनुष्णमशीत ॥१४८५॥

पाणगमसिभलं परिपूयं खीणस्स तस्स दादव्वं ।  
जह वा पच्छं खवयस्स तस्स तह होइ दायव्वं ॥१४८६॥

'पाणगमसिभलं' पानकमश्लेष्मकारि परिपूत क्षीणाय क्षपकाय दातव्य । यथाभूत वा क्षपकस्य तस्य  
पथ्यं तथाभूत दातव्यम् ॥१४८६॥

संधारत्थो खवओ जइया खीणो हवेज्ज तो तइया ।  
वोसरिदव्वो पुव्वविधिणेव सोपाणगाहारो ॥१४८७॥

'संधारत्थो' सस्तरस्थ' क्षपको यदा क्षीणो भवेत्तदा व्युत्सृष्टव्योऽसौ पानकविकल्प पूर्वविधि-  
नैव ॥१४८७॥

एवं संधारगदस्स तस्स कम्मोदएण खवयस्स ।  
अंगे कत्थइ उट्टिज्ज वेयणा ज्झाणविग्घयरी ॥१४८८॥

'एवं संधारगवस्स' एव सस्तरगतस्य क्षपकस्य कर्मोदयेन क्वचिदुद्देदनोपजायते ध्यानविघ्न-  
कारिणी ॥१४८८॥

अत्र पूर्वं गाथामे आगत 'सारण' पदका व्याख्यान करते हैं—

गा०—टी०—क्षपकको दिया जानेवाला पानक कटुक, चरपरा, खट्टा कसेला, नमकवाला, मीठा, स्वादयुक्त और दुर्गन्ध युक्त नहीं होना चाहिये अर्थात् वह न कटुक हो, न चरपरा हो, न खट्टा हो, न कसेला हो, न नमकसे युक्त हो, न मीठा हो, तथा स्वादहीन और दुर्गन्धयुक्त भी न हो । स्वच्छ हो, न गर्म हो और न ठंडा हो ॥१४८५॥

गा०—कफ पैदा करने वाला न हो । कपड़े से छान लिया गया हो । इस प्रकार कमजोर क्षपकको ऐसा पेय देना चाहिये जो उसके लिये पथ्य हो, अर्थात् समाधिमे विघ्न डालने वाला न हो ॥१४८६॥

गा०—जब सस्तरारूढ क्षपक अतिक्षीण हो जाये तब पूर्वविधिसे पानकका त्याग करा देना चाहिये ॥१४८७॥

गा०—इस प्रकार सस्तरारूढ क्षपकके कर्मके उदयसे किसी अंगमे ध्यानमे विघ्न डालने वाली वेदना यदि उत्पन्न हो जाये ॥१४८८॥

१. मधुविग्घयरी—मु०, मूलारा० ।

बहुगुणसहस्रभरिवा जदि नावा जन्मसायरे भीमे ।

मिज्जदि हु रयणभरियाणावा व समुद्रमज्जम्मि ॥१४८९॥

'बहुगुणसहस्रभरिवा' बहुभिर्गुणसहस्रैः, सम्पूर्णा यतिनोर्जन्मसायरे भीमे याव मेदभुषेमात् रत्नपूर्णा नीरिव समुद्रमध्ये ॥१४८९॥

गुणभरिदं जदिणावं दट्टूण भवोदधिम्मि मिज्जंतं ।

कुणमाणो हु उवेक्खं को अण्णो हुज्ज णिदम्मो ॥१४९०॥

'गुणभरिदं जदि नावं' गुणैः पूर्णा यतिनावा भवसमुद्रमध्ये मिद्यमाना दृष्ट्वा य. करोत्युपेक्षा तस्मात्कोज्यौ भवेद्वर्मेति क्रान्त ॥१४९०॥

विज्जावच्चस्स गुणा जे पुवं वित्थरेण अक्खादा ।

तेसिं फिडिओ सो होइ जो उविक्षिज्ज तं खवयं ॥१४९१॥

'विज्जावच्चस्स गुणा' वैयावृत्यस्य गुणा ये पूर्वं विस्तरेण व्याख्यातास्तेभ्यः प्रच्युतो भवति य उपेक्षते क्षपक ॥१४९१॥

तो तस्स तिगिछाजाणएण खवयस्स सव्वसचीए ।

विज्जादेसेण व से पडिकम्मं होइ कायव्वं ॥१४९२॥

'तो तस्स' ततस्तस्य क्षपकस्य चिकित्सा जानता सर्वशक्त्या प्रतिकर्म कर्तव्य वैद्यस्य चोपदेशेन ॥१४९२॥

णाऊण विकारं वेदणाए तिस्से करेज्ज पडियारं ।

फासुगदव्वेहिं करेज्ज वायकफपित्तपडिघादं ॥१४९३॥

'णाऊण विकारं' ज्ञात्वा विकार तस्या वेदनाया. तत. प्रतिकार कुर्यात् । योग्यैर्द्रव्यैर्वातिकफपित्त-प्रतिघातं ॥१४९३॥

गा०—समुद्रके मध्यमे रत्नोसे भरी नावको तरह हजारो गुणोंसे भरी यतिरूपी नौका यदि भयकर ससारसागरमें डूबने लगे ॥१४८९॥

गा०—गुणोंसे भरी नावको ससार-समुद्रमें डूबते हुए देखकर यदि कोई उपेक्षा करता है तो उससे बड़ा अधार्मिक दूसरा कौन होगा ॥१४९०॥

गा०—जो क्षपककी उपेक्षा करता है वह पूर्वमें जो वैयावृत्यके गुण विस्तारसे कहे हैं उनसे च्युत होता है ॥१४९१॥

गा०—अतः उस क्षपकके रोगकी चिकित्सा जाननेवाले निर्यापकाचार्यको स्वयं अथवा वैद्यके परामर्शसे सर्वशक्तिके साथ इलाज करना चाहिये ॥१४९२॥

गा०—उस क्षपककी वेदनाके विकारको जानकर प्रासुक द्रव्योंसे वात, पित्त और कफको रोकनेवाला प्रतिकार करना चाहिये ॥१४९३॥

बच्छीहिं अवहवणतावणेहिं आलेवसीदकिरियाहिं ।

अभ्रंभणपरिमहण आदीहिं तिगिछदे खवयं ॥१४९४॥

'बच्छीहिं' वस्तिकर्मभि', अवहवणतावणोहिं' ऊर्मकरणतापने, आलेपनेन, शीतक्रियया, अम्यङ्ग-परिमर्दनादिभिश्च चिकित्सते क्षपकं ॥१४९४॥

एवं पि कीरमाणो परियम्मे वेदणा उवसमो सो ।

खवयस्स पावकम्पोदएण तिक्वेण हु ण होज्ज ॥१४९५॥

एवं पि कीरमाणे गतीकारे क्षपकस्य वेदनोपशम तीव्रेण 'पापकर्मोदयेन' नापि भवेदपि, नहि बहिद्रव्य-माहात्म्येनैव कर्माणि स्वफल न प्रयच्छन्ति । तदेव हि बहिद्रव्य एकस्य वेदना प्रशमयति नापरस्येति प्रतीत-तरमेतद् ॥१४९५॥

अहवा तण्हादिपरीसहेहिं खवओ हविज्ज अभिमूदो ।

उवसग्गेहिं व खवओ अचेदणो होज्ज अभिमूदो ॥१४९६॥

'अहवा तण्हादिपरीसहेहिं' अथवा तृडादिभि. परीषहेरभिभूतो भवेत्क्षपक, उपसर्गोर्वाभिभूतो निष्वेतान' स्यात् ॥१४९६॥

तो वेदणावसद्धो वाउल्लिदो वा परीसहादीहिं ।

खवओ अणप्पवसिओ सो विप्पलवेज्ज जं किं पि ॥१४९७॥

'तो वेदणावसद्धो' ततो वेदनावशात्तो व्याकुलित 'परीषहोपसर्ग' क्षपकोऽसावनात्मवशो विप्रलपेवादि किञ्चित् ॥१४९७॥

गा०—वस्तिकर्म ( एनिमा ) गर्म लोहेसे दागना, पसीना लाना, लेप लगाना, प्रासुक जलका सेवन कराना, मान्निश, अंगमर्दन आदिके द्वारा क्षपककी वेदना दूर करना चाहिये ॥१४९४॥

गा०—इस प्रकार प्रतीकार करने पर भी तीव्र पाप कर्मके उदयसे यदि क्षपककी वेदना शान्त न हो । क्योंकि केवल 'बाह्य' द्रव्यके प्रभावसे ही कर्म अपना फल न दे, ऐसी बात नहीं है । बही बाह्य द्रव्य एककी वेदना शान्त करता है दूसरेकी नहीं करता । यह तो अनुभवसिद्ध है ॥१४९५॥

गा०—अथवा क्षपक व्यास आदिकी वेदनासे अभिभूत हो जाय या उपसर्गोसे पीड़ित होकर मूर्च्छित हो जाये ॥१४९६॥

गा०—या वेदनासे पीड़ित और परीषह उपसर्गोसे व्याकुल होकर क्षपक अपने वशमे न रहे और जो कुछ भी बकने लगे ॥१४९७॥

उक्त्वासेज्ज व गुणसेदीदो उदरणबुद्धिओ खवओ ।

छट्ठं दोच्चं पढमं व सिया कुटिलिदपदमिच्छंतो ॥१४९८॥

‘उक्त्वासेज्ज’ वदेद्रायोग्य, संयमगुणश्रेणितः कृतावतरणबुद्धिः ‘छट्ठं’ रात्रिभोजनं, ‘खवओ’ पाणं, दिवसे ‘पढमं व’ अशन वा । ‘सिया’ कयाचित् । ‘कुटिलिदपदमिच्छंतो’ स्वलनपदं हच्छन् ॥१४९८॥

तह मुज्झंतो खवगो सारेदव्वो य सो तओ गणिणा ।

अह सो विसुद्धलेस्सो पच्चागदचेदणो होज्ज ॥१४९९॥

‘तह मुज्झंतो खवगो’ मोहमुपगच्छन् क्षपकस्तथा सारयितव्योऽसौ तेन गणिना । कथं ? यथा विशुद्ध-  
लेख्यो भवति प्रत्यागतचेतनश्च ॥१४९९॥

सारणोपायं कथयति—

कोसि तुमं किं णामो कत्थ वससि को व संपही कालो ।

किं कुणसि तुमं कह वा अत्थसि किं णामगो बाहं ॥१५००॥

‘कोऽसि तुमं’ कस्त्व ? किनामधेय ? ‘कत्थ वससि’ क्व वससि ? ‘को व संपही कालो’ को वेदानीं  
काल ? किमय दिवा रात्रिर्वा ? ‘किं कुणसि तुमं’ किं करोषि भवान् ? ‘कत्थं वा अत्थसि’ कथं वा तिष्ठसि ?  
‘किं णामगो बाहं’ अहं वा किनामधेय ? ॥१५००॥

एवं आउच्छित्ता परिक्खहेदुं गणी तयं खवयं ।

सारइ वच्छलयाए तस्स य कवयं करिस्संति ॥१५०१॥

‘एवं आउच्छित्ता’ एवमनुपरतं सारयति गणो त क्षपकं । किं सचेतनो निश्चेतन इति परीक्षितुकामः  
वत्सलतया । यद्यस्ति चेतना कवचं करिष्यामीति मत्वा ॥१५०१॥

शा०—अयोग्य वचन कहे, या संयमगुणकी सीढ़ीसे नीचे उतरना चाहे, या निचले स्थानको  
चाहते हुए रात्रि भोजन या रात्रिमें पानक लेना चाहे या दिनमें अंसपयमें भोजन करना  
चाहे ॥१४९८॥

शा०—इस प्रकार जब क्षपक मोहमें पड़ जाये तो आचार्यको उसे सब पिछली बातोंका  
स्मरण कराना चाहिये । जिससे उसके परिणाम विशुद्ध हो और उसका यथार्थ ज्ञान लौट  
आवे ॥१४९९॥

उसके उपाय कहते हैं—

शा०—तुम कौन हो ? तुम्हारा क्या नाम है ? कहाँ रहते हो ? इस समय दिन है या रात  
है ? तुम क्या करते हो ? कहाँ बैठे हो ? मेरा क्या नाम है ॥१५००॥

शा०—इस प्रकार आचार्य उसकी परीक्षाके लिये कि यह सचेत अवस्थामें है या अचेत  
अवस्थामें है, वास्तव्य भावसे बार-बार उसे स्मरण कराते हैं । उनकी यह भावना रहती है कि  
यदि यह सचेत है तो उसके संयमकी रक्षा की जाये ॥१५०१॥

जो पुण एवं ण करिज्ज सारणं तस्स 'वियलचक्खुस्स ।  
सो तेण होइ णिद्धं वसेण खवओ परिचत्तो ॥१५०२॥

'जो पुण एवं ण करिज्ज' य पुनरेवं न कुर्यात् सारण । स्खलितचित्तवृत्तेः स क्षपकस्तेन परित्यक्तो भवति सूरिणा ॥१५०२॥

एवं सारिज्जंतो कोई कम्भुवसमेण लभदि सदिं ।  
तह य ण लब्धिज्ज सदिं कोई कम्मे उदिण्णम्मि ॥१५०३॥

'एवं सारिज्जंतो' एव सार्यमाण कश्चित् चारित्रमोहोपशमेन असद्वेद्योपशमेन वा स्मृति योग्या-  
योग्यविषयां लभते । अयुक्तैर्यं इच्छा मम अकाले भोक्तुं पातुं वा प्रत्याख्यातं कथं कालेऽपि प्रार्थयामीति  
सार्यमाणोऽपि । लभते स्मृति कश्चित्कर्मण्युदीर्णं नो इन्द्रियमतिज्ञानावरणे । सारणा ॥१५०३॥

सदिमलभंतस्स वि कादव्वं पडिकम्ममद्वियं गणिणा ।  
उवदेसो वि सया से अणुलोमो होदि कायव्वो ॥१५०४॥

'सदिमलभंतस्स वि' स्मृतिमलभमानस्यापि गणिनाऽस्थित कर्तव्य । प्रतिकार, उपदेशोऽपि अनुकूल  
सदा तस्य कर्तव्यः ॥१५०४॥

चेयंतो पि य कम्मोदयेण कोई परीसहपरद्धो ।  
उवभासेज्ज व उक्कावेज्ज व भिंदेज्ज आउरो पदिण्णं ॥१५०५॥

'चेयंतो पि' चेत्यमानोऽपि कर्मोदयेन कश्चित्परीषहपराजितो यत्किञ्चिद्देत् आरदेत्, भिन्धाद्वा स्वा  
प्रत्याख्यानप्रतिज्ञा ॥१५०५॥

गा०—यदि आचार्य उस चलायमान चित्तवाले क्षपकको इस प्रकारसे स्मरण नहीं करावे  
तो समझना चाहिये उस निर्दयीने उस क्षपकको त्याग दिया है ॥१५०२॥

गा०—इस प्रकार स्मरण दिलाने पर कोई-कोई क्षपक चारित्र मोह अथवा असातावेदनीय  
का उपशम होनेसे योग्य अयोग्यके विचारविषयक स्मृतिको प्राप्त होते है कि अकालमे खाने  
पीनेकी इच्छा करना मेरे लिये योग्य नहीं है । जो मे त्याग कर चुका उसे कालमे भी कैसे ग्रहण  
करूँ ? आदि । किन्तु कोई नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्मकी उदीरणा होनेपर स्मृति प्राप्त  
नहीं करते ॥१५०३॥

गा०—स्मृतिको जो प्राप्त नहीं होता, उसके प्रति भी आचार्यको निरन्तर प्रतिकार  
करते रहना चाहिये । तथा उसके अनुकूल उपदेश भी करते रहना चाहिये ॥१५०४॥

गा०—कोई क्षपक चेतनाको प्राप्त करके भी कर्मके उदयसे परीषहोसे हारकर यदि अयोग्य  
बचन बोले, या रुदन करे या अपनी व्रत प्रतिज्ञाको भंग करे तो भी उसके प्रति कटुक वचन

न ह्यु सो ककुर्गं फलसं व मणिद्वयो न स्त्रीसिद्वयो व ।  
न य वित्तासेद्वयो न य बहुदि हीलणं कादु ॥१५०६॥

‘न ह्यु सो ककुर्गं’ स एव कुर्वन्क्षपकः न कर्तव्यः कटुकं पक्वं वा, न अर्त्सनीयं, न च त्रासं नेतव्यः,  
न च युक्तः परिभवः कर्तुं तस्य ॥१५०६॥

पक्षवचनादिभिः को दोषो जायते इत्यत्रोच्यते—

फलसवयणादिगोहिं दु माणी विष्फुरिञो तञो संतो ।  
उद्वाणमवक्कमणं कुज्जा असमाधिकरणं वा ॥१५०७॥  
‘पक्षवचनादिगोहिं’ पक्षवचनादिभिर्मानो विराधितः सन् ॥१५०७॥  
तस्स पदिष्णामेरं भिचुं इच्छंतयस्स णिज्जवओ ।  
सच्चायरेण कवयं परीसहणिवारणं कुज्जा ॥१५०८॥

‘तस्स पदिष्णामेरं’ तस्य स्वप्रतिज्ञाव्यवस्थां नेत्तुं वाञ्छतो निर्यापकः सूरिः कवचं कुर्यात् परीषहनि-  
वारणक्षमं ॥१५०८॥

णिद्धं मधुरं पल्हादणिज्ज ह्रिदयंगमं अत्तुरिदं वा ।  
तो सीहावेद्वो सो खवओ पण्णवतेण ॥१५०९॥

‘णिद्धं’ स्नेहसहितं, ‘मधुरं’ श्रोत्रप्रियं, हृदयसुखाविषायि, हृदयप्रवेणि, अत्वरितं असौ शिक्षयितव्यः  
क्षपकः प्रज्ञापयता ॥१५०९॥

रोगादंके सुविहिद विउलं वा वेदणं पिदिबलेण ।  
तमदीणमसंमूढो जिण पच्चूहे चरित्तस्स ॥१५१०॥

बोलना उचित नहीं है, न उसका तिरस्कार करना चाहिये, न उसका हास्य करना चाहिये, न  
उसे त्रास देना चाहिये और न उसका अनादर करना चाहिये ॥१५०५-१५०६॥

उसके प्रति कठोर वचन बोलने आदिसे क्या हानि होती है यह कहते हैं—

गा०—कठोर वचन आदिसे भङ्गकर वह अभिमानी क्षपक संयमसे च्युत हो सकता है  
या दुष्प्रतिनिमें लग सकता है अथवा सम्यक्त्वको त्याग सकता है ॥१५०७॥

गा०—यदि वह अपनी प्रतिज्ञारूपी मर्यादाको तोड़ना चाहे तो नियपिकाचार्य उसकी  
रक्षाके लिये ऐसा कवच आदरपूर्वक करे जो परीषहोंका निवारण कर सके ॥१५०८॥

गा०—आचार्यको स्नेहसहित, कानोंकी प्रिय, हृदयमें सुख देनेवाले तथा हृदयमें प्रवेश  
करने वाले वचनोंसे क्षपकको धीरे-धीरे सम्बोधना चाहिये ॥१५०९॥

गा०—हे सुन्दर आचार वाले ! तुम दीनता और मूढताको त्यागकर चारित्र्यसे बाधा  
ढालनेवाली छोटी या बड़ी व्याप्तिधियोंको, महती वेदनाको धैर्यरूपी बलसे जीतो । राग और कोपका

१. विष्फुरिञो-विराधितः -मूलरा० ।

रोगातङ्के महतीज्जपाश्च व्याधीन् । विपुलां च वेदनां घृतिबलेन जय त्वमदीनोऽमूहश्च प्रत्यूहान्  
चारित्रस्य । वीतरागकोपतावि चारित्रं । तद्ब्याधिप्रतीकारार्थेषु वस्तुषु आदरवतो व्याधिषु वेदनासु च  
द्वेषवतो नश्यति । ततश्चारित्रविघ्नास्त्वया जेतव्या इति भावः ॥१५१०॥

**सन्धे वि य उवसगो परिसहे य तिविहेण णिज्जिणहि तुमं ।**

**णिज्जिणिय सम्ममेदे होहिसु आराहओ मरणे ॥१५११॥**

‘सन्धे वि य उवसगो’ सर्वाश्चोपसर्गान् परीषहांश्च मनोवाक्कायैर्जय । उपसर्गपरीषहजयदुःखा-  
भीरुता मनसा जयः । भीतोऽप्यमिति वययां न दुःखानि हरन्ति । सन्निहितद्रव्यादिसहकारिकारणमसद्ब्रह्ममुदया-  
गतं अनिवार्यवीर्यं बल प्रयच्छत्येवेति घृतिबलेन भावना मनसा जयः । श्रान्तोऽस्मि वेदनासु सहात्मता पश्यत  
मदीयामिद्रां अतिकष्टामवस्था । दग्धोऽस्मि ताडितोऽस्मि इत्येवमादिदीनवचनानुच्चारण । असकृदनुभूतार्था-  
परीषहा क्षुदादयः, उपसर्गाश्च पूर्वं । पूत्कुर्वन्तमपि नामी मुञ्चन्ति । केवलं घृतिरहितोऽयं वराको रारटीति  
निन्दते । न सन्मार्गात्प्रख्यावयितुं इमे क्षमा इति उदारवचनता वचनेन जय । अदीनेक्षणमुखरागवत्ता  
अचलता च कायेन जयः । ‘णिज्जिणिय सम्ममेदे’ निजित्यवं सम्यगेतानुपसर्गपरीषहान्मरणं मृतिकाले ।  
आराधओ होहिसि’ रत्नत्रयपरिणतो भविष्यति । उपसर्गपरीषहव्याकुलितचेतसो नैवाराधकता ॥१५११॥

**संभर सुविहिय जं ते मज्झमि चदुन्विघस्स संघस्स ।**

**वूढा महापदिण्णा अहयं आराहइस्सामि ॥१५१२॥**

‘संभर’ स्मृति निधेहि । ‘सुविहिय’ सुचारित्र । किं स्मरामि इति चेत् ‘तं’ ता प्रतिज्ञा या कृतवानसि ।

त्याग ही चरित्र है । व्याधिको दूर करनेके उपायोमें आदर करनेवाले तथा व्याधि और वेदनासे  
द्वेष करनेवालेका चारित्र नष्ट होता है । अतः तुम्हें चारित्रके विघ्नोको जीतना चाहिये ॥१५१०॥

गा०-टी०—हे क्षपक ! तुम सब उपसर्गों और परीषहोंको मन वचन कायसे जीतो । उपसर्ग  
और परीषहोंके जीतनेमें जो दुःख होता है उससे न डरना मनसे जीतना है । यह डरपोक है अतः  
दया करके उपसर्ग परीषह उसे दुःख नहीं देंगे ऐसी बात नहीं है । द्रव्यादि सहकारी कारणोंके  
रहने पर असातावेदनीय कर्म उदयमें आता है और उसकी शक्तिको रोकना शक्य नहीं होता  
तब वह कष्ट देता ही है । धैर्यरूपी बलपूर्वक ऐसी भावना होना मनसे जीतना है । मैं थक गया  
हूँ, मेरी इस अतिकष्टकर और दुःसह वेदना रूप अवस्थाको देखो, मे दुःखमें जल रहा हूँ, कष्ट  
ने मुझे मार डाला इत्यादि दीन वचनोका उच्चारण न करना । मैंने पूर्वमें अनेक बार भूख आदि  
परीषहो और उपसर्गोंको सहा है । चिल्लाने पर भी ये छोड़ते नहीं है । केवल यह बेचारा धैर्य  
खोकर रोता है ऐसी निन्दा करते हैं । ये मुझे सन्मार्गसे डिगानेमें समर्थ नहीं हैं । इस प्रकारके  
उदार वचन बोलना वचनसे जीतना है । आखोंमें और मुखपर दीनताका भाव न होना, मुखपर  
प्रसन्नताका रहना, विचलित न होना कायसे जीतना है । इस प्रकार इन परीषहों और उपसर्गोंको  
सम्यक् रूपसे जीतनेपर मरते समय तुम रत्नत्रयरूपसे परिणत हो सकोगे । जिसका चित्त उपसर्ग  
और परीषहसे व्याकुल रहता है वह आराधक नहीं हो सकता ॥१५११॥

गा०—हे सुचारित्रसे सम्पन्न क्षपक । तुमने चतुर्विध संघके मध्यमें जो महती प्रतिज्ञा की  
थी कि मैं आराधना करूँगा उसे स्मरण करो ॥१५१२॥



'मज्झिमि' मध्ये । कस्य ? 'बहुविधस्त' चतुर्विधस्य संघस्य । 'भूता' भूता । 'महाविष्णो' महती प्रतिज्ञा । 'अहम्' अहं 'आराधयस्वामि' आराधयिष्यामि इति ॥१५१२॥

को नाम भडो कुलजो माणो थोलाइदूण जणमज्जे ।

जुज्जे पलाइ आवडिदमेत्तओ चेव अरिभीदो ॥१५१३॥

'को नाम भडो' क. पलायते युद्धे भट. शूर. । 'कुलजो' मानी । 'थोलाइदूण' भुजास्फालनं कृत्वा । जनमध्ये । एवं युद्धे शत्रुपराजयं करिष्यामीति उद्बुध्य 'आवडिदमेत्तओ' अभिमुखायातशत्रुत्वे अरिभीत । क. पलायनं करोति ॥१५१३॥

दार्ष्टान्तिके योजयति—

थोलाइदूण पुब्बं माणी संतो परीसहादीहिं ।

आवडिदमित्तओ चेव को विसण्णो हवे साहू ॥१५१४॥

'थोलाइदूण पुब्बं' भुजास्फालनं कृत्वा पूर्वं । 'परीसहादीहिं आवडिदमेत्तओ चेव' परीषहारातिभिरभिमुखायात एव । 'को विसण्णो हवे साहू माणी संतो' को विषण्णो भवेत्साधुवर्गो मानी सन् ॥१५१४॥

आवडिया पडिकूला पुरओ चेव कमंति रणभूमिं ।

अवि य मरिज्ज रणे ते ण य पसरमरीण वड्ढंति ॥१५१५॥

'आवडिया पडिकूला' अभिमुखायातः शत्रवः । पुरओ चेव कमंति रणभूमिं पुरस्तादेवोपसर्पन्ति रणभूमिं । 'अवि य मरिज्ज रणे' यद्यपि रणे म्रियन्ते । 'ण य पसरमरीण वड्ढंति' नैव प्रसरमरीणा वर्धयन्ति ॥१५१५॥

तह आवइपडिकूलदाए साहवो माणियो छरा ।

अइतिव्ववेयणाओ सहंति ण य विगडिमुवयंति ॥१५१६॥

'तह आवइपडिकूलदाए' तथा आपत्प्रतिकूलतया । 'साहवो' मानिन शूरा । 'अवितिव्ववेयणाओ' अतीव तीव्रवेदनाः 'सहंति' सहन्ते । 'ण य विगडिमुवयंति' नैव विकृतिमुपयांति ॥१५१६॥

गा०—कौन कुलीन स्वाभिमानी शूरवीर मनुष्योंके बीचमें अपनी भुजाओंको ठोककर 'मै युद्धमें इस प्रकार शत्रुओंको हराऊंगा' ऐसी घोषणा करके सामने आये शत्रुसे ही डरकर भागना पसन्द करेगा ॥१५१३॥

गा०—उसी प्रकार पूर्वमें भुजाओंको ठोककर कौन स्वाभिमानी साधु परीषद् आदिके सम्मुख आते ही खेंदखिन्न होगा ॥१५१४॥

गा०—जिन सुभटोंके शत्रु उनके सम्मुख आते हैं वे सुभट शत्रुओंके आनेसे पूर्व ही युद्ध भूमिमें पहुँच जाते हैं । वे युद्धमें मर जायें भले ही किन्तु शत्रुओंका उत्साह नहीं बढने देते ॥१५१५॥

गा०—उसी प्रकार स्वाभिमानी शूरवीर साधु आपत्तियोंकी प्रतिकूलतामें अति तीव्र कष्ट भोगते हैं किन्तु बिकारको प्राप्त नहीं होते । अर्थात् दुर्भाग्यवश उपसर्ग परीषद्को उपस्थित होनेपर रत्नत्रयकी विराधना नहीं करते ॥१५१६॥

१थोलाइयस्स कुलजस्स माणिणो रणमुहे वरं मरणं ।

ण य लज्जणयं काउं जावज्जीवं सुजणमज्झे ॥१५१७॥

'थोलाइयस्स' कृतभुजास्फालनस्य । 'माणिणो' मानिन । 'रणमुहे वरं मरणं' युद्धमुखे मरणं शोभनं । 'ण य वरं' नैव शोभनं । 'लज्जणयं काउं' जलज्जीवं च 'सुजणमज्जे' सुजनमध्ये यावज्जीवं निदाकरणं ॥१५१७॥

समणस्स माणिणो संजदस्स णिहणगमणं पि होइ वरं ।

ण य लज्जणयं कादुं कायरदादीणकिविणत्तं ॥१५१८॥

'समणस्स' समानस्य श्रवणस्य वा । 'माणिणो' मानिन, 'संजदस्स' संयतस्य । 'णिहणगमणं पि होइ वरं' तिष्ठनगमनमपि भवति वरं । 'ण य लज्जणयं कादुं' नैव लज्जनीयकरण शोभन । कातरता न वरं । 'दीणकिविणत्तं' दीनत्व कृपणत्व च न वर ॥१५१८॥

एयस्स अप्पणो को जीविदहेदुं करिज्ज जंपणयं ।

पुत्तपउत्तादीणं रणे पलादो सुजणलंछं ॥१५१९॥

'एयस्स अप्पणो' एकस्यात्मनः । 'जीविदहेदुं' जीवितनिमित्त । 'को करिज्ज जंपणयं' क कुर्यादपवाद । 'पुत्तपउत्तादीणं' पुत्रपौत्रादीना । 'रणे पलादो' रणात्पलायमान । 'सुजणलंछं' स्वजनलाछन ॥१५१९॥

तह अप्पणो कुलस्स य संघस्स य मा हु जीवदत्थी तं ।

कुणसु जणे जंपणयं किविणं कुव्वं सुगणलंछं ॥१५२०॥

'तह तथा । 'अप्पणो जीविदत्थं' भवतो जीवितार्थ । 'कुलस्स संघस्स य मा हु जीवदत्थी तं' कुलस्य सघस्य च दूषण जने मा कार्षीः । 'किविणं कुव्वं' कृपणत्व कुर्वन् । 'सुगणलंछं' स्वगणलाछनं ॥१५२०॥

गा०—भुजा स्फालन करनेवाले कुलीन अभिमानीके लिये युद्धमे सन्मुख मरना श्रेष्ठ है किन्तु सुजनोके मध्यमे जीवनपर्यन्त लज्जा उठाना श्रेष्ठ नहीं है ॥१५१७॥

गा०—उसी प्रकार स्वाभिमानी सयमी श्रमणका मर जाना श्रेष्ठ है किन्तु लज्जाजनक कार्य करना श्रेष्ठ नहीं है, कातरता—विपत्तियोसे घबराना, दीनता कृपणता—कि मैं कुछ भी नहीं कर सकता आदि श्रेष्ठ नहीं है ॥१५१८॥

गा०—एक अपने जीवनके लिये युद्धभूमिसे भागकर कौन अपने पुत्र पौत्र आदिके लिये अपवादका कारण बनेगा और अपने परिवारको लाछन लगायेगा ॥१५१९॥

गा०—उसी प्रकार हे क्षपक । अपने जीवनके लिये परीषह आदि आनेपर अपनी निर्बलता का परिश्रय देते हुए अपने कुल और सघको लोकापवादका पात्र मत बनाओ और अपने गणपर लाछन मत लगाओ ॥१५२०॥

गाढप्रहारसंतापिदा वि सूरारणे अरिसमकम्भं ।

ण सुहं मञ्जति सयं मरति मिउडीहृदा चैव ॥१५२१॥

‘गाढप्रहारसंतापिदा वि’ गाढप्रहारसंतापिता अपि सूरारणे मुह्ये । ‘सयं सुहं अरिसमकम्भं ण मञ्जति’ स्वमुखभङ्गं अरीणां पुरतो न कुर्वन्ति । ‘मरति’ त्रियन्ते । ‘मिउडीहृदा चैव’ अकुटघा सह चैव ॥१५२१॥

सुट्टु वि आवइपत्ता ण कायरत्तं करिंति सप्पुरिसा ।

कत्तो पुण दीणत्तं किविणत्तं वा वि काहिंति ॥१५२२॥

‘सुट्टु वि आवइपत्ता’ तिरस्तरमापदं प्राप्ता अपि । ‘सप्पुरिसा ण कायरत्तं करिंति’ सत्पुरुषा न कातरतां कुर्वन्ति । ‘कत्तो पुण काहिंति’ कुतः पुनः करिष्यन्ति । ‘दीणत्तं किविणत्तं वा वि’ दीनतां कृपणतां च ॥१५२२॥

केई अग्गिमदिगदा समंतओ अग्गिणा वि उज्झंता ।

जलमज्झगदा व णरा अत्थंति अचेदणा चैव ॥१५२३॥

केई अर्थात् अचेदणा चैव’ केचिदासते अचेतना इव । ‘अग्गिमदिग्गदा’ अग्निं प्रविष्टाः ‘समंतओ अग्गिणा वि उज्झंता’ समन्तात् अग्निना दह्यमाना अपि । ‘जलमज्झगदा व णरा’ जलमध्यगता नरा इव ॥१५२३॥

तत्थ वि साहुक्कारं सगअंगुलिचालणेण कुब्बंति ।

केई करति धीरा उक्किट्ठि अग्गिमज्झम्मि ॥१५२४॥

‘तत्थ वि’ तत्राप्यन्निमध्ये । ‘साहुक्कारं सगअंगुलिचालणेण कुब्बंति’ साधुकारं स्वाङ्गुलिचालनया कुर्वते । ‘केई अग्गिमज्झगदा धीरा’ केचिदग्निमध्यगता धीराः । ‘उक्किट्ठि करति’ उत्कृष्टि उत्क्रोशनं कुर्वन्ति ॥१५२४॥

गा०—युद्धमें शूरवीर पुरुष जोरदार प्रहारसे पीड़ित होनेपर भी शत्रुके सामनेसे अपना मुख नहीं मोड़ते और मुखपर भी टेढ़ी किये हुए ही मरते हैं ॥१५२१॥

गा०—उसी प्रकार सत्पुरुष अत्यन्त आपत्ति आनेपर भी कातर नहीं होते । तब वे दीनता या कायरता क्यों दिखायेंगे ? ॥१५२२॥

गा०—कितने ही सत्पुरुष आगमें प्रवेश करके सब ओरसे आगसे जलनेपर भी जलके मध्यमें प्रविष्ट हुए मनुष्यकी तरह अथवा अचेतनकी तरह रहते हैं ॥१५२३॥

गा०—तथा आगके मध्यमें भी रहते हुए अपने अंगुलि संचालनके द्वारा साधुकार करते हैं कि कितना अच्छा हुआ कि मेरे अशुभ कर्म क्षय हुए । कितने ही धीर वीर पुरुष आगके मध्यमें रहकर अपना आनन्द प्रकट करते हैं ॥१५२४॥

जदिदा तद् अण्णाधी संसारपवङ्गणाए लेस्साए ।

तिव्वाए वेदणाए सुहसाउल्लया करिति चिदिं ॥१५२५॥

‘अण्णा’ यद्दित्वात् । ‘सह’ तथा । ‘अण्णाधी चिदिं करिति’ तथा अज्ञानिनो धृतिं कुर्वन्ति ‘संसार-पवङ्गणाए लेस्साए’ संसारप्रवर्द्धनकारिण्या लक्ष्यया । ‘तिव्वाए वेदणाए’ तीव्राया वेदनाया सत्यां । ‘सुहसाउल्लया’ सुखात्स्वादनलम्पटाः ॥१५२५॥

किं पुण जदिणा संसारसव्वदुक्खक्खयं करंतेण ।

बहुतिव्वदुक्खरसजाणएण ण चिदी हवदि कुज्जा ॥१५२६॥

किं पुण जदिणा ण करिज्जा हवदि ‘चिदिं’ किं पुनर्न कार्या भवति धृति यतिना । कीदृशा ? संसारसव्वदुक्खक्खयं संसारसर्वदुःखस्य कुर्वता । ‘बहुतिव्वदुक्खरसजाणएण’ बहूना चतुर्गतिगताना तीव्राणां दुःखानां रसं जानता ॥१५२६॥

असिचे दुग्भिक्खे वा कंतारे भएव आगाढे ।

रोगेहिं व अभिभूदा कुलजा माणं ण विजहंति ॥१५२७॥

‘असिचे मायां । ‘दुग्भिक्खे वा’ दुग्भिक्खे वा । ‘कंतारे’ अटव्या वा । गाढे भये च । उपर्युपरि निपतित-भये वा । ‘रोगेहिं व अभिभूदा’ व्याधिनिर्वा अभिभूता । ‘ण विजहंति कुलजा माणं’ न जहति कुलप्रसूता मानं ॥१५२७॥

ण पियंति सुरं ण य खंति गोमयं ण य पलंडुमादीयं ।

ण य कुव्वंति विकम्मं तहेव अण्णंवि लज्जणयं ॥१५२८॥

‘ण पियंति सुरं’ न पिबन्ति सुरां । ‘ण खंति’ न च भक्षयन्ति गोमांस । ‘ण य पलंडुमादीयं’ न पलाण्डु प्रभृतिकं भक्षयन्ति । ‘ण य कुव्वंति विकम्मं’ नैव कुत्सितं कर्म परोच्छिष्टभोजनादिकं कुर्वन्ति । ‘तहेव अण्णंवि लज्जणयं’ तथैव मान्यदपि लज्जनीय कुर्वन्ति ॥१५२८॥

शा०—यदि संसारको बढ़ानेवाली अशुभ लक्ष्यासे युक्त अज्ञानी पुरुष सांसारिक सुखकी लालसासे तीव्र वेदना होते हुए भी धैर्य धारण करते हैं ॥१५२५॥

विशेषार्थ—आगमें जलकर मरनेका कथन उन धर्मवालोके लिये किया है जो आगमें जलकर मरनेमें धर्म मानते हैं ।

शा०—तो जो क्षपक साधु संसारके सब दुःखोंका क्षय करना चाहता है और चारों गतियोंके तीव्र दुःखोंका स्वाद जानता है वह धैर्य धारण क्यों न करेगा ॥१५२६॥

शा०—भारी रोगमें, दुर्भिक्षमें, भयानक वनमें, अत्यन्त प्रगाढ भयमें तथा रोगोंसे ग्रस्त भी कुलीन पुरुष स्वाभिमानको नहीं छोड़ते ॥१५२७॥

शा०—वे मदिरा पान नहीं करते । गोमांस नहीं खाते । लहसुन प्याज आदि नहीं खाते । दूसरेका जूठा खाना आदि बुरे काम नहीं करते । इसी प्रकार अन्य भी लज्जास्पद काम नहीं करते ॥१५२८॥

किं पुत्र कुलगणसंघस्त असमाभिषो लोचपूजिता साधु ।  
माणं पि जहिय काहंति विकम्भं सुजणलज्जणयं ॥१५२९॥

'किं पुत्र साधु वि कम्भं काहंति' किं पुनः साधवः कुत्सितं कर्म करिष्यन्ति । 'कुलगणसंघस्त असमाभिषो' कुलस्य गणस्य संघस्य च यशः संपादनाहंकारवन्तः । 'लोकपूजिता साधु' लोके कृतपूजाः । 'माणं विजाहिय' मानं त्यक्त्वा 'सुजणलज्जणयं' साधुजनेन विलज्जनीयं कर्म ॥१५२९॥

जो गच्छिज्ज विसादं महल्लमप्यं च आवदि पत्तो ।  
तं पुरिसकादरं विति धीरपुरिसा हु संदुत्ति ॥१५३०॥

'जो गच्छिज्ज विसादं' जो गच्छेद्विषादं । 'महल्लं अप्यं च आवदं पत्तो' महतीं अल्पां वा आपदं प्राप्त । 'तं पुरिसकातरं' पुरुषेषु कातरं । 'धीरपुरिसा संदुत्ति विति' धीराः सुपुरुषाः षण्ठ इति ब्रुवन्ति ॥१५३०॥

मेरुव्व णिप्पकंया अक्खोभा सागरुव्व गंभीरा ।  
धिदिवंतो सप्पुरिसा हुंति महल्लावईए वि ॥१५३१॥

'मेरुव्व णिप्पकंया' मेहरिव निदचलाः । 'अक्खोभा' अकम्पाः । 'सागरोव्व' सागर इव 'धिदिवंतो सप्पुरिसा' धृतिमन्तः संतोषवतः सत्यपुरुषाः । 'महल्लावईए वि' महत्यामापदि ॥१५३१॥

केई विमुत्तसंगा आदारोविदभरा अपडिकम्मा ।  
गिरिपभारमभिगदा बहुसावदसंकडं भीमं ॥१५३२॥

'केई उत्तमदुं सावैति' इति वक्ष्यमाणेन संबन्धः । केचिदुत्तमं वस्तु रत्नत्रय साधयन्ति । कीदृग्भूताः ? 'विमुत्तसंगा' निष्परिग्रहाः । 'आदारोविदभरा' आत्मारोपितभराः । 'अपडिकम्मा' निष्प्रतीकारा । 'गिरिपभारमभिगदा' गिरिप्राग्भारमभिगता । कीदृश ? 'बहुसावदसंकडं' बहुव्यालमृगाकुल । 'भीमं' भयावहं ॥१५३२॥

धिदिधणियबद्धकच्छा अणुत्तरंविहारिणो सुदसहाया ।  
साहिति उत्तमदुं सावददाढंतरगदा वि ॥१५३३॥

गा०—तब कुल गण और सबके यश सम्पादनका अहंकार करनेवाले लोकपूजित साधु स्वाभिमान त्यागकर साधुजनके लिये लज्जाके योग्य बुरा कर्म करेंगे क्या ? कभी नहीं करेंगे ॥१५२९॥

गा०—जो छोटी या बड़ी विपत्ति आने पर खिन्न होता है उस कायर पुरुषको धीर पुरुष नपुंसक कहते हैं ॥१५३०॥

गा०—सज्जन पुरुष महती विपत्तियें भी सुमेरुकी तरह अकम्प, सागरकी तरह गम्भीर और धैर्यशील रहते हैं ॥१५३१॥

गा०—कितने ही साधु समस्त परिग्रहको त्यागकर, अपने आत्मामें आत्माको आरोपित करके, प्रतीकार रहित होकर, बहुतसे व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तुओंसे भरे भयंकर पर्वतोंके शिखरोंपर

'विदितवियमवदकमञ्ज' श्रुत्या निजरां वदकमयाः । 'अनुसारविहारिणो प्रकृष्टचारिणाः । 'सुस्तहमाः' श्रुतज्ञानसहायाः । 'सार्थसि उत्तमदृष्टे' साध्यन्त्युत्तमार्थं रत्नत्रयं । 'सावकबाहंतरगवा वि' इवापददंष्ट्रामध्यगता अपि ॥१५३३॥

भल्लविक्रए तिरसं खज्जंतो घोरवेदणं ह्यो वि ।

आराधणं पवणो ज्ञाणेणावंतिसुकुमालो ॥१५३४॥

'भल्लविक्रए तिरसं खज्जंतो' श्रुत्यानेन तिसुषु रात्रिषु भक्ष्यमाण । 'घोरवेदणदो वि' घोरवेदना-  
वाधितोऽपि । 'आराधणं पवणो ज्ञाणेण' शुभध्यानेनाराधनां प्रपन्नः । क. ? 'अवंतिसुकुमालो' अवंति-  
सुकुमारः ॥१५३४॥

पोमिलगिरिम्मि य सुकोसलो वि सिद्धत्थदहय भयवंतो ।

वग्धीए वि खज्जंतो पडिवणो उत्तमं अट्टं ॥१५३५॥

<sup>३</sup>पुद्गलगिरी सुकोसलोऽपि सिद्धार्थस्य पुत्रो भगवान् व्याघ्र्या जननीचर्या भक्षितः सन् प्रतिपन्नः  
उत्तमार्थम् ॥१५३५॥

भूमोए समं कीलाकोडिददेहो वि अल्लचम्मं व ।

भयवं पि गयकुमारो पडिवणो उत्तमं अट्टं ॥१५३६॥

'भूमोए समं भूमो समं । 'कीलाकोडिददेहो' कीलोत्कृतदेह । 'अल्लचम्म व' आद्रचर्मवत् । 'भयवं  
पि' भगवान् गजकुमारोऽपि । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५३६॥

कच्छुजरखाससोसो भत्तेच्छअच्छिक्खुच्छिदुक्खाणि ।

अधियासयाणि सम्मं सणक्कुमारेण वाससयं ॥१५३७॥

जाकर हट धैर्यको अपनाकर, उत्कृष्ट चारित्रपूर्वक श्रुतज्ञानकी सहायतासे सिंहादिके मुँहमे जाकर  
भी उत्तमार्थ रत्नत्रयकी साधना करते हैं ॥१५३२-३३॥

गा०—अवन्ती अर्थात् उज्जैनी नगरीमें सुकुमार मुनि तीन रात तक श्रृगालीके द्वारा  
खाये जानेपर घोर वेदनासे पीडित होते हुए भी शुभध्यानके द्वारा रत्नत्रयकी आराधनाको प्राप्त  
हुए ॥१५३४॥

गा०—पुद्गल या मुद्गल नामक पर्वतपर सिद्धार्थ राजाके प्रिय पुत्र भगवान् सुकौशल  
मुनि अपनी पूर्ण जन्मकी माता व्याघ्रीके द्वारा खाये जानेपर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३५॥

गा०—पृथ्वीके साथ गोलो चमड़ेकी तरह शरीरमें कीलें ठोककर एकमेक कर देनेपर भी  
भगवान् गजकुमार मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३६॥

गा०—सनतकुमार मुनि ने सौ वर्षों तक खाज, ज्वर, खांसी, सूखापन, तीव्र उदररग्नि,  
नेत्रपीड़ा, उदरपीड़ा आदिके दुःख बिना संकलेशके धैर्यपूर्वक सहन किये ॥१५३७॥

'कच्छररसासोसो' कच्छररकासशोषाः । 'भस्तेच्छरणिच्छरुच्छरुच्छरणि' तीव्रो बठररग्निः अक्षि-  
दुःखं । कुक्षिदुःख च । 'अधियासयाणि' असक्लेशेन घृतानि 'सप्तकुमारेण' सनत्कुमारेण । 'बाससर्ब'  
वर्षगतं ॥१५३७॥

णावाए णिव्बुडाए गंगामज्जे अमुज्जमाणमदी ।

आराधणं पवण्णो कालगओ एणियापुत्तो ॥१५३८॥

'णावाए णिव्बुडाए' नावि निमन्नाया च । 'गंगामज्जे' गंगाया मध्ये । 'अमुज्जमाणमदी' अमुह्य-  
मानमति । 'आराधणं पवण्णो' आराधना प्रतिपन्नं सन् । 'कालगओ' काल गतः । 'एणियापुत्तो' एणिकपुत्र-  
नामधेयो यति ॥१५३८॥

ओमोदरिए घोराए भद्दवाहू असंकिल्लिद्धमदी ।

घोराए विगिच्छाए पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥१५३९॥

'ओमोदरिए घोराए' घोरेणावमोदर्येण तपसा समन्वित । 'भद्दवाहू असंकिल्लिद्धमदी' भद्रबाहुरसं-  
क्लिष्टचित्तः । 'घोराए विगिच्छाए' घोरया क्षुधा बाधितोऽपि । 'पडिवण्णो उत्तमं ठाणं' प्रतिपन्न  
उत्तमार्थं ॥१५३९॥

कोसंबीलिलियघडा बूढा णइपूरएण जलमज्जे ।

आराधणं पवण्णा पावोवगदा अमूढमदी ॥१५४०॥

चंपाए मासखमणं करित्तु गंगातडम्मि तण्हाए ।

घोराए धम्मघोसो पडिवण्णो उत्तमं ठाणं ॥१५४१॥

'चंपाए' चम्पानगरी । 'मासखमणं करित्तु' मासोपवासं कृत्वा । 'गंगातडम्मि' गंगायास्तटे । 'तण्हाए  
घोराए' तृष्णया तीव्रया बाधितोऽपि । 'धम्मघोसो' धर्मघोषः । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५४०-१५४१॥

गा०—गंगाके मध्यमे नाव डूबनेपर एणिक पुत्र नामके मुनि मोहरहित होकर मरणको प्राप्त हुए और आराधनाके धारक हुए ॥१५३८॥

गा०—घोर अवमोदर्य तपके धारी भद्रबाहु मुनि घोर भूखसे पीडित होनेपर भी संक्लेश रूप परिणाम न करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३९॥

गा०—कौशाम्बी नगरीमे सुखपूर्वक पाले गये इन्द्रदत्त आदि बत्तीस श्रेष्ठि पुत्र जलके मध्यमें यमुना नदीके प्रवाहके द्वारा प्रायोपगमन संन्यास पूर्वक मरणको प्राप्त हुए । उन्होंने मोह रहित होकर आराधनाको प्राप्त किया ॥१५४०॥

गा०—चम्पा नगरीमे एक मासका उपवास करते हुए धर्मघोष नामक मुनि गंगाके तटपर तीव्र प्याससे पीडित होकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४१॥

१-२. तिगिच्छाए मु० मूलारा० । ३. एता टीकाकारो नेच्छति ।

सीदेण पुष्पवहरियदेवेण विक्कुब्बिएण घोरेण ।

संततो सिरिदत्तो पडिवण्णो उत्तमं अट्टं ॥१५४२॥

‘सीदेण’ शीतेन । ‘संततो’ सतप्त । ‘पुष्पवहरियदेवेण विक्कुब्बिएण’ पूर्वजन्मशत्रुणा देवेनोत्पादितेन ‘सिरिदत्तः’ श्रीदत्तः । उत्तमार्थमुपगतः ॥१५४२॥

उण्हं वादं उण्हं सिलादलं आदवं च अदिउण्हं ।

सहिदूण उसहसेणो पडिवण्णो उत्तमं अट्टं ॥१५४३॥

‘उण्हं वादं’ उष्णं वातं, ‘उण्हं सिलादलं’ उष्णं शिलातल । ‘आदवं च अदिउण्हं’ आतापं चात्युष्णं ‘सहिदूण’ प्रसह्य वृषभसेन उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५४३॥

रोहेडयम्मि सत्तीए हओ कौचेण अग्गिदइदो वि ।

तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्टं ॥१५४४॥

‘रोहेडयम्मि’ रोहेडगे नगरे । ‘सत्तीए हओ’ शक्त्या हतः । ‘कौचेण’ क्रोचनामधेयेन । ‘अग्गिदइदो वि’ अग्निराजसुतोऽपि । ‘तं वेयणमधियासिय’ ता वंदना प्रसह्य । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५४४॥

काइदि अभयघोसो वि चंडवेगेण छिण्णसव्वंगो ।

तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्टं ॥१५४५॥

‘काइदि अभयघोसो वि’ काकन्द्या नगर्या अभयघोसोऽपि । ‘चंडवेगेण छिण्णसव्वंगो’ चंडवेगेन छिन्नसर्वांग ॥१५४५॥

दंसेहिं य मसएहिं य खज्जंतो वेदणं परं घोरं ।

विज्जुच्चरोऽधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्टं ॥१५४६॥

‘दंसेहिं य’ दशर्मशर्कश्च भक्ष्यमाण विद्युच्चरस्ता वेदना अवगणय्य आराधना प्रपन्नः ॥ १५४६॥

गा०—पूर्वभवके बैरी देवके द्वारा विक्रिया पूर्वक किये गये शीत से पीडित होकर श्रीदत्त मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४२॥

गा०—गर्म वायु, गर्म शिलातल और अत्यन्त गर्म आतापको सहन करके वृषभसेन उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४३॥

गा०—रोहतक नगरमें क्रोच नामक राजाके द्वारा शक्ति नामक शस्त्र विशेषसे मारा गया अग्नि राजाका पुत्र उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुआ ॥१५४४॥

गा०—काकन्दी नगरीमें चण्डवेगके द्वारा सब अगोके छेद डालनेपर अभयघोष मुनि उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४५॥

गा०—डांस मच्छरोके द्वारा खाये जानेपर विद्युच्चर मुनि अत्यन्त घोर वेदनाको सहन करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४६॥



हृत्स्थिपुत्रगुरुदत्तो संबलिथाली व द्रोणिमंतस्मि

उज्जंतो अभियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्टं ॥१५४७॥

‘हृत्स्थिपुत्रगुरुदत्तो’ ह्रास्तिनापुरवास्तव्यो गुरुदत्तः । ‘संबलिथालीव’ हरितसंकोषा निरामास [?] पूर्णभाजन अर्कपत्रपिहितमिद मुख अधोमुखं संस्थाप्य उपरिभाजनस्य अग्निप्रक्षेपः संबलीत्युच्यते । तद्वच्चिरसि निक्षिप्तान्नि । ‘द्रोणिमंतस्मि’ द्रोणीमत्पर्वते दह्यमान प्रपन्न उत्तमार्थं ॥१५४७॥

गाढप्यहारविद्धो पूङ्गलियाहिं चालणीव कदो ।

तथ वि य चिलादपुत्तो पडिवण्णो उत्तमं अट्टं ॥१५४८॥

‘गाढप्यहारविद्धो’ नितरामायुर्वैदिक । ‘पूङ्गलियाहिं’ कृष्णं स्थूलोत्तमाङ्गं पिपीलिकामि । ‘चालणीव कदो’ चालनीव कृतश्चिलातपुत्रस्तथाप्युत्तमार्थमुपगतः ॥१५४८॥

दंडो जउणावकैण तिक्खकंडेहिं पूरिदंगो वि ।

तं वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तमं अट्टं ॥१५४९॥

‘दंडो’ दडनामको यति । ‘जमुणावकैण’ यमुनावक्रसञ्जितेन । ‘तिक्खकंडेहिं’ तीक्ष्णं शरं ‘पूरिता-  
गोऽपि’ रत्नत्रय समाराधयति स्म ॥१५४९॥

अभिणंदणादिया पंचसया णयरम्मि कुम्भकारकडे ।

आराधणं पवण्णा पीलिज्जंता वि यंतेण ॥१५५०॥

‘अभिणंदणादिया’ अभिनन्दनप्रभृतयः पञ्चशतसख्याः, कुम्भकारकटे नगरे यत्रेण पीड्यमाना अप्या-  
राधना प्राप्ताः ॥१५५०॥

गा०—हृस्तिनापुर नगरके वासी गुरुदत्त मुनि द्रोणगिरि पर्वतपर संबलिथालीकी तरह जलते हुए उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४७॥

विशेषार्थ—एक पात्रमें उडदकी फलिया भरकर उसे आकके पत्रोसे ढाककर, उस पात्रका मुख नीचेको करके चारो ओर आगसे घेर देनेपर संबलिथाली कहते है । द्रोणगिरि पर्वतपर गुरुदत्त मुनिके सिरपर आग जला दी गई थी । वृ० क० कोषमे १३९ नम्बर पर इनकी कथा विस्तारसे दी है ।

गा०—चिलातपुत्र नामक मुनिका शरीर काली चीटियोके तीव्र डक प्रहारसे चलनीकी तरह बीध दिया गया था । फिर भी उन्होंने उत्तमार्थको प्राप्त किया ॥१५४८॥

गा०—दण्ड नामक मुनिके शरीरको यमुनावक्र नामके राजाने तीक्ष्ण बाणोसे छेदकर भर दिया था । फिर भी वे उसकी वेदनाको सहन करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४९॥

विशेषार्थ—३० क० कोषमे मुनिका नाम धान्यकुमार दिया है उनकी कथाका क्रमांक १४१ है ।

गा०—कुम्भकारकट नामक नगरमें अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनि कोल्लूमे पेल दिये जानेपर भी आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५५०॥

‘गोड्डे पाओवगदो सुबंधुणा गोऊचरे पल्लिवदम्मि ।  
उज्झंतो चाणको पडिवण्णो उत्तमं अट्टं ॥१५५१॥  
वसदीए पल्लिवाए रिट्टामच्चेण उसहसेणो वि ।  
आराधणं पवण्णो सह परिसाए कुणालम्मि ॥१५५२॥

‘वसदीए पल्लिवाए’ वसती दग्धायां । रिट्टामच्चनामधेयेन वृषभसेन सह मुनिपरिषदा प्रतिपन्न  
आराधनाम् ॥१५५१-१५५२॥

जदिदा एवं एदे अणगारा तिच्चवेदणट्ठा वि ।  
एयागी अपडियम्मा पडिवण्णा उत्तमं अट्टं ॥१५५३॥

‘अडिवा’ एव यदि एदे तावदेवमेते ‘अणगारा’ यतयस्तीव्रवेदनापीडिता अपि एकाकिनांप्रतीकारा  
उत्तमार्थं प्रतिपन्ता ॥१५५३॥

किं पुण अणयारसहायगेण कीरयंत पडिक्कम्भो ।  
संधे ओल्लगंतं आराधेदुं ण सक्केज्ज ॥१५५४॥

‘किं पुण अणयारसहायगेण’ किं पुनर्न शक्यते आराधयितु अनगारसहायेन भवता क्रियमाणे प्रतिकारे  
संधे चोपासना कुर्वति सति ॥१५५४॥

जिणवयणममिदभूदं महुरं कण्णाहुदिं सुणंतेण ।  
सक्का हु संघमज्जे साहेदुं उत्तमं अट्टं ॥१५५५॥

‘जिणवयण’ जिनाता वचन । अमृतभूत, मधुर कर्णाह्वति शृण्वता न्वया मधमध्ये शक्यमाराध-  
यितु ॥१५५५॥

गा०—चाणक्य मुनि गोकुलमे प्रायोपगमन सन्यासमे स्थित थे । सुबन्धु नामक मन्त्रीने  
कण्ठोके ढेरमे आग लगा दी । उसमे जलकर चाणक्य मुनि उत्तम अर्थको प्राप्त हुए ॥१५५१॥

गा०—कुणालपुरीमे रिष्ट नामक मन्त्रीके द्वारा वसतिकामे आग लगानपर वृषभसेन मुनि  
अपने शिष्य परिवारके साथ आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५५२॥

गा०—इस प्रकार यदि ये मुनि अकेले प्रतीकार किये बिना तीव्र वेदनासे पीडित होकर  
उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५५३॥

गा०—तो तुम्हारी सहायताके लिये तो मुनि समुदाय है वह तुम्हारे कष्टका इलाज  
करता है, तुम्हारे साथ उपासना करता है तब तुम आराधना क्यों नहीं कर सकते ॥१५५४॥

गा०—अमृतके समान मधुर जिन-वचन तुम्हारे कानोमे जाता है । उसे सुनते हुए संघके  
मध्यमे तुम्हारे लिये आराधना करना सरल है ॥१५५५॥

१. एता टीकाकारो नेच्छति । २. कीरतयम्मि पडिक्कम्भे—आ० म० ।

गिरयतिरिक्खगदीसु य माणुसदेवत्तणे य संतेण ।  
जं वत्तं इह दुक्खं तं अणुच्चित्तेहि तच्चित्तो ॥१५५६॥

‘गिरयतिरिक्खगदीसु य’ नरकतिर्यग्गतिषु च । ‘माणुसदेवत्तणे य संतेण’ मानुषत्वदेवत्वयोश्च सता यत्प्राप्तं इह सुखानन्तर दुःखं ‘तं अणुच्चित्तेहि’ तद्गतचित्तस्तदनुचिन्तय ॥१५५६॥

गिरएसु वेदणाओ अणोवमाओ असादबहुलाओ ।  
कायणिमित्तं पत्तो अणंतस्सुत्तो व बहुविधाओ ॥१५५७॥

‘गिरएसु’ नरकेषु । ‘वेदणाओ’ वेदना । ‘अणोवमाओ’ अनुपमा । तादृश्या वेदनाया जगत्यन्यस्या अभावात् । ‘असादबहुलाओ’ असह्येद्यकर्मबहुला । कारणबहुलत्वेन कार्यानुपरतिराख्याता । ‘कायणिमित्तं पत्तो’ शरीरनिमित्तासंयमाजितकर्मनिमित्तत्वान्मूलकारण निर्दिष्टं कायनिमित्तमिति । ‘अणंतसो’ अणंतवारं । ‘तं’ भवान् ‘बहुविधाओ’ बहुविधा. ॥१५५७॥

उष्णनरकेषु उष्णमहत्तासूचनार्थोत्तरा गाथा—

जदि कोइ मेरुमत्तं लोहण्डं पक्खिज्ज गिरयम्मि ।  
उण्हे भूमिमपत्तो णिमिसेण विलिज्ज सो तत्थ ॥१५५८॥

‘गिरयम्मि उण्हं’ लोहण्ड मेरुमत्तं जदि कोइ पक्खिज्ज’ उष्णनरके लोहपिण्ड मेरुसमान यदि कश्चिद्देवो दानवो वा प्रक्षिपेत् । ‘सो तत्थ भूमिमपत्तो वेव विलिज्ज’ लोहपिण्डो भूमिमप्राप्त एव द्रवतामुपयाति । ‘उण्हेण’ उष्णेन नरकबिलाना ॥१५५८॥

गा०—नरकगति, तिर्यङ्गगतिमें और मनुष्य पर्याय तथा देवपर्यायमे रहते हुए तुमने जो दुःख सुख भोगा, उसमे मन लगाकर उसका विचार करो ॥१५५६॥

गा०—टी०—इस शरीरके निमित्त किये गये असयमसे उपाजित कर्मके निमित्तसे तुमने नरकोमें अनन्तवार नाना प्रकारकी तीव्र वेदना असातावेदनीय कर्मके तीव्र उदयमे भोगी है । इस प्रकारकी वेदना जगत्में दूसरी नहीं है । उसका मूल कारण यह शरीर है । उसीके निमित्तसे होनेवाले असंयमके कारण असातावेदनीयका तीव्रबन्ध होकर वह नरकमे प्रचुरतासे उदयमे आता रहता है । अतः कारणकी बहुलता होनेसे वेदना रूप कार्य निरन्तर हुआ करता है ॥१५५७॥

आगेकी गाथासे उष्ण नरकोमे उष्णताकी महत्ता बतलाते है—

गा०—यदि कोई देव या दानव मेरुके समान लोहेके पिण्डको उष्ण नरकमे फेंके तो वह लोहपिण्ड वहाँकी भूमिको प्राप्त होनेसे ही पहले मार्गमें ही नरकबिलोकी उष्णतासे पिघल जाये ॥१५५८॥

तद्देहो पञ्चलिदो सीयणिरयपक्खित्तो ।

सीदे भूमिमपत्तो णिमिसेण सट्ठिज्ज लोहण्डं ॥१५५९॥

'तद्देहो' तर्थात् । 'तद्देहो' मेरुमात्रदेहः । 'लोहण्डो' लोहपिण्ड । 'पञ्चलिदो' प्रज्वलित । 'सीयणिर-  
यम्मि' शीतनरके । 'पक्खित्तो' प्रक्षिप्तो भूमिमप्राप्त एव । 'सीयेण सट्ठिज्ज' शीतेन विशीयते ॥१५५९॥

शीतोष्णजनितवेदनातिशयमुद्दिश्य शारीरवेदनामाचष्टे—

होदि य णरये तिन्वा सभावदो च्च वेदणा देहे ।

चुण्णीकदस्स वा मुच्छिदस्स खारेण सित्तस्स ॥१५६०॥

'होदि य णरये तिन्वा' भवति च नरके तीव्रे वेदना । 'देहे' शरीरे । 'सभावदो च्च' स्वभावत एव ।  
'चुण्णीकदस्सेव' चूर्णीकृतस्येव । 'खारेण सित्तस्स' क्षारेण सित्तस्य । 'अमुच्छिदस्स' अमूर्च्छितस्य । यादृशी  
वेदना तादृश्येव शरीरे वेदनेति यावत् ॥१५६०॥

णिरयकडयम्मि पत्तो जं दुक्खं लोहकट्ण्हिं तुमं ।

णेरइहिं यं तत्तो पडिओ जं पाविओ दुक्खं ॥१५६१॥

'णिरयकडयम्मि' नरकविलसमूहे-नरकस्कन्धावारे इति केचिद्वदन्ति । अन्ये तु निरयगतं इति । 'पत्तो  
जं दुक्खं' यददुःखं प्राप्त । 'लोहकट्ण्हिं' निशिततरलोहकण्टकं तुद्यमानस्त्व ॥१५६१॥

जं कूटसामलीए दुक्खं पत्तोसि जं च सुलम्मि ।

असिपत्तवणम्मि य जं जं च कयं गिद्धकंकेहि ॥१५६२॥

'जं कूटसामलीए य' यददुःखं प्राप्तोऽसि विक्रियाजनितनिशातशात्मलीभि । ऊर्ध्वमुखैरधोमुखैश्च-  
तीक्ष्णकण्टकैराकीर्णा कूटशात्मलीरारोहन् नारकभयात् । 'जं च सुलम्मि' यच्च दुःखमवाप्नोसि शूलाग्रप्रोत ।

गा०—उसी प्रकार उस पिघले हुए मेरु प्रमाण लोहपिण्डको यदि शीत नरकमें फेंका जाये  
तो भूमिको प्राप्त होनेसे पहले ही वह वहाँके शीतसे जमकर खण्ड-खण्ड हो जाय ॥१५५९॥

शीत और उष्णसे होनेवाली वेदनाकी महत्ता बतलाकर शारीरिक वेदना कहते हैं—

गा०—जैसे किसी मूर्धारहित मनुष्यके शरीरको कुचलकर उसे खारे तप्त तेलसे सीचनेपर  
जैसी वेदना होती है वैसे ही तीव्र वेदना नरकमें नारकीके शरीरमें स्वभावसे ही होती है ॥१५६०॥

गा०—नरकरूपी स्कन्धावारमें अथवा गढेमें नारकियोंके द्वारा लोहेके अत्यन्त नुकीले  
कांटोपर घसीटे जानेसे तुमने जो दुःख भोगा उसका विचार करो ॥१५६१॥

गा०—टी०—विक्रियासे रचे गये तीक्ष्ण शात्मली वृक्षोपर, जो ऐसे कांटोंसे घिरे होते हैं  
जिनमेंसे कुछ कांटोका मुख ऊपरकी ओर और कुछका नीचेकी ओर होता है, नारकियोंके भयसे  
डरकर चढ़ते हुए तुमने जो दुःख भोगा । सूलीके अग्र भागपर चढ़ाये जानेपर तुमने जो दुःख

१. यदा तद्देहो च्चिय प-ज० । २. य संतो पडिदो तित्त्वेहिं तुहतो'—इति अन्येषा पाठ ।

—मूलारा० ।

'असिपत्रवधमि य जं' असय एव पत्राणि यस्मिन्कले तृदसिपत्रवनं । उष्णार्दितानां पूरुर्बतां नारकाणां असिपत्रवनेऽनेकासुरविक्रियाविनिर्मितविक्रियायुधपत्राणि वनानि । 'जं च कर्म' यच्च कृतं । 'यिद्धकर्मैर्हि' गृद्धैः कर्तृश्च वधमयैस्तुण्डैः । ते लुब्धनैस्तुदन्ति । तीक्ष्णीकृतक्रकाचसदृशैः पक्षैः प्रहरन्ति<sup>१</sup> नितान्तखरपरुषश्चरणाङ्गुलीस्ताडयन्ति ॥१५६२॥

सामसवलेर्हि दोसं वइतरणीए य पाविओ जं सि ।

पत्तो कयंचवालुयमइगम्ममसायमतिविठ्वं ॥१५६३॥

'सामसवलेर्हि' श्यामशबलसंज्ञितैरसुरैः । 'दोसं' दोषं दण्डानां । 'वइतरणीए य पाविओ जं सि' वैतरण्या नद्यां प्रापितो यदसि । तृडभिभूतानां जलं मृगयता विष्णु विन्यस्तदीनलोचनानां शुष्कतालुगलानां वैतरणीनदीमुपदर्शयन्ति । रङ्गुत्तरङ्गाकुलां, अगाधनीलतीरभरितन्हृदां, विषयसुखसेवेव दुरन्ततृष्णानुबंधनोद्यता, ससृतिरिख दुस्तरां, आशेष विशाला, कमपुद्गलस्कषसहतिरिव विचित्रविपद्विषायिनी, तद्दर्शनाद्द्वारावेवोपजातोक्तठा लब्धजीवितास्संबृताः स्म इति मन्यमाना द्रुततरगतयस्तामवगाहन्ते । तदवगाहनानन्तरमेव कृताजलय पिबन्ति ताम्रद्रवसन्निभ तदम्भ । पशुवचनमिव हृदयदाहविधायि, हा विप्रलब्धा. स्मेति कर्षणं रसता शिरासि परुषतमसमीरणप्रेरणोत्थिततरङ्गासिधारा निकुन्तन्ति करचरणानि च । तेनातिक्षारेणीष्णेन, कालकूटविषायमानेन जलेन, त्रणान्तरप्रवेशिना दह्यमाना अटिति घटितकरचरणास्तटमेव रटन्तः समारोहन्ति । तेषा च

भोगा । जिस वनमे तलवारकी धारके समान पत्ते होते हैं उसे असिपत्र वन कहते हैं । गर्मीसे पीडित नारकी असिपत्र वनमें जाते हैं जो अनेक असुर कुमार देवोंकी विक्रियाके द्वारा निर्मित विचित्र आयुध रूप पत्रोंसे युक्त होते हैं और उन आयुध रूप पत्तोंके गिरनेपर उनका सर्वांग छिद जाता है । तथा गृद्ध और कङ्क पक्षि अपनी बध्मय चोर्चोंसे उन्हें नोचते हैं तीक्ष्ण आरके समान पखोसे प्रहार करते हैं । अत्यन्त तीक्ष्ण कठोर चरणरूपी अंकुशोंसे मारते हैं । इन सबका जो दुःख तुमने भोगा ॥१५६२॥

गा०-टी०—श्याम शबल नामक असुर कुमारोंके द्वारा वैतरणी नदीमे तुमने जो दण्ड भोगा । जब नारकी व्याससे व्याकुल होकर जलकी खोजमें होते है और उनकी आँखें दीन तथा कण्ठ और तालु सूख जाता है तो उन्हें वैतरणी नदी दिखलाई जाती है । वह रगीन तरंगोंसे व्याप्त और अगाध नीले जलसे भरी होती है, विषय सुख सेवनकी तरह तृष्णाकी परम्पराको बढ़ाने वाली होती है, संसारकी तरह उसे पार करना कठिन होता है, आशाकी तरह विशाल होती है, कर्मपुद्गलोंके स्कन्धोंके समूहकी तरह अनेक विपत्तियाँ लानेवाली होती है । उसको देखकर दूरसे ही उनकी उत्कण्ठा बढ़ जाती है । अब हम जी गये, ऐसा मानते हुए दौड़कर नदीमें प्रवेश करते हैं । प्रवेश करते ही हाथोंकी अजलि बनाकर पिघले हुए तामेके समान उसके जलको पीते हैं । वह जल कठोर वचनकी तरह हृदयको जलानेवाला होता है । 'अरे हम ठग्राये गये' ऐसी कर्षण वीतकार करते हुए उनके सिर और हाथ पैरोंकी अत्यन्त कठोर बायुसे प्रेरित लहरे, जो तलवारकी धारके समान होती हैं, काट देती हैं । तब कालकूट विषके समान अत्यन्त खारा गर्म जल उनके घावोंमें जाता है । उससे जलते हुए वे तत्काल तटकी ओर जाते हैं । उनके कटे हाथ

१. तुण्डैः तरललोचनैः—आ० मु० । ते हि बध्मयैस्तुण्डैर्नैत्राणि तुदन्ति । २. रन्ति नित्यं नखर—आ० मु० ।

श्रीवासु ध्यामशक्वा महतीः शिलावज्रशृङ्खलाप्रोता बध्नन्ति दुर्निमोचा । वदध्वा च तस्यामेवं पातयन्ति । पातितस्तत्र कृतोन्मत्तजननिमज्जनात्मुत्तमाङ्गानि असुरविक्रियानिमित्तमहामकरकरप्रहारेण जर्जरीभूय निपतन्ति । पुनश्च तटमाख्वा'न्गच्छतस्तांस्तरुभूय निरचल बध्नन्ति । तानपरिस्पन्दमवस्थितान्कक्षीकृत्य विध्यन्तीति निशातशरशतसहस्रं । 'पक्षो कथबबालुगमविगम्भ' प्राप्त कदबप्रसूनाकारा'वालिका चित्तदुः-प्रवेशा , दलालकृतस्त्रिविराङ्गारकणप्रकरोपमाना परिप्राप्य तत्र बलात्मचार्यमाण यत्प्राप्तवानसि दुःख तच्चित्ते<sup>३</sup> वज्रकुह ॥१५६३॥

जं णीलमंडवे तत्तलोहपडिमाउले तुमे पचं ।

जं पाइओसि खारं कडुयं तचं कलयलं च ॥१५६४॥

'जं पचं तं चितेहि' यत्प्राप्तं दुःख तच्चित्तय । क्व ? 'णीलमंडवे' काललोहपटिते मण्डपे । 'तत्तलोह-पडिमाउले' तप्तलोहप्रतिमाकुले । बलात्कारसपाद्यमानस्तप्तलोहप्रतिमायुवत्यालिगितो यद्दुःखं प्राप्तवानसि तन्मर्नासि निवेहि । 'जं पाइओसि खारं' यत्पायितोऽसि खार । 'कडुयं' कटुक । 'तत्त' तप्त ॥१५६४॥

जं खाविओसि अवसो लोहंगारे य पज्जलते तं ।

कंडुसु जं सि रद्धो जं सि कवल्लीए तलिओ सि ॥१५६५॥

'जं खाविओसि' यत्खादितोऽसि । 'अवसो' अवस । बलाद्यन्त्रविदारितानन । 'लोहंगारे य पज्जलते' तं लोहाङ्गारान्प्रज्वलत' त्व । 'कंडुसु जं सि रद्धो' कटुकामु यन्मण्डका इव पक्व ॥१५६५॥

पैर तत्काल जुड जाते है । उनकी गर्दनीमे भारी शिलाएँ वज्रमयी सांकलसे बांध देते है जिनको खोलना अति कठिन होता है और उन्हे पुनः उसी वैतरणीमे डाल देते है । उसमे गिराये जानेपर वे डूबते उतराते हैं । असुर कुमारोंकी विक्रियासे बनाये गये महामच्छोके प्रहारसे उनके मस्तक छिन्न-भिन्न होकर गिर जाते हैं । पुनः वे तट पर जाते है और उन्हे पुनः निरचल बांध देते हैं । तब उन निरचल स्थित नारकियोको लक्ष करके लाखो तीक्ष्ण बाणोसे बौध देते हैं । पुनः कदम्बके फूलोंके आकार वाली बालूमे, जिसमे बालिकाके चित्तकी तरह प्रवेश करना कठिन है और जो वज्रमयदलसे शोभित है तथा खैरकी लकडीके अंगारोके कण समूहकी तरह गर्म है, उसमे बल-पूर्वक चलाये जानेपर तुमने जो दुःख पाया है उसका विचार करो ॥१५६३॥

गा०—काललोहसे निर्मित मण्डपमें तपाये हुए लोहसे बनी प्रतिमाखुपी युवतियोसे बल-पूर्वक आलिगन कराये जानेपर तुमने जो दुःख पाया उसका विचार करो । तथा खारा कडुवा तपा हुआ कलकल पिलाये जानेपर जो दुःख पाया उसका चिन्तन करो ॥१५६४॥

विशेषार्थ—ताम्बा, सीसा, सज्जी, गूगल आदिको पकाकर जो काढा तैयार होता है उसे कलकल कहते हैं ।

गा०—बलपूर्वक यंत्रके द्वारा तुम्हारा मुह फाड़कर जो तुम्हे जलते हुए लोहेके अंगार खिलाये गये और भट्टीमे मांडकी तरह पकाया गया तथा कडाहीमे तला गया ॥१५६५॥

१ ढानुगच्छत तस्तत्र भय-अ० । ढान्ततः नकुभूय-ज० । २ क्षारबालिकाबालिकाचि-ज० । रा तथा ताः शिला पुनर्नि-मूलारा० । ३, तच्चित्तय-मु० ।

कुट्टाकुट्टिं चुण्णानुणिं मुग्गरमुसुंदिहस्वेहिं ।  
जं वि सखंडाखंडिं कजो तुमं जणसमूहेण ॥१५६६॥

‘कुट्टाकुट्टिं बह्वीं’ यत्कुट्टितसूणिंतः मुद्गरमुसुंदिहस्तेः, यच्च जनसमूहेन भवान् असकृत्खडित-  
स्तदन्त करणे कुरु ॥१५६६॥

अनुवृत्तिक्रिया भाषा सज्जतिः सुखशीलता ।  
अथा कृपा दमो दानं प्रसादो मार्दवं क्षमा ॥१॥  
इत्येवमाद्याः सुगुणाः प्रशस्ता ये क्षरीरिणां ।  
तेषु ते दुर्लभा नित्यं कास्तारेणिव मानुषाः ॥२॥  
शत्रुमित्रमुदासीन इत्यन्यत्र त्रिधा जनः ।  
शत्रुरेव हि सर्वाऽत्र जनः सबंस्य नारकः ॥३॥  
कम्पनैः कणयैश्चक्रैर्नाराचैः क्रकचैर्नलैः ।  
गङ्गाभिर्मुञ्जलैः शूलैः प्राज्ञैः पाषाणपद्मिण्यैः ॥४॥  
मुष्टिभिर्यष्टिभिलोष्टैः शङ्कुभिः शक्तिभिः क्षरैः ।  
अस्तिभिः क्षुरिकाभिश्च कुन्तैर्बन्धैः सतोमरैः ॥५॥  
तथा प्रकारैरन्यैश्च निशितैर्नकसंस्थितैः ।  
भूस्वभावास्वयं जातैर्वैक्रियैरपि चायुधैः ॥६॥  
नारकास्तत्र तेऽप्योष्यं रोचवेगेन पूरिताः ।  
पूर्ववैराण्यनुसृत्य वैभंगज्ञानसंभवात् ॥७॥  
ध्नन्ति छिद्यन्ति भिबन्ति क्षाबन्ति च तुबन्ति च ।  
विध्यन्ति चापैर्बन्धन्ति प्रहरन्ति हरन्ति च ॥८॥  
इवभृंगालवृक्षव्याघ्रगृध्रप्ररूपाणि चापरे ।  
विकृत्य विषयं पाषा बाधतेऽत्र परस्परं ॥९॥

शा०-टी०-अनेक बार हाथमे मुद्गर लेकर तुम्हे कूटा गया, मूसलोंसे जनसमूहने तुम्हे  
चूर्ण कर डाला । उसका मनमें विचार करो ।

अनुकूल क्रिया, भाषा, सज्जनता, नम्रता, सुखशीलता, लज्जा, दया, इन्द्रिय दमन, दान,  
प्रसन्नता, मार्दवं, क्षमा आदि जो प्रशस्त सुगुण प्राणियोंमें होते हैं वे गुण नरकमें वैसे ही दुर्लभ  
हैं जैसे घोर वनमें मनुष्यका मिलना दुर्लभ है । अन्यत्र शत्रु, मित्र और उदासीन तीन प्रकारके  
लोग होते हैं । किन्तु नारकी सब सबके शत्रु ही होते हैं । नरकमें नारकी अपने विभंगज्ञानसे  
पूर्व जन्मके वैरोंको स्मरण करके और क्रोधसे भरकर वक्र, बाण, करोंत, नख, गदा, मूसल,  
शूल, भाला, पाषाणसे निर्मित अस्त्र विशेष, मुट्ठी, लकड़ी, लोष्ट, शङ्कु, शक्ति, तलवार, छुरी,  
भाला, दण्डा, गुर्ज तथा इसी प्रकारके अन्य तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्रोंसे जो वहाँकी पृथिवीके स्वभावसे  
स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं तथा विक्रियासे निर्मित आयुधसे परस्परमे मारते हैं, छेदते भेदते हैं,  
खाते हैं कोंचते हैं, प्रहार करते हैं, बीधते हैं । अन्य नारकी कुत्ता, सियार, मेडिया, व्याघ्र, गृध्र

काष्ठशैलशिलारूपेनिपसंति च केचुचिद् ।  
 पततस्ताम्प्रतीच्छति ते च मूलाग्रसंस्थिताः ॥१०॥  
 मण्डयन्ति जलीभूय वायुभूय नुबन्ति च ।  
 बहन्ति बहनीभूय न दधन्ति परस्परं ॥११॥  
 तिष्ठ वासैव हन्ति त्वां त्वं कुतस्त्यः पलायसे ।  
 निगूहसे महामोहान्मृत्युस्त्वां समुपस्थित ॥१२॥  
 छिद्रि भिद्रि तु वाकर्षं हं द्वि इंधि वधान त ।  
 वधानेनं मृदानाद्यु बह् क्छादय मारय ॥१३॥  
 प्रबधे पातघाप्येनं तुह पिडो प्रवीपय ।  
 विशसेति च संरभ्य तं मुं चन्ति गिरोज्जुभाः ॥१४॥

जनेनेदृशा नारकेण प्रापितवेदना बुद्धिं निरूपयति—

जं 'अबद्धदो उप्पाडिदाणि अच्छीणि गिरयवासम्मि ।

अवसस्स उक्खया जं सत्तूलमूलाय ते जिब्भा ॥१५६७॥

'ज अबद्धदो उप्पाडिदाणि' शिर पृष्ठदेशादुत्पाटिते । 'अच्छीणि' लोचने । 'गिरयवासे य' नरकवासे च । 'अवसस्स' अवशस्य । 'उक्खया' उत्पाटिता । 'जं' यत् । 'सत्तूलमूलाय ते जिब्भा' निरवशेषा ते जिह्वा ॥१५६७॥

कुम्भीपाएसु तुमं उक्कट्टिओ जं चिरं पिं वं सोल्लं ।

जं सुट्ठिउव्व गिरयम्मि पउलिदो पावकम्मैहिं ॥१५६८॥

'कुम्भीपाएसु तुमं' कुम्भीपाकेषु त्व । 'उक्कट्टिओ' उत्कवथित । 'जं सुट्ठिउव्व' शूलप्रोतमासवत् । 'गिरयम्मि' नरके । 'पो' ऋषे अंगारप्रकरे पक्व । 'पावकम्मैहिं' पापकर्मभि ॥१५६८॥

आदिका रूप अपनी विक्रियासे बनाकर विस्तारपूर्वक परस्परमे कष्ट देते है । कुछ काष्ठ, पर्वत और शिलारूप बनकर उनपर बरसते है । उनको अपने ऊपर गिरते देखकर दूसरे नारकी जो सूलीके अग्र भागपर टंगे होते हैं उन्हे ग्रहण करते है । वे नारकी जल बनकर दूसरे नारकियोंको डुबाते हैं, वायु बनकर उडाते हैं । आग बनकर जलाते हैं । परस्परमे दया नही करते । अरे दासीपुत्र ! ठहर, कहीं भागा जाता है । मै तुझे मारूँगा । तेरी मृत्यु आ गई है । इसका छेदन करो, भेदन करो, पकड़ लो, खींच लो, मार डालो, जला डालो, चीर दो इत्यादि अशुभ वचन बोलते हैं ॥१५६६॥

नारको जीवने इस प्रकार जो वेदना भोगी उसे कहते है—

गा०—नरकमे सिरके पिछले भागसे तेरी आँखे निकाली गई । और पराधीनतावश तेरी पूरी जिह्वा जडमूलसे उखाड़ी गई ॥१५६७॥

गा०—पापी नारकियोंके द्वारा नरकमे तुम चिरकाल तक कुम्भीपाकमें औटाये गये । तथा सूलमें पिरोंये मांसकी तरह अगारोपर पकाये गये ॥१५६८॥

१. आवट्टदो मु० । अबद्धदो मूला० । २ पि सोहग्गे अ० ज० । सोल्ल घृतमिभित तैलं वप्पलेप इत्यन्य.—मूला० ।



जं भज्जिदोसि भज्जिदगं पि व जं गालिओसि रसयं व ।  
जं कप्पिओसि बल्लूरयं व चुण्णं व चुण्णकदो ॥१५६९॥

‘जं भज्जिदोसि’ यद्भूटोऽसि ‘भज्जिदगं पि’ भज्जिदगमामधेयशाकवत् । ‘जं गालिओसि रसयं व’ यद्गालितोऽसि रसवत् । ‘जं कप्पिओसि’ यत्कृतितः । ‘जं छिन्मो सि’ यत् छिन्नः । ‘बल्लूरयं पि व’ बल्लूरवत् । ‘चुण्णं व’ चूर्णवत् ‘चुण्णकदो’ चूर्णीकृतः ॥१५६९॥

चक्रकेहिं करकचेहिं य जं सि णिकत्तो विकत्तिओ जं च ।  
परसूहिं फालिओ ताडिओ य जं तं मुसुंढीहिं ॥१५७०॥

‘चक्रकेहिं करकचेहिं’ चक्रे. क्रकचैश्च । ‘जं सि णिकत्तो’ यत्सि निकृतः । ‘विकत्तिओ’ विविध कृतः । ‘परसूहिं फालिओ’ परशुभि पाटितः । ‘ताडिओ’ ताडितः । ‘जं’ यत् स्व ‘मुसुंढीहिं’ मुषुढीभि ॥१५७०॥

पासेहिं जं च गाढं बद्धो भिण्णो य जं सि दुघणेहिं ।  
जं खारकदमे सुप्पिओ सि ओमच्छिओ अवसो ॥१५७१॥

‘पासेहिं’ पाशे । ‘जं’ यत् । ‘गाढं बद्धो’ दृढ बद्ध । ‘भिण्णो व’ भिन्नश्च । ‘जं सि’ यदसि । ‘दुघणेहिं’ घने । ‘जं’ यत् । ‘खारकदमे’ क्षारकदमे । ‘सुप्पिओ’ निखातोऽसि । ‘ओमच्छिओ’ अधोमस्तकः । ‘अवसो’ परवश ॥१५७१॥

जं छोडिओसि जं मोडिओसि जं फालिओसि मलिदोसि ।  
जं लोडिओसि सिंघाडणसु तिक्खेसु वेण ॥१५७२॥

यद्भ्रमन्., पातितः, मर्दित, लोठितश्च तीक्ष्णेषु शृंगारकेषु वेगेन ॥१५७२॥

विच्छिण्णंगोवंगो खारं सिच्चित्तु वीजिदो जं सि ।  
सत्तीहिं विमुक्कीहिं य अदयाण खुंछिओ जं सि ॥१५७३॥

‘विच्छिण्णंगोवंगो’ विच्छिन्नांगोपाग । ‘खारं सिच्चित्तु’ क्षार सिक्त्वा । ‘वीजिदो जं सि’ यद्वीजितः ।

गा०—तुम भाजीकी तरह भूँजे गये हो । गुडके रसकी तरह छाने गये हो । मांसके टुकड़ोंकी तरह काटे गये हो और चूर्णकी तरह चूर्ण किये गये हो ॥१५६९॥

गा०—चक्रके द्वारा छेदे गये हो । आरेके द्वारा चीरे गये हो । परसुके द्वारा फाड़े गये हो । और मुसुंढी अस्त्र विशेषसे पीटे गये हो ॥१५७०॥

गा०—पाशके द्वारा मजबूतीसे बांधे गये हो । घनोंके द्वारा छिन्न-भिन्न किये गये हो । पराधीन होकर खारी कीचड़में नीचेको मस्तक करके गाड़े गये हो ॥१५७१॥

गा०—जो विदार गये हो । मोड़े गये हो, फाड़े गये हो, पैरोसे मले गये हो, तथा वेगसे तीक्ष्ण लोहमयी सिंघाड़ोंपर घसीटे गये हो ॥१५७२॥

गा०—अंग उपांगके विच्छिन्न होनेपर खारे जल आदिसे सींचे गये । फिर पंखासे

'सत्सीहि' शक्तिभि । 'विमुक्तीहि' य' अयोमयकण्टकारीदण्डैः । 'अवघाए' दयामन्तरेण । 'खुंषिदो' परा-  
वतित ॥१५७३॥

**पगलंतरुधिरधारो पलंबचम्मो पभिन्नपोद्दिसरो ।**

**पउलिदह्दिओ जं फुडिदच्छो पडिचूरियंगो य ॥१५७४॥**

'पगलंतरुधिरधारो' प्रगलद्दुधिरधारः । 'पलंबचम्मो' प्रलम्बत्वक् । 'पभिन्नपोद्दिसरो' प्रभिन्नोदर  
शिगा । 'पउलिदह्दिओ' प्रतप्तहृदय । 'जं' यत् । 'फुडिदच्छो' स्फुटितलोचन । 'पडिचूरियंगो य' परिचूर्णि-  
ताङ्गः ॥१५७४॥

**जं 'चडवडिसकरचरणंगो पत्तो सि वेदणं तिक्खं ।**

**णिरए अणंतखुत्तो तं अणुचितेहि णिस्सेसं ॥१५७५॥**

'जं' यत् । 'चडवडिसकरचरणंगो' वेपमानकरचरणाङ्गः । 'पत्तो सि वेदणं तिक्खं' प्राप्तोऽसि वेदना  
तीव्रं । 'णिरए' नरके । 'अणंतखुत्तो' अनतवार तत् 'अणुचितेहि' अनुक्रमेण चिन्तय । 'णिस्सेसं' निरवशेष ॥  
नरकगतिदु ख वर्णितम् ॥१५७५॥

**तिरियगदिं अणुपत्तो भीममहावेदणाउलमपारं ।**

**जम्मणमरणरहट्टं अणंतखुत्तो परिगदो जं ॥१५७६॥**

'तिरियगदिं अणुपत्तो' तिर्यग्गतिमनुप्राप्त । 'भीममहावेदणाउलमपारं' । भीममहावेदनाकुलमपार  
'जम्मणमरणरहट्टं' जन्ममरणघटीयत्र । 'अणंतखुत्तो' अनतवार । 'परिगदो' परिप्राप्तोऽसि । यत् चित्तेहि त  
इति वक्ष्यमाणेन सबन्धः । तिर्यंचो हि नानाविधा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसभेदेन ॥१५७६॥

हवा की गई जिससे वेदना बढ़े । फिर शक्ति नामक अस्त्रसे और लोहेके दण्डेसे जिसके आगे काटे  
लगे हो, निर्दयतापूर्वक खोचे गये ॥१५७३॥

गा०—रुधिरकी धार बह रही है, चमडा लटक रहा है, उदर और सिर फट गया है,  
हृदय दु खसे संतप्त है, आँखें फूट गई हैं । समस्त शरीर छिन्न-भिन्न है ॥१५७४॥

गा०—हाथ पैर कापते है । ऐसी दशामे तुमने नरकमे जो अनन्त बार तीव्र कष्ट भोगा  
उस सबका क्रमसे चिन्तन करो ॥१५७५॥

नरकगतिके दुःखका वर्णन समाप्त हुआ ।

गा०—टी०—नरकसे निकलकर तुम तिर्यञ्चगतिमे आये । यह जन्म मरणरूपी घटीयत्र  
(रहट्ट) भयानक महावेदनाभोजे भरा है, इसका पार नहीं है । इसे तुमने अनन्तवार प्राप्त किया है ।  
तिर्यञ्च पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रसके भेदसे अनेक प्रकारके है ॥१५७६॥

आत्मानुभूताभ्यपि न स्मरन्ति दुःखानि कैश्चिद्भिः नराः प्रमत्ताः ।  
 वृष्टमुतान्मग्नसन्नुद्भवाणि ते विश्मरन्तीति न विश्मयोऽत्र ॥१॥  
 प्रभावलोपोचमत्तो नरेभ्यो ज्ञातोर्येपि लीडर्भः परिकल्प्य एवं ।  
 संस्मार्यमात्रे प्रमदन्ति चस्मिन्मुखा न बीभास्य सन्नुद्भवन्ति ॥२॥  
 शीते निवातं सलिलादि घोष्णे क्षेमं भये संश्लिष्टुं समर्थाः ।  
 ये जंगमास्ते न तु सास्ति क्षणिकैर्कैन्निद्रयाणां वस जीवकाणां ॥३॥  
 सर्वोपसर्गानिह नोक्षकापा यथा विरागा मुनयः सहन्ते ।  
 सर्वोपसर्गानिवशा वराका एकेन्द्रिया ये च सदा सहन्ते ॥४॥  
 जात्यन्धमृका वधिरास्य बाला रथ्यासु रक्षाशरणप्रहीनाः ।  
 प्रमद्यमाना गजवाजियानैर्यथा विधेयैरन् विवशा वराका ॥५॥  
 तथा प्रकारे विकलेन्द्रियाणां प्रवर्तते नारकदुःखतुल्यः ।  
 मृत्युः समंतात् सततं सुघोरो ग्रामेऽप्यरथ्येषु च निःशरण्यः ॥६॥  
 गोऽजाविकाष्टैः परिमद्यमाना यानादिचक्रैः परिपिष्यमाणाः ।  
 अन्धोन्धवक्त्रे परिपुष्यमाणाः दुःखं च मृत्युं च हि ते लभन्ते ॥७॥  
 छिन्नेः शिरोभिद्रचरणैश्च भग्नैश्चादितैश्चावयवैस्तनूनां ।  
 चिरं स्फुरन्तः प्रतिकारहीनाः कुच्छ्रेण केचिज्जहति स्वमायुः ॥८॥  
 निमग्न्यमाना उवबिम्बुनापि निवशासवातौरपि बोध्यमानाः ।  
 प्रचोद्यमाना लघुनोष्मणापि नश्यन्ति ये तेषु कथा भवेत् का ॥९॥

कितने ही प्रमादी मनुष्य अपने द्वारा अनुभूत दुःखोंको भी भूल जाते हैं। तब देखे हुए, सुने हुए और दूसरोके भोगे हुए दुःखोंको भूल जाये तो इसमें क्या आश्चर्य है। अतः मनुष्योंके द्वारा जाना हुआ भी यथार्थ प्रमाद दूर करनेके लिये कहा जाता है। जिसका स्मरण होनेपर गुण प्रकट होते हैं और दोष प्रकट नहीं होते। जो जगम प्राणी होते हैं वे शीतमे वायु रहित स्थानमें, गर्मीमे जलादिमें, भय उपस्थित होनेपर निरापद स्थानमे आश्रय ले सकते हैं। किन्तु खेद है कि एकेन्द्रिय जीवोंमें ऐसी शक्ति नहीं होती। जैसे मोक्षके इच्छुक विरागी मुनि सब उपसर्गोंको सहते हैं। पराधीन बेचारे एकेन्द्रिय भी सब उपसर्गोंको सदा सहते हैं। जैसे जन्मसे अन्धे गूँगे बहरे बालक रक्षा और शरणसे विहीन हुए बेचारे बिबश होकर मार्गोंमे हाथी घोड़े सवारी आदिसे कुचलकर मर जाते हैं। विकलेन्द्रिय जीवोंकी भी ऐसी ही दशा है। उनका दुःख भी नारकियोंके समान है। ग्रामों और बनोंमें भी उनको शरण नहीं है। उनकी घोर मृत्यु सदा होती रहती है। गाय बैल, बकरा मेढा आदिके द्वारा वे कुचले जाते हैं। गाड़ी आदिके चकोंके नीचे पिस जाते हैं। परस्परमें एक दूसरेके मुँहोंके द्वारा पीड़ित होकर वे दुःख और मृत्युको प्राप्त होते हैं। सिरोंके भग्न हो जानेपर, पैरोंके टूट जानेपर तथा शरीरके अन्धवदोंके रोगसे ग्रस्त होनेपर वे चिरकाल तक सड़कड़ाते रहते हैं, उनका कोई इलाज नहीं करता। बड़े कष्टसे वे आयु पूरी करते हैं। जो जलकी एक वृद्धमें भी डूब जाते हैं, प्राणियोंके स्वासकी वायुसे भी पीड़ित होते हैं। जरा सी भी गर्मीसे पीड़ित होनेपर मर जाते हैं उनको क्या कथा कही जाये ?

तरः प्रविश्येह यथा तरः सन्नुत्पन्नं चैव निवृत्तं च ।  
 क्रीडाप्रसक्तो बहुघोर्षपि क्रुद्धादिनन्वकार्यं स्वबन्धो वयस्य ॥१०॥  
 प्रविश्य जन्मोवपिष्यन्वेवं शरीरिष्यते ह्यु जन्ममृत्युम् ।  
 अन्तर्मुहूर्तंषि सन्धानुवन्ति पौषीयभानाः कटुदुःखतोयम् ॥११॥  
 सूक्ष्मैः शरीरैरपि ते मृत्युमिदं दुःखानि विष्वं समयानुवन्ति ।  
 स्पृशेषु देहेषु समीहितेषु दुःखोदयो देहिगुणैश्च दृष्टः ॥१२॥  
 येषां न माता न पिता न बन्धुर्न चापि मित्रं न गुरुं नायः ।  
 न भेषजं नाभिजनो न भयं न ज्ञानमस्त्येष च कुतः सुखं स्यात् ? ॥१३॥  
 मात्रा वियोगेऽपि सतीह तावत् दुःखान्दु तत्त्वं न जनो लभेत ।  
 मात्रा वियोगस्तु भवेन्न येषां स्वयं कथं ते न हि दुःखराशेः ॥१४॥  
 मा भैष्ट मा भूस्तव दुःखजालं मा बिष्ट मा घेति वराकफाणां ।  
 आश्वसको वाप्यनुकम्पिता वा तेषां जनः कोऽस्ति यथा नराणां ॥१५॥  
 तेस्ते प्रकारैः सततं समस्ताच्छवद्बहाना अपि मृत्युमुग्र ।  
 करोति वा को ग्रहणं निरोक्ष्य विभुष्य सबन्धबिबो मनुष्यान् ॥१६॥  
 अथोप्यतो मर्त्यजनाञ्च पापात् क्षुधावितश्चापि महाभयानि ।  
 पञ्चेन्द्रिया यानि समाप्नुवन्ति दुःखानि तेषामिह कोपमा स्यात् ॥१७॥  
 स्तनंधयान्स्वानपि भक्षयन्स भृतास्तिरश्चोऽपि न निष्कृपाकाः ।  
 निहत्य स्त्रावसु परान्परेषु तिर्यभु किं विस्मयनीयमस्ति ॥१८॥

जैसे कोई स्वाधीन वयस्क पुरुष क्रीडासक्त हो, सरोवरमें प्रवेश करके बहुत बार जलमें डूबता और उतराता है। वैसे ही शरीरधारी प्राणी जन्मरूपी समुद्रके मध्यमें प्रवेश करके कटुक वृक्षरूपी जलको पीते हुए एक अन्तर्मुहूर्तमें भी बहुत बार जन्म लेते और मरते हैं। यद्यपि उनके शरीर सूक्ष्म होते हैं फिर भी वे महान् दुःख भोगते हैं। स्थूल शरीर मिलने पर उनका दुःख अन्य प्राणी भी देख सकते हैं। जिनका न पिता है, न माता है, न बन्धु है, न मित्र है, न गुरु है, न स्वामी है, न औषध है, न वंश है, न भोजन है और न ज्ञान है उन्हें सुख कैसे हो सकता है। माताका वियोग भी होनेपर इतना दुःख होता है जिसे मनुष्य सह नहीं पाता। जिनके माता ही नहीं है उनकी दुःख राशिका तो कहना ही क्या है। तुम मत डरो, तुम्हें दुःख न हो, इस प्रकार उन बेचारोंको मनुष्योंकी तरह न कोई सान्त्वना देनेवाला है और न कोई उनपर दया करनेवाला है। विभिन्न प्रकारोंसे निरन्तर सदा चहुँ ओरसे उग्र मृत्युको प्राप्त उन प्राणियोंको देखकर उनके सम्बन्धमें जानने वाले मनुष्योंके सिवाय अन्य कौन उनकी सुघ लेता है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च परस्परमें एक दूसरेसे, पापी मनुष्योंसे भूख प्यास आदिसे जिन महाभयकारी दुःखोंको प्राप्त होते हैं उनकी कोई उपमा नहीं है। वे अपने बच्चोंको भी खा जाते हैं। तिर्यञ्च भी दयाहीन नहीं सुने गये हैं। किन्तु जो अपने ही बच्चोंको खाते हैं वे यदि दूसरोंको खा जावे तो इसमें आश्चर्य ही क्या। वे परस्परमें एक दूसरेका घात करनेके लिये प्रहार करते हैं। उनको मारनेके लिये

१ स्थूलानुदेहेषु समीहितेषु सुखोदयो देहिगुणैश्च दृष्टः ।—अ० । २. दुःख च स्या आविष्ट—अ० ।

अप्योन्यघातार्थमनुकूलवति ह्यनुं स्वयम् कुक्कुरोऽनुकूलिः ।  
 तं कविष्वदन्यः सहसा निहंता ह्रीं विवर्ततो भीमतरं किमन्यत् ॥१९॥  
 अप्योन्यरग्रेक्षणजष्टनिद्रा अप्योन्यमाहृत्य जिजीविषन्तः ।  
 स्वस्था न येऽप्योन्यभयात्स्वपन्ति किं ते भवेयुः सुखितः कवाचित् ॥२०॥  
 वने मृगास्तोयतुणप्रमुखाः मृगीसहस्रा एतिमानुबन्धि ।  
 व्याधाविभिर्यंद्भ्रममाप्नुवन्ति निरेवसः कारणमत्र कर्म ॥२१॥  
 वियोजिता आत्मसुतेश्च बालैर्मृग्यो मृगीघातमनोऽनुकूलैः ।  
 दिशस्तु बोनाकिमिरीक्यभाषाः सुवाच्यं मारणमाप्नुवन्ति ॥२२॥  
 स्वभावपाषाः कुक्कुरीरिशाभिः श्रोत्राहिता दुःश्रुतिभिः कुनव्य ।  
 अविभ्यतो कुर्वन्ति यथेष्टं न्यन्तोऽभ्यवन्तश्च हितानुमन्यते ? ॥२३॥  
 वने मृगेभ्यः पिशितागानेभ्यो ग्रामेषु नृभ्यश्च तपाविषेभ्यः ।  
 ते विभ्यते न क्वचिवाडवसरतो अवृणुष्या विभ्रति जीवितानि ॥२४॥  
 यवकुशाविग्रहर्तंगजाश्च कलाविघातैश्च हया हुतासाः ।  
 गावश्च तोत्राविषधैः परेषां कुर्वन्ति कर्माभरणविकामाः ॥२५॥  
 मृत्यायुतानामलक्षेतश्चेव विरागभावप्रभवे निमित्तम् ।  
 तावन्विघाता बहुवो हि कोटयः कथं प्रकुर्वन्त्यन्तितरस्य ॥२६॥  
 वंदह्यमानाश्च दवाग्निवेगैर्महाजलोर्ध्वश्च समूह्यमानाः ।  
 मृगाः खगाः सर्पंसरीसृपाश्च सार्धं जियन्ते बहुवो वसान्ये ॥२७॥

दूसरा पशु उसके पीछे लग जाता है। उसको भी कोई तीसरा मार देता है। विषकार है इसे, इससे भयानक और क्या हो सकता है। परस्परमें एक दूसरेके छिद्रोंको देखनेसे जिनकी नौद भाग जाती है, जो एक दूसरेको मारकर जीना चाहते हैं, जो परस्परमें एक दूसरेके भयसे स्वस्थ होकर सो नहीं सकते वे कभी सुखी कैसे हो सकते हैं? वनमें मृग जल और तृण खाकर पुष्ट होते हैं। हिरणी उनकी सहचरी होती है। परस्परमें प्रेमसे रहते हैं। बिना किसी अपराधके भी व्याध आदिसे उन्हें भय रहता है। इसमें कारण उनका पूर्व कर्म है। उन्हें अपने बच्चोंसे वियोगका दुःख उठाना पड़ता है। अपने मनके अनुकूल मृगोकी खोजमें दीन हृष्टिसे दिशाओंको देखा करते हैं और इस तरह भयकर मृत्युको प्राप्त होते हैं। जो स्वभावसे ही पापी है, और कुक्कुरोंके द्वारा कही गई न सुनने योग्य कविताओंसे उत्साहित होकर, दुर्गतिसे भी नहीं डरते वे उन पशुओंको यथेच्छ मारते हैं और इसे हित मानते हैं। वनमें मांसाहारी पशुओंसे, ग्रामोंमें मांसाहारी मनुष्योंसे डरते हैं। वे कही भी अपनी इच्छानुसार निर्भय जीवन नहीं बिताते। हाथी अंकुश आदिके प्रहारोंसे, घोड़े कोड़े आदिकी मारसे और बैल पैनी आदिके घातसे मरणपर्यन्त दूसरोंका काम करते हैं। जो बुद्धिमान् हैं उनके वैराग्य उत्पन्न होनेमें यह सब ही निमित्त है। उनकी बहुतसी कोठियाँ हैं वे एक दूसरेको कष्ट कैसे दे सकते हैं। जंगलकी आंगके वेगसे जलते हुए महाजलसमूहके प्रवाहसे बहाये जाते हुए मृग, पक्षी, सर्प, सरीसृप तथा अन्य भी बहुतसे जीव एक साथ मर जाते हैं ॥१५७६॥

१ ही विषक लोभान्तरा किमन्यत् -आ० । २. मृत्यायुतानामल-आ० । ३. न्यमिते नारस्य -आ० ज० ।

ताडणतासणबंधणवाहणलंछणविहेडणं' दमणं ।

कण्णच्छेदणपासावेहणंजिनलंछणं चैव ॥१५७७॥

'ताडणतासण' ताडननासनबन्धनलाञ्छनवाहनविहेडनकर्णछेदननासिकावेधनबीजविनाशनानि ॥१५७७॥

छेदणमेदणडहणं णिपीलणं गालणं छुहातण्हा ।

मक्खणमहणमलणं विकत्तणं सीदउण्हं च ॥१५७८॥

छेदनमेदनदहननिपीडनगालनानि क्षुत्तृद्वाधाभक्षणमर्दनमलनविकर्तनानि । शीतमुष्ण च ॥१५७८॥

जं अत्ताणो णिप्पडियम्मो बहुवेदणुद्विओ पड्विओ ।

बहुएहिं मदो दिवसेहिं चडयडंतो अणाहो तं ॥१५७९॥

'जं अत्ताणो' यदत्राणो । 'णिप्पडियम्मो' निष्प्रतीकार । 'बहुवेदणुद्विओ' बहुवेदनादित । 'पड्विओ' पतित । 'बहुएहिं मदो दिवसेहिं' बहुभिर्मुतो दिवसे । 'चडयडित्तो' स्फुरहेह । 'अणाहो' अनाथ । 'तं' त्वं ॥१५७९॥

रोगा विविहा बाधाओ तह य णिच्चं भयं च सव्वत्तो ।

तिच्चाओ वेदणाओ धाडणपादाभिघादाओ १५८०॥

'रोगा विविहा' व्याधयो नानाप्रकारा । 'बाधाओ' बाधाश्च । 'तथा णिच्चं भयं च सव्वत्तो' नित्यं भयं च सर्वत । 'तिच्चाओ वेदणाओ' तीव्रा वेदना घाटनपादाभिघाताश्च ॥१५८०॥

सुविहिय अदीदकाले अणंतकायं तुमे अदिगदेण ।

जम्मणमरणं भणंतं अणंतस्सुत्तो समणुभूदं ॥१५८१॥

'सुविहिय' सुचारित्र । 'अदीदकाले' अतीतकाले । 'अणंतकायं तुमे अदिगदेण' अनंतकायं त्वया प्रविष्टेन । 'जम्मणमरणं भणंतं' जन्ममरणं चानन्तं । 'अणंतस्सुत्तो' अनन्तवारं क्षिप्तं । 'समणुभूदं' सम्यग्गनुभूतं ॥१५८१॥

गा०—लाठी आदिसे मारना, डराना, रस्ती आदिसे बाधना, बोझा लादकर देशान्तरमे ले जाना, गर्म लोहेसे दागना, पीडा देना, दमन करना, अण्डकोषोको दबा देना । अर्गोको छेदना, मेदना, जलाना, दबाना, रोग आदि होनेपर रक्त निकालना, भूख प्यासकी बाधा, भक्षण, मर्दन, मलना, कान आदिको काटना, शीत उष्ण इत्यादि दुःख तिर्यञ्च गतिमे तुमने सहे हैं ॥१५७७-७८॥

गा०—जहाँ कोई रक्षक नहीं, कोई प्रतीकार नहीं, बहुत कष्टसे पीड़ित होकर गिरे और अनाथ दशामे तडफड़ाते हुए तुम बहुत दिनोंमें मरे ॥१५७९॥

गा०—तिर्यञ्चकालिमे नाना प्रकारके रोग, नाना प्रकारकी बाधाएँ, सदा सब ओरसे भय, तीव्र वेदनाएँ, पैरसे मारना आदि कष्ट है ॥१५८०॥

गा०—हे चारित्रसे सम्पन्न क्षपक । अतीतकालमें तुमने अनन्तकायमें जन्म लेकर अनन्त वार अनन्त जन्म मरणोंको भोगा ॥१५८१॥

१. णं मयणं अ० । २. णेण लच्छण चैव—अ० । ३. णादकं अणं—अ०, आ० ।

इच्छेवमादिदुःखं अणंतस्तुतो तिरिक्खजोणीए ।

जं पत्तोसि अदीदे काले चित्तेहि तं सब्बं ॥१५८२॥

‘इच्छेवमादिदुःखं’ इत्येवमादिदुःखं । ‘अणंतस्तुतो’ अनन्तवारं । ‘तिरिक्खजोणीए’ तिरिययोनी । ‘जं’ यत् । ‘पत्तोसि’ प्राप्तोऽसि । ‘अदीदेकाले’ अतीतकाले । ‘चित्तेहि तं सब्बं’ तत्सर्वं चिन्तय । तिरियगदी ॥१५८२॥

देवत्तमाणुसत्ते जं ते जाएण सकयकम्मवसा ।

दुक्खाणि किलेसा वि य अणंतस्तुतो समणुभूदं ॥१५८३॥

‘देवत्तमाणुसत्ते’ देवत्वमानुषत्वयोः । ‘अत्तेण’ जातेन । ‘सकयकम्मवसा’ स्वकृतकर्मवशात् । ‘दुक्खाणि किलेसा वि य’ दुःखानि क्लेशाश्च । ‘अणंतस्तुतो’ अनन्तवारं समनुभूताः ॥१५८३॥

पियविप्पयोगदुक्खं अप्पियसंवासजाददुक्खं च ।

जं वेमणस्सदुक्खं जं दुक्खं पच्छिदालाभे ॥१५८४॥

‘पियविप्पयोगदुक्खं’ प्रियविप्रयोगजातं दुःखं । ‘अप्पियसंवासजाददुक्खं च’ अप्रियं, सहसासेन जातं च दुःखं । येषां नामश्रवणेऽपि शिर शूलो जायते, येषां दर्शनाद्दर्शने धूमायेते । ‘जं वेमणस्सदुक्खं’ यद्वैमनस्यदुःखं ‘पच्छिदालाभे जं दुःखं’ यद्दुःखं प्राथितालाभे ॥१५८४॥

परमिच्चदाए जंते असम्मवपणेहिं कहुगफल्सेहिं ।

णिग्मत्थणावमाणणतज्जणदुक्खाइं पत्ताइं ॥१५८५॥

‘परमिच्चदाए’ परभृत्यताया सत्या ‘से’ तव ‘जं’ यज्जातं । ‘असम्मवपणेहिं’ अशिष्टवचनैः । ‘कहुगफल्सेहिं’ कटुकं, पक्षध्वजं । ‘णिग्मत्थणावमाणणतज्जणदुक्खाइं पत्ताइं’ निर्भर्त्सनावमाननतर्जनदुःखानि प्राप्तानि ॥१५८५॥

दीणत्तरोसचितासोगामरिसग्गिपउलिदमणो जं ।

पत्तो घोरं दुक्खं माणुसजोणीए सतेण ॥१५८६॥

शा०—तिर्यञ्चयोनिमे तुमने अतीतकालमे अनन्तवार जो इस प्रकारके दुःख भोगे हे उन सबका विचार करो ॥१५८२॥

शा०—अपने किये हुए कर्मके वशीभूत होकर तुमने देवपर्याय और मनुष्य पर्यायमे जन्म लिया और वहाँ भी अनन्तवार दुःख और क्लेशोंको भोगा ॥१५८३॥

शा०—टी०—प्रिय जनके वियोगका दुःख, अप्रियजनके साथमें रहनेका दुःख, जिनका नाम सुनकर भी सिरमें दर्द होता है, जिनके देखने मात्रसे आँखें लाल हो जाती हैं उन्हें अप्रिय कहते हैं । उनके साथमें रहनेका दुःख, वैमनस्यका दुःख और इच्छित वस्तुके न मिलनेका दुःख, राजा आदिकी नौकरी करनेपर अशिष्ट और कटुक वचनोंका दुःख, धिक्कार, तिरस्कार, अपमान और डांटनेका दुःख तुमने सहा है ॥१५८४-८५॥

१ जं ते माणसदुक्खं—मूलारा० ।

‘हीनस्वरोषचित्तासोगामरिसिष्यकुलिकमनो बं’ दीनस्वरोषचित्तासोकामर्षान्निभिः संतप्तमना यत् ।  
‘यसो घोरं दुःखं’ प्राप्त घोर दुःख । ‘माणसजोषीए संतिष्य’ मनुष्ययोनी सत्या भवता ॥१५८६॥

दंडकमुंडभताडणधरिसणपरिमोससंकिलेसा य ।

घणहरणदारधरिसणघरदाहजलादिघणणास ॥१५८७॥

दंडकमुंडभताडणधरिसणपरिमोषणसंकलेशा घनापहरणदारदूषणानि गृहदाहजलादिभिर्द्र-  
विणनाशात् ॥१५८७॥

दंडकसालद्विसदाणि डंगुराकंटमद्दणं घोरं ।

कुम्भीपाको मच्छयपलीवणं भक्तवुच्छेदो ॥१५८८॥

‘दंडकसालद्विसदाणि’ दण्डकशायष्टिशतैस्ताडनानि दण्डादिकार्यत्वाद्दण्डादिशब्देनोच्यन्ते । डंगुरा मुष्टि-  
प्रहारा । ‘कंटमद्दणं’ कण्टकानामुपरि प्रक्षिप्य मर्दनं घोरं । कुम्भीपाकः । ‘मच्छयपलीवणं’ मस्तके अग्नि-  
प्रज्वलन । ‘भक्तवुच्छेदो’ आहारनिरोध ॥१५८८॥

दमणं च हत्थिपादस्स णिगलअंदूरत्तरज्जूहिं ।

बघणमाकोडणयं ओलंबणणिहणणं चैव ॥१५८९॥

‘दमणं च हत्थिपादस्स’ हस्तिपादेनोन्मर्दनं । ‘णिगलअंदूरत्तरज्जूहिं’ निगलेन, अन्दुकाभि, वरत्राभि,   
रज्जूभिश्च बन्धन । ‘आकोडणयं’ हस्तौ पृष्ठतो नीत्वा बन्धन । ‘ओलंबण’ श्रीवावद्धपाशस्य तरुशाखासु   
लम्बन । ‘णिहणणं’ चैव गर्ते निक्षिप्य पूरणं ॥१५८९॥

कण्णोट्ठीसीसणासाछेदणदंताण भंजणं चैव ।

उप्पाडणं च अच्छीणं तहा जिब्भायणीहरणं ॥१५९०॥

‘कण्णोट्ठीसीसणासाछेदण’ कर्णयोरुच्छेदो, शिरसो, नासिकायाश्च छेद । ‘दंताण भंजण चैव’ दताना   
भञ्जन । ‘उप्पाडणं च अच्छीणं’ अङ्गोत्स्थापन, तथा ‘जिब्भायणीहरणं’ जिह्वानिर्हरण ॥१५९०॥

गा०—दीनता, रोष, चिन्ता, शोक और क्रोधरूप आगसे मनके संतप्त होनेपर तुमने   
मनुष्ययोनिमे रहते हुए घोर दुःख पाया है ॥१५८६॥

गा०—राजा आदिसे दण्डित होना, सिर मुण्डा करा देना, पीटा जाना, तिरस्कारपूर्वक   
दोष लगाया जाना, चोरी होना, राजा आदिके द्वारा धनका हरण, स्त्रियोको दोष लगाना, घरमे   
आग लगाना, बाढ वगैरहसे संपत्तिका नष्ट होना, डण्डे कोडे लाठी आदिसे पीटा जाना, मुट्टीका   
प्रहार होना, कांटोंके ऊपर लिटाकर घोर मर्दन करना, कडाहीमे डालकर पकाना, मस्तकपर   
आग जलाना, आहारका रोक देना इत्यादि दुःख तुमने मनुष्यगतिमे सहे है ॥१५८७-८८॥

गा०—हाथीके पैरसे दबाया जाना, सांकल, चमड़ेकी रस्सी या साधारण रस्सीसे बाधा   
जाना, दोनों हाथ पीछे करके बांधना, गर्दनमे रस्सी डालकर बृक्षसे लटकाना, गड्डेमे डालकर   
उसे पूर देना । कान, ओष्ठ और नाक काटना, दांत तोड़ना, आंखें निकाल लेना, जीभ उखाड़   
लेना, इत्यादि दुःख तुमने भोगे हैं ॥१५८९-९०॥



अग्निविससत्सुसप्पादिबालसत्त्वाभिषादघादेहि ।

सीदुण्हरोगदंसमसएहिं तण्हाछुहादीहिं ॥१५९१॥

‘अग्निविससत्सुसप्पादिबालसत्त्वाभिषादघादेहिं’ अग्नेर्विषस्य, शत्रूणां, सर्पादेर्व्यालमृगाणां, शस्त्रप्रहारस्य च घातं । ‘सीदुण्हरोगदंसमसएहिं’ शीतोष्णेन, दंशमसर्कः, ‘तण्हाछुहादीहिं’ तृट्क्षुषादिभिः ॥१५९१॥

जं दुक्खं संपत्तो अणंतखुत्तो मणे सरीरे य ।

माणुसमवे वि तं सच्चमेव चित्तेहि तं धीर ! ॥१५९२॥

‘जं दुक्खं संपत्तो’ यददुःखं संप्राप्तः । ‘अणंतखुत्तो’ अनन्तवार । ‘मणे सरीरे य’ मनसि शरीरे च । मानस शारीरं च दुःखं प्राप्तं । ‘माणुसमवे वि’ मनुष्यभवेऽपि । ‘त सच्चमेव चित्तेहि’ तत्सर्वमेव चिन्तय । ‘तं धीर’ त्वं धीर ! ॥१५९२॥

सारीरादो दुक्खादु होइ देवेसु माणसं तिच्च ।

दुक्खं दुस्सहभवसस्स परेण अभिजुज्जमाणस्स ॥१५९३॥

‘सारीरादो दुक्खादु’ शारीराद्दुःखात् । ‘होइ’ भवति । ‘देवेसु’ देवेषु । ‘माणसं तिच्च’ मानसं तीव्रं दुःखं । ‘दुःस्सह’ सोढुमशक्यं । ‘अवसस्स’ अवशस्यं । ‘परेण’ अन्येन ‘अभिजुज्जमाणस्स’ अभियुज्यमानस्य वाहनता नीयमानस्य ॥१५९३॥

देवो माणी संतो पासिय देवे महद्धिए अण्णे ।

जं दुक्खं संपत्तो घोरं भग्गेण माणेण ॥१५९४॥

‘देवो माणी संतो’ देवो मानी सन् । ‘पासिय देवे’ देवान् दृष्ट्वा । ‘महद्धिए’ महर्दिकान् । ‘अण्णे’ अन्यान् । ‘जं दुक्खं संपत्तो घोरं’ यद्घोरं दुःखं प्राप्तं । ‘भग्गेण माणेण’ भग्नेन मानेन ॥१५९४॥

दिव्हे भोगे अच्छरसाओ अवसस्स सग्गवासं च ।

पज्जहंतगस्स जं ते दुक्खं जादं चयणकाले ॥१५९५॥

शा०—आग, विष, शत्रु, सर्प आदि तथा सिंह, शस्त्रके प्रहारसे घात, शीत, उष्ण, डास मच्छर, भूख प्यास, इनसे तुमने मनुष्यभवमे जो शारीरिक और मानसिक दुःख पाया है, हे धीर ! उस सबका विचार करो ॥१५९१-१५९२॥

शा०—जब देवगतिमें अभियोग्य जातिका देव होकर वह परवश होकर इन्द्रादिके द्वारा वाहन बनाया जाता है तब उसे शारीरिक दुःखसे तीव्र मानसिक दुःख होता है जो असह्य होता है ॥१५९३॥

शा०—अभिमानि देव हुआ तो अन्य महर्दिक देवोंको देखकर मानका भंग होनेसे जो घोर दुःख हुआ उसका विचार करो ॥१५९४॥

शा०—परवश होकर दिव्य भोग, देवांगनाएँ और स्वर्गवास त्यागनेपर स्वर्गसे च्युत होते समय जो दुःख हुआ उसको स्मरण करो ॥१५९५॥

'बिम्बे भोयो' दिव्याभोगान् । 'अच्छरसाओ' देवकन्यकाः । 'सम्भवासं च' स्वर्गवासं च । 'पजहत-  
गस्स' परित्यजतः । 'अवसस्स' परवशस्य । 'जं ते दुक्खं जादं' यत्नं दुःखं जातं । 'चयणकाले'  
च्यवनकाले ॥१५९५॥

जं सम्भवासकुणिमं कुणिमाहारं छुहादिदुक्खं च ।

चित्तंतगस्स यं सुचिसुहिदस्स दुक्खं चयणकाले ॥१५९६॥

'जं सम्भवासकुणिमं' यद्गर्भवासकुणित । 'कुणिमाहार' कुणितहार । छुहादिदुःखं च । 'चित्तंतगस्स'  
चिन्तयत । 'सुचिसुहिदस्स' शुभं सुखितस्य । 'जं दुक्खं चयणकाले' स्वर्गच्यवनकाले ॥१५९६॥

एवं एदं सव्वं दुक्खं चदुगदिगदं च जं पत्तो ।

तत्तो अणंतभागा होज्ज ण वा दुक्खमिमगं ते ॥१५९७॥

'एव एव सव्वं' एवमेतत्सर्वं । 'दुक्खं चदुगदिगदं' दुःखं चतुर्गतिगतं । 'जं पत्तो' यत्प्राप्तवान् ।  
'तत्तो' ततः । 'अणंतभागा' अनन्तभागाः । 'होज्ज ण वा' भवेद्वा न वा । 'दुक्खमिमगं ते' दुःखमिदं तव  
मनुजजन्मनि ॥१५९७॥

संखेज्जमसंखेज्जं कालं ताइं अविस्समंतेण ।

दुक्खाइं सोढाइं किं पुण अदिअप्पकालमिमं ॥१५९८॥

'संखेज्जमसंखेज्जं कालं' संख्यातमसंख्यातं वा कालं । 'ताइं दुक्खाइं सोढाइं' तानि दुःखानि  
सोढानि । 'अविस्समंतेण' विश्रामरहितेन । 'किं पुणं' किं पुनं सहते । 'अदिअप्पकालमिमं' अत्यल्पकालमिदं  
दुःखं ॥१५९८॥

जदि तारिसाओ तुम्हे सोढाओ वेदणाओ अवसेण ।

धम्मोत्ति इमा सवसेण कहं सोढुं ण तीरेज्ज ॥१५९९॥

'जदि तारिसाओ' यदि तादृश्यं । 'तुम्हे सोढाओ बंधणाओ' त्वया सोढा वेदना । 'परवसेण'

गा०—पवित्र और सुखी देव स्वर्गसे च्युत होते समय विचारता है कि मुझे अब दुर्गन्धयुक्त  
गर्भमे जाना होगा । वहाँ दुर्गन्धित भोजन होगा । भूख प्यासकी बाधा होगी । ऐसा विचार करते  
समय जो दुःख होता है उसका चिन्तन करो ॥१५९६॥

गा०—इस प्रकार चारो गतियोमे तुमने जो यह सब दुःख भोगा है उसके अनन्तर्वे भाग  
दुःख इस मनुष्य जन्ममे हो न भी हो ॥१५९७॥

गा०—तुमने संख्यात वा असंख्यात काल पर्यन्त बिना विश्राम लिये ये दुःख सहें हैं ।  
तब अति अल्पकालके लिये यह थोडासा दुःख क्यो नही सहते हो ॥१५९८॥

गा०—टी०—यदि तुमने परवश होकर उक्त प्रकारकी वेदनाएँ सही है तो इस समय इस  
वेदनाको धर्म मानकर स्वयं अपनी इच्छासे क्यो नहीं सहते ।

संका—वेदना धर्म कैसे है ?

१. मिदं भवं मनु —आ० म० ।

परवेशन । 'धम्मोत्ति' धर्म इति । 'इमा' इयं वेदना । 'सवसेण' स्ववशेन सता । 'सोढुं' ण तीरेज्ज' सोढुं न शक्यते ? । कथं वेदना धर्मः ? उत्तमसमामार्जवादेवादिभिः दयाप्रकारो धर्म उच्यते । वेदनासहनं धर्म इति कृत्वा कथं न शक्यते सोढुं संबन्धोऽत्र ॥१५९९॥

तण्हा अणंतस्सुत्तो संसारे तारिसी तुमं आसी ।  
जं पसमेदुं सच्चोदधीणमुदगं ण तीरेज्ज ॥१६००॥  
आसी अणंतस्सुत्तो संसारे ते छुधावि तारिसिया ।  
जं पसमेदुं सच्चो पुम्मलकाओ ण तीरेज्ज ॥१६०१॥  
जदि तारिसिया तण्हा छुधा य अवसेण ते तदा सोढा ।  
धम्मोत्ति इमा सवसेण कथं सोढुं ण तीरेज्ज ॥१६०२॥  
सुइपाणएण अणुसट्ठिभोयणेण य ञ्णोवगहिण ।  
ज्जाणोसहेण तिच्चा वि वेदणा तीरदे सहिदुं ॥१६०३॥

'सुइपाणएण' त्रिविधधर्मकथाश्रुतिपानेन । 'अणुसट्ठिभोयणेण य' अनुशासनभोजनेन । 'उवगहिणेण' उपगृहीतेन । 'ज्जाणोसहेण' शुभध्यानीषधेन च । 'तिच्चा वि वेदणा' तीव्रापि वेदना । 'तीरदे सहिदुं' शक्यते सोढुं ॥१६००॥१६०१॥१६०२॥१६०३॥

भीदो व अभीदो वा णिप्पडियम्मो व सपडियम्मो वा ।  
मुच्चइ ण वेदणाए जीवो कम्मे उदिण्णम्मि ॥१६०४॥

'भीदो व अभीदो वा' भीतोऽभीतो वा । 'णिप्पडियम्मो सपडियम्मो वा' निःप्रतिकार सप्रतिकारो वा । 'मुच्चइ ण वेदणाए जीवो' न मुच्यते वेदनाया जीव । 'कम्मे उदिण्णम्मि' कर्मण्यसद्वेषे उदीर्णं ॥१६०४॥

समाधान—उत्तम क्षमा मार्दवं मार्जवं आदिके भेदसे दस प्रकारका धर्म कहा है अतः वेदनाको सहना भी धर्म है ॥१५९९॥

गा०—हे क्षपक ! ससारमें तुम्हे ऐसी प्यासकी वेदना अनन्त बार हुई है जिसको शान्त करनेके लिये सब समुद्रोंका जल भी समर्थ नहीं है ॥१६००॥

गा०—संसारमें तुम्हें ऐसी भूखकी वेदना अनन्त बार हुई है जिसको शान्त करनेके लिये समस्त पुद्गल काय भी समर्थ नहीं है ॥१६०१॥

गा०—यदि तुमने परबश होकर वैसी भूख प्यासकी घोर वेदनाको सहा है तो अब धर्म मानकर इस वेदनाको स्वेच्छापूर्वक क्यों नहीं सहते ॥१६०२॥

गा०—तीन प्रकारकी धर्मकथाको कानोंके द्वारा पीकर, तथा गुरुकी शिक्षारूपी भोजन करके और शुभध्यानरूपी औषधको ग्रहण करके तीव्र भी वेदनाको सहा जा सकता है ॥१६०३॥

गा०—असातावेदनीय कर्मकी उदीरणा होनेपर डरो या न डरो, प्रतीकार करो या न करो, जीव वेदनासे छुटकारा नहीं पाता ॥१६०४॥

पुरिसस्स पावकम्मोदएण ण करंति वेदणोवसमं ।

सुट्ठु पउत्ताणि वि ओसधाणि अदिवीरियाणी वि ॥१६०५॥

‘पुरिसस्स पावकम्मोदएण’ पुरुषस्य पापकर्मोदये ‘न करंति’ न कुर्वन्ति । ‘वेदणोवसमं’ वेदनोपशम । ‘सुट्ठु पउत्ताणि वि’ सुष्ठु प्रवृत्तान्यपि । ‘ओसधाणि वि’ औषधानि । ‘अदिवीरियाणि’ अतिवीर्याण्यपि ॥१६०५॥

रायादिकुडुंबीणं अद्याए असंजमं करंताणं ।

घण्णंतरी वि काटुं ण समत्थो वेदणोवसमं ॥१६०६॥

‘रायादिकुडुंबीणं’ राजादीनां कुटुम्बीनां अनेक द्रव्यसपत्परिवारकसपत्प्रख्याताना । ‘अद्याए असंजमं करंताणं’ दयामन्तरेणासंजमं कुर्वता । ‘घण्णंतरी वि काटुं’ घन्वंतरिरपि कर्तुं असमर्थं । ‘वेदणोवसमं’ वेदनाया उपशम । वैद्यसपत्ता घन्वन्तरेर्ग्रहणेन सूचिता ॥१६०६॥

किं पुण जीवणिकाये दयंतया जादणेण लद्धेहिं ।

फासुगदब्बेहिं करंति साहुणो वेदणोवसमं ॥१६०७॥

‘किं पुणं’ किं पुन । ‘जीवणिकाए’ जीवनिकायान् । ‘दयंतया’ दयमाना । ‘जादणेण लद्धेहिं’ याञ्चया लब्धं । ‘फासुगदब्बेहिं’ प्रासुकद्रव्यं । ‘करेण्णं’ कुर्यात् । ‘साहुणो वेदणोवसमं’ साधोर्वेदनोपशम । परिचारकसपदभावां दर्शयते ‘जीवणिकाए दयंतया’ इत्यनेन । यथा व्याधेरुपशमो भवति तथा कुर्वति परिचारकाः । अमी पुनर्यतयः षड्जीवनिकायबाधापरिहारोद्यता स्वसयमविनाशभीरवो । ‘जायणेण लद्धेहिं’ इत्यनेन द्रव्यसपदभाव आख्यायते ॥१६०७॥

मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिधणगमणं पि होदि वरं ।

ण य वेदणामित्तं अप्पासुगसेवणं काटुं ॥१६०८॥

गा०—जब पुरुषके पापकर्मका उदय होता है तो अच्छी तरहसे प्रयुक्त और अतिशक्तिशाली भी औषधियाँ वेदनाको शान्त नहीं करती ॥१६०५॥

गा०—टी०—राजा आदि कुटुम्बी जिनके पास अनेक प्रकारकी धन-सम्पदा और सेवा करनेवाले दास-दासियोंकी प्रचुरता होती है, किन्तु जो दयाहीन होकर असयमी जीवन बिताते हैं, उनकी वेदनाको शान्त करनेके लिये घन्वन्तरि भी समर्थ नहीं है । घन्वन्तरिपदसे वैद्यरूपी सम्पदाको सूचित किया है । अर्थात् घन्वन्तरि जैसा वैद्य भी उनकी वेदनाको दूर नहीं कर सकता ॥१६०६॥

गा०—टी०—तब जीवमात्रपर दया करनेवाले याचनासे प्राप्त प्रासुक द्रव्योसे साधुकी वेदनाका उपशम कहाँ तक कर सकते हैं ? अर्थात् परिचारक साधु जहाँ तक शक्य होता है व्याधिको शान्त करनेका प्रयत्न करते हैं क्योंकि उनके पास परिचारक रूप सम्पदा—दासदासी तो हैं नहीं और यतिगण छह कायके जीवोंको बाधा न पहुँचे इसके लिये सदा तत्पर रहते हैं तथा अपने सयमके विनाशसे भी भयभीत रहते हैं । साथ ‘याचनासे प्राप्त’ कहनेसे उनके पास धनसम्पदाका भी अभाव कहा है ॥१६०७॥

‘मोक्षदाभिलाषिणो’ निरवशेषकर्मिपायाभिलाषिणः । ‘संजबस्स’ प्राणसंयमवर्तः । ‘निघणममणं वि होवि वरं’ मरणमपि वरं । ‘ण य’ नैव वरं युक्त । ‘वेदणाभिमितं’ वेदनोपशमार्थं । ‘अप्पासुवसेवणं कम्मं’ अयोग्यद्रव्यसेवनं कर्तुम् ॥१६०८॥

**निघणममणं एयमवे णासो पुणो पुरिल्लज्जम्मेसु ।**

**णासं असंजमो पुण कुणइ भवसएसु बहुगोसु ॥१६०९॥**

‘निघणममणं एयमवे’ निघ्ननगमनमेकमवे । ‘णासो’ नाशः । ‘ण पुणो’ न पुनर्नाशः । ‘पुरिल्लज्जम्मेसु’ भाविषु जन्मसु । ‘असंजमो पुण’ असयमः पुन । ‘भवसएसु’ जन्मशतेषु । ‘बहुगोसु’ बहुषु । ‘णासं कुणइ’ नाश करोति । वेदना हि न संयतमनुयाति रत्नत्रयभावनोद्यत । सा हि असात मन्द करोति । असंयमः पुन असद्वेद्यं प्रकष्टानुभव करोति । उक्तं च—‘दुःखशोकतापाक्रन्धसवषपरिवेदनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्येति’ [त० सू० ६।११] ॥१६०९॥

**ण करेति णिव्वुइं इच्छया वि देवा सइंदिया सव्वे ।**

**पुरिसस्स पावकम्मो अणक्कमग्गे उदिण्णम्मि ॥१६१०॥**

‘णं करेति णिव्वुइं’ न कुर्वन्ति निवृत्ति । ‘पुरिसस्स’ पुरुषस्य । ‘सइंदिया देवा सव्वे इच्छया वि’ सैन्द्रका’ सर्वे देवा इच्छन्तोऽपि । ‘पावकम्मो’ पावकर्मणि । ‘अणक्कमग्गे’ अनुक्रमके । ‘उदिण्णम्मि’ उदय-मुपगते ॥१६१०॥

**किह पुण अण्णो काहिदि उदिण्णकम्मस्स णिव्वुदिं पुरिसो ।**

**हत्थीहिं अतीरंतं भंतुं भजिहिदि किह ससओ ॥१६११॥**

‘किह पुण’ कथं पुनः । ‘अण्णो काहिदि पुरिसो’ अन्यः करिष्यति पुरुषः । ‘उदिण्णकम्मस्स’ उदया-

गा०—समस्त कर्मबन्धनके विनाशरूप मोक्षके अभिलाषी संयमीका मरण होना भी श्रेष्ठ है । किन्तु वेदनाकी शान्तिके लिये अप्रासुक अयोग्य द्रव्यका सेवन करना श्रेष्ठ नहीं है ॥१६०८॥

गा०—टी०—मरण होना तो एक भवका ही विनाश है भावि जन्मोका नाश नहीं है किन्तु असयम तो सैकड़ों जन्मोंको नष्ट कर देता है । जो संयमी रत्नत्रयकी भावनामे तत्पर रहते हैं वेदना उनका पीछा नहीं करती । क्योंकि रत्नत्रयको भावना असाताके उदयको मन्द करती है । और असंयम असातावेदनीयके अनुभागको बढ़ाता है । कहा भी है दुःख, शोक, पश्चात्ताप, रुदन, वष और हृदयको व्याकुल करनेवाला रुदन स्वयं करनेसे, दूसरोमे करनेसे या दोनोमे करनेसे अमातावदनीयका आलव होता है ॥१६०९॥

गा०—पुरुषके पापकर्मके अनुक्रमसे उदय आनेपर इन्द्रसहित सब देव इच्छा करनेपर भी सुखी नहीं कर सकते ॥१६१०॥

गा०—तब असातावेदनीय कर्मका उदय आनेपर अन्ध साधारण पुरुष क्या कर सकते हैं ? जिसे महाबलशाली हाथी भी तोड़नेमें असमर्थ है क्या उसे बेचारा कमजोर खरगोश लोड सकता है ॥१६११॥

गतासहोऽथकर्मणः । 'जिह्वहिं' निर्वृति । 'हृत्वीहिं जतीरतं भंतु' हस्तिभिर्महाबलैः कर्तुमशक्यं यद्भुञ्जन् । 'किञ्च सस्यो भञ्जीहि' कथं स्वल्पप्राणो भङ्क्यति क्षाकः ॥१६११॥

ते अप्पणो वि देवा कम्मोदयपच्चयं मरणदुक्खं ।

वारोदुं ण समत्था षणिदं पि विक्कुच्चमाणा वि ॥१६१२॥

'ते देवा अप्पणो वि कम्मोदयपच्चयं मरणदुक्खं' ते देवा सेन्द्रका. आत्मनोऽपि कर्मोदयहेतुकं मरणदु खं 'वारोदुं' ण समत्था' निवारयितुं न समर्थाः । 'षणिदं वि विक्कुच्चमाणा' नितरा विक्रिया कुर्वन्तोऽपि ॥१६१२॥

'उज्झंति जत्थ हत्थी महाबलपरक्कमा महाकाया ।

सुत्ते तम्मि बहंते ससया उट्टेत्तया चेष ॥१६१३॥

'उज्झंति' यस्मिन् स्रोतसि हस्तिनः ऊह्यते महाबलपराक्रमा महाकाया । तस्मिन् स्रोतसि बहन्ति क्षाका गता एव ॥१६१३॥

किह पुण अण्णो मुच्चहिदि सगेण उदयागदेण कम्मेण ।

तेलोक्केण वि कम्मं अवारणिज्जं खु समुवेदं ॥१६१४॥

'किह पुण अण्णो मुच्चहिदि' कथं पुनरन्यो मोक्ष्यते, स्वैन कर्मणा उदयागतेन । त्रैलोक्येनापि कर्मा-निवार्यमेव समुपगतं ॥१६१४॥

कह ठाह सुक्कपत्तं वाएण पडंतयम्मि मेरुम्मि ।

देवे वि य विहेडयदो कम्मस्स तुमम्मि का मण्णा ॥१६१५॥

'कह ठाह सुक्कपत्तं' कथं तिष्ठेत् शुष्कपत्रं । वातेन पतति मेरो । अणिमाद्यष्टगुणसपन्नान्देवानपि कुत्सीकुर्वत कर्मणो भवत्यल्पबले का सजा ॥१६१५॥

गा०—वे देव कर्मके उदयके कारण होनेवाले अपने भी मरणके दुःखको दूर करनेमें समर्थ नहीं हैं यद्यपि वे दिव्यशक्तिसे सम्पन्न होनेसे अनेक प्रकारकी विक्रिया करनेमें समर्थ होते हैं ॥१६१२॥

गा०—जिस प्रवाहमें महाबली, महापराक्रमी और विशाल शरीरवाले हाथी बह जाते हैं उस प्रवाहमें बेचारे खरगोश स्वयं ही बह जाते हैं ॥१६१३॥

गा०—जब देव भी अपने उदयागत कर्मको ढालनेमें असमर्थ है तब अन्य साधारण प्राणी अपने उदयागत कर्मसे कैसे छूट सकता है ? उदयागत कर्मको तीनों लोक भी नहीं ढाल सकते ॥१६१४॥

गा०—जिस वायुसे मेरुपर्वतका पतन हो सकता है उसके सामने सूखा पत्ता कैसे ठहर सकता है ? इसी प्रकार जो कर्म अणिमा आदि आठ गुणोंसे सम्पन्न देवोंकी भी दुर्गति कर देता है उसके सामने तुम्हारे जैसे मरणोन्मुख मनुष्यकी क्या गिनती है ॥१६१५॥

कम्माइं बलियाइं बलिओ कम्माइं पत्थि कोवि जणे ।

सच्चबलाइं कम्मं भलेदि हत्थीव पल्लिवणं ॥१६१६॥

‘कम्माइं’ कर्माणि बलवति, कर्मम्यो बलवान्नास्ति जगति । कम्माइंस्मात्सर्वाणि बंधुविद्याद्रव्य-  
शरीरपरिवारबलानि कर्मं महं यति हस्तीव नलिनवनं ॥१६१६॥

इच्छेवं कम्ममुदओ अवारणिज्जोत्ति सुदु पाऊण ।

मा दुक्खायसु मणसा कम्मम्मि सणे उदिष्णम्मि ॥१६१७॥

‘इच्छेवं कम्ममुदओ’ इतिवाच्यं प्रकृतपरिसमाप्तिं सूचयति । एवं इत्युक्तपरामर्शं । ‘कम्ममुदओ’  
कर्मोदयः । ‘अवारणिज्जोत्ति’ अनिवार्यं इति । ‘सुदु पाऊण’ सम्यग्ज्ञात्या । ‘मा दुक्खायसु मणसा’ मा  
कार्षीर्दुःखं मनसा । ‘कम्मम्मि सणे उदिष्णम्मि’ कर्माणि स्वके उदीर्णे ॥१६१७॥

पडिकूविदे विसण्णे रडिदे दुक्खाइदे किलिङ्गे वा ।

ण य वेदणोवसामदि णेव विसेसो ह्वदि विस्से ॥१६१८॥

‘पडिकूविदे’ परिदेवने कृते शोके । विषादे रटने, दुःखे, संक्लेशे वा न वेदनोपशाम्यति । नापि  
कश्चिदतिशयो भवति वेदनायाः ॥१६१८॥

अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ संक्लेशेण होइ खवयस्स ।

अट्टं सुसंक्लेशो ज्ञाणं तिरियाउगणिमित्तं ॥१६१९॥

‘अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ’ अन्योप्यत्र गुणो न कश्चिच्छोकादिना संक्लेशेन । प्रेक्षापूर्वकारिणो हि  
तत्कर्तुं प्रारभते यस्य साध्यं फलं अस्ति । संक्लेशेन न क्वचित् अपि मुमुक्षोः फलं अपि तु संक्लेशपरिणामो  
ह्यतं ध्यानमनोजिबिप्रयोगार्थं तच्च तिर्यगायुषो निमित्तं । ततोऽल्पदुःखमीहं भवत स्वदीयः संक्लेशो  
दुस्तरे तिर्यगावर्तं निपातयतीति भयोपदर्शनं कृतं ॥१६१९॥

गा०—कर्म बडे बलवान हैं । जगत्में कर्मसे बलवान कोई नहीं है । जैसे हाथी कमलोंको  
वनको रौद डालता है । वैसे ही कर्म बन्धु, ज्ञान, द्रव्य, शरीर और परिवार आदि सब बलोंको  
नष्ट कर देता है । कर्मके सामने ये सब बल क्षीण हो जाते हैं ॥१६१६॥

गा०—इस प्रकार कर्मका उदय अनिवार्य है उसे रोकना नहीं जा सकता इस बातको अच्छी  
तरहसे जानकर अपने कर्मका उदय आनेपर मनमें दुःख मत करो ॥१६१७॥

गा०—रोनेपर, विषाद करनेपर, चिल्लानेपर अथवा दुःख और संक्लेश करनेपर वेदना  
शान्त नहीं होती और उसमें कोई विशेषता भी नहीं आती ॥१६१८॥

गा०-टी०—शोक आदि संक्लेश करनेसे क्षपकका कोई अन्य लाभ भी नहीं है । बुद्धिमान  
पुरुष उसी कार्यको करना प्रारम्भ करते है जिससे कोई लाभ होता है । संक्लेशसे मुमुक्षुका जरा  
भी लाभ नहीं है । बल्कि इष्ट वियोग नामक आर्तध्यान संक्लेश परिणामरूप होनेसे तिर्यञ्चायुके  
बन्धका कारण है अतः थोड़ेसे दुःखसे डरनेवाले आपको तुम्हारा संक्लेश ऐसी तिर्यञ्चगतिरूपी  
भँवरमें डाल देगा जिससे निकलना बहुत कठिन है ॥१६१९॥

संकलेशस्य निरर्थक्यप्रकटनार्थोत्तराया—

**इदमाकासं मुद्गीहिं होइ तह कडिया तुसा होंति ।**

**सिगदाओ पीलिदाओ धुसिलिदमुदयं च होइ जहा ॥१६२०॥**

‘हवमागासं’ हतं मुष्टिभिराकाशं ताडितु । तुषकडनं तडुलार्थं । सिफतापीडनं तिलयत्रे तैलार्थं । जलमंथनं च घृतार्थं यथापार्थकं तथानर्थकं सकलेशो वेदनाकुलस्य । वेदनाया अनिराकरणत्वान्नैरर्थक्य-साम्यादभेदोपन्यासो दृष्टान्तदाष्टान्तिकयोः ॥१६२०॥

**पुव्वं सयमुवमुत्तं काले णाएण तेत्तियं दव्वं ।**

**को धारणिओ धणिदस्स देतओ दुक्खिओ होज्ज ॥१६२१॥**

‘पुव्वं सयमुवमुत्तं’ पूर्वं स्वयमुपभुक्तं । काले ‘णायेण’ न्यायेन । ‘तेत्तियं दव्वं’ तावद्द्रव्यं । ‘को दुक्खिओ होज्ज धारणिओ’ को दुःखितो भवेदधमर्णः । ‘धणिदस्सि’ उत्तमर्णं । ‘हरते’ स्व द्रव्यं हरति ॥१६२१॥

**तह चेव सयं पुव्वं कदस्स कम्मस्स पाककालम्मि ।**

**णायागयम्मि को णाम दुक्खिओ होज्ज जाणंतो ॥१६२२॥**

‘तह चेव’ तथा चैव । ‘सयं पुव्वं कदस्स कम्मस्स’ आत्मना पूर्वं कृतस्य कर्मणः । ‘पाककालम्मि’ फलदानकाले न्यायेनागते । ‘को णाम दुक्खिओ होज्ज जाणंतो’ को नाम दुःखितो भवेज्जानो ॥१६२२॥

**इय पुव्वकदं इणमज्ज महं कम्माणुगत्ति णारुण ।**

**रिणमुक्खणं च दुक्खं पेच्छसु मा दुक्खिओ होहि ॥१६२३॥**

‘इय पुव्वकदं’ ‘इय’ एवंभूतं । ‘दुक्खं पुव्वकदं’ पूर्वकर्मणा कृतं । ‘इणं’ इदं दुःखं । ‘अण्ण’ अथ । ‘महं कम्माणुगत्ति’ मम कर्मणामिति । ‘णारुणं’ ज्ञात्वा । ‘रिणमुक्खणं वा’ ऋणमोक्षण इव । ‘दुक्खं पेच्छसु’ दुःखं प्रेक्षस्व । ‘मा दुक्खिओ होहि’ दुःखितो मा भूः ॥१६२३॥

आगे संकलेशकी निरर्थकता बतलाते है—

गा०—जैसे मुट्टियोसे आकाशको मारना, चावलके लिये उसके छिलकोको कूटना, तेलके लिये कोल्हूमें रेत पेलना, और धीके लिये जलको मथना निरर्थक है उसी प्रकार वेदनासे पीडित व्यक्तिका संकलेश करना निरर्थक है । संकलेश करनेसे वेदना दूर नहीं होती है अतः निरर्थक होनेसे दृष्टान्त और दाष्टान्तमे समानता है ॥१६२०॥

गा०—जैसे कोई कर्जदार साहूकारसे ऋण लेकर स्वयं उसका उपभोग करता है । और ऋण चुकानेका समय आनेपर उतना ही द्रव्य देते हुए उसे दुःख नहीं होता । उसी प्रकार पूर्वमें स्वयं बांधे हुए पापकर्मका फल भोगनेवाले ज्ञानीको दुःख कैसा ? अतः पूर्वमें बांधे गये कर्मका उदयकाल आनेपर कौन ज्ञानी दुःखी होता है ॥१६२१-२२॥

गा०—यह दुःख मेरे पूर्वमें किये गये कर्मोंका ही फल है ऐसा ज्ञानकर दुःखको ऋण मुक्तिके समान देखो । दुःखी मत होओ ॥१६२३॥



पुण्यकदमज्ज कम्मं फलितं दोसो वा इत्थं अप्पणस्स ।  
इदि अप्पणो पओमं णच्चा मा दुक्खिदो होहि ॥१६२४॥

‘पुण्यकदमज्ज कम्मं’ पूर्वकृत मदीय कर्म, ‘फलितं’ फलितं । ‘दोसो वा एत्थं अप्पणस्स’ दोषो नैवान्यस्य इति । ‘अप्पणो पओमं’ णच्चा’ ज्ञात्वा । ‘मा दुक्खिदो होहि’ मा कृया दुःख ॥१६२४॥

जदिदा अभदपुण्वं अप्पणोसिं दुक्खमप्पणो चेष ।  
जादं हविज्ज तो णाय होज्ज दुक्खाइदुं जुचं ॥१६२५॥

‘जदिदा’ यदि तावत् । ‘दुक्खमप्येषां’ अभूतपूर्वं । ‘अप्पणो चेष’ आत्मन एव ‘जादं हविज्ज’ ‘जातं भवेत्’ ‘तो णाय होज्ज दुक्खाइदुं’ ज्ञुत्तं । ततो नाम दुःखं कर्तुं युक्तं ॥१६२५॥

सव्वेसिं सामण्णं अवस्सदायव्वय करं काले ।  
णाएण य को दाऊण णरो दुक्खादि विलवदि वा ॥१६२६॥

‘सव्वेसिं सामण्णं’ सर्वेषां भव्यानां भ्रामण्यं । ‘काले’ कर्मविनाशनकाले । ‘अवस्स दायव्वय’ अवश्यं दातव्यं । यस्मात्तस्मात् । ‘करं’ करशब्दवाच्यं ‘दाऊण’ दत्त्वा । ‘णाएण व’ न्यायेन च ‘को णरो दुक्खादि विलवदि वा’ को नरो दुःखं करोति विलपति वा ॥१६२६॥

सव्वेसिं सामण्णं करभूदमवस्सभाविकम्मफलं ।  
इण मज्ज मेत्ति णच्चा लभसु सदिं तं चिदिं कुणसु ॥१६२७॥

‘सव्वेसिं’ सर्वेषां विनियाना । ‘सामण्णं करभूदं’ भ्रामण्यं करभूतं । ‘अवस्सभाविकम्मफलं’ अवश्य-भाविकर्मफलं । ‘इणमज्जमेत्ति’ इदं भ्रामण्यं अद्य करभूतं ममेति । ‘णच्चा’ ज्ञात्वा । ‘लभसु सदिं’ स्मृतिं प्रतिपद्यस्व । ‘तं’ त्वं ‘चिदिं कुणसु’ धृतिं कुरु ॥१६२७॥

अरहंतसिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वसंघसक्खिस्स ।  
पच्चक्खाणस्स कदस्स भंजणादो वरं मरणं ॥१६२८॥

गा०—यह मेरे पूर्वकृत कर्मों का फल है । इसमें किसी दूसरेका दोष नहीं है । अतः इसे अपना ही प्रयोग जानकर दुःखी मत होओ ॥१६२४॥

गा०—हे क्षपक । यदि यह दुःख दूसरोको पहिले कभी नही हुआ और तुमको ही हुआ होता तो दुःख करना युक्त था ॥१६२५॥

गा०—कर्मों के विनाशका समय आनेपर सभी भव्य जीवोंको मुनिपद अवश्य धारण करना होता है । इसलिये इसे ‘कर’ कहा है । इस करको न्यायपूर्वक देकर कौन मनुष्य दुःखी होता है या विलाप करता है ॥१६२६॥

गा०—सभी मोक्षमार्गीयोंके लिये यह भ्रामण्य अवश्य भाविकर्मफल होनेसे करके समान देय है अर्थात् सभीको मुनिपद धारण करना होता है । आज यह भ्रामण्य मेरे लिये करके समान देय है ऐसा जानकर अपने स्वरूपका स्मरण करो और धैर्य धारण करो ॥१६२७॥

‘अरहंत सिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वसघसनिच्चस्त’ । अर्हंत., सिद्धान्त, केवलिन, तत्रस्था देवता सर्वं च संघं साक्षित्वेनोपावाय कृतस्य । ‘पच्चवक्खाणस्त भंजणादो’ प्रत्याख्यानस्य विनाशनात् । ‘बर’ शोभन ‘मरण’ प्राणपरित्याग. ॥१६२८॥

कथं मरणादशोभनता प्रत्याख्यानभगस्येत्याशकायामाचष्टे प्रबधमुत्तरं प्रत्याख्यानभजने दुष्टता निवेदयितुम्—

आसादिदा तओ होंति तेण ते अप्पमाणकरणेण ।

राया विव सक्खिकदो विसंबदतेण कज्जम्मि ॥१६२९॥

‘आसादिदा’ परिभूताः । ‘तओ’ तत पश्चात् । प्रत्याख्यानग्रहणोत्तरकाल । तेन प्रत्याख्यानभग-कारिणा । ते अर्हदादय । ‘अप्पमाणकरणेण’ अप्रमाणकरणेन । तत्साक्षिकं कर्म प्रतिज्ञात विनाशयता ते अप्रमाणोक्ता भवन्ति । अप्रमाणकरणेन च ते परिभूता भवन्ति । ‘राजा विव सक्खिकदो’ राजेव साक्षीकृत । ‘कज्जम्मि विसंबदतेण’ कार्ये विसंबदता । एतदुक्त भवति राजसाक्षिक प्रतिज्ञात कर्म चान्यथा कुर्वता राजा यथा परिभूतो भवति एवमर्हदादय इति ॥१६२९॥

जइ दे कदा पमाणं अरहंतादी हवेज्ज खवएण ।

तस्सक्खिदं कयं सो पच्चवक्खाणं ण भंजिज्ज ॥१६३०॥

‘जइ दे कदा पमाणं’ यदि ते कृता. प्रमाण । ‘अरहंतादी’ अर्हदादय । ‘भवेज्ज’ भवेयु । ‘खवएण’ क्षपकेण । ‘तस्सक्खिदं कयं पच्चवक्खाणं’ तत्साक्षिक कृत प्रत्याख्यान । ‘सो ण भंजिज्ज’ क्षपको न नाशयेत् ॥१६३०॥

सक्खिकदरायहीलणभावहइ णरस्स जइ महादोसं ।

तइ जिणवरदिआसादणा वि दोसं महं कुणदि ॥१६३१॥

गा०—अरहन्त, सिद्ध, केवली, उस स्थानके वासी देवता और सर्व संघको साक्षी बनाकर ग्रहण किये त्यागको तोडनेसे मरण श्रेष्ठ है ॥१६२८॥

त्यागका भंग करना मरनेसे भी बुरा कैसे है ऐसी शंका होनेपर त्यागके भंगकी बुराई कहते हैं—

गा०—जैसे राजाको साक्षी बनाकर किये गये कार्यमे विसंवाद करनेवाला पुरुष राजाकी भवज्ञा करनेका दोषी होता है । वैसे ही अरहन्त आदि पचपरमेष्ठीकी साक्षीपूर्वक स्वीकार किये गये त्यागको तोडनेवाला मुनि अरहन्त आदिको भी प्रमाण न माननेसे उनकी अवज्ञा करनेका दोषी होता है ॥१६२९॥

गा०—यदि हे क्षपक ! तुम अरहन्त आदिको प्रमाण मानते हो तो तुम्हे उनकी साक्षीपूर्वक किये गये त्यागको भंग नहीं करना चाहिये ॥६३०॥

गा०—जैसे राजाको साक्षी बनाकर उनकी अवज्ञा करना मनुष्यको महादोषका भागी बनाता है वैसे ही अर्हन्त आदिकी आसादना भी महादोषको करनेवाली है ॥१६३१॥

'सखीकवरायहीलभ' साक्षीकृतराजपरिभव । 'आबहदि नरस्स अह महादोस' मानयति यथा नरस्स महान्तं दोषं । 'सह जिणवरादि आसादणा' तथा अहंवाद्यासादनापि । 'दोसं महं कुणवि' दोषं महान्तं करोति ॥१६३१॥

तं महान्तं दोषं कथयति—

तित्थयरपवयणसुदे आइरिए गणहरे महद्धीए ।

एदे आसादंतो पावइ पारंचियं ठाणं ॥१६३२॥

'तित्थयरपवयणसुदे' तीर्थकरान्, रत्नत्रयं, आगमं । 'आइरिए' आचार्यान् । 'गणहरे' गणधरान् । 'महद्धीए' महद्विकान् । 'एदे' एतान् । 'आसादंतो' असादयन् । 'पावइ' प्राप्नोति । 'पारंचियं ठाणं' पारंचिय-नामधेय प्रायश्चित्तस्थान ॥१६३२॥

सखीकयरायासादणे हु दोसं करे हु एवभवे ।

भवकोडीसु य दोसं जिणादि आसादणं कुणइ ॥१६३३॥

साक्षीकृतराजावमानजाताहोषादहंदाद्यवमानवक्तिदोषो महानिति दर्शयति । स्पष्टार्थां गाथा ॥१६३३॥

'मोक्खाभिलासिणो संजदस्स णिघणगमणं पि होइ वरं ।

पच्चक्खाणं भंजंतस्स ण वरमरहदादिसक्खिकदा ॥१६३४॥

णिघणगमणमेयभवे णासो ण पुणो पुरिल्लज्जमेसु ।

णासं वयभंगो पुण कुणइ भवसएसु बहुएसु ॥१६३५॥

ण तडा दोसं पावइ पच्चक्खाणमकरिस् कालगदो ।

जह भंजणा हु पावदि पच्चक्खाणं महादोसं ॥१६३६॥

उस महान दोषको कहते है—

गा०—तीर्थकूर, रत्नत्रय, आगम, आचार्य और महान् ऋद्धिधारियोंकी आसादना करने वाला पारंचिक नामक प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥१६३२॥

गा०—साक्षी बनाये गये राजाकी आसादना करनेपर तो एक ही भवमें दोषका भागी होता है । किन्तु अरहन्त आदिकी आसादना करनेपर करोड़ों भवोंमें दोषका भागी होता है । अतः साक्षी बनाये गये राजाकी अवज्ञाके दोषसे अहन्त आदिकी अवज्ञासे होनेवाला दोष महान होता है ॥१६३३॥

मोक्षके अभिलाषी संयमीका मरना भी श्रेष्ठ होता है किन्तु अरहन्त आदिको साक्षी करके किये गये त्यागका भंग करना श्रेष्ठ नहीं है । मरणको प्राप्त होनेपर तो एक भवका ही विनाश होता है, आगेके भवोंका विनाश नहीं होता । किन्तु व्रतका भंग बहुतेसे भवोंमें विनाशकारी होता है ॥१६३४-३५॥

१. एते द्वे गद्ये टीकाकारो नेच्छति ।

'ण तद्वा दोषं वाचमि' न तथा दोषं प्राप्नोति । 'पञ्चव्याणमकरित्सु' प्रत्याख्यानमकृत्वा । काल-  
मदो मृतः । 'जह भंजंतो वाचमि' यथा प्रत्याख्यानभंगान्महादोष प्राप्नोति ॥१६३४॥१६३५॥१६३६॥

प्रत्याख्याताहारसेवा हि प्रत्याख्यानभंग स चाहार प्रार्थ्यमानो हिंसादिदोषानखिलानानयतीति  
निगदति—

**आहारत्थं हिंसइ भणइ असत्त्वं करेइ तेणेकक ।**

**रूसइ लुम्भइ मायं करेइ परिगिणहदि य संगे ॥१६३७॥**

'आहारत्थं हिंसइ' आहारार्थं षड्जीवनिकायाग्निहनस्ति । असत्य भणति, स्तंभ्य करोति । रुष्यत्य-  
लाम्भे, लुम्भयति लाम्भे, मायां करोति, परिगृह्णाति संगान् ॥१६३७॥

**होइ णरो णिल्लज्जो पयइइ तवणाणदंसणचरित्तं ।**

**आमिसकलिणा ठइओ छायां मइलेइ य कुलस्स ॥१६३८॥**

'होइ णरो णिल्लज्जो' निर्लज्जो भवति नर आहारार्थं परयाञ्चाकरणात् । प्रजहाति च तपो, ज्ञान  
दर्शनं चारित्र्य च । आमिसाख्येन कलिनावष्टम्भ. छाया कुलस्य मलिनयति परोच्छटभोजनदिना ॥१६३८॥

**णासदि बुद्धी जिम्भावसस्स मंदा वि होदि तिक्खा वि ।**

**जो णिगसिलेसलम्भो व होइ पुरिसो अणप्पवसो ॥१६३९॥**

'णासदि बुद्धी' बुद्धिर्नश्यति आहारलम्पटतया युक्तायुक्तविवेकाकरणात् । कस्य ? जिह्वावशस्य  
तीक्ष्णा पि सती पूर्वं बुद्धि कुठा भवति । रसरोगमलोपप्लुता अर्थयाथात्म्य न पश्यतीति पारसीकक्लेशलग्नलिङ्ग  
इव भवति पुरुषोऽनात्मवश ॥१६३९॥

गा०—बिना त्याग ग्रहण क्रिये मरनेपर इतना दोष नहीं होता जितना महादोष त्याग  
लेकर उसका भग करनेपर होता है ॥१६३६॥

त्यागे हुए आहारको ग्रहण करना ब्रतभग है । वह आहार हिंसा आदि सब दोषोको  
लानेवाला है यह कहते हैं—

गा०—आहारके लिये मनुष्य छहकायके जीवोका घात करता है । असत्य बोलता है,  
चोरी करता है । आहार न मिलनेपर क्रोध करता है । मिलनेपर उसका लोभ करना है । माया-  
चार करता है । घर पत्नी आदि परिग्रह स्वीकार करता है ॥१६३७॥

गा०—आहारके लिये मनुष्य निर्लज्ज होता है क्योंकि दूसरोसे माँगता है । अपना तप,  
ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य तक त्याग देता है । आहाररूपी कलिके द्वारा ग्रस्त होकर अपने कुल  
की छायाको मलिन करता है दूसरोका झूठा भोजन खाता है ॥१६३८॥

गा०—जो जिह्वाके बशीभूत है उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है क्योंकि भोजनका लम्पटो  
होनेसे वह भक्ष्य अभक्ष्यका विचार नहीं करता । यदि उसकी बुद्धि तीक्ष्ण होती है तो वह मन्द  
हो जाती है क्योंकि रसोंमें रागरूपी मलसे लिस हौंनैसे बुद्धि भक्ष्य वस्तुके यथार्थ स्वरूपको नहीं

धीरत्तणमाहृष्यं कदम्बदं विषयवधम्मसद्धाजो ।

पयइइ कुणइ अणत्थं गलल्लगो मच्छओ वेव ॥१६४०॥

‘धीरत्सं’ धीरत्वं, माहात्म्यं, कृतज्ञता, विनय, धर्मश्रद्धां च प्रजहाति । करोत्यनर्थश्रद्धां च । प्रजहाति करोत्यनर्थमात्मनः । गलावलग्नमस्त्य इव ॥१६४०॥

आहारत्थं पुग्सो माणी कुलजादि पण्हियकित्ती वि ।

मुंजति अमोज्जाए कुणइ कम्मं अकिच्चं खु ॥१६४१॥

‘आहारत्थं’—आहारार्थं, मुंजते अभोज्यानि पुणो मानी कुलीनः, प्रथितकीतिरपि अकरणीयं करोति ॥१६४१॥

आहारत्थं मज्जारिसुंसुमारी अही मणुस्सी वि ।

दुम्भिकखादिसु खायति पुत्तभंडाणि दइयाणि ॥१६४२॥

इहपरलोइयदुक्खाणि आवहंते णरस्स जे दोसा ।

ते दोसे कुणइ णरो सव्वे आहारगिद्धीए ॥१६४३॥

स्पष्टम् उत्तरगाथाद्वयम् ॥१६४२॥१६४३॥

आहारलोलुपतया स्वयंभूरमणसमुद्रे तिमितिमिगिलाद्यो मत्स्या महाकाया योजनसहस्रायामाः पण्मासं विवृतवदनाः स्वपन्ति । निद्राविमोक्षानन्तरं पिहितामनाः स्वजठरप्रधिष्टमत्स्यादीनाहारीकृत्य अविषिष्टानामना-मधेयं नरकं प्रविशति । तत्कर्णावलग्नमलाहारा शालिसिक्खमात्रतनुत्वाच्च शालिसिक्खसंज्ञकाः यदीदृशमस्माकं शरीरं भवेत् किं निःसृतुं एकोऽपि जन्तुर्लभते ? सर्वान्भक्षयामीति कृतमनःप्रणिधानास्ते तमेवावधिस्थानं प्रविशन्ति । इति कथयति गाथया—

देख पाती । तथा आहारका लम्पटी मनुष्य विषय सेवन करते हुए मनुष्यकी तरह अपने बशमें नहीं रहता ॥१६३९॥

गा०—वह धीरता, माहात्म्य, कृतज्ञता, विनय और धर्मश्रद्धाको भी आहारके पीछे छोड़ देता है और गलेमें फँसी मछलीकी तरह अनर्थ करता है ॥१६४०॥

गा०—मानी, कुलीन और प्रख्यातकीर्ति वाला भी आहारके लिये अभक्ष्यका भक्षण करता है और न करने योग्य कर्म करता है ॥१६४१॥

गा०—भूखसे पीड़ित होनेपर बिल्ली, मच्छ, सर्पिणि और दुम्भिक्ष आदिमें मनुष्य भी अपने प्रिय पुत्रोंको खा जाते हैं ॥१६४२॥

गा०—मनुष्यके जो दोष इस लोक और परलोकमें दुःखदायी हैं वे सब दोष मनुष्य आहारकी लम्पटताके कारण ही करता है ॥१६४३॥

आगे कहते हैं—स्वयंभूरमण समुद्रमें तिमितिमिगल आदि महाकाय वाले महामच्छ जो एक हजार योजन लम्बे होते हैं, छह मास तक मुह खोले सोते रहते हैं । जागने पर अपने मुखमें घुसे मच्छों आदिको खाकर मरकर सातवें नरकमें जाते हैं । उसके कानमें एक शालिसिक्ख नामक मत्स्य रहता है जो उसके कानका मेल खाता है । उसका शरीर चाबलके बराबर होता

अवधिद्वाणं गिरयं मच्छा आहारहेतु गच्छति ।

तत्केवाहारभिलासेण मदो सालिसिच्छो वि ॥१६४४॥

अवधिद्वाणमित्यादिका गाथा ॥१६४४॥

चक्रघरो वि सुभूमो फलरसगिद्धीए वंचिओ संतो ।

णट्टो समुद्रमज्जे सपरिजणो तो गओ गिरयं ॥१६४५॥

‘चक्रघरो वि सुभूमो’ नाम चक्रलाछनं फलरसगुद्धया वचित समुद्रमध्ये विनष्ट. सपरिजन. । पश्चाच्च नरकं गत ॥१६४५॥

आहारत्थं काउण पावकम्माणि तं परिगओ सि ।

संसारमणादीयं दुक्खसहस्साणि पावंतो ॥१६४६॥

आहारार्थं पापानि कर्माणि कृत्वा संसारमनाविकं प्रविष्टो भवान्दुःखसहस्राणि वेदयमानः ॥१६४६॥

पुणरिव तहेव संसारं किं भमिदूणमिच्छसि अपणंतं ।

जं णाम ण वोच्छिज्जइ अज्जवि आहारसण्णा ते ॥१६४७॥

‘पुणरिव’ पुनरपि । तथैव संसारमनंतमटितु किमिच्छसि ? यस्मादद्याप्याहारे तृष्णा न नश्यति ॥१६४७॥

जीवस्स णत्थि तित्ती चिरंपि भुंजंतस्य आहारं ।

तित्तीए विणा चित्तं उव्वूरं उद्धुदं होइ ॥१६४८॥

‘जीवस्स णत्थि तित्ती’ जीवस्य नास्ति तृप्ति चिरमप्याहार भुञ्जानस्य । तृप्त्या च विना चित्त निततरामुच्यते भवति ॥१६४८॥

है इसलिये उसे सालिसिक्थ कहते है । वह कानमे बैठा हुआ मनमे, सोचा करता है कि यदि मेरा शरीर ऐसा होता तो क्या एक भी जन्तु बचकर जा सकता मै सबको खा जाता । इसी संकल्पसे वह भी मरकर सातवें नरक जाता है—

गा०—महामत्स्य आहारके ही कारण सातवे नरकमे मरकर जाता है और उसी महामत्स्य-के कानमें रहनेवाला सालिसिक्थ मत्स्य भी आहारके संकल्पसे मरकर सातवे नरक जाता है ॥१६४४॥

गा०—सुभौम नामक चक्रवर्ती भी एक देवके द्वारा लाये गये फलके रसकी लम्पटताके कारण ठगा जाकर परिवारके साथ समुद्रमे डूब गया और मरकर नरकमे गया ॥१६४५॥

गा०—हे क्षपक ! पूर्वजन्मोंमें आहारके ही लिये पाप कर्म करके तुम हजारों दुःख भोगते हुए अनादि संसारमें प्रविष्ट हुए ॥१६४६॥

अब क्या पुनः अनन्त संसारमें भ्रमण करनेकी इच्छा है जो अभी भी तुम्हारी आहार संज्ञा नष्ट नहीं होती ॥१६४७॥

गा०—चिरकाल तक आहार खाकर भी जीवकी तृप्ति नहीं होती । और तृप्तिके बिना चित्त अत्यन्त व्याकुल रहता है ॥१६४८॥

जह इंधणेहिं अग्नी जह य समुद्रो जदीसहस्सेहिं ।  
आहारेण ण सक्को तह तिप्पेदुं इमो जीवो ॥१६४९॥

‘जह इंधणेहिं अग्नी’ यथेन्धनेरग्निर्नदीसहस्रैरक्षिस्तर्पयितुमशक्यस्तथाहारेण जीवः ॥१६४९॥

देविंदचक्कवट्टी य वासुदेवा य भोगभूमा य ।  
आहारेण ण तित्ता तिप्पदी कह भोगण अण्णो ॥१६५०॥

‘देविंदचक्कवट्टी य’ देवेन्द्रा लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षात् आत्मीयतनुतेजोनिमित्तेन आहारेण, चक्रवर्तिनोऽपि षष्ट्यधिकत्रिंशत्सूपकारैर्वर्षमाश्रेणैकदिनाहारं सस्करणोद्यतौ ढोकितेन तथाऽर्धचक्रवर्तिनोऽपि । भोगभूमिजा भोजनाङ्गकल्पतरुप्रभवेन न तृप्ता । कथमन्यो जनस्तृप्यति ॥१६५०॥

उद्धुदमणस्स ण रदी विणा रदीए कुदो ह्वदि पीदी ।  
पीदीए विणा ण सुहं उद्धुदचित्तस्स घण्णस्स ॥१६५१॥

‘उद्धुदमणस्स’ इतो भद्रमतो भद्रमस्माच्चेदमिति परिप्लवमानचेतसो न रतिः, क्व च तथा विना प्रीति । प्रीत्या च विना न सुख चलचित्तस्य तत्तदाहारलम्पटस्य ॥१६५१॥

सच्चाहारविधानेहिं तुमे ते सच्चुग्गला बहुसो ।  
आहारिदा अदीदे काले तित्तिं च सि ण पचो ॥१६५२॥

‘सच्चाहारविधानेहिं’ अशनपानखाद्यलेह्यविकल्पैस्त्वया सर्वे पुद्गला बहुश आहारिता अतीते काले तृप्ति च न च प्राप्तो भवान् ॥१६५२॥

गा०—जैसे इंधनसे आगकी और हजारो नदियोसे समुद्रकी तृप्ति नहीं होती वैसे ही यह जीव आहारसे तृप्त नहीं हो सकता ॥१६४९॥

गा०—टी०—देवेन्द्रोंके लाभान्तरायके क्षयोपशमका प्रकर्ष होनेसे अपने शरीरके तेजके निमित्तसे आहार प्राप्त होता है । भोजनकी इच्छा होते ही कण्ठसे अमृत झरता है । चक्रवर्तीके भी तीन सौ साठ रसोइया होते हैं और वे सब मिलकर एक वर्षका आहार एक दिनमे बनाते हैं । अर्धचक्रवर्तीकी भी ऐसी स्थिति है । भोगभूमिके जीवोंको भोजनाग जातिके कल्पवृक्षोंसे यथेच्छ आहार प्राप्त होता है । फिर भी इन सबकी तृप्ति नहीं होती । तब साधारण मनुष्य भोजन से कैसे तृप्त हो सकता है ॥१६५०॥

गा०—टी०—यह आहार उत्तम है । इससे भी यह आहार उत्तम है इस प्रकारसे जिसका चित्त चंचल रहता है उसके चित्तमे अनुराग नहीं होता । अनुरागके बिना प्रीति नहीं होती । और प्रीतिके बिना सुख नहीं होता । इस प्रकार विभिन्न आहारोंके लम्पटी चंचलचित्त मनुष्यको आहारसे सुख नहीं होता ॥१६५१॥

गा०—हे क्षपक ! अतीतकालमें तुमने अन्न, पान, खाद्य और लेह्यके भेदसे चार प्रकारका आहार करके सब पुद्गलोंको बहुत बार खाया है फिर भी तुम्हारी तृप्ति नहीं हुई ॥१६५२॥

किं पुन कंठप्याणो आहारेदूण अज्जमाहारं ।

लुमिहिंसि तित्ति वाऊणुदधि हिमलेहणेणव ॥१६५३॥

‘किं पुन’ किं पुन. कंठप्राणोऽप्याहार गृहीत्वा प्रीति लप्स्यसे । पीत्वोर्वाध न तृप्तो हि यथा हिमलेहनेन ॥१६५३॥

को एत्थ विभओ दे बहुसो आहारभुत्तपुञ्चम्मि ।

जुंज्जेज्ज हु अभिलासो अभुत्तपुञ्चम्मि आहारे ॥१६५४॥

‘को एत्थ विभओ’ कोऽत्र विस्मयः । आहारे बहुशो भक्तपूर्व । युज्यते आहारार्थे अभिलाषो भुक्तपूर्व ॥१६५४॥

आवादमेत्तसोक्खो आहारणो हु सुखमत्थ बहु अत्थि ।

दुःखं चेत्य बहुं आहट्टंतस्स गिद्धीए ॥१६५५॥

‘आवादमित्तसोक्खो’ जिह्वाग्रपातमात्रसुख आहारः । न सुखमत्र बह्वस्ति । दुःखमेवात्र बहु ‘अभिलषिताहारगृह्या’ ॥१६५५॥

सुखस्याल्पताया कारणमाचष्टे—

जिभामूलं बोलेइ वेगदो वरहओव्व आहारो ।

तत्थेव रसं जाणइ ण य परदो ण वि य से पुरदो ॥१६५६॥

जिह्वाया मूलं वेगेनातिक्रामत्याहार. जात्यश्व इव । जिह्वामात्र एव रसं वेत्ति जीवो न आहारानुपरितः, न च पुरतोऽग्रत । अल्पा च जिह्वा ॥१६५६॥

गा०—अब तो तुम्हारे प्राण कंठगत है अर्थात् तुम्हारी मृत्यु निकट है । जैसे समुद्रको पीकर जो तृप्त नहीं हुआ वह ओसको चाटनेसे तृप्त नहीं हो सकता । उसी प्रकार जब तुम समस्त पुद्गलोको खाकर भी तृप्त नहीं हुए तब मरते समय आज भोजनसे कैसे तृप्त हो सकते हो ॥१६५३॥

गा०—जो आहार तुमने पहले अनेक बार खाया है उसमें तुम्हारी उत्सुकता कैसी ? जो आहार पहले कभी नहीं खाया है उसमें अभिलाषा होना तो उचित है । जिसे तुम अनेक बार भोग चुके हो उसमें अभिलाषा होना ही आश्चर्यकारो है ॥१६५४॥

गा०—आहारमें बहुत सुख नहीं है केवल जिह्वाके अग्रभागमें रखनेमात्र ही सुख है । किन्तु इच्छितआहारकी लिप्सासे जो दुःख होता है वह दुःख ही बहुत है ॥१६५५॥

आहारमें स्वल्पसुख होनेका कारण कहते हैं—

गा०-टी०—जैसे उत्तम घोड़ा बड़ा तेज दौडता है वैसे ही आहार भी जिह्वाके मूलको बड़े वेगसे पार करता है अर्थात् जिह्वापर ग्रास आते ही वह झट पेटमें चला जाता है । बस जिह्वापर रहते हुए ही जीवको आहारके स्वादकी प्रतीति होती है, न पहले होती है और न



अच्छिन्निमिसेणमेत्तो आहारसुहस्स सो ह्वइ कालो ।  
गिद्धीए गिल्लइ वेमं गिद्धीए विणा ण होइ सुइ ॥१६५७॥

‘अच्छिन्निमिसेणमिस्तो’ अक्षिनिमेषणमात्रं कालः । आहाररससेवाजनितसुखस्य । गृद्ध्या वेगेन निगिरति । यतो गृद्ध्या च विना नास्तीन्द्रियसुखं ॥१६५७॥

दुक्खं गिद्धीघत्थस्साइट्टंतस्स होइ बहुमं च ।  
चिरमाहट्टियदुग्गायचेइस्स व अण्णगिद्धीए ॥१६५८॥

‘दुक्खं गिद्धीघत्थस्स’ दुःखं महद्भ्रूवति लम्पटतया ग्रस्तस्याभिलषत् । ‘चिरमाहट्टियदुग्गायचेइस्स व अण्णगिद्धीए’ अन्नगृद्ध्या चिरं व्याकुलस्य दरिद्रसबन्धिनो दासेरस्येव ॥१६५८॥

को णाम अप्पसुक्खस्स कारणं बहुसुइस्स चुक्केज्ज ।  
चुक्कइ हु संकल्लिसेण मुणी सग्गापवग्माणं ॥१६५९॥

‘को णाम अप्पसुक्खस्स कारणं’ को नामाल्पसुखनिमित्तं महतो निर्वृत्तिसुखात्प्रव्यवते च मुनि संकलेशेन स्वर्गापवर्गसुखाम्याम् ॥१६५९॥

महुलित्तं असिघारं लेइइ भुंजइ य सो सविमण्णं ।  
जो मरणदेसयाले पच्छेज्ज अकप्पियाहारं ॥१६६०॥

‘महुलित्तं’ मधुना लिप्तामसिघारा आस्वादयति । सविषमर्शनं भुङ्क्ते यो मरणदेशकाले अयोग्या-  
हारप्रार्थना करोति ॥१६६०॥

वादमे । अर्थात् जब आहार जीभपर नहीं आया और जब आकर गलेमें उतरा तब स्वादकी अनुभूति नहीं होती ॥१६५६॥

गा०—इस प्रकार आहारसे होनेवाले सुखका काल एक बार पलकें बन्द करके खोलनेमें जितना समय लगता है उतना ही है अर्थात् क्षणमात्र है । आहारकी गृद्धि होनेसे आहार वेगसे निगला जाता है और गृद्धिके बिना सुख नहीं होता ॥१६५७॥

गा०—जो आहारविषयक लम्पटताके साथ आहारकी आकांक्षा करता है उसे बहुत दुःख उठाना पड़ता है । जैसे अन्नको गृद्धिसे चिरकालसे व्याकुल दरिद्र दासको कष्ट होता है वैसे ही कष्ट आहारकी लम्पटतावालेको होता है ॥१६५८॥

गा०—टी०—कौन बुद्धिमान पुरुष थोड़ेसे सुखके लिये बहुत सुखसे वंचित होना चाहेगा । अर्थात् इस अन्तिम अवस्थामें आहारमें आसक्त होनेसे तुम बहुत सुखसे वंचित हो जाओगे । मुनि संकलेश परिणाम करनेसे स्वर्ग और मोक्षके सुखसे वंचित हो जाता है—उसे स्वर्ग या मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ॥१६५९॥

गा०—टी०—जो क्षणक मरते समय अयोग्य आहारकी प्रार्थना करता है वह मधुसे लिप्त तलवारकी धारको चाटता है और बिष सहित अन्नको खाता है । अर्थात् जैसे मधुसे लिप्त तलवारकी धारको चाटनेसे तत्काल सुख होता है किन्तु जीभ कट जाती है वैसे ही मरते समय

असिधारं व विसं वा दोसं पुरिसस्स कुणइ एयभवे ।  
कुणइ दु सुणिणो दोसं अकप्पसेवा भवसएसु ॥१६६१॥

‘असिधारं व’ असिधारा वा विषं वा पुरुषस्य दोषमेकस्मिन्नेव भवे करोति । अयोग्यसेवा भवद्यतेषु मुनेर्दोषं करोति ॥१६६१॥

जावंत किंचि दुक्खं सारीरं माणसं च संसारे ।  
पत्तो अणतस्सुत्त कायस्स ममत्तिदोसेण ॥१६६२॥

‘जावंत किंचि दुक्खं’ यावत्किंचिदुक्खं शारीर मानस वा संसारे त्वमनतवार प्राप्तवान् । तत्सर्वं शरीरममतादोषेणैव ॥१६६२॥

इण्हि पि जदि ममत्तिं कुणसि सरीरे तहेव ताणि तुमं ।  
दुक्खाणि संसरंतो पाविहसि अणतयं कालं ॥१६६३॥

‘इण्हि’ पि इदानीमपि यदि शरीरे करोषि ममता तथैव तानि दुःखानि चतुर्गतिषु परावर्तमानोऽनन्त-कालं प्राप्स्यसि ॥१६६३॥

णत्थि भयं मरणसमं जम्मणसमयं ण विज्जदे दुःखं ।  
जम्मणमरणदं कं छिण्ण ममत्तिं सरीरादो ॥१६६४॥

‘णत्थि भयं मरणसमं’ मरणसदृश भय नास्ति । क्रूयानिषु जन्मसमान दुःखं न विद्यते । जन्ममर-णात्कं छिन्नं शरीरममता ॥१६६४॥

अण्णं इमं सरीरं अण्णो जीवोत्ति णिच्छिदमदीओ ।  
दुक्खभयकिलेसयारी मा हु ममत्तिं कुण सरीरे ॥१६६५॥

यदि अर्हन्त आदिकी साक्षीपूर्वक त्यागे हुए आहारकी अभिलाषा करता है और उसे खाता है तो तत्काल उसे अपनी इच्छापूर्ति होनेसे मुख प्रतीत होगा । किन्तु उसकी सब आराधना गल जायेगी ॥१६६५॥

गा०—शहदसे लिप्त तलवार और विषमिश्रित अन्न तो पुरुषका एक भवमे ही अनर्थ करते है । किन्तु मुनिका अयोग्य आहारका सेवन सकडो भवोमे अनर्थकारी होता है ॥१६६१॥

गा०—हे क्षपक । इस संसारमे तुमने जो कुछ भी शारीरिक और मानसिक दुःख अनन्त वार भोगा है वह सब शरीरमे ममत्तारूप दोषके कारण ही भोगा है । ॥१६६२॥

गा०—इस समय भी यदि तुम शरीरमे ममता करते हो तो उसी प्रकार चारों गतियोंमे भ्रमण करते हुए अनन्त कालतक दुःख भोगोगे ॥१६६३॥

गा०—मरणके समान भय नहीं है और जन्मके समान दुःख नहीं है । तथा जन्म मरण रोगका कारण शरीरसे ममत्व है उसको तुम दूर करो ॥१६६४॥

‘अर्ण्वं इमं शरीरं’ अर्ण्वविदं शरीरं । अर्ण्वो अन्तुरिति निश्चितमसिद्धुःसंक्लेशासांवादनोद्यता मा कृथाः शरीरे ममताम् ॥१६६५॥

सर्वं अधियासंतो उवसग्गविधिं परीसहविधिं च ।

णिस्संगदाए सञ्जिह असंकिल्लेसेण तं मोहं ॥१६६६॥

‘सर्वं उवसग्गविधिं’ सर्वं उपसर्गविकल्पं परीषहविकल्पं च सहमानो मोहं भवास्तनूकुह । ‘णिस्संगतया’ असक्लेशेन च ॥१६६६॥

ण वि कारणं तणादोसंथारो ण वि य संघसमवाओ ।

साधुस्स संकिल्लेसंतस्स य मरणावसाणम्मि ॥१६६७॥

‘ण वि कारणं तणादो’ नैव कारणं तुणादिसस्तरः सल्लेखनाया, नापि सघसमुदायः मरणावसाने सक्लेशयतः साधोः ॥१६६७॥

जह वाणियगा सागरजलम्मि णावाहिं रयणपुण्णाहिं ।

पट्टणमासण्णा वि हु पमादमूढा वि वज्जंति ॥१६६८॥

‘जह वाणियगा’ यथा वणिजो रत्नसपूर्णाभिर्नौभिः सह विनश्यन्ति । समुद्रजलमध्ये प्रमादेन मूढा पत्तनान्तिकमागता अपि ॥१६६८॥

सल्लेहणा विसुद्धा केई तह चैव विविहसंगोहिं ।

संथारे विहरंता वि संकिल्लिद्धा विवज्जंति ॥१६६९॥

‘सल्लेहणा विसुद्धा वि’ शरीरसल्लेखनाभावान् । सल्लेखनया विशुद्धा अपि सतः । पूर्वं केचित् विविध

गा०—यह शरीर भिन्न है और जीव भिन्न है ऐसा निश्चय करके दुःख भय और क्लेशको करनेवाली ममता शरीरमे मत कर अर्थात् शरीरसे ममत्वको त्याग, वही सब दुःखोंका मूल है ॥१६६५॥

गा०—सब उपसर्गोंके प्रकारोंको और सब परीषहके प्रकारोंको सहन करते हुए तुम निःसंगत्वभावनासे सक्लेश परिणामोंके बिना मोहको कृश करो ॥१६६६॥

गा०—टी०—यदि मरते समय साधुके परिणाम संक्लेशरूप होते हैं तो तृण आदिका संधरा या वैयावृत्य करनेवाले साधुका जमघट सल्लेखनाका कारण नहीं हो सकता । अर्थात् तुणादिके संधरा और वैयावृत्य करनेवाले साधु तो सल्लेखनाके बाह्य कारण हैं अन्तरंग कारण तो क्षपकका आर्त रौद्र रहित परिणाम ही है । उसके अभावमें केवल बाह्य कारणोंसे सल्लेखना नहीं हो सकती ॥१६६७॥

गा०—जैसे वणिक् रत्नसे भरी नावोंके साथ नगरके समीप तक आकर भी प्रमादवशा मूढ होकर सागरके जलमें डूब जाते हैं ॥१६६८॥

गा०—टी०—उसी प्रकार पहले विशुद्ध भावसे शरीरकी सल्लेखना करनेवाले भी कुछ क्षपक रागद्वेषादि भावरूप विविध परिग्रहोंके साथ संधरेपर आरुद्ध होते हुए भी संक्लेश परिणामों

सगेहि विचित्रै रागद्वेषादिभावपरिग्रहैः सह । 'संधारे विहरता वि' संस्तरे प्रवर्तमाना अपि । 'संकिल्बिटा विबल्लंति' संकिल्बितपरिणता विनश्यन्ति ॥१६६९॥

**सल्लेहणापरिस्तममिदं कथं दुक्करं च सामग्नं ।**

**मा अप्पसोक्खहेउं तिलोमसारं वि णासेइ ॥१६७०॥**

'सल्लेहणापरिस्तममिदं' शरीरसल्लेखनायां क्रियमाणया अनसनादितपसा त्रिविधाहारत्यागेन, यावज्जीवं वा पानपरिहारेण जातं परिश्रममिदं । 'दुक्करं च कथं सामग्नं' दुष्करं कृतं च श्रामग्नं । शिरकालं त्रिलोकसारं अतिशयितस्वर्गापवर्गसुखदानात् । 'अप्पसुक्खहेउं' अल्पाहारसेवाजनितसुखनिमित्तं । 'मा विणसेहि' नैव विनाशाय ॥१६७०॥

**धीरपुरिसपण्णत्तं सप्पुरिसण्णिसेवियं उवणमित्ता ।**

**धण्णा णिरावयक्खा संधारगया णिसज्जति ॥१६७१॥**

'धीरपुरिसपण्णत्तं' उपसर्गाणां परिषहाणां चोपनिपातं अविचलधृतयो ये धीरास्तैरुपादिष्टं तत्सर्वं । 'सप्पुरिसण्णिसेवियं' सत्पुरुषनिषेवितं मार्गं 'उवणमित्ता' आश्रित्य । 'धण्णा' धन्या पुण्यवतः । 'णिरावयक्खा' निरपेक्षा परित्यक्तादानाः । 'संधारगया' संस्तराख्या । 'णिसज्जति' शेरते ॥१६७१॥

**तम्हा कलेवरकुडी पव्वोढव्वत्ति णिम्ममो दुक्खं ।**

**कम्मफलमुवेक्खंतो विसहसु णिव्वेदणो चेव ॥१६७२॥**

'तम्हा' तस्मात् । 'कलेवरकुडी' शरीरकुटी । 'पव्वोढव्वत्ति' परित्याज्येति मत्वा । 'णिम्ममो' शरीरे ममत्तारहितो । 'दुक्खं विसहसु' दुःखं विसहस्व । 'कम्मफलमुवेक्खंतो' कर्मफलमुपेक्षमाणो । 'णिव्वेदणो चेव' निर्वेदनमिव ॥१६७२॥

**इय पण्णविज्जमाणो सो पुव्वं जायसंकिलेसादो ।**

**विणियत्ततो दुक्खं पस्सइ परदेहदुक्खं वा ॥१६७३॥**

के कारण विनाशको प्राप्त होते हैं । अर्थात् प्रथम तो उनकी सल्लेखना ठीक रहती है । पीछे संक्लेश परिणाम होनेसे संथरेपर रहते हुए भी सल्लेखनासे भ्रष्ट हो जाते हैं ॥१६६९॥

गा०-टी०-हे क्षपक ! अनशन आदि तपके द्वारा तथा तीन प्रकारके आहार और जीवन पर्यन्तके लिये पानका त्याग करके शरीरको कृश करनेमें तुमने जो परिश्रम किया है और यह अत्यन्त कठिन मुनिपद धारण किया है और इन सबसे तुम्हें जो स्वर्ग और मोक्षका सातिशय सुख मिलनेवाला है, इन सबको आहार सेवनसे होनेवाले थोड़ेसे सुखके लिये नष्ट मत करो ॥१६७०॥

गा०-उपसर्ग और परीषहोके आनेपर भी जो विचलित नहीं होते उन धीर पुरुषोंके द्वारा कहे गये और श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा सेवित इस मार्गको अपनाकर पुण्यशाली क्षपक, त्याग और ग्रहणसे निरपेक्ष होकर संस्तरपर आरूढ होकर विशुद्ध होते हैं ॥१६७१॥

गा०-अतः यह शरीररूपी कुटिया त्यागने योग्य है ऐसा मानकर शरीरसे ममत्त्व मत करो । तथा कर्मफलकी उपेक्षा करते हुए दुःखको इस प्रकार सहो मानो दुःख है ही नहीं ॥१६७२॥

'इय' एवं । 'कवचविष्णुभाष्यो' प्रज्ञाप्यमानः । 'स्त्री पुष्पं आदत्तकिरौसामो' पूर्व आदत्तकलेशात् । 'विनि-  
यसंतो' विनिवस्यमानः । 'दुःखं पस्तसि' दुःखं पश्यति । किमिव ? 'परवैतुक्क' वा' परशरीरमतमिव  
दुःखं ॥१६७३॥

रायादिमहद्द्वीयागमनपओणेण चा त्ति माणिस्स ।

माणजणणेण कवयं कायव्वं तस्स खवयस्स ॥१६७४॥

'रायादिमहद्द्वीयागमनपओणेण' राजादिमहद्द्विकागमनप्रयोगेण 'चात्ति माणिस्स' मानिनोऽपि ।  
'माणजणणेण' मानजननेन । 'कवयं कायव्वं' कवचः कर्तव्यः । 'तस्स खवयस्स' तस्य क्षपकस्य । मम धीरता  
द्रष्टुं अमी महद्द्विका समायाता । अमीषां पुरस्ताद्यद्यपि प्राणा यान्ति यान्तु काम तथापि स्वा मनस्विता  
नाह त्यजामीति मानघनो दुःखं सहते न कुपते व्रतभङ्गम् ॥१६७४॥

इच्चेवमाइकवचं खणिदं उस्सग्गियं जिणमदम्मि ।

अववादियं च कवयं आगाढे होइ कादव्वं ॥१६७५॥

'इच्चेवमाइकवचं खणिदं' इत्येधमादिक कवचः कथितो जिनमते । 'उस्सग्गियो' औत्सर्गिक सामान्य-  
भूत । 'अववादियं च कवचं कायव्वं' विशेषरूपोऽपि कवच कर्तव्यो भवत्यवगाढे मरणे ॥१६७५॥

जह कवचेण अभिज्जेण कवचिओ रणमुहम्मि सत्तुणं ।

जायइ अलंघणिज्जो कम्मसमत्थो य जिणदि य ते ॥१६७६॥

'जह कवचेण' यथा कवचेन । 'अभिज्जेण' अभेद्येन । 'कवचिओ' सन्नद्धः । 'रणमुहे सत्तुणमलंघिज्जो

गा०—इस प्रकार उपदेश द्वारा समझानेपर वह क्षपक पूर्वमें हुए संकलेशरूप परिणामोसे  
अपनेको हटाकर अपने दुःख इस प्रकार देखता है, मानो वह दुःख उसके शरीरमें नहीं है किन्तु  
किसी दूसरेके शरीरमें है ॥१६७३॥

गा०—टी०—महान् ऐश्वर्यशाली राजा आदिको उस क्षपकके पास लाकर भी उस अभि-  
मानिको मानदान देकर उसका कवच ( रक्षाका उपाय ) करना चाहिये । उन्हे देख वह विचारता  
है कि मेरी सहनशीलताको देखनेके लिये ये बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली आये हुए हैं । इनके सामने भले  
ही मेरे प्राण जायें तो चले जायें । तथापि मैं अपनी मनस्विताको नहीं छोड़ूंगा । इस प्रकार वह  
मानप्रेमी दुःख सहता है किन्तु व्रतभंग नहीं करता ॥१६७४॥

गा०—इस प्रकार जिनमतमें कवचका औत्सर्गिक अर्थात् सामान्य स्वरूप कहा है । मृत्यु  
निकट होनेपर आपवादिक अर्थात् विशेषरूप भी कवच करना चाहिये ॥१६७५॥

विशेषार्थ—जिसका मरण अभी दूर है उसके लिये सामान्यरूपसे ऊपर कवचका कथन  
किया है । यहाँ निकट मरण बालके लिये अपवादरूप विशेष कवचका कथन किया है । जिसका  
अभिप्राय यह है कि तत्काल उत्पन्न हुए ध्यानमें विघ्न डालने वाले भूख आदिके दुःखको दूर  
करनेके लिये यथायोग्य प्रयोग करना चाहिये ।

गा०—जैसे अभेद्य कवचके द्वारा सुरक्षित योद्धा युद्धभूमिमें शत्रुओंके वशमें नहीं आता ।  
तथा शत्रुपर प्रहार करनेमें समर्थ होता है और इस प्रकार शत्रुओंको जीत लेता है ॥१६७६॥

होदि' रणमुक्ते क्षत्रूणामलंघ्यो भवति । 'कम्मसत्त्वो य' प्रहरणादिक्रियासमर्थ । 'जिणदि य ते' जयति च तानरीन् ॥१६७६॥

एवं स्वओ क्वचेण क्वचिओ तह परीसहरिऊणं ।

जायइ अलंघणिज्जो ज्ञाणसमत्थो य जिणदि य ते ॥१६७७॥

'एवं क्वचो' एवं क्षपक. क्वचेनोपगृहीत परीषहारिभिर्न लुप्यते, ध्यानसमर्थो जयति च तान्परीष-हारीन् ॥कवचुत्ति ॥१६७७॥

एवं अधियासेतो सम्मं स्वओ परीसहे एदे ।

सव्वत्थ अपडिबद्धो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥१६७८॥

'एवं अधियासेतो' एव सह्यान सम्यक्परीषहानेतान् । सर्वत्राप्रतिबद्ध शरीरे, वसतो, गणे, परिचारकेषु च सर्वत्रोपैति समचित्तताम् ॥१६७८॥

सव्वेसु दव्वपज्जयविधीसु णिच्चं ममत्तिदो विजडो ।

णिप्पणयदोसमोहो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥१६७९॥

'सव्वेसु' सर्वेषु द्रव्यपर्यायविकल्पेषु नित्य परित्यक्तमतादोष ममेद मुखसाधनं मदीय इति वा । 'णिप्पणयदोसमोहो' निस्नेहो, निर्दोषो, निर्मोह सर्वत्र समतामुपैति ॥१६७९॥

संजोगविप्पओगेसु जहदि इट्ठेसु वा अणिट्ठेसु ।

रदि अरदि उस्सुगत्तं हरिसं दीणत्तणं च तहा ॥१६८०॥

संयोगे रति, विप्रयोगे अरति, इष्टे वस्तुन्युत्कण्ठा, इष्टयोगे 'रदि' रति, हर्ष, इष्टविप्रयोगे अरति दीनता । 'उस्सुगत्तं' उत्सुकता च तथा 'जहति' जहाति क्षपकः क्वचेनोपगृहीत ॥१६८०॥

गा०—उसी प्रकार कवचसे सुरक्षित क्षपक परीषह आदिके वशमे नही आता । तथा ध्यान करनेमे समर्थ होता है और उन परीषहरूपी गन्तुओंको जीत लेता है ॥१६७७॥

गा०—इस प्रकार इन तत्काल उपस्थित हुई परीषहोंको सम्यक् रूपसे सहन करता हुआ क्षपक सर्वत्र शरीर, वसति, संघ और परिचर्या करनेवालोमे अप्रतिबद्ध होता है—ये मेरे हैं मैं इनका हूँ ऐसा सकल्प नहीं करता । तथा सर्वत्र जीवन मरण आदिमे समभावको—रागद्वेषसे रहितताको प्राप्त होता है ॥१६७८॥

गा०—द्रव्य और पर्यायके समस्त भेदोमे नित्य ममता दोषको त्याग स्नेह रहित, दोष रहित और मोहरहित होकर सर्वत्र समभावको प्राप्त होता है अर्थात् समस्त द्रव्यो और पर्यायोमे 'ये मेरे सुखके साधन हैं' इस प्रकारका ममत्व भाव नहीं रखता । किन्तु सबमे समभाव रखता है । न किसीसे प्रीति करता है और न किसीसे द्वेष करता है ॥१६७९॥

गा०—क्वचसे उपकृत हुआ क्षपक संयोगमे रति, विप्रयोगमे अरति, इष्ट वस्तुमे उत्कण्ठा, इष्ट वस्तुके संयोगमे रति तथा हर्ष और इष्ट वस्तुके विप्रयोगमें अरति तथा दीनता नहीं करता ॥१६८०॥

मित्ते सुवचनीसु य सित्से साधर्मिण्य कुले चाभि ।

रागं वा दोसं वा पुष्वं जायंषि सो जहृ ॥१६८१॥

‘मित्ते सुवचनीसु य’ मित्तेषु बन्धुषु वा । शिष्येषु च सधर्मिणि कुले वा पूर्वं जातं रागद्वेष वासी जहाति ॥१६८१॥

भोगेसु देवमाणुस्सगेसु ण करेह पक्कणं खवओ ।

मग्गो विराधणाए मणिओ विसयामिलासोत्ति ॥१६८२॥

‘भोगेसु देवमाणुस्सगेसु’ देवमानवभोगेभ्योऽप्यभोगप्रार्थनां न करोति क्षपको ध्यावर्णितकवचोपगृहीतः । विषयामिलाषो मुक्तिमार्गविराधनाया मूलमिति ज्ञात्वा ॥१६८२॥

इट्ठेसु अणिट्ठेसु य सद्धरिसरसरूवमंघेसु ।

इहपरलोए जीविदमरणे माणावमाणे च ॥१६८३॥

सन्वत्थ णिव्विसेसो होदि तदो रागरोसरहिदप्या ।

खवयस्स रागदोसा हु उत्तमट्ठं विणासंति ॥१६८४॥

स्पष्ट उत्तरगाथाद्वया ॥१६८३॥१६८४॥

विशेषार्थ—इष्ट वस्तुके मिलनेपर या अनिष्ट वस्तुके बिछुड़नेपर चित्तमें प्रसन्नता होना, अनिष्टका संयोग अथवा इष्टका वियोग होनेपर अरति अर्थात् चित्तका दुःखी होना, इष्ट वस्तुमें उत्कण्ठा होना—यदि मुझे अमुक वस्तु मिल जाये तो अच्छा हो इस प्रकार हृदयमें उत्कण्ठा होना, हर्ष अर्थात् इष्टका संयोग होनेपर रोमांच, मुखकी प्रसन्नता आदिसे आनन्द व्यक्त होना, तथा इष्टका वियोग होनेपर मुखकी विरूपतासे विषाद व्यक्त होना, ये सब कवचसे उपगृहीत क्षपक छोड़ देता है ।

गा०—अथवा कवचसे उपगृहीत वह क्षपक भिषोंमें, बन्धुबान्धवोंमें, शिष्योंमें साधर्मियोंमें और कुलमें, पूर्वमें उत्पन्न हुए रागद्वेषको छोड़ देता है अर्थात् समाधि स्वीकार करनेसे पूर्वमें या वीक्षा ग्रहण करनेसे पूर्वमें जो रागद्वेष उत्पन्न हुआ है उसे दूर करता है, साथ ही आगे भी रागद्वेष नहीं करता ॥१६८१॥

गा०—तथा ऊपर कहे गये कवचसे उपगृहीत क्षपक यह जानकर कि विषयोंकी अभिलाषा मोक्षमार्गकी विराधनाका मूल है, देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोंकी प्रार्थना नहीं करता ॥१६८२॥

गा०—टी०—कवचसे उपगृहीत होनेसे क्षपक इष्ट अनिष्ट शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धमें, इस लोक और परलोकमें, जीवन और मरणमें, मग्न और अवमग्नमें सर्वत्र इष्ट अनिष्ट विकल्पसे मुक्त और रागद्वेषसे रहित होता है । क्योंकि क्षपकके रागद्वेष उत्तमार्थ अर्थात् रत्नत्रय, सम्यक् ध्यान और समाधिभरणको नष्ट कर देते हैं ॥१६८३-१६८४॥

१ विराधेति मु० ।

९४

जदि वि य से चरिंते सहुदीरदि मारणतियमसायं ।

सो तह वि असंमूढो उवेदि सक्वत्थ समभावं ॥१६८५॥

‘जदि वि य से’ यद्यपि तस्य क्षपकस्य चरमकालान्ते मारणान्तिकं दुःखं भवेत् सो कवचनोपगृहीतः क्षपकः तथापि असंमूढः समभावं सर्वत्रोपैति ॥१६८५॥

एवं सुभाविदप्या विहरइ सो जाववीरियं काये ।

उ’ड्डाणे संघेसणे सयणे वा अपरिदंतो ॥१६८६॥

‘एवं सुभाविदप्या’ नियौपकेन सूरिणा गविदोर्थ एवमित्युच्यते । तेन सम्मन्भावितचित्तः सन्निहरदि सर्वतरे अपरिभ्रान्तः । ‘जाववीरियं काये’ यावच्छरीरे बलमस्ति उत्थाने, शयने आसने वा ॥१६८६॥

जाहे शरीरचेड्डा विगदत्थामस्स से यदणुभूदा ।

देहादि वि ओसग्गं सक्वत्तो कुणइ गिरवेक्खो ॥१६८७॥

‘जाहे शरीरचेड्डा’ यदा शरीरचेष्टा विगतबलस्य तस्य स्वल्पा जाता, तदा शरीरादुत्सर्गं करोति सर्वतो मनोबाक्कायैरनिरपेक्षः ॥१६८७॥

तदेवं शरीरादिकं त्याज्यमुत्तरमायया दर्शयति—

सेज्जा संधारं पाणयं च उवधिं तहा शरीरं च ।

विज्जावच्चकरा वि य वोसरइ समत्तमारूढो ॥१६८८॥

‘सेज्जा’ वसति । सस्तरं तुणादिकं, पानं पिच्छं, शरीरं च वैयावृत्यकरारश्च व्युत्सृजति । ‘समत्तमारूढो’ समाप्तं संपूर्णं रत्नत्रयमारूढः ॥१६८८॥

शा०—यद्यपि उस क्षपकको अन्तिम समयमे मरण प्राप्त होनेतक दुःख होता है तथापि वह कवचसे उपगृहीत क्षपक शरीरसे भी मोहन रखता हुआ सर्वत्र समभाव धारण करता है ॥१६८५॥

शा०—इस प्रकार नियौपकाचार्यके द्वारा कहे गये पदार्थ स्वरूपसे अपने चित्तको सम्यक् रूपसे भावित करके वह क्षपक जबतक शरीरमे शक्ति रहती है तबतक बिना थके उठने बैठने और सोनेमें स्वयं प्रवृत्ति करता है ॥१६८६॥

शा०—जब शक्तिहीन होनेपर उसकी शारीरिक चेष्टा मन्द पड जाती है तब वह मन वचन कायसे निरपेक्ष होकर शरीरका भी त्याग करता है ॥१६८७॥

आनेकी गाथासे शरीर आदिको त्याज्य बतलाते हैं—

शा०—सम्पूर्ण रत्नत्रयमे आरूढ हुआ वह क्षपक वसति, तुणादि रूप सस्तर, पानक, पिच्छी, शरीर तथा वैयावृत्य करनेवालोंका भी त्याग कर देता है अर्थात् उन सबसे भी निरपेक्ष हो जाता है ॥१६८८॥

१ उट्टाणे सयणे वा पिसीयणे —शा० मु० ।



अवहृत् काययोगे व विष्यओगे य तत्त्व सो सव्वे ।

सुद्धे मणप्यओगे होइ भिरुद्धज्जवसियप्पा ॥१६८९॥

‘अवहृत्काययोगे’ वाययोगान्काययोगोदेष सर्वाग्निराकृत्य असावत्र मनोयोगे शुद्धे स्थितो भवति । विषयान्तरसंचारान्निवृद्धं अध्यवसितं च आत्मरूपं ज्ञानाख्यं यस्य सः ॥१६८९॥

एवं सव्वत्थेसु वि समभावं उवगओ विसुद्धप्पा ।

मित्री करुणं मुदिदमुवेक्खं खवओ पुण उवेदि ॥१६९०॥

‘एवं सव्वत्थेसु वि’ एवं सर्ववस्तुषु समतापरिणाममुपगतो विषुद्धचित्तः, मैत्री, करुणा, मुदितामुपेक्षां च पश्चादुपैति क्षपक ॥१६९०॥

मैत्रीप्रभृतीनां चिन्तानां विषयमुपदर्शयति—

जीवेषु मित्रचित्ता मैत्री करुणा य होइ अणुकंपा ।

मुदिदा जदिगुणचित्ता सुहदुक्खधियासणमुवेक्खा ॥१६९१॥

‘जीवेषु मित्रचित्ता’ अनन्तकालं वतसुषु गतिषु परिभ्रमतो घटीयन्त्रवत्सर्वे प्राणभूतोर्जप बहुशः कृत-महोपकारा इति तेषु मित्रताचिन्ता मैत्री । ‘करुणा य होइ अणुकंपा’ शारीरं, आगन्तुकं मानस स्वाभाविकं च दुःखमसह्यमाप्नुवतो दृष्ट्वा हा बराका मिष्यादर्शनेनाविरत्या कषाययोगाद्युभेन योगेन च समुपाजिताद्युभकर्म-पर्यायपुद्गलस्कन्धनदुदयोद्भवा विपदो विवशा प्राप्नुवन्ति इति करुणा अनुकम्पा । मुदिता नाम यस्मिन्निगुणचिन्ता यत्तयो हि विनीता, विरागा, विभया, विमाना, विरोधा, विलोभा इत्यादिका । सुखे अरागा दुःखे वा अद्वेषा उपेक्षेत्युच्यते ॥१६९१॥ समता गता ।

गा०—वह सब काययोगों और वचनयोगोंको दूरकर शुद्ध मनोयोगमें स्थिर होता है । क्योंकि वह अपने ज्ञानरूप आत्माको युक्ति और तर्क वितर्कसे निश्चित करके उसे अन्य विषयोंमें जानेसे रोकता है ॥१६८९॥

गा०—इस प्रकार सब वस्तुओमें समताभाव धारण करके वह क्षपक निर्मल चित्त हो जाता है । फिर मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा भावनाको अपनाता है ॥१६९०॥

मैत्री आदि भावनाओंको कहते हैं—

गा०—टी०—अनन्तकाल चारों गतियोंमें भ्रमण करते हुए घटीयंत्रकी तरह सभी प्राणियोंमें मेरा बहुत उपकार किया है अतः उनमें मित्रताकी भावना होना मैत्री है । असाह्य शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक दुःखको भोगते हुए प्राणियोंको देखकर, अरे बेचारे मिष्या-दर्शन, अविरति, कषाय और अशुभ योगसे उपाजित अशुभ कर्मरूप पुद्गल स्कन्धोंके उदयसे उत्पन्न हुई विपदाओंको विवश होकर भोगते हैं । इस प्रकारके भावको करुणा या अनुकंपा कहते हैं । यस्मिन्निगुणके चिन्तनको मुदिता कहते हैं । यस्मिन्निगुण विनयी, रागरहित, भयरहित, मान-रहित, रोपरहित और लोभरहित होते हैं इत्यादि चिन्तन मुदिता है । सुखमें राग और दुःखमें द्वेष न करना उपेक्षा है ॥१६९१॥

दंसणणाणवचरितं तवं च विरियं समाधिजोगं च ।

तिविहेणुवसंपज्जिय सक्कुवरिण्लं कंमं कुणइ ॥१६९२॥

‘दंसणणाणवचरितं तवं विरियं समाधिजोगं च’ तत्त्वश्रद्धान् तत्त्वावगम, वीतरागता, अशनत्याग-  
क्रियां, स्वशक्त्याऽनिगूहन विसंकाशयोगं । ‘तिविहेणुवसंपज्जिय’ मनोवाक्कायं प्रतिपद्य । ‘सक्कुवरिण्लं’  
सर्वभ्यः पूर्वप्रवृत्तदर्शनादिपरिणामेभ्योऽतिशयितं कर्म ‘कुणइ’ क्रम दशनादिपदव्यासं करोति ॥१६९२॥

शुभध्यानमारुह्यतः परिकरमावष्टे—

जिदरागो जिददोसो जिदिदियो जिदभओ जिदकसाओ ।

अरदिरदिमोहमहणो ज्जाणोवगओ सदा होहि ॥१६९३॥

‘जिदरागो’ स्वतो व्यतिरिक्तेषु जीवाजीवद्रव्येषु तथा पर्यायेषु रूपरसगंधस्पर्शाब्दाख्येषु विचित्रभेदेषु  
तत्संस्थानादिषु च यो राग स जितो येन सोऽभिधीयते । तथा मनोज्ञेषु याऽप्रीति स दोष उच्यते स च  
जितो येन स जितदोष ।

‘णेहुत्तुपिदमत्तस्स रेणुयो लम्पदे जहा अणे ।

तह रागबोसणेहोल्लबस्स ‘कम्मसाओ होवि ॥’ [मूलाचार २३६] इति ।

जिनवचनाधिगमाद्दु खभीरुयति सर्वदु खाना मूलकारणभूतो रागद्वेषाविति मनसा विनिश्चित्य

गा०—टी०—दर्शन अर्थात् तत्त्वश्रद्धान्, तत्त्वज्ञान और चारित्र्य अर्थात् वीतरागता, तप  
अर्थात् भोजनका त्याग, वीर्य अर्थात् अपनी शक्तिको न छिपाना, तथा समाधियोग अर्थात् चित्रकी  
एकामता, इन सबको मन बचन कायसे प्राप्त करके क्षपक पूर्वके दर्शन आदिसे विशिष्ट दर्शन  
आदिमें पग धरता है ॥१६९२॥

विज्ञोषार्थ—मैत्री आदि भावनाके बलसे व्यवहार मोक्षमार्गको प्राप्त करके क्षपक परमार्थ  
मुक्तिमार्गपर चलनेका प्रयत्न करता है यह इस गाथाके द्वारा कहा है । यह शुभतम ध्यानके लिये  
प्रयत्नका प्रारम्भ है ॥१६९२॥

आगे शुभध्यानकी सामग्री कहते हैं—

गा०—जो जितराग, जितद्वेष, जितेन्द्रिय, जितभय, जितकषाय और अरति रति तथा  
मोहका मथन करता है वह सदा ध्यानमे लीन रहता है ।

टी०—अपनेसे भिन्न जीव अजीव द्रव्योमे, रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द रूप उनकी  
पर्यायोमे तथा अनेक भेदवाले उनके आकारादिमे जो रागको जीतता है उसे जितराग कहते है ।  
तथा अमनोज्ञ वस्तुओमे प्रीतिका अभाव दोष है । जिसने उसे जीत लिया वह जितदोष है ।  
‘जेसे जिसका शरीर तेलसे लिप्त होता है उसके शरीरमें धूल लगती है । उसी प्रकार जो राग  
द्वेष और स्नेहमे लिप्त होता है उसके कर्मोंका आस्रव होता है ।’

इस जिनागमको जानकर दु खसे भीत पति ‘सब दुःखोका मूल कारण रागद्वेष है ऐस

यस्तयोर्न विपरिणमते खोऽभिधीयते जितरागद्वेषः इति । तस्योपागो जितेन्द्रियद्वेष्याचष्टे—ब्रह्म जिदिदिओ इति वाक्यद्वेषं कृत्वा सम्बन्धः । 'जिदिदिओ' इन्द्रियशब्देन रूपाद्यालम्बनोपयोगः परिगृह्यते स जितो येन स उच्यते जितेन्द्रिय इति । कबमसौ मतिज्ञानोपयोगो जेतुं शक्यते इति चेत् श्रुतज्ञानोपयोगे एव वृत्तात्मनः 'सत्यां, युगपदुपयोगद्वयस्यात्मन्येकवा विरोधादप्रवृत्तेः । न च बाह्यद्रव्यालम्बनमुपयोगमन्तरेणास्ति संभवो रागद्वेषयो । सकल्पपुरोगौ हि ताविति । 'जिबकसप्ये' क्षमामार्दवाऽर्जवसंशोधपरिणामनिरस्तकषायपरिणामप्रसरो जितकषाय इत्युच्यते । अरते रतेश्च कर्मण उदये उपजाती रत्यरतिपरिणामो, मोहो, मिथ्याज्ञानं च सम्यग्ज्ञानभावनया मथ्नाति य म भण्यते 'अरतिरतिमोहमथन' । एवं निरस्तध्यावप्रतिपक्षपरिणाम । 'ज्जाणोवगदो ह्येवि' ध्यानाख्य परिणाममाश्रितो भवति । न हि रागादिभिर्व्याकुलीकृतस्य अर्षवाथात्प्राहि भवति विज्ञानं अविचलं च नावतिष्ठते । अविचलमेव वस्तुनिष्ठं ज्ञानं ध्यानमिष्यते ॥१६९३॥

धम्मं चदुप्पयारं सुक्कं च चदुच्चिधं किलेसहरं ।

संसारदुक्खभीओ दुण्णि वि ज्जाणाणि सो ज्जादि ॥१६९४॥

'धम्मं चदुप्पयारं' धर्मध्यानं चतुःप्रकार । धारयति वस्तुनो वस्तुतामिति धर्मः । स्वभावातिशयादेव चैतन्यादिकाज्जीवादिक् वस्तु भवति । स्वभावातिशयभावादेव वस्तु भण्यते न खरविषाणादि, तेन धर्मशब्दो

मनसे निश्चित करके राग दोषरूप परिणमन नहीं करता । उस यतिको जितराग द्वेष कहते है । उसका उपाय है जितेन्द्रिय होना । यहाँ इन्द्रिय शब्दसे रूपादिका आलम्बन लेकर जो उपयोग होता है उसका ग्रहण किया है । उसे जो जीत लेता है वह जितेन्द्रिय है ।

यह जो मतिज्ञानरूप उपयोग है इसको कैसे जीता जा सकता है ? श्रुतज्ञानरूप उपयोगमे ही मनकी प्रवृत्ति होनेपर मतिज्ञानरूप उपयोग जीता जा सकता है । क्योंकि एक साथ एक आत्मामे दो उपयोगोंका विरोध होनेसे दो उपयोगोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । और जबतक उपयोगका आलम्बन बाह्य द्रव्य न हो तबतक रागद्वेष नहीं हो सकते । क्योंकि रागद्वेष सकल्प-पूर्वक होते हैं । तथा जो क्षमा, मार्दव, आर्जव और सन्तोष परिणामसे कषायरूप परिणामोंके प्रसारको निरस्त कर देता है उसे जितकषाय कहते हैं । अरति और रति कर्मका उदय होनेपर उत्पन्न हुए रति और अरतिरूप परिणामोंको और मोह अर्थात् मिथ्याज्ञानको जो सम्यग्ज्ञानरूप भावनासे मथता है उसे 'अरतिरति मोहमथन' कहते हैं । इस प्रकार जो ध्यानके विरोधी परिणामों को दूर करता है वह ध्यान नामक परिणामको करता है । जो रागादिसे व्याकुल रहता है उसका ज्ञान न तो अर्थके यथार्थस्वरूपको ही ग्रहण करता है और न निश्चल ही रहता है । और वस्तुनिष्ठ निश्चल ज्ञानको ही ध्यान कहते हैं ॥१६९३॥

भा०—धर्मध्यान चार प्रकारका है और शुक्ल ध्यान भी चार प्रकारका है । ये ही ध्यान कष्टको हरनेवाले हैं । चतुर्गति परावर्तनरूप संसारमें जो दुःख होते हैं उनसे भीत मुनि धर्म और शुक्लध्यानोंको ध्याता है ॥१६९४॥

टी०—जो वस्तुकी वस्तुताको धारण करता है उसे धर्म कहते हैं । चैतन्य आदिरूप स्वभावके अतिशयसे ही जीवादि वस्तु होती है । स्वभावरूप अतिशयके होनेसे ही वस्तु कहलाती

वस्तुस्वभाववाची । धर्माद्वस्तुस्वभावानपेतमित धर्ममित्युच्यते । यद्येवमातदिरपि धर्मादनपेतत्वमस्ति । सम्प्रयुक्तामनोज्ञवस्तुजियोगं, विद्युक्तमनोज्ञवस्तुयोगं, रोगातक्कादिप्रशमनं, अभिमतप्राप्तिं च धर्ममाश्रित्य प्रवर्तमानत्वाद् धर्मादनपेततेति । नैष दोषः विवक्षितधर्मविशेषवृत्तिधर्मशब्दः । अत एव आज्ञापायविपाकसंस्थानमित्यादिकैर्धर्मैर्धर्मैरनपेतत्वाद्यद्वयानभाजाविचयाविसंज्ञाभिरुच्यते । ध्येय ज्ञेयवस्तुस्वरूप तदविनाभावि च ज्ञान ध्यानमिति संगतार्थं व्याख्येयं । अन्वी तु व्याचक्षते—क्षमामार्दवाज्जवादिकाद् धर्मादनपेतत्वाद्धर्म्यं इति । ननु च ध्यानं ध्येयाविनाभावि न च क्षमामार्दवो धर्मा ध्येया येन तदनपेतत्वमुच्यते । अथ क्षमादिको दशविधो धर्मो ध्येयस्तस्मादनपेतस्तस्यान्वयाप्रवृत्तेः 'आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यमिति सूत्रं न पुरुषते' । उत्तम-क्षमाविधर्मपरिणतादात्मनोऽनपेतत्वात् धर्मादनपेततेति धर्म्यमित्युच्यत इति चेत् शुक्लस्यापि धर्मादनपेतत्वाद्धर्म्यध्यानता स्यादवबोध्यते—रुद्रिशब्देषु क्वचित्सभाविनी क्रियामाश्रित्य शब्दव्युत्पत्तिमात्रं क्रियते । न सा क्रिया तन्त्र आशुगमनावश्व इति व्युत्पाद्यमान स्थिते शयिते च प्रवर्तते न चाशुयायिन्यपि ब्रह्मनेयादी प्रवर्तते । तद्विहापि शुक्ले न धर्मशब्दो वर्तते । धर्मादन्यत्राप्याज्ञादौ वर्तते । अथ किं ध्यान, 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता-

है । इसीसे मधेके सीग नामकी कोई वस्तु नहीं है । अतः धर्म शब्द वस्तुस्वभावका वाचक है । धर्म अर्थात् वस्तु स्वभावसे जो सहित है उसे धर्म्य कहते हैं ।

शंका—यदि ऐसा है तो आर्तध्यान आदि भी धर्मसे सहित है । क्योंकि प्राप्त आनन्द वस्तुके वियोग, विद्युक्त इष्ट वस्तुके सयोग, रोग आदिकी शान्ति और इष्टकी प्राप्ति आदि धर्मको लेकर आर्तध्यान होता है अतः वह भी धर्मसे युक्त होनेसे धर्मध्यान कहा जाना चाहिये ?

समाधान—यह दोष ठीक नहीं है । यहाँ धर्म शब्द विवक्षित धर्मविशेषको कहता है । अतः आज्ञा, अपाय, विपाक, संस्थान आदि धर्म जिसमें ध्येय होते हैं उस ध्यानको आज्ञाविचय आदि नामोंसे कहा जाता है । अन्य कुछ आचार्य क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि धर्मोंसे युक्त होनेसे धर्म्य कहते हैं ।

शंका०—ध्यान ध्येयका अविनाभावी है । ध्येयके बिना ध्यान नहीं होता । किन्तु क्षमा आदि धर्म ध्येय नहीं है अतः उनसे युक्त ध्यानको धर्म्य नहीं कह सकते । यदि क्षमा आदि दस प्रकारका धर्म ध्येय है और उससे सहित ध्यान धर्म्य है तो वह ध्यान अन्यत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता । तब तत्त्वार्थ सूत्रमें जो कहा है कि आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थानका चिन्तन धर्म्यध्यान है वह नहीं बनता; क्योंकि अत्मा तो उत्तम क्षमा आदि धर्मरूपसे परिणत होनेसे उनसे सहित ही है । वह उनसे हटकर अन्यमे प्रवृत्त होता नहीं । यदि कहोगे कि धर्मसे युक्तताका नाम धर्म्य है तो शुक्लध्यान भी धर्मसे युक्त होनेसे धर्म्यध्यान कहलायेगा ।

समाधान—रुद्रिशब्दोंमें कहीपर होनेवाली क्रियाको लेकर शब्दकी मात्र व्युत्पत्ति की जाती है किन्तु वह क्रिया सिद्धान्तरूप नहीं होती । जैसे आशु-शीघ्र गमन करनेसे अश्व शब्द निष्पन्न होता है । किन्तु जब वह घोड़ा बँठा होता है या सोता है तब भी उसे अश्व ( घोड़ा ) ही कहते हैं । तथा गरुड बगैरहे तेज चलते हैं किन्तु उन्हें अश्व नहीं कहते । उसी तरह यहाँ भी धर्म शब्दसे शुक्लध्यान नहीं कहा जाता । तथा उत्तम क्षमा आदि धर्मोंसे भिन्न आज्ञाविचय आदिको धर्म्य कहा जाता है ।

शंका—ध्यान किसे कहते हैं ?

समाधान—तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है उत्तम संहनन वालेके एकाग्रचिन्ता निरोधको ध्यान

निरोधो ध्यानम् [ त० सू० १:२७ ] इति चेत् कद्रुः संहननेष्वपि चित्तस्य संहननं च वञ्चनारोधसंज्ञासंहननं, वञ्चनारोधसंहननं, नाराचसंहननमिति । तेषु त्रिषु एकं संहननं यस्य स उत्तमसंहननस्तस्य एकमग्रं मुखमस्येत्येकग्रं चिन्तानिरोधः स ध्यानमिष्युच्यते । ननु चिन्तानिरोधः चिन्ताया अभावस्तस्य का एकमुलता, कथं वा कर्मणां भावे अभावे च निमित्तता । आर्तरीद्रयोरशुभकर्मनिमित्ततोष्यते । इतरयोस्तु शुभकर्मणां निमित्तता निर्जरायाश्च हेतुतेष्टा । अत्रोच्यते—न निरोधशब्दोऽत्राभाववाचो किंतु रोधवचनो यथा मूत्रनिरोध इति । ननु च परिस्पन्दवतो निरोधो भवति । चिन्तायास्तु को निरोध इत्यत्रोच्यते । 'केचित्प्रवृत्ति' नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती तस्या एकस्मिन्नग्रे नियमस्विचिन्तानिरोध इति त इदं प्रष्टव्या । नानार्थाधया चिन्ता सा कथमेकग्रैव प्रवर्तते ? एकग्रैव चेत् प्रवृत्ता नानार्थावलम्बनं परिस्पन्दं नासादयतीति निरोधवाचो युक्तिरसंगता, 'तस्मादेवमग्र ध्यास्यानं चिन्ताशब्देन चैतन्यमुच्यते तच्च चैतन्यमग्रमग्रं चार्थमवगच्छता ज्ञानपर्यायरूपेण वर्तते' इति परिस्पन्दवत्तस्य निरोधो नाम एकग्रैव विषये प्रवृत्तिस्तथा हि य एकग्रैव वर्तते स तत्र निरुद्ध इति भण्यते । उत्तमसंहननप्रयोगादेवात्तरीद्रयोरनुत्तमसंहननेषु तिर्यङ्मानवेषु प्रवृत्तिर्न स्यात् । तेन तद्विधानावलम्बनो गतिविभागो न स्यात्तेशामनुभवविरोधश्चेदानीतनानामपि तयोर्बृत्तेः सूत्रान्तरविरोधश्च "तद्विचरतद्वेश-

कहते है । छह संहननोंमेंसे आदिके तीन संहनन वञ्चर्षभ नाराच संहनन, वञ्चनाराच संहनन और नाराच संहनन उत्तम है । इनमेंसे एक संहनन जिसके हो उसे उत्तम संहनन कहते हैं । उसके एक है अग्र अर्थात् मुख जिसका उस एकाग्रमें जो चिन्ताका निरोध है वह ध्यान है ।

शङ्का—चिन्ता निरोधका अर्थ होता है चिन्ताका अभाव । अभाव एक मुख कैसा ? तथा अभाव कर्मों के भाव या अभावमें निमित्त कैसे हो सकता है ? आगममें आर्तध्यान और रौद्रध्यानको अशुभ कर्मों के आलवबन्धमें निमित्त कहा है । तथा धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको शुभ कार्यों में निमित्त कहा है तथा निर्जराका भी हेतु कहा है ।

समाधान—चिन्ता निरोधमें निरोध शब्दका अर्थ अभाव नहीं है किन्तु उसका अर्थ है रोकना । जैसे मूत्रनिरोध अर्थात् मूत्रको रोकना ।

शङ्का—जिसमें हलन चलन होता है उसका निरोध होता है चिन्ता का निरोध कैसा ?

समाधान—कुछ आचार्य कहते हैं, नाना अर्थोंका अवलम्बन करनेसे चिन्ता हलन चलन रूप होती है । उसको एक विषयमें नियमित करना चिन्ता निरोध है । उनसे यह पूछना है कि जब चिन्ता नाना अर्थोंका आश्रय लेनेवाली है तो वह एक ही स्थानमें कैसे रुक सकती है ? यदि वह एक ही स्थानमें रुक सकती है तो नाना अर्थोंके अवलम्बन रूप परिस्पन्द वाली नहीं हो सकती । इसलिये उसका निरोध कहना असंगत है । इसलिये चिन्तानिरोधका अर्थ ऐसा करना चाहिये—चित्ति धातुसे चिन्ता शब्द बना है उसीसे चैतन्य भी बना है । अतः चिन्ता शब्दसे यहाँ चैतन्य कहा है । वह चैतन्य अन्य-अन्य पदार्थोंको जानते हुए ज्ञानपर्याय रूपसे वर्तन करता है अतः वह परिस्पन्द वाला है । उसका निरोध अर्थात् एक ही विषयमें प्रवृत्ति । क्योंकि जो एक ही विषयमें प्रवृत्ति करता है उसे वहीं निरुद्ध कहा जाता है ।

शङ्का—ध्यानके लक्षणमें 'उत्तम संहनन' विशेषणका प्रयोग करनेसे अनुत्तम संहननवाले तिर्यङ्चो और मनुष्योंमें आर्तध्यान और रौद्रध्यान नहीं हो सकेंगे । ऐसा होनेसे उन ध्यानियोंको लेकर जो गतिका विभाग किया है वह नहीं बनेगा । तथा ऐसा कहना अनुभवसे भी विरुद्ध है

१. सर्वावसिद्धि १:२७ ।

२. प्रष्टव्या: अ०, आ० ।

३. चित्तिशब्देन-अ० ।

विरतप्रमत्तसंबन्धतात्” “हिसामुत्तमसंहननस्यैवो रौद्रध्यानविरतदेशविरतयो”रिति [ त० सू० ९।३५ ] गुणस्थान-  
मात्राश्रयणेनैव स्वामिनिर्देशात्कृतात् ।

अत्र प्रतिबिधायते— निर्जराहेतुतया विकल्पे ध्यानेषु तत्प्रस्तुते युक्त साक्षात् मुक्त्यङ्गं ध्यानं निर्देष्टुमिति  
मन्यमानेन उत्तमसंहननग्रहणं कृत सूत्रकारेण । यद्येव आर्तरीद्रधर्म्यशुक्लानीति सूत्रमुत्तर नोपपद्यते न निर्जरा-  
हेतुतास्त्यार्तरीद्रयोरिति । अत्रोच्यते ‘उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमितीदं सूत्र’ मुख्यं ध्यानं  
मुक्त्यङ्गमुद्दिश्य प्रवृत्तमुत्तरं तु सूत्रमार्तरीद्रधर्म्यशुक्लानीत्येतेकाग्रचिन्तानिरोधसामान्यान्तर्भूतं अनभिमतमपि  
ध्यानं निरूपयति । प्रस्तुतस्यैव ध्यानस्य अनभिमतध्यानविविक्तरूपमधिगमयितुमत प्राप्तगिकयो आर्त-  
रीद्रयोक्तत्रन्यास इति न दोष । अथत्रोत्तमसंहननग्रहण वीर्यातिशयवत् आत्मन उपलक्षण, उत्तमसंहननस्य  
वीर्यातिशयवतो आत्मनो यदेकवस्तुनिष्ठं ध्यान तत् ध्यानमिति सूत्रार्थं ॥ ‘सुकं च चतुर्विधं’ शुक्ल च ध्यानं  
चतुर्विधं ध्यान क्लेशहरं ससारदुःखभोरु चतुर्गतिपरावर्तनेन यानि दुःखानि तेभ्यो भीत । ‘बोधिं वि’  
द्वे ‘ज्ञानाणि’ ध्याने धर्म्यशुक्ले ‘सो’ क्षपक ‘ज्ञावि’ ध्यायति ॥१६९४॥

ण परीसहेहि संताविदो वि सो झाइ अडुरुहाणि ।

सुट्टुवहाणे सुदं पि अडुरुहा वि णासति ॥१६९५॥

‘ण परिस्तहेहि’ स क्षपक ‘परिस्तहेहि’ परीसहे । ‘संताविदो वि’ बाधितोऽपि ‘अडुरुहाणि’ आर्त

क्योंकि आजके मनुष्योके भी आर्त और रौद्रध्यान होते है । तथा उक्त कथनका विरोध अन्य  
सूत्रोसे भी होता है । क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रमे ही गुणस्थान मात्रका आश्रय लेकर आर्त और  
रौद्रध्यानके स्वामियोका कथन किया है । यथा—आर्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसयतो  
के होता है । रौद्रध्यान अविरत और देशविरतके होता है ।

समाधान—तत्त्वार्थसूत्रकारने नौवे अध्यायमे निर्जराके कारणोका विवेचन करते हुए  
जब ध्यानका वर्णन किया तो ‘साक्षात् मुक्तिकारण ध्यानका निर्देश करना उचित है’ ऐसा  
मानकर ध्यानके लक्षणमे उत्तम संहननपदका ग्रहण किया है ।

शंका—यदि ऐसा है तो ‘आर्त रौद्र धर्म और शुक्ल’ ये चार ध्यान है ऐसा सूत्र नही कहना  
चाहिये था क्योंकि आर्त रौद्र निर्जराके कारण नही है ।

समाधान—‘उत्तम सहनन’ इत्यादि सूत्र जो मुख्य ध्यान मुक्तिके कारण हैं उनको लक्ष्य  
करके रचा गया है । आगेका सूत्र, जिसमे ध्यानके चार भेदोके नाम गिनाये हैं, एकाग्र चिन्ता  
निरोध सामान्यमे अन्तर्भूत सब ध्यानोको बतलाता है । अर्थात् आर्त रौद्रमे भी ध्यान सामान्यका  
लक्षण घटित होता है इसलिये ध्यानके भेदोमे उनको गिनाया है । यद्यपि वे मोक्षके कारण नही  
हैं । अत अनिष्ट ध्यानोसे भिन्न प्रस्तुत धर्म्य शुक्लध्यानोका ही स्वरूप बतलानेके लिये सूत्रकारने  
आर्त और रौद्रध्यानोका कथन किया है । अथवा उत्तम सहनन पद अतिशय वीर्यशाली आत्माका  
उपलक्षण है । उत्तमसहनन अर्थात् अतिशय वीर्यसे विशिष्ट आत्माके जो एक वस्तुनिष्ठ ध्यान  
होता है वही ध्यान है, ऐसा उस सूत्रका अर्थ होता है । संसारसे भीत क्षपक धर्म्य और शुक्ल-  
ध्यानोको ध्याता है ॥१६९४॥

पा०—वह क्षपक परीसहेसे पीड़ित होनेपर भी आर्त और रौद्रध्यान नही करता । क्योंकि

रौद्रं च 'न ज्ञाद्' ना ध्याति । 'सुदुःखहाणे' सुष्ठु उपधाने । सुष्ठुमपि 'अहृष्यामि वांसति' आर्तरीद्रध्याने नाशयतः ॥१६९५॥

अट्टे चउप्ययारे रुद्दे य चउन्विधे य जे भेदा ।

ते सव्वे परिजाणदि संधारमजो तजो खवजो ॥१६९६॥

'अट्टे चउप्ययारे' आर्तं चतुःप्रकारे, 'जे भेदा रुद्दे य चउन्विधे' ये भेदा । 'ते सव्वे परिजाणदि' तान् सर्वान् विजानाति । 'संधारमजो' संस्तरगतः । 'तजो खवजो' असौ क्षपकः । यो यत् परिहरेच्छुस्म कथं तत्स्वतोऽनवबुध्यमानो नियोगतः परिहरेद्विच्छेदं' वार्ये आर्तरीद्रं परिहरन् तस्मात् ज्ञातव्ये ते इति दर्शयति ॥१६९६॥

अमणुणसंपजोमे इट्टिविओए परिस्सहणिदाने ।

अट्टं कसायसहियं ज्ञाणं भणियं समासेण ॥१६९७॥

तेणिकमोसहिंसारक्खणेसु तह वेव छव्विहारंभे ।

रुद्दं कसायसहियं ज्ञाणं भणियं समासेण ॥१६९८॥

अवहट्ट अट्टरुदे महाभये सुग्गदीए पच्चूहे ।

धम्मं सुक्के य सदा होदि समण्णागदमदी सो ॥१६९९॥

'अवहट्ट' अपहृत्य । 'अट्टरुद्दे' आर्तरीद्रं । महतो भयस्य हेतुत्वान्महाभये । 'सुग्गदीए पच्चूहे' सुगतो विघ्नभूते । 'धम्मं सुक्के वा' धर्म्यं शुक्ले वा ध्यानेऽसौ क्षपकः । 'समण्णागदमदी सो होदि' सम्यगनुपरत-मतिर्भवति ॥१६९७॥१६९८॥१६९९॥

आर्तं और रौद्र ध्यान सुष्ठु उपधान अर्थात् संक्लेशरहित परिणामोत्से, विशुद्ध अर्थात् कर्मोंको निर्जीर्ण करनेकी शक्तिसहित भी समीचीन ध्यानको नष्ट कर देते हैं ॥१६९५॥

गा०—आर्तध्यानके जो चार भेद हैं और रौद्रध्यानके जो चार भेद है वे सब सस्तरपर आरूढ क्षपक जानता है । जो जिसको त्यागना चाहता है वह उसको यदि यथार्थरूपसे नहीं जानता तो कैसे उसका त्याग कर सकता है । अतः क्षपकको आर्त और रौद्र ध्यानोंका स्वरूप जानना चाहिये । इसलिये उनको भी बतलाते हैं ॥१६९६॥

गा०—अनिष्ट संयोग, इष्टवियोग, परीषह ( वेदना ) और निदान ये संक्षेपमें कषायसहित आर्तध्यानके चार भेद हैं ॥१६९७॥

गा०—चोरी, झूठ, और हिंसाका रक्षण तथा लह प्रकारके आरम्भको लेकर संक्षेपसे कषाय सहित रौद्रध्यानके चार भेद हैं ॥१६९८॥

गा०—सुगतमें विघ्न डालनेवाले और महान् भयके कारण होनेसे महाभयरूप रौद्र और आर्तध्यानको त्यागकर बहु सम्यक् बुद्धिसम्पन्न क्षपक धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है ॥१६९९॥

किमर्थमसौ ध्यानयोः शुभयोर्वर्तत इत्याशङ्क्यायां ध्यानप्रवृत्ती कारणमावच्छे—

**इन्द्रियकसायजोगनिरोधं इच्छं च णिज्जरं विउलं ।**

**चित्तस्स य वसियत्तं मग्गादु अबिप्पणासं च ॥१७००॥**

‘इन्द्रियकसायजोगनिरोधं’ स्पर्शादिषूपजात उपयोग इन्द्रियशब्देनोच्यते । कषाया. क्रोधादयस्तै र्योग सम्बन्धस्तस्य निरोधं निवारणामिच्छन्निर्जरा च विपुलामिच्छन्, वस्तुयाथात्म्यसमाहितचित्तस्य नेन्द्रियविषय-जन्योपयोगसंभव., कषायाणां चोत्पत्तिः ‘चित्तस्स य वसियत्तं’ चित्तस्य स्ववशत्व इच्छन् स्वेषु विषये चित्तमसकृत्स्थापयतीऽनिष्टाच्च व्यावर्तयत स्ववश भवति चित्त । ‘मग्गादु अबिप्पणासं च’ मार्गाद्वलत्रयाद-विप्रणवा च बाँछन्, अशुभध्यानप्रवृत्तो रत्नत्रयात्प्रच्युतो भवाप्तीति ध्याने प्रयतते ॥१७००॥

ध्यानपरिकरप्रतिपादनाद्योत्तरगाथा—

**किंचिवि दिट्ठिमुपावत्तइत्तु भाणे णिरुद्धदिट्ठीओ ।**

**अप्पाणंहि सदिं संघित्ता संसारमोक्खट्ठं ॥१७०१॥**

‘किंचिवि दिट्ठिमुपावत्तइत्तु’ बाह्यद्रव्यालोकात् किंचिच्चक्षुर्व्यवर्तयित्वा । ‘भाणे णिरुद्धदिट्ठीओ’ एकविषये परोक्षज्ञाने निरुद्धचैतन्य । ‘दृष्टिनिमित्तं हि चैतन्ये दृष्टिशब्दोऽत्र युक्त । ‘अप्पाणंहि’ आत्मनि । ‘सदिं’ स्मृति । ‘संघित्ता’ सघाय । स्मृतिशब्देनात्र श्रुतज्ञानेनावगतस्यार्थस्य स्मरणमुच्यते, ‘संसारमोक्खट्ठं’ संसारविमुक्तये ॥१७०१॥

वह क्षपक किसलिये शुभ ध्यान करता है ? इस शंकाके उत्तरमे उसके कारण कहते है—

गा०—इन्द्रिय और कषायोंसे सम्बन्धको रोकने, अत्यधिक निर्जराको चाहने, चित्तको वशमें करने और रत्नत्रयरूप भोक्षमार्गको नष्ट न होने देनेके लिये क्षपक शुभ ध्यान ही करता है ॥१७००॥

टी०—यहाँ इन्द्रिय शब्दसे स्पर्श आदिसे उत्पन्न हुआ उपयोग कहा है । कषायसे क्रोधादि लिये हैं । जिसका चित्त वस्तुके यथार्थ स्वरूपसे समाधान युक्त होता है उसकी प्रवृत्ति इन्द्रियोंके विषयसे उत्पन्न हुए उपयोगकी ओर नहीं होती और न कषायोंकी उत्पत्ति होती है । तथा जो अपने इष्ट विषयमें चित्तको बार-बार स्थापित करता है और अनिष्टसे चित्तको हटाता है उसका चित्त अपने वशमे रहता है । क्षपक जानता है कि यदि मैं अशुभ ध्यानमे लगा तो रत्नत्रयसे च्युत हो जाऊँगा । इन कारणोंसे वह शुभ ध्यान करता है ॥१७००॥

आगे ध्यानकी सामग्री कहते हैं—

गा०—टी०—बाह्य द्रव्यको देखनेकी ओरसे आँखोंको किञ्चित् हटाकर अर्थात् नाकके अग्र भागपर दृष्टिको स्थिर करके, एक विषयक परोक्षज्ञानमे चैतन्यको रोककर शुद्ध चिद्रूप अपनी आत्मामे स्मृतिका अनुसन्धान करे । गाथामे ‘निरुद्ध दृष्टि’ पद है । यहाँ दृष्टिमे निमित्त चैतन्यमें दृष्टि शब्दका प्रयोग किया है । और स्मृति शब्दसे श्रुतज्ञानके द्वारा जाने गये अर्थका स्मरण लिया है । अर्थात् दृष्टिको नाकके अग्रभागमें स्थापित करके किसी एक परोक्ष वस्तु विषयक

१ चैतन्यदृष्टि निमित्तं शब्दोऽत्र युक्त -अ० आ० । -चैतन्य. दृष्टिनिमित्तं चैतन्ये दृष्टिशब्दो मूलारा० ।



**पञ्चाहरितु विसर्गेहि इन्दियाहं मणं च तैहितो ।**

**अप्याणम्मि मणं तं जोगं पणिघाय घारेदि ॥१७०२॥**

'पञ्चाहरितु' प्रत्याहृत्य । 'विसर्गेहि' विषयेभ्यः । 'इन्दियाहं' इन्द्रियाणि 'मणं च' मनश्च व्यावर्त्य । 'तैहितो' विषयेभ्यः । 'मणं तं घारेदि' तन्मनो धारयति । क्व ? 'अप्याणंहि' आत्मनि । 'जोगं' योगं वीर्या-  
न्तरायक्षयोपशमजवीर्यपरिणाम । 'पणिघाय' प्रणिघाय स्याप्य । एतदुक्तं भवति वीर्यपरिणामेन नोद्द्रियमतिं  
धारयतीति ॥१७०२॥

कृतमनोनिरोधः किं करोतीत्याशङ्क्याह—

**एयणेण मणं रुंभिरुण धम्मं चउच्चिहं झादि ।**

**अणापायविवागं विचयं संठाणविचयं च ॥१७०३॥**

'एयणेण' एकध्वेयमुखतया । 'मणं रुंभिरुण' मनो निरुध्य । 'धम्मं' धर्म्यं वस्तुस्वभाव । 'चउच्चिहं'  
चतुर्विधं चतुर्विकल्प । 'झादि' ध्यायति । अभ्यन्तरपरिकरोऽयमुक्तं सूत्रकारेण । बाह्य परिकर उच्यते ।  
पर्वतगुहाया, गिरिकदरे, दयी, तरुकोटरे, नदीपुलिने, पितृवने, जीर्णोद्याने, शून्यागारे वा व्यालमृगाणां  
पशूना, पक्षिणा, मनुष्याणा वा ध्यानविघ्नकारिणा सन्निधानशून्ये, तत्रस्थैरागन्तुभिश्च जीवैर्वर्जिते, उष्णशीतात-  
पवातादिविरहिते, निरस्तेन्द्रियमनोविक्षेपहेतौ, शुचावनुकूलस्पर्शं भूभागे मन्द-मन्द प्राणापानप्रचार नामेरुद्ध्वं  
हृदि ललाटेऽन्यत्र वा मनोवृत्तिं यथापरिचयं प्रणिदधातीति बाह्यपरिकर । 'अणापायविपाकविचये' आज्ञा-

ज्ञानमे मनको लगाकर श्रुतसे जाने हुए विषयोंका स्मरण करते हुए आत्मामे लीन हो । यह  
ध्यान ससारसे छूटनेके लिये किया जाता है ॥१७०१॥

गा०—विषयोंसे इन्द्रियोको और मनको हटाकर वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए  
वीर्य परिणामको स्थापित करके आत्मामे मनको लगाता है । अर्थात् वीर्य परिणामसे अपनी  
शुद्ध आत्मामे मनको धारण करता है ॥१७०२॥

मनको रोककर क्या करता है, यह कहते हैं—

गा०—एक विषयमे मनको रोककर आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और  
सस्थानविचय इन चार प्रकारके धर्मध्यानको ध्याता है ॥१७०३॥

टी०—ग्रंथकारने यह ध्यानकी अभ्यन्तर सामग्री कही है । टीकाकारने बाह्य सामग्री  
इस प्रकार कही है—

पर्वतकी गुफामे, या पहाड़की कन्दरामे, या वृक्षके कोटरमे या नदीके किनारे या स्मशान  
में या उजड़े हुए उद्यानमे या शून्य मकानमे, जहाँ ध्यानमे विघ्न करनेवाले सर्प मृग आदि पशु  
पक्षी और मनुष्योंका वास न हो, तथा वहाँ रहनेवाले और इधर-उधरसे आनेवाले जीव जन्तु न  
हों, गर्म या सर्द, धाम और वायु आदिसे रहित हो, जहाँ इन्द्रिय और मनको चंचल करनेके  
साधन न हों । ऐसे स्थानमें जो जमीनका भाग साफ सुथरा हो, उसका स्पर्श अनुकूल हो, उसपर  
स्थित होकर धीरे-धीरे श्वास उच्छ्वास लेते हुए नाभिसे ऊपर हृदयमे या मस्तकपर अथवा अन्य  
स्थानमें अपने मनोव्यापारको रोकता है । यह ध्यानकी बाह्य सामग्री है । ऐसा करके चार  
प्रकारका धर्मध्यान करता है । उनमेंसे आज्ञाविचय नामक धर्मध्यानका स्वरूप कहते हैं—

विचयमपायविचयं, विपाकविचयं, 'संज्ञाविचयं च' संस्थानविचयं च । तत्राज्ञाविचयो निरूप्यते—कर्माणि समूलोत्तरप्रकृतीनि तेषां चतुर्विधो बन्धपर्याय उदयफलविकल्प. जीवद्रव्य मुक्त्यवस्थेत्येवमादीनामतीन्द्रियत्वात् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षाभावात् बुद्धयतिशये असति दुरवबोध यदि नाम वस्तुतत्त्व तथापि सर्वज्ञान-प्रामाण्यात् आगमविषयतत्त्व तथैव नान्यथेति निश्चय सम्यग्दर्शनस्वभावत्वाम्बोक्षहेतुरित्याज्ञाविचारनिश्चय-ज्ञानं आज्ञाविचयार्थं धर्मध्यान । अन्ये तु बर्बन्ति स्वयमधिगतपदार्थतत्त्वस्य पर प्रतिपादयितुं सिद्धान्तनिरूपितार्थप्रतिपत्तिहेतुभूतयुक्तिगणेषणावहितचित्ता सर्वज्ञानप्रकाशनपरा अनया युक्त्या इयं सर्वविदामाज्ञावबोधयितुं शक्येति प्रवर्तमानत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यत इति । अनादी ससारे स्वैरमनोवाक्कायवृत्तेर्मम अशुभ-मनोवाक्कायैभ्योऽप्याय कथं स्यादिति अपाये विचयो मीमासास्मिन्स्तरीत्यपायविचय द्वितीय धर्मध्यानं । जात्यन्धसस्थानीया मिथ्यादृष्टय समीचीनमुक्तिमार्गापरिज्ञानात् दूरमेवापयन्ति मार्गादिति सन्मार्गापाये प्राणिना विचयो विचारो यस्मिन्स्तदपायविचय इत्युच्यत इति । मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र्येभ्य कथमिमे प्राणिनोऽप्येयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽप्यायविचय ॥ विपाकविचय उच्यते—समूलोत्तरप्रकृतीनां कर्मणामष्टप्रकाराणां चतुर्विध-बन्धपर्यायाणां मधुरकटुकविपाकानां तीव्रमध्यमदपरिणामप्रपञ्चकृतानुभवविशेषाणां द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षाणां एतासु गतिषु योनिषु वा इत्यभूत फलमिति विपाके कर्मफले विचयो विचारोऽस्मिन्निति विपाकविचयः । वेत्रासनमल्लरीमृदगसस्थानो लोक इति लोकत्रयसस्थाने विचयो विचारोऽस्मिन्निति सस्थानविचयता ॥१७०३॥

मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियों सहित कर्म, उनके चार प्रकारके बन्ध, उदय और फलके भेद, जीव द्रव्य, मुक्ति अवस्था ये सब और इसी प्रकारके अन्य पदार्थ अतीन्द्रिय हैं । तथा श्रुत-ज्ञानावरणके क्षयोपशमका प्रकर्ष न होनेसे विशेष बुद्धि भी नहीं है । ऐसी अवस्थामे यद्यपि वस्तु तत्त्व समझमे नहीं आता तथापि सर्वज्ञके ज्ञानके प्रमाण होनेसे आगममे तो तत्त्व जैसा कहा है, वह वैसा ही है, अन्य रूप नहीं है, इस प्रकारका निश्चय सम्यग्दर्शन रूप होनेसे मोक्षका कारण है । इस प्रकार सर्वज्ञकी आज्ञाके विचारका निश्चयरूप ज्ञान आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है । अन्य कुछ आचार्य ऐसा कहते हैं—स्वयको तो पदार्थों और तत्त्वोंका सम्यग्ज्ञान है । किन्तु दूसरोंको समझानेके लिये सिद्धान्तमे कहे गये अर्थोंका ज्ञान करानेमे हेतुभूत युक्तियोंकी खोजमे मनको लगाना कि इस युक्तिके द्वारा सर्वज्ञकी आज्ञाको समझाया जा सकता है, इसे भी सर्वज्ञकी आज्ञाके प्रकाशनमे सलग्न होनेसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं । इस अनादि संसारमे स्वच्छन्द मन बचन कायको प्रवृत्तिमेसे मेरा अशुभ मन बचन कायसे अपाय अर्थात् छुटकारा कैसे हो इस प्रकार अपायका विचय अर्थात् विचार जिसमे हो वह अपायविचय नामक दूसरा धर्मध्यान है । जन्मसे अन्धे मनुष्योंके समान मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन मोक्षमार्गको न जाननेसे मोक्षमार्गसे दूर ही रहते हैं । इस प्रकार सन्मार्गसे प्राणियोंके भटकनेका विचय अर्थात् विचार जिसमे हो उसे अपायविचय कहते हैं । अथवा संसारके ये प्राणी मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र्यसे कैसे अलग हो, कैसे उसे छोड़ें इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना अपायविचय है । विपाक-विचयका स्वरूप कहते हैं—मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति सहित आठ प्रकारके कर्मोंका और उनके चार प्रकारके बन्धोंका तथा द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे तीव्र मध्य और मन्द परिणामों के बिस्तारसे होनेवाले विपाकका तथा उनके मधुर और कटुक फलोंका कि इन गतियोंमे अथवा योनियोंमें इस प्रकारका फल होता है । इस तरह विपाक अर्थात् कर्मफलका विचय अर्थात् विचार जिसमे हो वह विपाकविचय धर्मध्यान है । अधोलोकका आकार वेत्रासनके समान है, मध्यलोक-

धम्मध्यानस्य लक्षणं निदिशति—

**धम्मस्स लक्खणं से अज्जवल्लुगत्तमद्दवुवदेसा ।**

**उवदेसणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रुचीओ दे ॥१७०४॥**

‘धम्मस्स लक्खणं से’ से तस्य । ‘धम्मस्स’ धर्मस्य ध्यानस्य । ‘लक्खणं’ लक्षण । लक्ष्यते धर्म्यं ध्यानं येन तल्लक्षणं । ‘अज्जवल्लुगत्तमद्दवुवदेसा’ आकूटान्तद्वयतस्तुवत् कुटिलताविरह आर्जवं । ‘लघुगत्तं’ लघुता निस्सगता जात्याद्यष्टविधाभिमानाभावी मार्जवं । उपैस्य जिनमत्तं देशनं कथनमुपदेश हितोपदेश इति यावत् । आर्जवादिभि कार्यैर्लक्ष्यते धम्मध्यानमिति आर्जवाधिकः लक्षणं । न ह्यार्तरीत्रे आर्जवाधिकं सपादयत् । यदार्जवाधिकं परिणाममात्मनः करोति तद्धर्म्यध्यानमिति लक्षणभावः । अथवा आर्जवादिपरिणामसद्भावे एव धर्म्यध्यानं प्रवर्तते नासत्यार्जवादी । नहि मानमायालोभकषायाविष्टो धर्मं प्रवर्तते, तेनार्जवाधिकं कारणं तेन लक्ष्यते धर्म्यमिति लक्षणतार्जवादीनाम् ॥१७०४॥

**आलम्बणं च वायणं पुरुच्छणं परिवट्ठणाणुपेहाओ ।**

**धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सध्वाणुपेहाओ ॥१७०५॥**

आलम्बनप्रतिपादनायोत्तरगाथा । ‘आलम्बणं च’ आशयश्च । कस्स ? ‘धम्मस्स’ धर्मध्यानस्य, ‘वायणं पुरुच्छणं परिवट्ठणाणुपेहाओ’ वाचना प्रश्नः, परिवर्तनमनुप्रेक्षति स्वाध्यायविकल्पाः । वाचनादिस्वाध्यायाभावे

का आकारं झल्लरी गोलं झान्णके समानं और ऊर्ध्वलोकका आकारं मूदंगके समानं है । इस प्रकार तीनों लोकोंके सस्थानका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो वह संस्थानविचय धर्मध्यान है ॥१७०३॥

धर्मध्यानका लक्षण कहते हैं—

गा०—आर्जवं, लघुता, मार्जवं, उपदेश और जिनागममे स्वाभाविकं रुचि ये धर्मध्यानके लक्षण है ॥१७०४॥

टी०—जिससे धर्मध्यानकी पहचान होती है वह उसका लक्षण है । एक धागेको दोनों ओरसे ताननेपर जैसे उसमें कुटिलता नहीं रहती, सरलता रहती है उसी प्रकारकी सरलताको आर्जवं कहते हैं । लघुता अनासक्ति और निर्लोभताको कहते हैं । जाति आदि आठ बातोंका गर्वन करना मार्जवं है । ‘उप’ अर्थात् किसीके पास जाकर ‘देश’ अर्थात् जिनमतका कथन करना उपदेश है अर्थात् हितोपदेश है । आर्जवं आदि कार्योंसे धर्मध्यान पहचाना जाता है इसलिये आर्जवं आदि धर्मध्यानके लक्षण हैं । आर्तं और रीद्रध्यान वालोको आर्जवं आदि नहीं होते । जो आत्माके आर्जवं आदिरूप परिणाम करता है वह धर्मध्यान है । इस प्रकार आर्जवादि धर्मध्यानके लक्षण हैं । अथवा आर्जवं आदि परिणामके होनेपर ही धर्मध्यान होता है, आर्जवं आदिके अभावमें नहीं होता । जो मान, माया और लोभसे चिरा रहता है वह धर्ममें प्रवृत्ति नहीं करता । अतः आर्जवादि धर्मध्यानके कारण हैं उनसे धर्मध्यानकी पहचान होती है । इसीलिये आर्जवं आदि धर्मध्यानके लक्षण हैं ॥१७०४॥

आगेकी गाथासे धर्मध्यानके आलम्बन कहते हैं—

गा०—वाचना, पुरुच्छना, परिवर्तन और अनुप्रेक्षा ये धर्मध्यानके आलम्बन हैं । तथा सब अनुप्रेक्षा धर्मध्यानके अविरुद्ध हैं ॥१७०५॥

वस्तुयाथात्म्यज्ञानमेव तास्तीति ध्यानाभाव' । स तु स्वाध्यायो भवति ज्ञानमविचलं ध्यानसंज्ञितमित्यालम्ब-  
नता स्वाध्यायस्य । 'तेषु' तेन धर्मेण ध्यानेनाविरुद्धा 'सम्बन्धुपेहाङ्गो' सर्वानुप्रेक्षा एकदैकत्राश्रये वृत्तेर-  
विरोधः । अनित्यतादिवस्तुस्वभावानुप्रेक्षणमनुप्रेक्षासालम्बन ध्यानमिति । एतेनानुप्रेक्षाया ध्यानेऽन्त-  
पातित्वमात्रभाषेनानुप्रेक्षोपन्यासे बीजाधानं कृतम् ॥१७०५॥

पूर्वोक्तान् धर्मस्य चतुरो भेदान् व्याचष्टे चतसृभिर्गाथाभिः । तत्राज्ञाविचय निरूपयति—

**पंचेव अस्तिकाया छज्जीवणिकाए दन्वमण्णे य ।**

**आणागेज्जे भावे आणाविचयेण विचिणादि ॥१७०६॥**

'पंचेव अस्तिकाया' पञ्चास्तिकाया जीवा पुद्गलधर्मास्तिकाया धर्मास्तिकाया अधर्मास्तिकाया  
आकाशमिति । तान् 'छज्जीवणिकायो' षड्जीवनिकायान्<sup>१</sup> 'दन्व' कालाख्य द्रव्य 'अण्णे य' अन्याश्च कर्म-  
बन्धमोक्षादीन् । 'आणागेज्जे भावे' सर्वज्ञाज्ञयागम्यान्भावान् । 'आणाविचयेण' आज्ञाविचयाख्येन धर्मध्यानेन  
'विचिणादि' विचारयति । सर्वविद्भिरपास्तरामट्टेषु<sup>२</sup> परमकाहणिकं 'यथामी निरूपितास्ते तथैवेति चिन्ता-  
प्रबन्ध आज्ञाविचय इति यावत् । 'आणापावविचयविचये' इत्यस्मिन्पाठे अपावविचयो नाम धर्मध्यानमिति  
गाथापूर्वाधेन व्याचष्टे ॥१७०६॥

**कल्लानपावगाणउपाये विचिणादि जिणमदमुवेच्च ।**

**विचिणादि वा अवाए जीवाण सुमे य असुमे य ॥१७०७॥**

'कल्लानपावगाण उपाये' तीर्थंकरपददायकानां दर्शनविशुद्ध्यादीनामुपायान् नि शङ्कादीन् विचिनोति

टी०—वाचना, प्रश्न करना, पाठ करना, अर्थका चिन्तन करना ये सब स्वाध्यायके भेद  
हैं । यदि वाचना आदि स्वाध्याय न किया जाये तो उसके अभावमे वस्तुके यथार्थस्वरूपका ज्ञान  
ही न होनेसे ध्यानका अभाव प्राप्त होता है । वह स्वाध्याय ज्ञान रूप है और निश्चल ज्ञानका  
नाम ध्यान है । अतः स्वाध्याय ध्यानका आलम्बन है । तथा सब अनुप्रेक्षाएँ एक समयमे एक  
आश्रयमे रह सकती हैं अतः वे भी धर्मध्यानके अनुकूल हैं । वस्तुके अनित्य आदि स्वभावका  
चिन्तन अनुप्रेक्षा है अतः वे भी ध्यानकी आलम्बन है । इस प्रकार ग्रन्थकारने अनुप्रेक्षाओको  
ध्यानमें अन्तर्भूत कहकर आगे अनुप्रेक्षाओके कथन करनेका बीज बो दिया है ॥१७०५॥

आगे चार गाथाओसे धर्मध्यानके चार भेदोको कहते हैं । सबसे प्रथम आज्ञाविचयको  
कहते हैं—

गा०—टी०—पाँच अस्तिकाय हैं—जीव, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय  
और आकाश । इन अस्तिकायोंको, तथा पाँच प्रकारके स्थावरकाय और प्रसकाय इन छह  
जीवनिकायोंको, कालद्रव्यको तथा अन्य कर्मबन्ध मोक्ष आदिको जो सर्वज्ञकी आज्ञासे ही गम्य  
है, आज्ञाविचय नामक धर्मध्यानके द्वारा विचार करता है । परम दयालु और राग-द्वेषसे रहित  
सर्वज्ञ देवने जिस रूपमे इन्हे कहा है वे उसी रूप है । इस प्रकारके चिन्तनको आज्ञाविचय धर्म-  
ध्यान कहते हैं ॥१७०६॥

गा०—तीर्थंकर पदको देनेवाले दर्शनविशुद्धि आदिके उपाय नि शकित आदिका विचार

१. यान् कालवन्ध कालाख्य -अ० मू० । २. यथानीति -आ० ।

'जिनमत्तं' जिनकथितं उपदेशं । 'विचिन्नादि वा अपायो जीवार्थं कुभे व अणुमे व' जीवानां शुभाशुभकर्म-  
विषयानपायान् तान्विचारयति । एतदुक्तं भवति शुभाशुभकर्मणः कथमपायो भवति जीवस्य इति चिन्ता-  
प्रवाहोऽपायविचयो नाम । स्पष्टार्थोत्तरगथा ॥१७०७॥

अपायेयभवगदं जीवाणं पुण्यपावकम्मफलं ।

उदओदीरणसंकमबंधे मोक्खं च विचिन्नादि ॥१७०८॥

अह तिरियउड्डलोए विचिन्नादि सपज्जए ससंठाणे ।

एत्थे व अणुगदाओ अणुपेहाओ वि विचिन्नादि ॥१७०९॥

'अह तिरिय उड्डलोए' ऊर्ध्वाधस्तियरलोकान् । 'विचिन्नादि' विचारयात् । कीदृग्भूतान् । 'सपज्जए'  
सपर्यायान् सस्थानसहितान् सपर्यायत्रिभुवनसस्थानविचारपरं संस्थानविषयाख्यं धर्मध्यानं । 'एत्थेव'  
अत्रैव । 'अणुगदाओ' अनुगता । 'अणुपेहाओ वि' अनुप्रेक्षा अपि । 'विचिन्नादि' विचारयति । अनित्यत्वा-  
दिस्वभावविचारं करोति धर्मध्याने इति कथितं भवति ॥१७०८॥१७०९॥

कास्ता अनुप्रेक्षा इत्याशकायामधुवादीननुप्रेक्षान्तिरूपयत्युत्तरप्रबन्धेन—

अधुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोयमसुइत्तं ।

आसवसंवरणिज्जर धम्मं बोधिं च चित्तिज्ज ॥१७१०॥

जिनभगवान्के द्वारा कथित उपदेशके अनुसार करता है । अथवा जीवोंके शुभ और अशुभ  
कर्मविषयक अपायोका विचार करता है । इसका अभिप्राय यह है कि जीव शुभ और अशुभ  
कर्मों से कैसे छूटे इस प्रकारका सतत चिन्तन अपायविचय है ॥१७०७॥

गा०—जीवोंके एक भव या अनेक भव सम्बन्धी पुण्यकर्म और पापकर्मके फलका तथा  
उदय, उदीरणा, संक्रम, बन्ध और मोक्षका विचार करता है ॥१७०८॥

टी०—कर्मों के फल, उदय, उदीरणा, संक्रम, बन्ध तथा मोक्ष आदिका चिन्तन करना  
विपाकविचय धर्मध्यान है । क्रमसे कर्मों का अनुभवन होना उदय है और अक्रमसे कर्मों का  
फल देना उदीरणा है । अर्थात् जो कर्म उदयमे नहीं आ रहा है उसकी स्थितिको बलपूर्वक  
घटाकर कर्मका उदयमे लाना उदीरणा है । और एक कर्म प्रकृतिका अपनी सजातीय अन्य  
प्रकृतिरूप बदलना संक्रम है । इन सबका चिन्तन विपाकविचय धर्मध्यान है ॥१७०९॥

गा०—पर्याय अर्थात् भेद सहित तथा वेत्रासन, झल्लरी और मुदंगके समान आकार  
सहित ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोकका चिन्तन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है । इसी  
संस्थानविचयमे सम्बद्ध अनुप्रेक्षाओंका भी विचार करता है अर्थात् धर्मध्यानमें ससारके अनित्य-  
त्वादि स्वभावका विचार करता है ॥१७०९॥

आगे अधुव आदि अनुप्रेक्षाओंका कथन करते हैं—

गा०—अधुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा,  
धर्म और बोधि इन बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करना चाहिये ॥१७१०॥

१. अ० प्रती गाथेयं नास्ति । २. एतां श्रीविचयानि नेच्छति ।

लोगो बिलीयदि इमो फेनोव्व सदेवमाणुसतिरिक्खो ।  
रिद्धीओ सव्वाओ सुविणयसंदंसणसमाओ ॥१७११॥

'लोगो बिलीयदि इमो' लोको बिलयमुपयाति । किमिव ? 'फेनोव्व' फेनवत् । 'सदेवमाणुसतिरिक्खो' देवैर्मानुषैस्तिर्यग्भिश्च समम्बितः । इत्यनेन लोकत्रयस्यापि विनाशिताभिहिता । 'रिद्धीओ सव्वाओ' ऋद्धयः सर्वाः । 'सुविणयसंदंसणसमाओ' स्वप्नज्ञानसमाः । ननु 'लोगो बिलीयदि इमो' इत्यनेन सर्वस्यानित्यता व्याख्याता, ऋद्धथावयोरपि लोकमन्तर्भूता इति किमर्थं जेदोपन्यास ? । अत्रोच्यते । समुदायस्यावयवात्मक-स्यावयवानित्यतामन्तरेण तदनित्यता न सुखेनावगम्यत इति भिदोपम्यस्यते ॥१७१०॥१७११॥

द्रव्यगतो लोभो महान् प्राणभृतां तन्मूलत्वादिन्द्रियसुखस्य । प्राणानप्यय त्यजति द्रव्यनिमित्तमस्तद-  
नित्यतामेव प्राणुपदर्शयति निस्संगतामात्मनः संपादयितुं—

विज्जूव चंचलाइं दिहुपणद्दाइं सव्वसोक्खाइं ।  
जलबुब्बुदोव्व अधुवाणि हुंति सव्वाणि ठाणाणि ॥१७१२॥

'विज्जूव चंचलाइं' विद्युदिव चञ्चलानि, 'दिहुपणद्दाइं' दृष्टप्रणष्टानि, 'सव्वसोक्खाइं' सर्वाणि सुखानि अभिमतरूपादिविषयपञ्चकस्य प्रपञ्चस्य सन्निधानानुपजातानि यानि च मन समुत्थानि सर्वेषा वा मानवाना तिरश्चां दिविजानां वा सुखानि सुखलम्पटतया जनः क्लेशाशनिशतनिपातमपि सहते, तानि च नीरभरविन'तसंभारगम्भीरधारारावनीलीनी'रदोषपरिस्फुरत्तडिल्लतेव, एतेनानित्यतादोषोत्कटनेन सासारिक-सुखपराङ्मुखतोषामो निगदितः । 'जलबुब्बुदोव्व' जलबुद्बुदवत् । 'अधुवाणि' अध्रुवाणि । 'हुंति' भवन्ति ।

गा०—टी०—देव, मनुष्य और तिर्यञ्चोके साथ यह लोक जलके फेनके समान विनाशको प्राप्त होता है । इससे तीनों लोकोंको विनाशशील कहा है । सब ऋद्धियाँ भी स्वप्नज्ञानके समान विनाशीक हैं ।

शङ्का—'लोक विनाशशील है' इससे सबको अनित्य कह दिया है । ऋद्धि आदि भी लोकके अन्तर्भूत हैं । फिर अलगसे उनको विनाशी कहनेका क्या प्रयोजन है ?

समाधान—समुदाय अवयवात्मक है । अतः अवयवोंकी अनित्यताके विना समुदायकी अनित्यताका ज्ञान सुखपूर्वक नहीं होता । इससे ऋद्धियोंको अलगसे अनित्य कहा है ॥१७११॥

प्राणियोंको द्रव्यका लोभ बहुत अधिक होता है, क्योंकि इन्द्रिय सुखका मूल द्रव्य है । इसीसे वह द्रव्यके लिये प्राणों तकको त्याग देता है । अतः आत्माको निःसंग बनानेके लिये प्रथम द्रव्यकी अनित्यता ही दर्शाते हैं—

गा०—टी०—इष्ट रूप आदि पाँच विषयोंके समूहके सम्बन्धसे उत्पन्न तथा मनसे उत्पन्न सब मनुष्यो तिर्यञ्चो और देवोंका सब सुख बिजलीके समान चपल है और देखते-देखते नष्ट होनेवाला है । आशय यह है कि मनुष्य सुखका लम्पटी होनेसे सैकड़ो वज्रपातोंके गिरनेसे होनेवाले कष्टको भी सहता है । किन्तु वे सब सुख जलके भारसे नम्र हुए गम्भीर धीर शब्द करने वाले नीले बादलोंके उदरमें चमकने वाली बिजलीकी तरह हैं । इस अनित्यता दोषको प्रकट करनेसे सांसारिक सुखसे विमुख होनेका उपाय कहा है । तथा सब स्थान जलके बुलबुलेकी तरह अध्रुव हैं ।

'अथाग्निं सञ्चयति' सर्वाणि स्थानानि । तिष्ठन्त्येतेषु जीवा इति स्थानानि भ्राम्मणपरिणामादीनि । इदं मदीयं स्थानं अत्राहं वसामीति मा कृषाः संकल्पं । तानि अनित्यानि नित्यबुद्ध्या परिकृहीतानि विनाशो सङ्कले शानानयन्तीति कथितं । अथवा तिष्ठन्त्यस्मिन्स्वकृतविचित्रकर्मोदयात्प्राणभूत इतीन्द्रत्व, चक्रलाञ्छनत्व, गणाधिपतित्व वा एतानि स्थानान्यनित्यानि ॥१७१२॥

**पावागदाव बहुमशुषाविदा हुंति सञ्चसंबंधी ।**

**सञ्चेसिआसया वि अग्निञ्चा जह अग्मसंघाया ॥१७१३॥**

'पावागदाव' जलयानपात्रारूढा इव 'बहुमशुषाविदा हुंति सञ्चसंबंधी' विचित्रशुभाशुभपरिणामोपासगतिकर्मवशात्तदुपनीयमानदेवमानवनारकतिर्यंशाख्यभतिपर्यायग्रहणाय कृतप्रयाणा बन्धवः सर्वेऽपि । एतेन बन्धुताया अनित्यतोक्ता । उपासगत्यपरित्यागे बन्धुता स्थिरा भवति, उपासा चेत् त्यक्तान्या च गृहीता पितृपुत्रादीना गत्यन्तरमुपगतामपि बन्धुत्वे स्वजनपरजनविवेक एव न स्यादिति मन्यते । 'सञ्चेसि आसया वि' सर्वेषामाश्रया अपि यानाश्रित्य प्राणिनो जीवितुमुत्सहन्ते तेष्याश्रया स्वामी भूत्य पुत्रो भ्रातेत्येवमादयोऽनित्या यथा अग्मसंघावा अग्मसघाता इव ॥१७१३॥

**संवासो वि अग्निञ्चो पहियाणं पिण्डणं व छाहीए ।**

**पीदी वि अच्छिरागोम्ब अग्निञ्चा सञ्चजीवाणं ॥१७१४॥**

'संवासो वि' सहावस्थानमपि बन्धुभिर्मित्रैः परिजनैर्दा, 'अग्निञ्चो' अनित्यः । 'पहियाणं पिण्डणं व

जिनमे जीव ठहरते है उन्हे स्थान कहते हैं । वे स्थान है—गाँव, नगर आदि । यह मेरा स्थान है । मैं यहाँ रहता हूँ । ऐसा संकल्प तुम मत करो । वे स्थान अनित्य हैं । उन्हे नित्य समझकर ग्रहण करनेपर यदि वे नष्ट होते हैं तो मनमें बड़ा सकलेश होता है । अथवा अपने किये विचित्र कर्मके उदयसे प्राणी जिनमें रहते हैं वे स्थान है इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, गणधरपद । ये सब स्थान अनित्य हैं ॥१७१२॥

गा०-टी०—सब सम्बन्धी विचित्र शुभ या अशुभ परिणामोसे बांधे गये गति नामकर्मके वशसे प्राप्त मनुष्यगति, देवगति, नारकगति और तिर्यङ्गगति रूप पर्यायको ग्रहण करनेके लिये जानेवाले है अत वे नावपर सवार यात्रियोंके समान हैं । जैसे नावपर सवार यात्री अपने-अपने स्थानपर चले जाते हैं उसी प्रकार हमारे सम्बन्धी अपने-अपने परिणामोंके अनुसार गति नामकर्मका बन्ध करके मरकर अपनी-अपनी गतिमें चले जाते हैं । इससे बन्धुताको अनित्य कहा है । जो जिस गतिमें है वह उसी गतिमें रहे, उसे छोड़े नहीं तो बन्धुपना स्थिर होता है । जिस गतिमें है उसे छोड़ अन्य गतिको ग्रहण करे तो नित्य कैसे हुई । जो पिता पुत्र आदि मरकर दूसरी गतिमें चले गये फिर भी यदि वे अपने बन्धु हैं तो अपने और परायेका भेद ही नहीं रहता । तथा जिन आश्रयोंसे प्राणी जीवित रहते हैं वे आश्रय भी, जैसे स्वामी और सेवक, पत्र, भ्राता आदि ये सब भेदपटलके समान अनित्य हैं ॥१७१३॥

गा०-टी०—जैसे नाना दिशाओं और नाना देशोंसे आये हुए और भिन्न-भिन्न स्थानोंको

१. शशताम्या—मु० । २. प्राणिन इ—आ० मु० ।

‘अग्नि’ नामादिगुणैः सायतानां पथिकानां मन्त्रस्थानयायिना भागोपकण्ठस्थितनिविद्धत<sup>१</sup>रपलाशालंकार-  
विस्तृतयाकारकशतनिवारितवर्षरदिमप्रसरतद्वरशीतलाविरलबिपुलछायाया पान्थानां समाज इव । ‘पौडीबिं’  
प्रीतिरपि । ‘अच्छि रागोच्च’ प्रणयकलहपासुपातदूषितप्रियतमालुठत्याटीनोदरधवललोचनान्तराग इव अनित्या  
सर्वजीवाना । तथाह्यप्रियाचरणविषकणिकाप्रणयलोचनप्रलय संविदघातीति प्राणभूतामनुभवसिद्धमेव ॥१७१४॥

रति एगम्नि दुमे सजुगाणं पिण्डणं व संजोगो ।

परिवेसोव अणिच्चो इस्सरियाणाधणारोगं ॥१७१५॥

‘रति’ रात्रौ । ‘एगम्नि दुमे’ एकस्मिन् दुमे । ‘सजुगाणं’ पक्षिणा । ‘पिण्डणं व’ पिण्डितमिव ‘सजोगो’  
सयोगो यस्यामस्तद्दुमाभिमुखं तत्र वयं प्राप्स्यामोन्योन्यमित्यकृतसकल्पाना यथाकथंचिदन्वोन्यप्राप्तिरल्पकाला  
तथा प्राप्नुवामपि समानकालकालमास्तप्रेरितानामेकस्मिन् कुलविटपिनि कतिपयदिनभावीसंप्रयोग ।  
‘परिवेसो व’ परिवेष इव । ‘अणिच्चं’ अनित्य । किं ? ‘इस्सरियाणाधणारोगं’ ऐश्वर्यं प्रभुता आज्ञा धनं आरोग्य  
च ॥१७१५॥

इंदियसामग्गी वि अणिच्चा संझाव होइ जीवाणं ।

मज्झण्हं व णराणं जोव्वणमणवट्टिद लोए ॥१७१६॥

‘इंदियसामग्गीवि’ इन्द्रियाणां सामान्यपि । ‘अणिच्चा’ अनित्या । अंधता वधिरता च दृश्यत एव ।  
‘मज्झण्हं व’ मध्याह्नवत्, ‘णराणं जोव्वणमणवट्टिद लोए’ नराणां यौवनमनवस्थित लोके यौवनोऽहमिति जन  
जानेवाले पथिक मार्गके समीपमे स्थित अत्यन्त घने पलाश आदि वृक्षोंके फैले हुए शाखाभारसे  
सूर्यके तेजको दूर करनेवाले वृक्षोंकी शीतल और घनी छायामें अपना समाज बनाकर बैठते हैं  
और धूप ढलनेपर अपने-अपने स्थानोंको चले जाते हैं । उन्हींकी तरह मित्र, बन्धु और परिजनोके  
साथ सहवास भी अनित्य है । वे भी प्रायः पुरी होनेपर अपने-अपने स्थानोंको चले जाते हैं । तथा  
सब जीवोंकी प्रीति भी अनित्य है । जैसे प्रेमकलहके कारण या धूल पड़ जानेसे प्रिय स्त्रीकी  
क्रोडा करती हुई मछलियोंके उदर भागके समान श्वेत लोचनोंके कोनोंमें ललामी अनित्य है ।  
अप्रिय आचरणरूपी विषकी कनी प्रेमरूपी नेत्रोंको नष्ट कर देती है यह बात सब प्राणियोंके  
अनुभवसे सिद्ध है अतः प्रीति भी अनित्य है ॥१७१४॥

शा०—जैसे पक्षी सूर्यके अस्त होनेपर हम अमुक वृक्षपर मिलेगे, ऐसा परस्परमें सकल्प  
नही करते । फिर भी जिस किसी प्रकार कुछ समयके लिये परस्परमें मिल जाते हैं । उसी प्रकार  
संसारके प्राणी भी समान कालरूप वायुसे प्रेरित होकर एक कुलरूपी वृक्षपर कुछ दिनोंके लिये  
आ मिलते हैं । तथा ऐश्वर्य, प्रभुता, आज्ञा, धन और आरोग्य भी सूर्यकी परिधिकी तरह अनित्य  
हैं ॥१७१५॥

शा०-टी०—सन्ध्याकालकी तरह इन्द्रियोंकी सामग्री भी अनित्य है । क्योंकि लोकमें अन्धे  
और बहरे मनुष्य देखे जाते हैं । तथा मध्याह्न कालकी तरह लोकमें मनुष्योंका यौवन भी अनव-

१ तरलदिरपलाशालंकारविनतशा—आ० मु० ।

२. योगः सूर्यस्य अस्ते इमा—आ० ।

३. मेकैक—आ० ।



इलाच्यते, यौवनदर्पविकारादेव बुध्यमानोऽपि बर्मे न प्रवर्तते तदनिर्त्यं मध्याह्नवत् । सिप्रतरं व्यतिवर्तिनि यौवने 'का यौवनकृतोत्तीर्णमदः स्याच्च मनस्विनाम् ॥१७१६॥

चंदो हीणो व पुणो बद्धदि एदि य उद् अदीदो वि ।

णदु जोळवर्णं णियत्तइ णदीजलमदछिदं चेव ॥१७१७॥

'चंदो हीणो व पुणो बद्धदि' नित्यराहुमुखकुहरप्रवेशाद्धानिमुपगतोऽपि निशानाय कृष्णपक्षे हीयते हीनो भवति । 'पुणो बद्धदि' पुन शुक्लपक्षे बद्धते । प्रतिदिनोपचीयमानकालः । 'एदि य उद् अदीदोवि' हिमशिशिरवसन्तादयोऽतीता अपि ऋतवः पुनरायान्ति 'न तु जोळवर्णं णियत्तेवि' नैव यौवनं निवर्ततेऽतिक्रान्तम् तस्मिन्नेव भवे 'नदीजलमदच्छिदं चेव' नदीजलयतिक्रान्तमिव न पुनरेति । तद्वदिद यौवनामत्यग्नेनानित्यतता-तिसयो यौवनस्य दक्षितः ॥१७१७॥

धावदि गिरिणदिसोदं व आउगं सच्चजीवलोगम्मि ।

सुकुमालदा वि हायदि लोगे पुवणहछाही व ॥१७१८॥

'धावदि गिरिणदिसोदं' धावति गिरिनदीप्रवाह इव । कि ? 'आउगं' आयुः । 'सच्चजीवलोगम्मि' सर्वस्मिन् जीवलोके । 'सुकुमालदा वि हीयदि' सुकुमारतापि हीयते । 'पुवणह छाही व' पूर्वाह्णछाया इव । यथा यथोद्गच्छति तामरसबन्धुस्तथा तथोपसंहरति छाया शरीरादीना ॥१७१८॥

अवरणहरुक्खछाही व अट्टिदं बद्धदे जरा लोगे ।

रुवं पि णासइ लहुं जलेव लिद्धिदण्लयं रुवं ॥१७१९॥

'अवरणहरुक्खछाही' अपराह्णवृक्षच्छायेव । 'अट्टिदं बद्धदे' अस्तित्वं बद्धते । क्रियाविशेषणत्वान्न-पु सकता । 'जरा लोगे' लोके । सौख्यपल्लववदानलशिखा, सीभान्यप्रसूनकरकावृष्टि, युवतिहरिणालीव्याघ्री,

स्थित है । मनुष्य 'मे युवा हूँ' इस प्रकारसे अपनी प्रशंसा करता है । यौवनके घमण्डसे ही जानते हुए भी धर्ममे प्रयत्नशील नहीं होता । किन्तु वह यौवन मध्याह्नकालको तरह अनवस्थित है । इस प्रकार शीघ्र ही जानेवाले यौवनका मनस्वियोको मद कैसा ? अर्थात् यौवनका मद करना उचित नहीं है ॥१७१६॥

गा०—टी०—प्रतिदिन राहुके मुखरूपी बिलमे प्रवेश करनेसे चन्द्रमा कृष्णपक्षमें घटता है और पुनः शुक्लपक्षमें प्रतिदिन बढ़ता है । तथा हेमन्त, शिशिर, बसन्त आदि ऋतुएँ भी जाकर पुनः लौटती हैं । किन्तु बीता हुआ यौवन उसी भवनमें नहीं लौटता । जैसे नदीमे गया जल फिर वापिस नहीं आता । उसी प्रकार यौवन भी जाकर वापिस नहीं आता । इससे यौवनकी अत्यन्त अनित्यता दिखलाई है ॥१७१७॥

गा०—सर्व जीवलोकेमें आयु पहाड़ी नदीके प्रवाहकी तरह दौडती है । सुकुमारता भी पूर्वाह्णको छायाके समान दौडती है । जैसे-जैसे सूर्य ऊपर उठता है वैसे-वैसे शरीरादिकी छाया घटती जाती है । उसी तरह ज्यो-ज्यो आयु बढ़ती है त्यो-त्यो सुकुमारता कम होती है ॥१७१८॥

गा०—टी०—जैसे अपराह्ण कालमे वृक्षकी छाया बढ़ती है वैसे ही लोकमे एक बार

ज्ञानकोषनपांशुबृष्टिस्तपस्वामरसवनस्य हिमानी, दीनताया जननी, परिभवस्य धात्री, मृतेर्दूती, भीते. प्रियसखी या अरा सा बद्धते । 'रूबं पि वासवि लहु' रूपमपि विलासिनीकटाक्षेक्षणधारज्ञातृणी रायमाण, चेतोवलक्षसूक्ष्म-वसनरञ्जने कौमुम्भरसायमान, प्रीतिलतिकाया मूलं, सौभाग्यतरुफल, कूल पूज्यताया यद्गुण तत्त्वेषु विनश्यति ॥ किमिव ? 'जलेषु लिहिदेस्लगं रूबं' जले लिखितरूपमिव ॥१७१९॥

**तेजो वि इंदधनुतेजसणिहो होइ सव्वजीवाणं ।**

**दिदुपणहुा बुद्धी वि होइ उक्काव जीवाणं ॥१७२०॥**

'तेजोपि इवधनुतेजसणिहो' शरीरस्य तेजोपि पीलं.मीप्रियतमचापस्य तेज इव गर्ज्जजननयनचेत - प्रमोदावापि क्षणेन क्षयमुपव्रजति । 'दिदुपणहुा' दृष्टप्रणष्टा 'बुद्धि वि' सकलवस्तुयाथात्म्यावकुण्ठे ज्ञानानतम-पटलपाटनपटीयसी, विचित्रदु खत्राहकदम्बकाकीर्णकुगतिविशालनिम्नगाप्रवेशनिवारणोद्यता, चारित्रनिधिप्रकट-नक्षमादीपवति., सकलसम्पदाकर्षणविद्या शिवगतिनायिकासफली एवंभूता बुद्धिरप्युल्केवाशु नाशमुप-याति ॥१७२०॥

**अदिवडइ बलं खिप्यं रूबं धूलीकदंबरछाए ।**

**वीचीव अदुधुवं वीरियं पि लोगम्मि जीवाणं ॥१७२१॥**

'अदिवडइ बलं खिप्यं' क्षिप्रमतिपतति बल 'रूबं धूलीकदंबरछाए' रथ्याया पाशुरचितरूपमिव ।

आनेपर बुढापा बढता जाता है । यह बुढापा सुन्दरतारूपी कोमल पत्तोंके लिये वनकी आगकी लपटके समान है । सौभाग्यरूपी पुष्पोंके लिये ओलकी वर्षाके समान है । तारुण्यरूपी हरिणोंकी पंक्तिके लिये व्याघ्रके समान है । ज्ञानरूपी नेत्रके लिये धूलकी वर्षाके समान है । तपरूपी कमलके वनके लिये बर्फ गिरनेके समान है । अर्थात् वृद्धावस्थाके आनेपर सुन्दरता, सुभगता, तारुण्य, ज्ञान और तप सब क्षीण हो जाते हैं । यह वृद्धावस्था दीनताकी माता है, तिरस्कारकी धाय है, मृत्युकी दूती है और भयकी प्रिय सखी है । तथा जलमे लिखे हुए रूपके समान रूप भी शीघ्र नष्ट हो जाता है । यह रूप सुन्दर स्त्रियोंके कटाक्षरूपी सैकड़ों बाणोंके लिये तूणीरके समान है अर्थात् पुरुषके रूपको देखकर स्त्रियाँ उसपर कटाक्षबाण चलाती हैं । चित्तरूपी सूक्ष्मवस्त्रको रगनेके लिये कुमुम्भके रंगके समान है । प्रीतिरूपी लताका मूल है । सौभाग्यरूपी वृक्षका फल है । पूज्यताका किनारा है । ऐसा रूप भी शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥१७१९॥

गा०-टी०-—शरीरका तेज भी इन्द्र धनुषके तेजके समान है । जैसे इन्द्रधनुषकी कान्ति मनुष्योंके नेत्रों और चित्तको आनन्दकारी होती है किन्तु क्षणभरमे नष्ट हो जाती है वही दशा शरीरकी कान्तिकी भी है । जो बुद्धि समस्त वस्तुओंके यथार्थस्वरूपको ढाकनेवाले अज्ञानरूपी अन्धकारके पटलको नष्ट करनेमे अतिशय दक्ष है, विचित्र दु.खरूपी मगरमच्छके समूहसे व्याप्त कुगतिरूपी विशाल नदीमे प्रवेश करनेसे रोकनेमें तत्पर है, चारित्ररूपी निधिको प्रकट करनेमे दीपककी बत्तीके समान है, समस्त सम्पदाओंको लानेवाली विद्यातुल्य है और मोक्षगतिरूपी नायिकाकी सखी है, ऐसी बुद्धि भी शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥१७२०॥

गा०-—जैसे मार्गमे धूलीसे रचा गया आकार शीघ्र नष्ट हो जाता है वैसे ही जीवोका

१ कुठनाज्ञान—आ० ।

‘बीबीष’ चण्डप्रभजनाभिघातोत्थापिततरलतरंभमालेव, ‘अध्रुव’ अध्रुव । ‘वीर्यं’ वीर्यमपि । जीवाना शरीरस्य दृढता बल वीर्यमात्मपरिणामः ॥१७२१॥

हिमणिचओ वि व गिहसयणासणमंडाणि होंति अधुवाणि ।

जसकित्ती वि अणिच्चा लोए संज्जम्भरागोच्च ॥१७२२॥

स्पष्टोत्तरगाथा—

किह दा सत्ता कम्मवसत्ता सारदियमेहसरिसमिणं ।

ण मुणंति जगमणिच्चं मरणभयसमुत्थिया संता ॥१७२३॥

‘किह’ कथ तावत् । ‘अणिच्चं जगं च मुणंति’ जगदनिरयं न जानन्ति । के ? ‘सत्ताबी’ सीदन्ति स्वकृतपापवशात्तासु तासु योनिष्विति सत्त्वाः । ‘सारदियमेहसरिसमिण’ शरद्वृत्तुसमुद्गतनैकवर्णविचित्र-सस्थानजीमूतमालासदृश । ‘मरणभयसमुत्थिया संता’ मरण विष वृषतमजीवितस्य सरित्कूलं प्रियवियोगदार-कस्य, शोकाशनेर्जलदपटल, अयस्कान्तोपल दुःखलोहाकर्षणे, बन्धुहृदयोपलानां द्रावकमौषधमायतापदामायतन एवभूतमरणभयसमुत्थिता सन्त । एवमनित्यतामशेषवस्तुविषया ध्येयीकृत्य प्रवर्तते धर्म्यं ध्यान । अध्रुव ॥१७२३॥

अशरणताकथनायोत्तरप्रबन्ध । कर्माण्यात्मपरिणामोपाजितानि कषायपरिणामोपनीतचिरकालस्थितीनि सन्निहितक्षेत्रकालभावाख्यसहकारिकारणानि यदा फलमशुभं प्रयच्छंति तदा तानि न निवारयितुं कश्चित्स-मर्थोऽस्ति तेनाशरणोऽस्म्यहमिति चिन्ताप्रबन्ध कार्य इत्याचष्टे—

णासदि मदी उदिण्णे कम्मे ण य तस्स दीसदि उवाओ ।

अमदंपि विसं सत्थं तणं पि णीया वि हुंति अरी ॥१७२४॥

बल शीघ्र नष्ट हो जाता है । तथा जीविका वीर्य भी प्रचण्ड वायुके अभिघातसे उठी हुई चंचल तरगमालाके समान अध्रुव है । जीवोके शरीरकी दृढताको बल और जीवोके आत्मपरिणामको वीर्य कहते हैं । ये दोनों ही शीघ्र नष्ट होनेवाले हैं ॥१७२४॥

गा०—घर, शय्या, आसन, भाण्ड ये सब भी बर्फके समूहकी तरह अध्रुव हैं । तथा लोक-मे यशकी कीर्ति भी सन्ध्याके समय आकाशकी लालिमाकी तरह अनित्य है ॥१७२५॥

गा०—मरणके भयसे युक्त होनेपर भी अपने-अपने कामोंमें लीन प्राणी शरत् कालके मेघके समान इस जगत्को अनित्य क्यों नहीं जानते ॥१७२६॥

टी०—अपने किये हुए पापके वशसे उन-उन योनियोमें जो कष्ट उठाते हैं उन्हें सच्च कहते हैं । यह जगत् शरद् ऋतुमें उठे हुए अनेक रंग और अनेक आकार वाले मेघमालाके समान अनित्य है । तथा जिन्हें अपना जीवन प्रिय है उनके लिये मरण विषके समान है । प्रियजनके वियोगरूपी पुत्रके लिये नदीका तट है । शोकरूपी वज्रपातके लिये मेघपटल है । दुःखरूपी लोहको लानेके लिये चुम्बक पत्थर है । बन्धुओंके हृदयरूपी पत्थरको पिघलानेके लिये औषध है । मरने पर कठोर हृदय कुटुम्बयोका भी मन पिघल जाता है । लम्बी विपत्तियोंका घर है । ऐसा मरणके भयको जानते हुए भी लोग जगत्की अनित्यताको नहीं समझते यह आश्चर्य और खेदकी बात है ॥१७२६॥

'अस्तवि भवो' नश्यति मतिः । 'उद्विष्ये कश्चि' उदीर्णे कर्मणि । बुद्धिद्विधा स्वाभाविकी आगमभवा च । सा द्वयी यस्यासौ हितमवैति नेतरः । उक्तं च—

द्विधेह बुद्धिं प्रवर्धयति सन्तः स्वाभाविकीनागमसंभवाच्च ।

बुद्धिर्द्वयी यस्य शरीरिणः स्वाविष्टं हितं सो लभते न चाग्यः ॥१॥

स्वाभाविकी यस्य मतिविबुद्धा, तीर्थाविवाप्तं न तु शास्त्रमस्ति ।

इष्टुं हितं धर्ममसौ न शक्नो भाषां विना स्वमिवाप्त्यनन्धः ॥२॥

तीर्थाविवाप्तं धृतमस्ति यस्य स्वाभाविकी नास्ति मतिविबुद्धा ।

धृतस्य नाप्नोति फलं स तस्य दीपस्य हस्तेऽपि सतो यथान्वः ॥३॥

किं दर्पणेनाकुतलोचनस्य विद्वान् भोगस्य धनेन वा किम् ।

शास्त्रेण किं वा युधि भीष्मस्य तथैव किं मन्धमे धृतेन ॥४॥

ईदृशी बुद्धिनश्यति ज्ञानावरणस्थे कर्मण्युदयमुपागते । तच्छ ज्ञानावरणं बध्नाति जन्तुर्जानिना ज्ञानस्य ज्ञानोपकरणानां च द्वेषान्निह्नवादुपघातात् मात्सर्याद् विघ्नकरणादासादनाद् दूषणात् । ज्ञानार्देनप्रहकरणाद-

इस प्रकार अध्रुवभावनाका कथन समाप्त हुआ । आगे अशरणभावनाका कथन करते हैं—

कर्मबन्ध आत्माके परिणामोंसे होता है । जीवके ही कषायरूप परिणामोका निमित्त पाकर उन कर्मोंकी दीर्घ स्थिति होती है । प्राप्त द्रव्य क्षेत्र काल और भाव उनके सहकारी कारण होते हैं । जब वे कर्म अशुभ फल देते हैं तो उनको कोई रोक नहीं सकता । अतः मैं अशरण हूँ ऐसी विचारना चाहिये, यह कहते हैं—

गा०—टी०—कर्मका उदय होनेपर बुद्धि नष्ट हो जाती है । बुद्धि दो प्रकारकी होती है एक स्वाभाविक और दूसरी आगमिक । जिसके दोनो प्रकारकी बुद्धि होती है वह अपने हितको जानता है । जिसके वह बुद्धि नहीं होती वह नहीं जानता । कहा भी है—

सन्त पुरुष दो प्रकारकी बुद्धि कहते हैं—एक स्वाभाविक, दूसरी आगमसे उत्पन्न हुई । जिस शरीरधारीके ये दोनो बुद्धियाँ होती है वह अपने इष्ट हितको प्राप्त करता है । जिसके दोनो बुद्धिया नहीं है वह हितको प्राप्त नहीं कर सकता । जिसके पास स्वाभाविक विशुद्ध बुद्धि तो है किन्तु जिसने शास्त्राभ्यास करके आगमिक बुद्धि प्राप्त नहीं की है वह हितकारी धर्मको उसी प्रकार नहीं देख सकता, जैसे दृष्टिसम्पन्न पुरुष रूपको देखते हुए भी भाषाके विना उसको कह नहीं सकता । जिसके पास गुरुसे प्राप्त शास्त्र तो है किन्तु उसे समझनेकी स्वाभाविक विशुद्ध बुद्धि नहीं है वह भी श्रुतका फल नहीं प्राप्त कर सकता । जैसे अन्धा पुरुष हाथमे दीपक होते हुए भी उसका फल नहीं पाता । जिसके लोचन मूढ़े हैं उसे दर्पणसे क्या लाभ ? जो न दान देता है न भोगता है उसे धनसे क्या लाभ ? जो डरपोक है उसे युद्धमे शास्त्रसे क्या लाभ ? इसी तरह मन्दबुद्धि पुरुषको शास्त्रसे क्या लाभ ? ॥

ज्ञानावरण नामक कर्मका उदय आनेपर इस प्रकारकी बुद्धि नष्ट हो जाती है । ज्ञानियोसे, ज्ञानसे और ज्ञानके उपकरणोंसे द्वेष करनेसे, ज्ञानको और ज्ञानके साधनोंको छिपानेसे, प्रशंसनीय ज्ञानमे दूषण लगानेसे, ईर्ष्यावश किसीको ज्ञानदान न करनेसे, किसीके ज्ञानाराधनमे बाधा डालनेसे,

काले पठनात् परेन्द्रियोपघातकारणाद्यैर्द्विजितं अवग्रहेहावायधारणाधिकत्वं मतिज्ञानं श्रुतादिकं वा नाशयति । उक्तं च—

अवग्रहीतुं च तत्रेहितुं च स्वेजेहितुं धारयितुं च सम्यक् ।  
 नालं भवत्यर्जितवान्पुरा यः कर्मफलं ज्ञानवृत्तेर्निमित्तम् ॥१॥  
 अन्धश्च पश्यन् अक्षिरश्च शृण्वन् जिह्वां विनाऽप्यती रसनास्तथाऽप्यनु ।  
 त्वचो विनाशे वरशीतकादि जानन्नसौ कर्मविभावबद्धः ॥२॥  
 घ्राणं विना गन्धमयं हि जीवो जानाति नित्यं नित्यं नित्यं नित्यं ॥३॥  
 परन्तु बोधावृत्तिकर्मनाम्ना प्रोक्षंस्तरां न विषयेषु वेत्ति ॥३॥  
 एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियतां भवेषु स त्रीन्द्रियत्वं चतुरिन्द्रियत्वम् ।  
 तेनावृतं कर्ममहाम्बुदेन प्राप्नोति जीवो विमलस्फटां च ॥४॥  
 द्रष्टुं हितं श्रोतुमथेहितुं च कर्तुं च दातुं विधिना च भोक्तुम् ।  
 स्वकर्मणा तेन नरो वृत्तस्सन् न बुध्यमानः पश्यति साम्यम् ॥५॥  
 स्वबुद्धिमात्रमपि शक्यमाप्तुं ध्येयः समीपस्यमिहाव्यवितान् ।  
 सुदूरस्थं च 'श्रुतोऽभिगम्यं स केन विद्यात् परलोकपथम् ॥६॥

प्रशस्त ज्ञानकी प्रशंसा न करनेसे, जीव ज्ञानावरण कर्मका बन्ध करता है। तथा ज्ञानादिका निग्रह करनेसे, अकालमे स्वाध्याय करनेसे, दूसरेकी इन्द्रियोंका घात करनेसे संचित मतिज्ञानका, जिसके अवग्रह ईहा अवाय और धारणा भेद हैं तथा श्रुतज्ञान आदिका नाश हो जाता है। कहा है—

जो पहले ज्ञानको रोकनेमे निमित्त नीच कर्म उपाजित कर चुका है, वह सम्यक् रूपसे पदार्थको अवग्रहण करनेमे, ईहित करनेमे, अवायरूपसे ज्ञाननेमें तथा जाने हुएको धारण करनेमें समर्थ नहीं होता। अर्थात् उसे पदार्थको अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप ज्ञान नहीं होते। यह जीव आँखोके बिना देखता है। कानोंके बिना सुनता है। जिह्वाके बिना रसोंका स्वाद लेता है। त्वचाके बिना शीत आदिका अनुभव करता है। किन्तु कर्मसे बद्ध होनेसे ऐसा नहीं कर सकता। तथा यह जीव बिना नाकके गन्धको जानता है किन्तु ज्ञानावरण नामक कर्मका उदय होनेसे इन्द्रियोके बिना विषयोंको नहीं जानता। उस ज्ञानावरण नामक कर्मरूपी महामेघसे ढका होनेसे यह जीव एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असेनी पञ्चेन्द्रिय होता है। अपने ज्ञानावरण कर्मके उदयसे मनुष्य न हितको देखता है, न सुनता है, न हितको जाननेकी इच्छा करता है, न विधिपूर्वक धन वेत्ता है, न उसे भोगता है। इस प्रकार वह पशुके समान हो रहा है। जो अपने समीपवर्ती भी कल्याणको जो कि अपनी बुद्धिमात्रसे प्राप्त करने योग्य है, नहीं जानता, वह सुदूरवर्ती और शास्त्रके द्वारा जानने योग्य परलोकमें जो हितकर है उसे कैसे जान सकता

१. णादाजि -अ० । २. स्वगीरमे सत्यपि विध्वनेषु न यो विशेषान् विषयेषु वेत्ति ॥२॥  
 एकेन्द्रिय -अ०, मु० । ३. द्विसाव्यानपिशा -आ० । ४. हास्यति -अ० । ५. च ततोऽभिगम्य सेकेन विवेद्या -अ० ।

महानुहा भीमलसः प्रवेशात् सदाप्यनाथात्मसि मञ्जनाम्ब ।  
 घनाच्छिरं चारकरोधनाम्ब स्याद्देहिनः कष्टतरोऽज्ञभावः ॥७॥  
 तमःप्रवेशोऽन्मसि मञ्जनं च स्याद्बुद्धकृष्णवारकरोधनं च ।  
 जाताविहैकत्र भवास्त्रनन्तान्नामज दुःक्षमनुप्रयाति ॥८॥  
 नाल विशालं नयन तृतीयं अमृतं च मत्या रहितो गृहीतुम् ।  
 अन्धोऽपि यस्मिन् सति याति मार्गं क्षेपे त्रिभे मोक्षमहापुरस्य ॥९॥

एवमुक्त्वा मञ्जनामापादयति ज्ञानावरणं न किञ्चित्त्ननिवारणक्षमं शरणमस्ति । 'ण तस्स विस्सवि उवाओ' नैव तस्य कर्मणो निवारणे उपायो दृश्यते । असद्वेदस्य कर्मण उदयात् 'अमब पि विसं होवि' अमृतमपि विष भवति । 'अणमपि सत्थ तृणमपि शस्त्रं भवति । 'णीया वि होंति अरी' बन्धवोऽपि शत्रवो भवन्ति ॥१७२४॥

ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे किं स्यादित्याह—

मुक्खस्स वि होदि मदी कम्मोवसमे य दीसदि उवाओ ।

णीया अरी वि सत्थं वि तणं अमयं च होदि विसं ॥१७२५॥

'मुक्खस्स वि होवि मदी' मूर्खस्यापि भवति मति । 'कम्मोवसमे य दीसदि उवाओ' कर्मोपशमे ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमे सति उपायो दृश्यते सुभगत्वपुण्यकर्मोदयात् । 'णीया अरी वि' शत्रवोऽपि बन्धवो भवन्ति 'सत्थं वि तणं' शस्त्रमपि तृणं भवति, 'अमब होवि विसं' विषमप्यमृतं भवति मद्देवोदये ॥१७२५॥

पाओदएण अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स ।

दूरादो वि सपुण्णस्स एदि अत्थो अयत्तेण ॥१७२६॥

'पाओदयेण' लाभान्तरायस्य कर्मण उदयेन, 'अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स' हस्तप्राप्तोऽप्यर्थो नश्यति पुंस । 'दूरादो वि' दूरतोऽपि । 'सपुण्णस्स' पुण्यवत् । 'एदि अत्थो' आयान्तरथा । 'अयत्तेण' अयत्नेन ॥१७२६॥

है । इस प्राणीका अज्ञानभाव महान् गुफाके भीतर भयंकर अन्धकारमे प्रवेश करनेसे, सदा अगाध जलमे डूबे रहनेसे और चिरकाल तक जेलखानेमे पड़े रहनेसे भी अधिक कष्टदायी है । अन्धकारमे प्रवेश जलमे डूबना और जेलखानेमे पड़े रहना तो एक ही भवमे दुःखदायी है किन्तु अज्ञानजन्य दुःख अनन्त भवोमे दुःखदायी हैं । श्रुतज्ञान तीसरा विशाल नेत्र है । किन्तु बुद्धिसे रहित प्राणी उसे ग्रहण नहीं कर सकता । उस श्रुतज्ञानके होनेपर अन्धा मनुष्य भी मोक्षरूपी महानगरके कल्याणकारी मार्ग पर जाता है ।

ज्ञानावरण कर्म इस प्रकारकी अज्ञाताको लाता है उसको निवारण करनेमे समर्थ कोई शरण नहीं है । उसके निवारण का कोई उपाय नहीं है । असातावेदनीय कर्मके उदयसे अमृत भी विष हो जाता है । तृण भी शस्त्र हो जाता है और बन्धु-बान्धव भी शत्रु हो जाते हैं ॥१७२४॥

गा०—टी०—ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर क्या होता है, यह कहते हैं—ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर मूर्खको भी बुद्धि प्राप्त होती है । पुण्यकर्मका उदय होनेसे कर्मके उपशमका उपाय दृष्टिगोचर होता है तथा सातावेदनीयके उदयमे शत्रु भी बन्धु हो जाते हैं, शस्त्र भी तृण हो जाता है और विष भी अमृत हो जाता है ॥१७२५॥

गा०—पाप अर्थात् लाभान्तराय कर्मके उदयसे मनुष्यके हाथमे आया भी पदार्थ नष्ट हो

पाओदएण सुट्ठु वि वेदंतो को वि पाउणदि दोसं ।

पुण्णोदएण दुट्ठु वि वेदंतो को वि लहदि गुणं ॥१७२७॥

‘पाओदएण’ अयशस्कीर्तययेन । ‘सुट्ठु वि वेदंतो’ सम्यक् चेष्टमानः । ‘कोवि पाउणदि दोसं’ कश्चित्प्राप्नोति दोषं । ‘पुण्णोदएण’ पुण्यकर्मण उदयेन । ‘दुट्ठु वि वेदंतो’ यत्किंचिदकार्यं कुर्वन्मपि । ‘कोवि लभदि गुणं’ कश्चित्लभते गुणम् ॥१७२७॥

पुण्णोदएण कस्सइ गुणे असंते वि होइ जसकित्ती ।

पाओदएण कस्सइ सगुणस्स वि होइ जसघाओ ॥१७२८॥

‘पुण्णोदएण’ पुण्यस्योदयेन । ‘कस्सइ होइ जसकित्ती’ कस्यचिद्भवति यशस्कीर्तिश्च । ‘पाओदएण’ पापस्योदयेन । ‘कस्सइ सगुणस्स वि’ कस्यचित् सुगुणवतोऽपि । ‘जसघाओ होवि’ यशोघातो भवति ॥१७२८॥

णिरुवक्कमस्स कम्मस्स फले समुवट्ठिदंमि दुक्खंमि ।

जादिजरामरणरुजाचिंताभयवेदणादीए ॥१७२९॥

‘णिरुवक्कमस्स’ नि प्रतीकारस्य कर्मणः । ‘फले समुवट्ठिदंमि दुक्खंमि’ समुपस्थिते दुःखे, ‘जादि-जराभरणरुजाचिंताभयवेदणादीमे’ जाली, जरायां, मरणे, व्याधौ, चिन्ताया, भये, वेदनादौ च समुपस्थिते ॥१७२९॥

जीवाण णत्थि कोई ताणं सरणं च जो हवेज्ज इधं ।

पायालमदिगदो वि य ण मुच्चदि सकम्मउदयम्मि ॥१७३०॥

‘जीवाण’ जीवस्य । नास्ति कश्चिद्भ्रक्षा शरणं वा । ‘जो हवेज्ज’ यो भवेत् । ‘पायालमदिगदो वि’ पाताल प्रविष्टोऽपि । ‘ण मुच्चदि’ न मुच्यते दुःखात् । ‘सकम्मउदयेहि’ स्वकर्मादये सति ॥१७३०॥

गिरिकंदरं च अडविं सेलं भूमिं च उदधि लोगांतं ।

अदिगंतूणं वि जीवो ण मुच्चदि उदिण्णकम्मणे ॥१७३१॥

जाता है । और पुण्यवानको बिना प्रयत्न किये दूरसे भी पदार्थ प्राप्त होता है ॥१७२६॥

शा०—पाप अर्थात् अयशस्कीर्ति नामक कर्मके उदयसे सम्यक् चेष्टा करनेवाला भी दोषका भागी होता है । और पुण्य कर्मके उदयसे न करने योग्य भी काम करनेवाला प्रशसाका पात्र होता है ॥१७२७॥

शा०—पुण्यके उदयसे किसीमें गुण न होते भी उसका यश फैलता है । और पापके उदयसे गुणवानका भी अपयश होता है ॥१७२८॥

शा०—जिसका कोई प्रतीकार नहीं है ऐसे कर्मका उदय आनेपर जन्म, जरा, मरण, रोग, चिन्ता, भय, वेदना आदि दुःख भोगने होते हैं ॥१७२९॥

शा०—ऐसी अवस्थामे जीवका कोई रक्षक नहीं है जिसकी वह शरणमें जाये । अपने कर्मके उदयमें पातालमें प्रवेश करनेपर भी कर्मसे छुटकारा नहीं होता ॥१७३०॥

‘गिरिकन्दर च’ गिरिकन्दर’ अटवी शैलभूमिमुर्दाधि । लोकान्त प्रविश्यापि जीवो न मुच्यते । उद-  
यागतेन कर्मणा ॥१७३१॥

दुग्धदुग्धअणेयपाया परिसप्पादी य जंति भूमिओ ।

मच्छा जलम्मि पक्खी ण भम्मि कम्मं तु सव्वत्थ ॥१७३२॥

‘दुग्धदुग्धअणेयपाया’ द्विचतुश्चरणादिका । ‘परिसप्पादी य जंति भूमिओ’ परिसप्पादियश्च यान्ति  
भूमावेव । मत्स्या जले पक्षिणो लभन्ति यान्ति । कर्म सर्वत्रग ॥१७३२॥

रविचंदवादवेउच्चियाणमगमा वि अत्थि हु पदेसा ।

ण पुणो अत्थि पएसो अगमो कम्मस्स होइ इह ॥१७३३॥

‘रविचंदवादवेउच्चियाण’ सूर्येण, चन्द्रेण, वातेन, देवैश्चागम्यास्सन्ति प्रदेशा । न कर्मणामगम्योऽत्र  
प्रदेशोऽस्ति लोके ॥१७३३॥

विज्जोसहमंतबलं बलवीरिय अस्सहत्थिरहजोहा ।

सामादिउवाया वा ण होंति कम्मोदए सरणं ॥१७३४॥

‘विज्जामंतोसबिलवीरियं’ विद्या स्वाहाकारान्ता तद्रहितता मन्त्रस्य । वीर्यमात्मन शक्यत्यतिशय ।  
बलमाहारव्यायामज शरीरस्य दाढय’, अनीकबन्ध । सामभेददण्डोपप्रदानाख्याश्च हेतवो न शरण ॥१७३४॥

जह आह्वच्चमुदितं कोई वारंतओ जगे णत्थि ।

तह कम्ममुदीरंतं कोई वारंतओ जगे णत्थि ॥१७३५॥

‘जह आह्वच्चमुदितं’ यथा दिनमणिमुदयाचलचूडामणितामुपयान्त न निवारयति कश्चित् तथा समधिगत-  
सहकारिकारणं कर्म न निषेद्धुमस्ति समर्थ ॥१७३५॥

शा०—पहाडकी गुफा, अटवी, पर्वत, भूमि, समुद्र, यहाँ तक कि लोकके अन्त तक चले  
जानेपर भी जीव उदयप्राप्त कर्मसे नहीं छूटता ॥१७३१॥

शा०—दोपाये, चौपाये और अनेक पैर वाले सर्प आदि तो भूमिपर ही जाते हैं । मच्छ  
जलमें जाते हैं । पक्षी आकाशमें जाते हैं किन्तु कर्म सर्वत्र पहुँचता है । उसकी गति सर्वत्र है  
॥१७३२॥

शा०—लोकमें ऐसे प्रदेश हैं जो सूर्य, चन्द्र, वायु और देवोंके द्वारा अगम्य हैं अर्थात् जहाँ  
ये नहीं जा सकते । किन्तु ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ कर्मकी गति नहीं है ॥१७३३॥

शा०—कर्मका उदय होनेपर विद्या, मन्त्र, औषध, बल, वीर्य, घोड़े, हाथी, रथ, योद्धा,  
साम, दाम, दण्ड, भेद आदि उपाय शरण नहीं है ॥१७३४॥

टी०—जिसके अन्तमें स्वाहाकार होता है उसे विद्या कहते हैं । और जिसके अन्तमें  
स्वाहाकार नहीं होता उसे मन्त्र कहते हैं । वीर्य आत्माकी शक्तिको कहते हैं और बल आहार  
व्यायामसे उत्पन्न शरीरकी दृढ़ताको कहते हैं ॥१७३४॥

शा०—जैसे सूर्यको उदयाचलके मस्तकपर आनेको जगत्में कोई नहीं रोक सकता उसी



रोगाणं पडिगारा दिट्ठा कम्मस्स णत्थि पडिगारो ।  
कम्मं मलेदि हु जगं इत्थीव णिरंकुसो मत्तो ॥१७३६॥

‘रोगाणं पडिगारा दिट्ठा’ व्याधीना प्रतीकारा दृष्टा औषधादयः । कर्मणा नास्ति प्रतीकार ।  
जगदशेषं मर्हयति कर्म मद्गज इव निरंकुशो नलिनीवनं ॥१७३६॥

रोगाणं पडिगारो णत्थि य कम्मे णरस्स समुदिण्णे ।  
रोगाणं पडिगारो होदि हु कम्मे उवसमंते ॥१७३७॥

‘रोगाणं पडिगारो’ व्याधीनां प्रतीकारो नास्ति कर्मण्यसद्वेद्ये प्राप्नोदये सति, पथ्यौषधादिभिरुपशमो  
रोगादीना सोऽपि कर्मण्युपशम गत एव नानुपशान्तोऽत्र ॥१७३७॥

विज्जाहरा य बलदेववासुदेवा य चक्कवट्ठी वा ।  
देविंदा व ण सरणं कस्सइ कम्मोदए होंति ॥१७३८॥

‘विज्जाहरा य’ विद्याधरादयो महाबलपराक्रमा अपि न शरणं भवन्ति कर्मोदय इति  
साधार्यं ॥१७३८॥

बोल्लेज्ज च कमतो भूमिं उदधिं तरिज्ज पवमाणो ।  
ण पुणो तीरदि कम्मस्स फलमुदिण्णस्स बोलेदुं ॥१७३९॥

‘बोल्लेज्ज’ उल्लङ्घयेत् गच्छन् भूमिं, समुद्रं तरेत् प्लवमानः । उदीर्णस्य कर्मणः फलमुल्लङ्घयितुं न  
वेत्ति कोऽप्यो वा महाबलोऽपि ॥१७३९॥

सीहतिमिगिलगहिदस्स मगो मच्छो व णत्थि जइ सरणं ।  
कम्मोदयम्मि जीवस्स णत्थि सरणं तहा कोई ॥१७४०॥

‘सीहतिमिगिलगहिदस्स’ सिंहेन तिमिगिलाख्येन महामत्स्येन च गृहीतस्य नैव शरणं भवति अन्यो मृगो  
मत्स्यो वा । तथा कर्मोदये जीवस्य नास्ति कश्चिच्छरणम् ॥१७४०॥

प्रकार सहकारी कारणोके मिलनेपर उदयमे आये कर्मको जगत्मे कोई रोक नहीं सकता ॥१७३५॥

गा०—रोगोका प्रतीकार औषध आदि हैं किन्तु कर्मका कोई प्रतीकार नहीं है । जैसे  
निरंकुश मत्त हाथी कमलिनीके वनको उजाड देता है वैसे ही कर्म समस्त जगत्को मसल देता  
है ॥१७३६॥

गा०—असातावेदनीय कर्मका उदय होनेपर रोगोका प्रतीकार नहीं है । पथ्य औषध  
आदिसे जो रोगोंका उपशम होता है वह भी कर्मका उपशम होनेपर ही होता है । कर्मका  
उपशम न होनेपर औषध आदि भी लाभकारी नहीं होती ॥१७३७॥

गा०—कर्मका उदय होनेपर विद्याधर, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती अथवा देवेन्द्र जैसे  
महाबली, महापराक्रमी भी किसीके शरण नहीं होते । वे भी रक्षा नहीं कर सकते ॥१७३८॥

गा०—चलता हुआ प्राणी भूमिको लाघ सकता है । तैरता हुआ प्राणी समुद्रको तैर  
सकता है । किन्तु उदयागत कर्मके फलको उल्लघन कोई महाबली भी नहीं कर सकता । उसे  
सबको भोगना पड़ता ही है ॥१७३९॥

गा०—जैसे कोई सिंह किसी मृगको पकड़ ले तो दूसरा मृग उसकी रक्षा नहीं कर सकता ।

व्यावर्धितानामशरणत्वं मनसावधार्य इव शरणमिति चिन्तनीयमिति कथयति—

दंसणजाणञ्चरितं तवो य ताणं च होइ सरणं च ।

जीवस्स कम्मणासणहेदुं कम्मे उदिण्णम्मि ॥१७४१॥

'दंसणजाणञ्चरितं तवो य' ज्ञान दर्शन चारित्र्य तपश्च रक्षा शरण च भवति । जीवस्य कर्मणा नाशहेतुः कर्मण्युदीर्णोऽप्यसद्वेद्यादौ । एवमशरणानुप्रेक्षा गता ॥ अस्तरणा ॥१७४१॥

एकत्वानुप्रेक्षा उत्तरण प्रबन्धेनोच्यते—

पावं करेदि जीवो बन्धवहेदुं सरीरहेदुं च ।

णिरयादिसु तस्स फलं एक्को सो चेव वेदेदि ॥१७४२॥

पाप करोति जीवो बान्धवनिमित्तं शरीरनिमित्तं च । बान्धवशरीरपोषणार्थं कृतस्य कर्मण फलं नरकादिष्वेक एवानुभवति ॥१७४२॥

नरकादिगतिषु प्राप्तं दुःखमपश्यतस्तत्रासतो बान्धवा किं कुर्वन्तीति आशका निरस्यति सन्निहिता-  
पश्यन्तोऽप्यकिञ्चित्करा इति कथनेन—

रोगादिवेदणाओ वेदयमाणस्स णिययकम्मफलं ।

पेच्छंता वि समक्खं किञ्चिवि ण करंति से णियया ॥१७४३॥

'रोगादिवेदणाओ' रोगादिदुःखानि । 'णिययकम्मफलं' निजकर्मफल स्वयोगत्रयोपचितस्य कर्मण फल । 'वेदयमाणस्स' वेदयमानस्य । 'समक्खं पेच्छंतावि' प्रत्यक्ष पश्यन्तोऽपि । 'णियया' निजका बान्धवा, 'से' तस्स

या तिमिगल नामक महामत्स्य किसी मच्छको पकड़ ले तो दूसरा मच्छ उसका नहीं छुड़ा सकता । उसी प्रकार कर्मका उदय आनेपर जीवका कोई शरण नहीं होता ॥१७४३॥

आगे कहते हैं कि ऊपर जिनका वर्णन किया है, वे शरण नहीं है ऐसा मनमे दृढ निश्चय करके आगे कहे पदार्थ शरण है ऐसा विचारना चाहिये—

गा०—जीवके असातावेदनीय आदि कर्मका उदय होनेपर कर्मके नाशके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य और सम्यक् तप ही रक्षक है और शरण है ॥१७४३॥

इस प्रकार अशरणानुप्रेक्षाका कथन हुआ । आगे एकत्वानुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा० - जीव बन्धु-बान्धवोंके निमित्त और शरीरके निमित्त पाप करता है । और बान्धवोंके तथा अपने शरीरके पोषणके लिये जो पापकर्म करता है उसका फल नरकादिमें अकेला ही भोगता है ॥१७४२॥

यहाँ कोई कह सकता है कि नरकादि गतियोमे वह जो दुःख भोगता है उसे उसके बन्धुबान्धव नहीं देखते क्योंकि वे वहाँ नहीं है इसीसे वे कुछ कर नहीं सकते । इसके उत्तरमे कहते हैं कि निकट रहकर देखते हुए भी वे कुछ नहीं कर सकते—

गा०—टी०—अपने मनोयोग, वचनयोग और काययोगसे संचित कर्मका फल जब यह जीव भोगता है तो प्रत्यक्ष देखते हुए भी उसके बन्धुगण कुछ भी उसका प्रतीकार नहीं करते । इस

'किञ्चिच्चि च करति' किञ्चिदपि प्रतीकारजातं न कुर्वन्ति । परब्रह्म वा जन्मन्वेक एवानुभवति जन्तुर्न तदीय-  
कर्मफलसंबिभागकरणे समर्थः कश्चिदिति भावः ॥१७४३॥

तद् तथा यथा दुःख स्वकर्मफलमेक एवानुभवति—

तद् मरइ एकजो चैव तस्स ण विदिज्जगो इवइ कोई ।

भोगे भोत्तुं णियया विदिज्जया ण पुण कम्मफलं ॥१७४४॥

तथा स्वायुर्गलने । 'एकजो चैव मरइ' एक एव प्राणास्त्यजति । 'ण विदिज्जगो इवइ कोई' न सहायो भवति कश्चित् । तदीय मरणं संबिभज्य गृहीत्वा सहायतां न कश्चित्करोतीत्यर्थः । अन्यथा एक एव म्रियते इत्यवष्टमाने बहूनामप्येकदा मरणात् । 'भोगे' भुज्यन्तेऽनुभूयन्त इति भोगाः द्रव्याणि अक्षयवसनमुख-  
वासादीनि । भोक्तुमनुभावतुं निजका बान्धवाः । 'विदिज्जया' सहाया । 'ण पुण' न पुनः । 'कम्मफलं भोत्तुं' णीयया विदिज्जया' तदीयकर्मफलं भोक्तुं न बन्धवस्सहायाः ॥१७४४॥

प्रकारान्तरेणैकत्वभावनामाचष्टे—

णीया अत्था देहादिया य संग्गा ण कस्स इह होंति ।

परल्लोगं अण्णेसा जदि वि दइज्जंति ते सुट्ठु ॥१७४५॥

'णीया अत्था' बन्धवो धनं शरीरादिकाश्च परिग्रहाः कस्यचिदपि सम्बन्धिनो न यान्ति परलोकं प्रति प्रस्थित । यद्यपि सुष्ठु काम्यन्ते परिग्रहाः । गृहीत्वा तान्यदि नामास्य गन्तुमुत्कण्ठा तथापि ते नानुगच्छन्त्येक एव यातीत्येकत्वभावना ॥१७४५॥

इहलोगबन्धवा ते णियया परस्स होंति लोगस्स ।

तद् चैव धणं देहो संग्गा सयणासणादी य ॥१७४६॥

लोक और परलोकमें जीव अकेला ही भोगता है । उसके कर्मफलका बटवारा करनेमें समर्थ कोई भी नहीं है । यह इसका अभिप्राय है ॥१७४३॥

गा०—टी०—जैसे यह जीव अपने कर्मफलको स्वयं ही भोगता है उसी प्रकार अपनी आयु समाप्त होनेपर अकेला ही प्राणोंको त्यागता है । दूसरा कोई भी उसका सहायक नहीं है । अर्थात् उसके मरणका भागीदार बनकर कोई भी उसकी सहायता नहीं करता । यदि एक ही मरता है ऐसा न हो तो एकके साथ बहुतोंको मरण प्राप्त होता है । जो भोगे जाते हैं उन्हें भोग कहते हैं । भोजन, वस्त्र, मुखको सुवासित करनेवाले द्रव्य भोग हैं । भोगोंको भोगनेमें तो अपने बन्धु-बान्धव सहायक होते हैं । किन्तु उसके कर्मोंका फल भोगनेमें कोई सहायक नहीं होता ॥१७४४॥

प्रकारान्तरसे एकत्व भावनाको कहते हैं—

गा०—टी०—बन्धु-बान्धव, धन और शरीर आदि परिग्रह किसीके नहीं होते । जब यह जीव परलोक जाता है तो उसके साथ नहीं जाते । यद्यपि मनुष्य परिग्रहोंसे बहुत अनुराग रखता है । वह यदि उनको पकड़कर साथ ले जाना चाहे तो भी वे उसके साथ नहीं जाते । जीव अकेला ही जाता है । यह एकत्व भावना है ॥१७४५॥

'इहलोगबान्धवा' अस्मिन्नेव जन्मनि बान्धवा । 'परस्स लोगस्स न जियया होंति' अन्यस्य जन्मनो न बान्धवो भवन्ति । 'तह् खेव बांधवा इव धणे देहो संग्गा सयणासणादी य' धन शरीर शयनासनावयवश्च परिग्रहा इह लोके एव न परजन्मनि उपकारका भवन्ति । एव हि ते बान्धवा परिग्रहावच सहाया इति ग्रहीतुं शक्यन्ते यद्यनपायितया उपकारिणः स्युः । इह जन्मन्येव ये प्रयान्ति ते परलोकं गच्छन्तमनुसरन्तीति का प्रत्याशा ॥१७४६॥

यद्येते बान्धवावयो न सहायाः कस्तहि सहाय इत्याशङ्क्यामाचष्ट—

**जो पुण धम्मो जीवेण कदो सम्मत्तचरणसुदमइओ ।**

**सो परलोए जीवस्स होइ गुणकारकसहाओ ॥१७४७॥**

'जो पुण' य' पुनः । 'जीवेण कदो धम्मो' जीवनं कृतो धर्मः, 'सम्मत्तचरणसुदमइओ' रत्नत्रयरूपो दुर्गतिप्रस्थित जीव धारयति धत्ते वा शुभे स्थाने इति रत्नत्रय धर्म इत्युच्यते । 'सो' स व्यावर्णितो धर्मः । 'जीवस्स' जीवस्य । 'परलोए' परजन्मनि । गुणकारक सहायो भवति अभ्युदयनिश्रेयससुखप्रदानान् ।  
तथा श्लोकः—

वत्सा छावापुषिष्योर्धरविषयरतिं वीतभोजुग्विषावां

कुरवा लोकत्रयैश्य सुरनरपतिभिः प्राप्य पूजां विशिष्टाम् ।

मृत्युष्याधिप्रसूतिप्रियविगमजरारोगशोकप्रहीणे

मोक्षे नित्योत्सोख्ये क्षिपति निरुपमे यस्स नोऽध्यासमुषमः ॥ इति ॥१७४७॥

ननु च 'असहायत्वभावनाधिकारे सहायनिरूपणा कथमुपयुज्यते । नैष दोष यो 'येन जन्तुना सहाय-

गा०—टी०—जो इस जन्ममे बान्धव है वे परलोकमे बान्धव नही होते । बान्धवोकी ही तरह धन, शरीर, शयन, आसन आदि परिग्रह भी इसी लोकमे काम आते है परलोकमे नही । यदि वे बान्धव और परिग्रह सदा रहनेवाले हों तो उन्हें सहायक कहा जा सकता है । जब वे इसी जन्ममे नष्ट हो जाते है तो वे परलोकमे जानेपर साथमे जायेंगे, इसकी आशा कैसी ? ॥१७४६॥

यदि ये बन्धु आदि सहायक नही है तो कौन सहायक है ? इसका उत्तर देते है—

गा०—टी०—जीवने सम्यक्त्वचारित्र ज्ञानरूप अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्म किया है जो दुर्गतिमे जानेवाले जीवका धारण करता है उमे शुभ स्थानमे धरता है वह धर्म है इस तरह रत्नत्रयको धर्म कहते हैं । वह धर्म परलोकमे जीवका गुणकारक सहायक होता है । क्योंकि उससे सासारिक और पारमार्थिक सुख मिलता है । कहा है—

वह धर्म हमारी रक्षा करे जो मर्त्यलोक और स्वर्गलोकके भय, शोक और विषादसे रहित विषय सुखको देकर देवेन्द्रो और राजेन्द्रोमे विशिष्ट रूपसे पूजित तीन लोकोका स्वामी तीर्थङ्कर पद प्रदान करता है तथा अन्तमे मृत्यु, रोग, जन्म, प्रियविगम, जरा, व्याधि और शोकसे रहित नित्य उत्कृष्ट और अनुपम सुखवाले मोक्षमे ले जाता है ।

शङ्का—यह अधिकार असहाय भावनाका है कि जीवका कोई सहाय नही है । इसमे सहायका कथन करना कैसे उचित है ?

१. असहायत्वभावनाधिकारे—आ० । २ योजेन बन्धुना—आ० ।

त्वेनाभ्यवसितो ब्रह्मवादिरसौ सहायो न भवतीति न तत्रावर' कार्यः । सम्यक्त्वज्ञानचारित्रात्मकस्तु धर्मः । धर्मोऽपि जीवपरिणाम उपकारि सहाय इति । तत्रादरो अन्यते सूरिणा । अतिशयितधर्माख्यसहायैयानिरूपणेन ज्ञातिधनादीनां तथाभूतसहायताभावात् प्रस्तुतैव सहायता समर्थिता भविष्यति । अत्रोच्यते । सम्यक्त्वादयः शुभपरिणामा प्रशस्तगतिजातिगोत्रसघातसंहननायु सद्ब्रह्मादिकमात्मनि निधाय नश्यन्ति तेन देवो मानवः पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक कुलीनः शुभनीरोगशरीरचिचरजीवी सुखी भविष्यति । धर्मानुबन्धिनः पुण्यस्योदयात् दीक्षाभिमुखा बुद्धिनिरतिचाररत्नत्रयसंपत्तिश्च भविष्यतीति सभवत्युपकारसहायता धर्मस्य । ननु च ज्ञानपूर्वकत्वाच्चरणस्य 'सम्भस्तत्रणसुबन्द्गो' इति कथमुपन्यस्तं ? अयमस्याभिप्रायः सत्यपि श्रुतज्ञाने असयत-सम्यक्त्ववृष्टेचचारित्राभावान्न महत्यो सवरनिजरे मुख्यगुणे भवतः । तस्मान्मुख्यार्थिनश्चारित्र प्रधानं किञ्च तज्ज्ञानमुपायश्चारित्रमुपेय अत परार्थत्वाज्ज्ञानमप्रधान उपेयत्वाच्चरण प्रधानमिति । 'जो पुण धम्मो जोवेष कबो' इत्यनेन धर्मस्य सर्वथा नित्यत्व प्रतिषिद्ध फलवैचित्र्यमनुभवसिद्ध, सर्वदैकरूपत्व धर्मस्य विरुध्यते । सुखसाधनाना स्त्रीवस्त्रगन्धमात्यादीना वैचित्र्यात् तत्कार्यसुखस्याऽपि वैश्वरूप्य नित्यत्वैपि धर्मस्य घटयेदिति चेत् अत्रोच्यते । अतिशयितानतिशयितसुखसाधनता तस्य धर्महेतुता न वेत्यत्र विकल्पद्वये धर्महेतुत्वान्युपगमे

**समाधान—**यह दोष उचित नहीं है क्योंकि जिस जीवने यहाँ जिस बन्धु आदिको अपना सहायक रूपसे माना हुआ है वह सहायक नहीं है इसलिये उसमे आदरभाव नहीं करना चाहिये । सम्यक्त्व ज्ञान चारित्ररूप धर्म जीवका परिणाम होनेसे उसका उपकारी सहायक है । इसलिये आचार्य उसमे आदर करते है ।

**शङ्का—**सातिशय धर्मके सहाय होनेका कथन न करके भी जाति बन्धु धन आदि उस प्रकारके सहायक नहो होनेसे प्रस्तुत धर्मादिके ही सहायक होनेका समर्थन होता है ।

**समाधान—**सम्यक्त्व आदि शुभपरिणाम आत्मामे उत्तम गति, उत्तम जाति, उत्तम गोत्र, उत्तम संहनन, आयु, सातावेदनीय आदि कर्मों को उत्पन्न करके नष्ट हो जाते हैं । उन कर्मोंके उदयसे जीव, देव अथवा पचेन्द्रिय पर्याप्तक कुलीन, शुभ नीरोग शरीर वाला चिरजीवी और सुखी होता है तथा धर्मानुबन्धि पुण्यके उदयसे बुद्धि मुनिदीक्षाके अभिमुखी होती है और निरतिचार रत्नत्रयरूप सम्पत्ति होती है । अत धर्म सहायक और उपकारी है ।

**शङ्का—**चारित्र ज्ञानपूर्वक होता है अत ग्रन्थकारने 'सम्यक्त्वचारित्र श्रुतमतिक' कैसे कहा ? यहाँ चारित्रके पश्चात् ज्ञानका निर्देश किया है ?

**समाधान—**इसका अभिप्राय यह है कि असंयत सम्यग्दृष्टिके श्रुतज्ञान होनेपर भी चारित्रका अभाव होनेसे बहुत अधिक सवर और निर्जरा ये दोनो मुख्य गुण नहीं होते । इसलिये जो सवर और निर्जराके अर्थी हैं उनके लिये चारित्रकी प्रधानता है । तथा ज्ञान उपाय है और चारित्र उपेय है अतः परार्थ होनेसे ज्ञान अप्रधान है तथा उपेय—उपाय द्वारा प्राप्य होनेसे चारित्र प्रधान है । 'जो धर्म जीवने किया' ऐसा कहनेसे धर्मके सर्वथा चित्त होनेका निषेध किया है । धर्मके फलकी विचित्रता अनुभवसे सिद्ध है । अत धर्मकी सर्वदा एकरूपता आगम विरुद्ध है ।

**शङ्का—**सुखके साधन स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला आदि अनेक हैं अतः उनका कार्य सुख भी अनेक रूप है । इस तरह धर्मको नित्य मानने पर भी फल की विचित्रतां बन जाती है ।

**समाधान—**कुछ साधन सातिशय सुखदायक होते हैं और कुछ साधारण सुखदायक होते

कर्म न वैचित्र्यं धर्मस्य । अथ न धर्मो हेतुः स्वहेतुसामान्यायतता<sup>१</sup>सुखसाधनानां सातिशयनिरतिशयत-  
वायतः फलविभाग इति धर्मस्यानर्थक्यमापद्यते । ततो न धर्मस्य सर्वथा नित्यता ॥१७४७॥

शरीरद्रविणादीनां असहायताभावनां तद्गोचरानुरागनिवर्तनमुखेन स्थिरयत्युत्तरगाथा—

**बद्धस्स बंधणेण व ण रागो देहम्मि होइ णाणिस्स ।**

**विससरिसेसु ण रागो अत्थेसु महाभयेसु तहा ॥१७४८॥**

'बद्धस्स बंधणेण व ण रागो' रज्जुमृद्दलादिभिर्बद्धस्य बन्धनक्रियासाधकतमे रज्ज्वादी दुःखहेती  
यथा न रागः । तथा 'देहम्मि होइ णाणिस्स' सुखदुःखसाधनविवेकज्ञस्य दुःखहेतावसारेऽस्थिरेऽशुचिनि काये  
न रागो भवति । गुणपक्षपातिनो हि प्रज्ञाः । 'विससरिसेसु' विषसदृशेष्वपि 'ण रागो णाणिस्स' ज्ञानिनो नैव  
रागः । केषु ? 'अत्थेसु सत्थेसु' । कथमर्थानां विषसदृशेति चेत् । यथा विष दुःखदायि प्राणान्वियोजयति च  
तथार्थोऽप्यर्जनरक्षादिषु व्यापृत दुःखेन योजयति, प्राणाना च विनाशे निमित्तं भवति । तथाहि । प्राणिनोऽर्थं  
एव परस्परं प्रधाते प्रयतन्ते अतएव महाभयहेतुत्वान्महाभयतार्थानां सूत्रकारेणोक्ता । 'अत्थेसु महाभयेसु' इति ।  
यद्धि यस्यानुपकारि तस्य तस्मिन् विवेकिनः सहायबुद्धिर्यथा विषकण्टकादी, अपकारि शरीरद्रविणादिकमिति  
पुनः पुनरभ्यस्यतो नेतरः सहायोऽप्यमिति चिन्ताप्रबन्धः प्रवर्तते ॥ एकत् ॥१७४८॥

हे । इसमें धर्म भी कारण है या नहीं ? यदि धर्म भी कारण है तो धर्ममें वैचित्र्य क्यों नहीं हुआ ।  
यदि कहोगे कि धर्म कारण नहीं है, सुखके साधन अपने सामान्य कारणोंके अधीन है और उनका  
जो सातिशय तथा निरतिशय फलभेद पाया जाता है वह भी उन्हींके अधीन है तो धर्म निरर्थक  
सिद्ध होता है । अतः धर्म सर्वथा नित्य नहीं है ॥१७४७॥

**विशेषार्थ—**यहाँ टीकाकारका धर्मसे अभिप्राय शुभ परिणामोंसे है । शुभ परिणामोंकी  
हीनाधिकताके अनुसार पुण्यबन्धमें विचित्रता होती है और तदनुसार फलमें विचित्रता होती  
है ॥१७४७॥

शरीर धन आदिमें असहायताकी भावनाको उनके विषयमें जो अनुराग है उस अनुरागको  
हटानेके द्वारा स्थिर करते हैं—

**गा०—टी०—**जैसे पुरुष रस्सी साकल आदिसे बँधा है उसे बन्धन क्रियामें साधकतम रस्सी  
आदिमें राग नहीं होता क्योंकि वे उसके दुःखमें हेतु हैं, उसी प्रकार जो अपने सुख और दुःखके  
साधनोंमें भेदको जानता है उसे दुःखके हेतु, असार, अस्थिर अशुचि शरीरमें राग नहीं होता ।  
विद्वान्जन गुणोंके पक्षपाती होते हैं । अतः विषके समान सब अर्थों में ज्ञानीका राग नहीं होता ।

**शंका—**सब अर्थ विषके समान कैसे हैं ?

**समाधान—**जैसे विष दुःखदायीहै, प्राण हरण कर लेता है वैसे ही अर्थ भी जो उसके उपा-  
र्जन और रक्षणमें लगता है उसे दुःख देता है । तथा प्राणोंके विनाशमें निमित्त हाता है । इसका  
खुलासा इस प्रकार है—प्राणीमग्न अर्थके लिये ही परस्परमें घात करनेमें लगते हैं । इसीलिये ग्रथ-  
कारने महाभयका कारण होनेसे अर्थोंको महाभयरूप कहा है । जो जिसका उपकार नहीं करता,  
बल्कि अनुपकार करता है विवेकी पुरुष उसे अपना सहायक नहीं मानते । जैसे विषकण्टक

अन्यत्वभावनानिरूपणार्थमुत्तर 'प्रबन्धः—

किहदा जीवो अण्णो अण्णं सोयदि दु दुक्खियं णीयं ।

ण य बहुदुक्खपुरक्कडमप्याणं सोयदि अबुद्धी ॥१७४९॥

'किहदा अण्णो जीवो अण्णं णीयं किह सोयदिति' पदघटना । अन्यो जीवो नीयं स्वस्मान् अन्यं ज्ञातिवर्गं । 'दुक्खिद्वयं' दु खेनाभिभूतं, कथं तावच्छोचति । 'ण य सोयदि' नैव शोचते । क ? 'अत्ताणं' आत्मानं ? कीदृग्भूत 'बहुदुक्खपुरक्कड' शारीरैरागतुकैः, मानसैः, स्वाभाविकैश्च बहुभिर्दु खैः पुरस्कृत । 'अबुद्धिं' मयाज्जीते काले चतसृषु गतिषु विचित्रासङ्घेद्यात् द्रव्यक्षेत्रकालभावसहकारिकारणस्मान्निध्यापेक्षयानुपरतमापद प्राप्ताः पुनरप्यागमिष्यति मां खलीकत्तुं । न हि कारणाभ्यासस्थितसहकारिप्रत्यये सति कार्यस्यानुभूयो नामास्ति, यो यद्भावेपि नासाद्येदुदयं स कथमिव तद्वेतुक ? यथा सत्यपि यवबीजेऽनुपजायमानव्यूताङ्कुराः । तथा सत्य-सद्वेद्योदये यदि न स्युर्भवंति च । तस्मादात्मप्रदेशावस्थितस्य दुःखबीजस्य केनोपायेनापायो भविष्यतीत्य-कृतबुद्धितया अबुद्धिः । एतदुक्तं भवति परस्य दुःखं आत्मन एव दुःखमिति मत्वा शोकमयमुपैति, तद्विनाशो च मततं प्रयत्नं करोति । तथा च प्रवर्तमानस्य स्वदुःखनिवृत्तये न प्रारम्भोऽस्ति । ततोयं दुःखं भोज भोज पर्यटति । न च परो दुःखात्त्रातुं शक्यते । तेन हि सञ्चितानि कर्माणि कथं फला न प्रयच्छन्ति । न हि परस्य शोक फलदायिना कर्मणा प्रतिबन्धक, तथा चाम्यधायि—

आदिको कोई अपना सहायक नहीं मानता । उसी प्रकार शरीर घन वगैरह भी अपकार करनेवाले है । इस प्रकार बार-बार अभ्यास करनेसे 'मेरा कोई अन्य सहाय नहीं है । ऐसा सतत् चिन्तन चलता है ॥१७४८॥

आगे अन्यत्व भावनाका कथन करते हैं—

गा०—टी०—अन्य जीव अपनेसे अन्य सम्बन्धी जनोको दु खसे पीड़ित देखकर कैसे शोक करता है ? किन्तु यह अज्ञानी शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक अनेक दुःखोंसे घिरे हुए अपने आत्माकी चिन्ता नहीं करता है कि अतीतकालमें मैंने चारो गतियोंमें अनेक प्रकारके असातावेदनीयके उदयसे तथा द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप सहकारी कारणोंके मिलनेसे निरन्तर आपदाएँ भोगी और वे आपदाएँ पुनः मुझे परेशान करनेके लिये भविष्यमें आयेंगी । सहकारी कारणोंके साथ कारणके रहते हुए कार्य अवश्य उत्पन्न होता है । जो जिसके रहते हुए भी उत्पन्न नहीं होता वह उसका कारण कैसे हो सकता है ? जैसे जौ बोनेपर आमका अंकुर पैदा नहीं होता अतः आमके अंकुरका कारण जौके बीज नहीं हैं । उसी प्रकार असातावेदनीयका उदय होते हुए भी यदि दुःख नहीं होता तो असातावेदनीय दु खका कारण नहीं हो सकता । किन्तु असातावेदनीयके उदयमें दुःख अवश्य होता है । अतः आत्माके प्रदेशोंमें जो दुःखके कारण उपस्थित हैं उनका विनाश किस उपायसे होगा, ऐसा विचार न करनेसे उसे अबुद्धि कहा है । कहनेका अभिप्राय यह है कि यह अज्ञानी जीव दूसरेके दुःखको अपना ही दुःख मानकर शोक करता है और उसके विनाशका निरन्तर प्रयत्न करता है । और ऐसा करनेसे अपने दुःखको दूर करनेका प्रारम्भ भी नहीं कर पाता । इससे दुःख भोगते-भोगते भ्रमण करता है । दूसरेको दुःखसे बचाना शक्य नहीं है । उसने जो कर्मबन्ध किया है वह उसे फल क्यों नहीं देगा ? दूसरेके शोक करनेसे फल देनेवाले कर्म एक नहीं जाते । कहा भी है—

प्रीति पूर्व कृतं कर्म मनोवाक्कायकर्मभिः ।

न निवारयितुं शक्यं 'संहृतत्रिवशैरपि ॥ इति ॥

तेनान्यदुःखापेक्षः शोकोऽस्य व्यर्थः । अन्यशब्देन च स्वदुःखात्पृथक्त्वं परदुःखस्योच्यते । अन्यत्र परदुःखागतस्यानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षा एव परदुःखस्यान्यतामर प्रेक्षमाण. परदुःखस्योपहननं कर्तुं न शक्यत इति न शोचति [परदुःखं], स्वदुःखोन्मूलने प्रयतत इति भावोऽस्य सूत्रे ॥१७४९॥

सर्वस्य जीवराशेरात्मनोऽन्यत्वस्यैवानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षेति कथयत्युत्तरगाथा—

संसारमि अर्जते सगेण कम्मेण हीरमाणानं ।

को कस्स होइ सयणो सज्जइ मोहा जणम्मि जणो ॥१७५०॥

'संसारमि अर्जते' अन्तातीते पञ्चविधे ससारे परिवर्तने । 'सगेण कम्मेण' आत्मीयमिथ्यादर्शनादि परिणामोत्पादितकर्मपर्यायिण पुद्गलस्कन्धेन 'हीरमाणानं' आकृष्यमाणाना बहुविधा गति प्रति । 'को कस्स होइ सयणो' नैव कश्चित् कस्यचित्स्वजनो नाम प्रतिनियतोऽस्ति । युज्यतेऽप्य विवेक स्वजनोऽप्य परजनोऽप्य-मिति यदि यो यस्य स्वजनत्वेनाभिमतस्स तस्यैव स्वजन सर्वदा भवेत् । परजनो वा स्वजनता नोपेयात् । न चायमस्ति प्रतिनियमः स्वकर्म परतन्त्राणामतो न कश्चित् स्वो जन परो वा ममास्ति । सर्वो जीवराशि-मिथ्यात्वादिगुणविकल्पोपनीतनानात्कोऽन्य एवेति कृतव्यवसायस्य क्वचिदेव दया प्रीतिर्वा क्वचिन्निर्दयता द्वेषोऽसमानतारूपो न प्रादुर्भवति ततो विरागद्वेषस्य चारित्रमविकल्प भवति । 'सज्जइ जणम्मि जणो' आसक्ति

'पूर्वमे मन, वचन, कायसे जो कर्म किये हैं । सब इन्द्र भी मिलकर उनका निवारण नहीं कर सकते' ।

इसलिये दूसरेके दुःखको देखकर इसका शोक करना व्यर्थ है । अन्य शब्दसे परके दुःखको अपने दुःखसे भिन्न कहा है । परके आगत दुःखको अपनेसे भिन्न चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है । इस प्रकार परके दुःखको अपनेसे भिन्न विचार करता हुआ जानता है कि परके दुःखका विनाश करना शक्य नहीं है इसलिये वह उसका शोक नहीं करता । और अपने दुःखके विनाशमे प्रयत्नशील रहता है । यह आचार्यका अभिप्राय है ॥१७४९॥

आगे कहते हैं कि समस्त जीवराशि अपनेसे अन्य है ऐसा चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है—

गा०-टी०—पचपरावर्तन रूप संसारके अनन्त होते हुए अपने मिथ्यादर्शन आदि परिणामोंसे उत्पन्न हुए पुद्गल स्कन्धरूप कर्म पर्यायके द्वारा अनेक गतियोंमे भ्रमण करते हुए जीवका कौन किसका स्वजन है ? यह स्वजन है और यह परजन है यह भेद हो सकता था यदि जो जिसका स्वजन है वह उसीका स्वजन सदा रहता और परजन कभी भी स्वजन न होता । किन्तु अपने-अपने कर्मोंके अधीन जीवोंका यह नियम नहीं हो सकता । अत न कोई मेरा स्वजन है और न कोई परजन है । मिथ्यात्व आदि गुणस्थानोंके भेदसे नाना भेदरूप हुई समस्त जीवराशि मुझसे भिन्न ही है ऐसा जिसने निश्चय किया है उसका किसीमे ही दया और प्रीति और किसीमे निर्दयता और द्वेष यह असात्मन्यरूप व्यवहार नहीं बनता । इसलिये जो राग-द्वेषसे रहित है

१. सहितस्त्रिदशै—आ० । स्थानित्यतापेक्षमाण—आ० ।



करोति जन हि जनो ममायं भ्राता पिता पुत्रो भागिनेयो दासः स्वामीति<sup>१</sup>, वा मोहाद्वस्तुतत्त्वस्य अन्यतामात्र-  
रूपस्य निरस्तस्वजनत्वस्य<sup>२</sup> परिजानात् ॥१७५०॥

प्रकारांतरेण स्वजनपरजनविवेकाभाव दर्शयत्युत्तरगाथा—

सञ्चो वि जणो सयणो सञ्चस्स वि आसि तीदकालम्मि ।

एते य तहाकाले होहिदि सजणो जणस्स जणो ॥१७५१॥

'सञ्चो वि जणो सयणो' निरवशेषो जन्तुरनन्तः स्वजनः । 'सञ्चस्स वि' सर्वस्यापि प्राणभृत् । 'तीद-  
कालम्मि' अतीते काले 'आसि' आसीत् । 'एते य तहा काले' भविष्यति तथा काले । 'होहिदि' भविष्यति ।  
'सजणो जणस्स जणो' स्वजनो जनस्य जनः । एतदनेनाख्यायते अतीते भविष्यति च काले सर्वस्य सर्वं स्वजन  
असीद्भविष्यति च । ततस्सर्वासाधारणत्वे स्वजनत्वस्य सति ममायं स्वजन इति मिथ्यासंकल्पः । इत्येवमन्ये  
ममाप्यन्यस्तस्य इत्येतदेव तन्वमित्यन्यत्वस्य स्वपरविषयस्यानुपेक्षणमन्यत्वानुपेक्षा ॥१७५१॥

रत्तिं रत्तिं रुक्खे रुक्खे जह सउणयाण संगमणं ।

जादीए जादीए जणस्स तह संगमो हीई ॥१७५२॥

'रत्ति रत्ति' रात्री रात्री । 'रुक्खे रुक्खे' वृक्षे वृक्षे । 'जह सउणयाण संगमणं' यथा पक्षिणां संगमन ।  
'जादीए जादीए' जन्मनि जन्मनि । 'जणस्स' जनस्य । 'तहा' तथा । 'संगमो हीई' संगमो भवति । यथा  
राश्रावाश्रयमन्तरेण स्थातुमसमर्था पक्षिणो योग्यं वृक्षमन्विष्य ङीकते । तद्वत्प्राणिनोपि निरवशेषगलितामु-  
पुद्गलस्कन्धा परित्यक्तप्राक्तनशरीरा शरीरातरग्रहणार्थिनः शरीरग्रहणयोग्यदेश योनिसन्नितमास्कन्दन्ति ।

उसका चारित्र सर्वत्र एकरूप होता है । यह मेरा भाई, पिता, पुत्र, भानेज, दास या स्वामी है  
इस प्रकार आसक्ति मनुष्य मोहवश करता है । वस्तुतत्त्व तो अन्यतामात्र रूप है उसमें कोई  
स्वजन नहीं है ॥१७५०॥

प्रकारान्तरसे स्वजन और परजनके भेदका अभाव कहते हैं—

गा०—अतीतकालमे सब प्राणियोंके समस्त अनन्त जीव स्वजन थे । तथा भविष्यत् कालमे  
सब प्राणियोंके सब जीव स्वजन होंगे ॥१७५१॥

टी०—इस गाथासे यह कहा गया है कि अतीत कालमें सबके सब जीव स्वजन थे और  
भविष्यमें सबके सब जीव स्वजन होंगे । इस प्रकार जब सभी जीव स्वजन हैं तो यह मेरा स्वजन  
है इस प्रकारका संकल्प मिथ्या है । वे मुझसे अन्य हैं और मैं उनसे अन्य हूँ, इस स्वपरविषयक  
अन्यत्व तत्त्वका चिन्तन अन्यत्वानुपेक्षा है ॥१७५१॥

गा०—जैसे प्रत्येक रात्रिमें प्रत्येक वृक्षपर पक्षियोंका संगम होता है उसी प्रकार जन्म-  
जन्ममें मनुष्योंका संगम होता है ॥१७५२॥

टी०—जैसे रात्रिमें आश्रयके बिना रहनेमें असमर्थ पक्षी योग्य वृक्षको खोजकर उसपर  
बसेरा लेते हैं । उन्हींकी तरह ससारके प्राणी भी जब उनके आयुर्कर्मके पुद्गल स्कन्ध पूर्णरूपसे

१. ति व्यामो०—आ० । २. जनपरि—आ० । ३. अपरिजानात् इति प्रतिभाति । ४. तेनान्यो  
ममाप्यनस्तेन्य इत्यन्यदेव—आ० । ५. न्यस्त्यत्य इ—अ० ।

तत्र ययो. शुक्रबोणितमयमाभितोऽशुचितम तौ पितराविति सकल्पयति । तथाभूतयारेव शुक्रशोणितयोख्याल-  
वेहा भातर इति । अन्ये त एवभूताश्च स्वजनितोतिसुलभा । कातारे पक्षिणा निवासवृक्षा इवेति  
भाव. ॥१७५२॥

पहिया उवासये जह तहिं तहिं अन्लियति ते य पुणो ।  
छडित्ता जंति जरा तह जीयसमागमा सब्बे ॥१७५३॥

'पहिया' पयिका: । 'उवासये' उपाश्रये कस्मिश्चित । 'जह' यथा । 'तहिं तहिं' तस्मिस्तस्मिन् ग्राम-  
नगरादी । 'अन्लियति' अन्योन्य ढीकन्ते । 'ते य' ते च सगता पयिका । 'पुणो' पश्चात् । 'छडित्ता' त्यक्त्वा ।  
'जंति' याति स्वामिमत् देशं । 'तह जीयसमागमा सब्बे' तथा बन्धुसमागमा सर्वेषु च । एतेन बन्धु-  
समागमस्यानित्यता व्याख्याता ॥१७५३॥

भिण्णपयडिम्मि लोए को कस्स सभावदो पिओ होज्ज ।  
कज्ज पडि संबंधं बालुयमुट्ठीव जगमिणमो ॥१७५४॥

'भिण्णपयडिम्मि लोणे' नानास्वभावे लोके । 'को कस्स सभावदो पिओ होज्ज' क कस्य स्वभावेन  
प्रियो भवेत् । समानशीलताया हि सख्यं भवति । न च सर्वबन्धव समानशीला कथं तहिं तेषां वा स  
बान्धवः । 'कज्जं पडि संबंधो' कार्यमेवोद्दिश्य सम्बन्ध नासति कार्येऽस्ति सम्बन्ध । 'बालुयमुट्ठीव' बालुका-  
मुष्टिरिव । 'जगमिणमो' लोकोय । यथा बालुकानां भिन्नप्रकृतीनां द्रवद्रव्यमंतरणं न स्वाभाविकं सम्बन्धो येन  
सगता मुष्टिमुपेयु । उदकादिद्रव्योपनीतैव सगतिस्तासां, एव कार्योपनीतैव सगति स्वजनानां ॥१७५४॥

गल जाते है, और वे पूर्व शरीरको छोड नवीन शरीर ग्रहण करना चाहते है, तो वे शरीर ग्रहण  
करनेके योग्य देशमें, जिस योनि कहत है, जात है । वहाँ उन्हें जिनके अत्यन्त अपवित्र रजवीर्य  
रूपका आश्रय प्राप्त होता है उन दोनोंमें माता-पिताका सकल्प करते है । उसी प्रकारके रजवीर्यसे  
जिनके शरीर बनते है वे भाई होते है । वनमें पक्षियोंके रहनेके वृक्षोंकी तरह इस प्रकारके  
स्वजनवास सुलभ है । यह उक्त गाथाका अभिप्राय है ॥१७५२॥

गा०—जैसे किसी उपाश्रयमें पथिक विभिन्न ग्राम नगर आदिमें परस्परमें मिलते है । पीछे  
वे सब उस उपाश्रयको छोडकर अपने-अपने देशको चले जाते है । उसी प्रकार सब बन्धु-बान्धवोंका  
समागम है । इससे बन्धुसमागमको भी अनित्य कहा है ॥१७५३॥

गा०—टी०—लोगोंके अलग-अलग स्वभाव होते है । ऐसे नाना स्वभाववाल लोकमें कौन  
किसको स्वभावसे प्रिय हो सकता है । समानशील वालोंमें ही मित्रता होती है । किन्तु सब बन्धु-  
बान्धव तो समान शीलवाल नहीं होते । तब कैसे वह उनका बन्धु हो सकता है । कार्यको लेकर  
ही सम्बन्ध होता है । कार्यके न रहनेपर सम्बन्ध नहीं रहता । जैसे रेतका प्रत्येक कण अपना  
भिन्न स्वभाव रखता है । किसी मिलानेवाले द्रव्यके बिना उनका परस्परमें कोई स्वाभाविक  
सम्बन्ध नहीं है । पानी आदिके सम्बन्धसे ही वे परस्परमें मिलते है । अन्यथा मुट्ठीमें अलग-अलग  
ही रहते है । इसी प्रकार स्वजन भी कार्यवश ही परस्परमें मिलते है ॥१७५४॥

त च कार्यकृतं सम्बन्धं स्पष्टवत्युत्तरगाथा—

माया पोसेइ सुयं आधारो मे भविस्सदि इमोचि ।

पोसेदि सुदो मादं गम्मे धरिओ इमाएत्ति ॥१७५५॥

‘माया पोसेवि सुयं’ माता पोषयति सुतं । ‘आधारो मे भविस्सदि इमोचि’ अयं ममाधारो भविष्यतीति । ‘पोसेवि सुदो मादं’ पोषयति सुतो मातरं । ‘गम्मे धरिओ इमाएत्ति’ गर्भं धारितोऽनयेति ॥१७५५॥

उपकारापकारयोः प्रतिबन्धात् शत्रुता मित्रता वेति तत् कथयति—

होउण अरी वि पुणो मित्तं उवकारकारणा होइ ।

पुनो वि खणेण अरी जायदि अवयारकरणेण ॥१७५६॥

‘होउण अरी वि’ शत्रुरपि भूत्वा । ‘पुणो’ पुनः । ‘मित्तो होवि’ सुहृद्भवति । स एवारि । कुतः ? ‘उपकारकरणा’ उपकारकरणेन । ‘पुतोवि खणेण अरी अयवि’ पुत्रोपि क्षणेन शत्रुर्भवति, केन ? अपकारकरणेन, निर्भर्त्सनताडनाद्यपकरणक्रियायाः । यस्मादेवं ॥१७५६॥

तम्हा ण कोह कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि संसारे ।

कज्जं पडि हुति जगे णीया व अरी व जीवाणं ॥१७५७॥

‘तम्हा’ तस्मात् । ‘ण कोह कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि संसारे’ नैव कश्चित्कस्यचित्स्वजनः परजनो वा विद्यते । ‘कज्जं पडि होवि णीया व अरी व जन’ कार्यमेवोपकारापकारलक्षणं प्रति बन्धव शत्रवश्च भवति । न स्वाभाविकी बन्धुता शत्रुता वा जीवानामस्ति उपकारापकारक्रिययोरनवस्थितत्वात्तन्मूलोऽरिमित्रभावोऽप्यनवस्थित इति न रागद्वेषौ क्वचिदपि कार्यौ । मत्तोऽन्ये सर्वे एव प्राणभूत इति कार्यान्वित्वानुप्रेक्षेति प्रस्तुताधिकारणाभिसम्बन्धः ॥१७५७॥

आगे उस कार्यवश हुए सम्बन्धको टूट करते हैं—

गा०—यह मेरा बुढापेमे आधार होगा इस भावनासे माता पुत्रका पालन करती है और पुत्र माताका पालन करता है कि इसने मुझे गर्भमें धारण किया था ॥१७५५॥

आगे कहते हैं कि शत्रुता और मित्रता उपकार और अपकारसे बँधे है—

गा०—शत्रु होकर भी उपकार करनेसे मित्र हो जाता है । अपकार करनेसे पुत्र भी क्षणभरमे शत्रु हो जाता है । अर्थात् यदि पुत्र माता पिताका तिरस्कार करता है उन्हे मारता है तो वह शत्रु ही प्रतीत होता है ॥१७५६॥

गा०—इसलिये संसारमें कोई किसीका न स्वजन है और न परजन है । उपकार और अपकार रूप कार्यको लेकर ही जीवोंके मित्र या शत्रु बनते हैं ॥१७५७॥

टी०—जीवोमे न तो स्वाभाविक शत्रुता है और न स्वाभाविक बन्धुता है । उपकार और अपकाररूप क्रिया भी स्थायी नहीं है इसलिये उपकार मूलन मित्रता और अपकारमूलक शत्रुता भी स्थायी नहीं है । अतः न किसीसे राग करना चाहिये और न किसीसे द्वेष करना चाहिये । सभी प्राणी मुझसे अन्य है इस प्रकार अन्यत्वानुप्रेक्षा करना चाहिये ॥१७५७॥

शत्रुमित्रयोर्लक्षणमाचष्टे—

जो जस्स बह्दि हिदे पुरिसो सो तस्स बंधवो होदि ।

जो जस्स कुणदि अहिदं सो तस्स रिबुत्ति णायव्वो ॥१७५८॥

‘जो जस्स बह्दि हिदे’ यो यस्य उपकारे वर्तते । ‘पुरिसो’ पुरुष । ‘सो तस्स बंधवो होदि’ स तस्य बन्धुर्भवति । ‘जो जस्स कुणदि अहिदं’ यो यस्य करोत्यहित । ‘सो तस्स रिबुत्ति णायव्वो’ स तस्य रिपुरिति शातव्यः ॥१७५८॥

शत्रुलक्षणं बन्धुषु दर्शयति—

णीया करंति विग्घं मोक्खब्भुदयावहस्स धम्मस्स ।

कारंति य अत्तिबहुगं असंजमं तिच्चदुक्खकरं ॥१७५९॥

‘णीया करंति विग्घं’ बन्धवः कुर्वन्ति विघ्नं । कस्य ? ‘धम्मस्स’ धर्मस्य, ‘कीवुदा’ ? मोक्खब्भुदयावहस्स’ निरवशेषदुःखकारिकर्मापाय सासारिकमतिशयवत् सुख च सपादयतां रत्नत्रयस्य । ‘कारंति य’ कारयन्ति च । किं ? ‘असंजमं’ हिंसान्तस्तेयादिक, ‘अत्तिबहुगं’ अतीव महान्त । ‘तिच्चदुक्खकरं’ दुःसह-नरकादिदुःखोत्थापनोद्यत । हितस्य विघ्नकरणादहिते च प्रवर्तनान् दर्शिता शत्रुता बन्धूनामैतेन । अन्येषा बान्धवाद्यभिमताना शत्रुत्वेनानुप्रेक्षण अन्यत्वानुप्रेक्षेति कथित भवति ॥१७५९॥

इदानीमन्यशब्देन साधवो भण्यते तेषामुपकारकत्वरूपेणानुप्रेक्षेति चेत्तसि कृत्वा व्याचष्टे—

णीया सत्तु पुरिसस्स हुंति जदिधम्मविग्घकरणेण ।

कारंति य अत्तिबहुगं असंजमं तिच्चदुःखयरं ॥१७६०॥

शत्रु और मित्रका लक्षण कहते है—

गा०—जो पुरुष जिसका उपकार करता है वह उसका बान्धव होता है । और जो जिसका अहित करता है वह उसका शत्रु होता है । यह मित्र और शत्रुका लक्षण जानना ॥१७५८॥

आगे बन्धुओमे शत्रुका लक्षण दिखलाते है—

गा०—टी०—बन्धुगण दुःख देनेवाले सब कर्मोंका पूर्णरूपसे विनाश और ससारका सातिशय दुःख देनेवाले रत्नत्रयरूप धर्ममे विघ्न करते हैं । और दुःसह नरकादिके दुःखोको लानेमें तत्पर हिंसा, झूठ, चोरी आदि असंयम कराते हैं । अर्थात् यदि कोई जिनदीक्षा आदि लेकर आत्म-कल्याणमें लगना चाहता है तो परिवारके लोग उसे रोकते है तथा अपने पोषणके लिये मनुष्यको बुरे कर्म करनेकी प्रेरणा करते है । तो हितसाधनमे विघ्न करनेसे और अहितमे लगानेसे बन्धु शत्रु है, यह इससे दिखलाया है । इसका अभिप्राय यह है कि जो अन्य बान्धव आदि रूपसे दृष्ट है उन्हें भी शत्रु रूपसे विचारना कि ये मेरे मित्र नहीं हैं, शत्रु है, अन्यत्वानुप्रेक्षा है ॥१७५९॥

अब अन्य शब्दसे साधुओंको लेते हैं । उन्हे उपकारी रूपसे विचारना अन्यत्वानुप्रेक्षा है, यह कहते हैं—

गा०—पुरुषके यत्ति धर्म स्वीकार करनेमे विघ्न करनेसे बन्धुगण शत्रु होते हैं तथा वे

अन्यथा यतीनां बन्धुत्वं कथं प्रस्तुतायां अन्यत्वानुप्रेक्षायामुपयुज्यते ॥१७६०॥

पुरिसस्स पुणो साधु उज्जोवं संजणंति जदिधम्मे ।

तथ<sup>३</sup> तिच्चदुक्खकरणं असंजमं परिहरावेति ॥१७६१॥

‘पुरिसस्स’ पुरुषस्य । ‘पुणो साधु’ साधवः पुनः । ‘उज्जोवं संजणंति’ उद्योगं सम्यग्जनयन्ति । ‘जदिधम्मो’ सर्वाभपरिग्रहत्यागलक्षणे यत्तिधर्मे, ‘तथ असंजमं परिहरावेति’ तथा असंयम परिहारयन्ति । कीदृग्भूतं ? ‘तिच्चदुक्खकरणं’ तीव्राणां दुःखानामुत्पादकं ॥१७६१॥

उपसंहरति प्रस्तुतमर्थ—

तम्हा णीया पुरिसस्स होंति साधू अणेयसुइहेदु ।

संसारमदीणंता णीया य णरस्स होंति अरी ॥१७६२॥

‘तम्हा’ तस्मात् । हिते प्रवर्तनात् अहिते निवर्तनात् । ‘णीया पुरिसस्स’ बन्धवःपुरुषस्य । के ? ‘साधू’ साधवः । ‘अणेयसुइहेदु’ इन्द्रियातीन्द्रियसकलसुखहेतवः । ‘संसारमदीणंता’ संसारमपारनेकदुःखसंकुलमवतारयन्तः । ‘णीया य णरस्स होंति अरी’ शत्रवो भवन्ति मनुष्यस्य बन्धवः । एतेन सूत्रेण अन्येषां यतीनां बन्धूना मित्रत्वशत्रुत्वानुप्रेक्षणं अन्यत्वानुप्रेक्षेति कथ्यते । एवमनुप्रेक्षमाणस्य धर्मे तदुपदेशक, रिणि च यतिजने महानादरो भवति । अभिमत सकलं सुखमुपस्थापयतो धर्मस्य विघ्नं सम्पादयत्सु चतुर्गतिघटीयन्त्रे<sup>४</sup> दुःखतार-<sup>५</sup>आरोहयत्सु नितरामनादरो भवति ॥१७६२॥ अणत्तं ।

संसारानुप्रेक्षा कथ्यते प्रबन्धेनोत्तरेण—

मिच्छसमोहिदमदी संसारमहाडवी तदोदीदि ।

जिणवयणविप्पणद्धो महाडवीविप्पणद्धो वा ॥१७६३॥

अत्यन्त दुःसह दुःखदायी असंयमं कराते हैं इसलिये भी वे शत्रु हैं ॥१७६०॥

गा०—किन्तु साधु सर्व आरम्भ और सर्व परिग्रहके त्यागरूप मुनिधर्ममें पुरुषको तत्पर कराते हैं और तीव्र दुःखदायी असंयमका त्याग कराते हैं ॥१७६१॥

प्रस्तुत कथनका उपसंहार करते हैं—

गा०—टी०—अतः हितमे लगाने और अहितसे रोकनेके कारण साधुगण बन्धु हैं । वे इन्द्रियजन्य और अतीन्द्रिय सुखके कारण हैं तथा अनेक दुःखोंसे भरे अपार संसारसे पार उतारते हैं । इस गाथाके द्वारा अपनेसे अन्य साधुगणोंका मित्ररूपसे और बन्धुगणोंका शत्रुरूपसे चिन्तन करनेको अन्यत्वानुप्रेक्षा कहा है । ऐसा चिन्तन करनेसे धर्ममें और धर्मका उपदेश करनेवाले साधुगणमें महान आदर होता है । और सर्व इष्ट सुखको देनेवाले धर्ममें विघ्न करनेवालोंमें और जिसपरसे उत्तरना दुष्कर है उस चार भक्तिरूपी घटीयंत्रपर चढ़ाने वालोंमें अत्यन्त अनादर होता है ॥१७६२॥

१. अन्येषां—आ० मु० । २. कथमग्र—आ० मु० । ३. असंजमं परिहरावेति तिच्चदुक्खकरणं—आ० । ४. यानिन्द्रि—आ० मु० । ५. यन्त्रे दुःखभारे वा—आ० मु० । ६. आरोहयत्सु—अ० मु० ।

'मिच्छसन्मोहिवन्वी' वस्तुयाथात्म्याश्रद्धानं दर्शनमोहोदयज मिथ्यात्व तेन मिथ्यात्वेन हेतुना मोहमुपगता मतिर्यस्यासी । 'संसारमहाटवी' ससारो महाटवी 'दुस्तरत्वाद्नेकदुःखावहत्वाद्दिनाशयितु-मुद्यत्ताच्च तां ससारमहाटवी । 'तथे' तस्मात् मिथ्यात्वमूढमतित्वात् । 'अवीचि' प्रविशति । ननु च मिथ्या-त्वासयमकषाययोगाश्चत्वारोऽपि संसारस्य निमित्तभूता तत्र किमुच्यते मिथ्यात्वमूढमतिः ससारमहाटवी प्रविशतीति । अत्रोच्यते—उपलक्षण मिथ्यात्वग्रहणं असयमादीना । 'जिण्बयणविप्पणट्ठो' द्रव्यभावकर्म-रातिजयात् जिनास्तेषा वचन जीवाद्यर्थयाथात्म्यप्रकाशनपटु प्रत्यक्षादिप्रमाणातराविरोधि ततो विप्रनष्टस्तदर्था-परिज्ञानात् यत्तत्त्वाश्रद्धानं तन्निरूपितेन मार्गेणानाचरणाच्च महाटवीं महतीमटवी प्रविशति । 'विप्पणट्ठो वा' मार्गाद्विप्रनष्ट इव । 'ससारमहोदधिभविणम्म जीवोतो भमदि' ससारमहासमुद्र प्रविश्य जीवयानपात्र भ्रमति । कीदुरभूतं संसारमहोदधि ॥१७६३॥

**बहुतिव्वदुक्खसलिलं अणंतकायप्पवेसपादालं ।**

**चदुपरिवट्ठावत्तं चदुगदिबहुपट्टमणंतं ॥१७६४॥**

'बहुतिव्वदुक्खसलिलं' बहूनि तीव्राणि दुःखानि सलिलानि यस्मिन्संसारमहोदधौ तं । 'अणंतकायप्पवेस पादालं' अनंताना जीवानां काय शरीरमनतकाय अनन्तकाय प्रवेशास्ते पातालसंस्थानीया यस्य त । अथवा न विद्यते अन्तो निश्चयोऽस्म्यैव जीवस्येद शरीरमिति बहूना साधारणत्वान् यस्मिन् काये सोऽनंत कायोऽस्य

आगे संसार अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०-टी०—दर्शनमोहके उदयसे जो वस्तुके यथार्थस्वरूपका अश्रद्धान है उसे मिथ्यात्व कहते हैं । उस मिथ्यात्वके कारण जिसकी मति मोहित है वह मिथ्यात्वसे मोहितमति होनेसे ससाररूपी महा अटवीमे प्रवेश करता है । महाअटवीके समान ही ससारको पार करना कठिन है वह अनेक दुःखोंसे भरा है तथा प्राणीका विनाश करनेवाला है इसलिये ससारको महाटवी कहा है ।

शंका—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये चारों भी ससारके हेतु है । तब यह क्यों कहा कि मिथ्यात्वसे जिसकी मति मूढ है वह संसार महाटवीमे प्रवेश करता है ।

समाधान—मिथ्यात्वका ग्रहण असंयम आदिका उपलक्षण है अत मिथ्यात्वके ग्रहणसे असयम आदिका ग्रहण हो जाता है । द्रव्यकर्म और भावकर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेसे जो जिनि कहे जाते हैं उनके वचन जीवादि प्रदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशनमे दक्ष है तथा वे प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणोंसे अविरोद्ध हैं । उन वचनोंका अर्थ न जाननेसे जो तत्त्वोंका अश्रद्धान है उससे तथा उसमे कहे गये मार्गके अनुसार आचरण न करनेसे ससाररूपी महाअटवीमे प्रवेश करता है । तथा मार्गसे भ्रष्ट होकर जीवरूपी जहाज ससाररूपी महासमुद्रमे प्रवेश करके भटकता है ॥१७६३॥

संसाररूपी महासमुद्र कैसा है, यह बतलाते हैं—

गा०-टी०—जिस ससाररूपी महासमुद्रमें तीव्र दुःखरूपी जल भरा है और अनन्त जीवोंके काय अर्थात् शरीरको अनन्तकाय कहते हैं । अनन्तकायमें प्रवेश ही जिस संसार समुद्रमे पाताल हैं । अथवा 'यह शरीर इसी जीवका है' ऐसा अन्त अर्थात् निश्चय जहाँ नहीं वह काय अनन्त है

१. दुःखात्वाद् बहुत्वा -आ० मु० । २. कायस्य प्र०, आ० ।

जीवस्येत्यनन्तकाय । अन्तरेणापि भावप्रधानो निर्देशः । तेनायमर्थः । अनन्तकायत्वस्य प्रवेश अनन्तकाय-  
प्रवेशः स पातालं यस्य तं । 'बहुपरिवर्तनं' चत्वारः द्रव्यक्षेत्रकालभावाख्या परिवर्तनाः आवर्ता यस्मिन्तं ।  
'बहुगर्बिबहुपट्टम्' चतस्रो गतयो बहूनि महान्ति पत्तनाणि यस्मिन्तं । 'अणंतं' अनन्त ॥१७६४॥

हिंसादिदोसमगरादिसाबदं दुबिहजीवबहुमच्छं ।

जाइजरा मरणोदयमण्येजादीमदुम्मीयं ॥१७६५॥

'हिंसादिदोसमगरादिसाबदं' हिंसानृतस्तेयान्नाहूपरिग्रहा हिंसादिदोषास्ते मकरादय इवापवा यस्मिन्तं ।  
'दुबिहजीवबहुमच्छं' द्विविधा स्थावरजगमविकल्पा जीवा इति द्विविधा जीवास्ते बहुवो मत्स्या यस्मिन्तं ।  
'जाइजरा मरणोदय' जातिरभिनवशरीरग्रहणं, जरा नाम गृहीतस्य शरीरस्य तेजोबलादिभिरूनता, मरणं  
शरीरादपगम एतानि जातिजरा मरणानि उदयं उद्वगतिर्योस्मिन्तं । 'अण्येजादीमदुम्मीयं' अनेकानि जाति-  
शतानि ऊर्मयो यस्मिन्तं । एकद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियजातयः प्रत्येकमवान्तरभेदापेक्षया पृथिवीकायिका, अष्कायिका-  
स्तेजस्कायिकवनस्पतिकायिका इति । एकेन्द्रियजातिरनेकप्रकारा । षड्त्रिंशद्विकल्पा पृथिवी । आपोऽपि वर्षाहिम-  
हिमानीकरकादिभेदमिन्ना । अग्निरपि प्रदीपोल्मुकमर्चिरित्यनेकभेदः । वायुरपि गुञ्जामण्डलिकादिविकल्पः ।  
वनस्पतयोऽपि तरुगुल्मवल्लीलतातृणादिभेदास्ततो जातिशतानीत्युक्तं ॥१७६५॥

क्योकि एक शरीरमे बहुतसे जीव समानरूपसे रहते है । वह अनन्तकाय जिस जीवकी है वह  
अनन्तकाय है । 'भाव प्रत्ययके बिना भी निर्देश भावप्रधान होता है' इस नियमके अनुसार अर्थ  
होता है अनन्त कायत्वका प्रवेश अनन्तकाय प्रवेश । वही जिसमें पाताल है । तथा द्रव्य क्षेत्र काल  
और भाव परिवर्तन रूप जिसमें चार भँवर हैं । और चारगतिरूप महान् द्वीप है तथा जो अनन्त  
है ॥१७६४॥

विशेषार्थ—संसारको महासमुद्रकी उपमा दी है । समुद्रमें जल होता है संसारमें दुःख ही  
जल है । जैसे जलका आरपार नहीं है वैसे ही संसारके दुःखका भी आदि अन्त नहीं है । समुद्रमें  
पाताल होते हैं जिनमे प्रवेश करके निकलना कठिन है । संसारमे जो अनन्तकाय निगोद हैं वही  
पाताल है उसमे प्रवेश करके निकलना कठिन है । समुद्रमें भँवर होते हैं । संसारमे परिवर्तनरूप  
भँवर हैं । समुद्रमे द्वीप होते हैं जहाँ कुछ समय ठहर सकते हैं । संसारमें चार गतियाँ ही द्वीप हैं ।  
इसी प्रकार समुद्र भी अनन्त है और संसार भी ॥१७६४॥

गा०-टी०—उस संसाररूपी समुद्रमें हिंसा, झूठ, चोरी, अन्नह्य और परिग्रहरूपी मगर  
आदि क्रूर जन्तु रहते हैं । स्थावर और जंगम जीवरूप बहुतसे मच्छ हैं । जाति अर्थात् नया  
शरीर धारण करना, जरा अर्थात् वर्तमान शरीरके तेज बल आदिमें कमी होना, मरण अर्थात्  
शरीरका त्याग । ये जाति जरा और मरण उसके उठाव हैं तथा सैकड़ो जातियाँरूपी उसमे तरंगें  
हैं । एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये पाँच जातियाँ हैं । इसमेंसे प्रत्येकके  
अनेक अवान्तर भेद हैं । जैसे एकेन्द्रिय जातिके पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक,  
वनस्पतिकायिक आदि अनेक भेद हैं । उनमेंसे भी पृथिवीके छत्तीस भेद है । जलके भी वर्षा, हिम,  
ओले आदि भेद हैं । आगके भी दीपक, अंगार, लपट आदि अनेक भेद है । वायुके भी गुंजा,  
माण्डलिक आदि भेद हैं । वनस्पतिके भी वृक्ष, झाड़ी, बेल, लता, तृण आदि भेद हैं । इसीसे  
सैकड़ों जातियाँ कही हैं ॥१७६५॥

दुविहपरिणामवादं संसारमहोदधिं परमभीमं ।

अदिगम्म जीवपोदो भमइ चिरं कम्मभण्डभरो ॥१७६६॥

‘दुविहपरिणामवादं’ द्विविधा शुभाशुभपरिणामा वाता यस्मिन्स्त । ‘परमभीमं’ अतिभयंकरं । ‘अदिगम्म’ प्रविश्य । ‘जीवपोदो’ जीवपोत । ‘भमइ चिरं’ चिरकालं भ्रमति । ‘कम्मभण्डभरो’ कर्मद्रविण-भार । त्रिभिः सम्बन्धः ॥१७६६॥

भवसंसारं निरूपयति—

एगविगतिगचउपंविदियाण जाओ हवंति जोणीओ ।

सव्वाओ ताओ पत्तो अणंतसुत्तो इमो जीवो ॥१७६७॥

‘एगविगतिगचउपंविदियाण’ नामकर्म गतिजात्यादिविचित्रभेद । तत्र जातिकर्म पञ्चविकल्पं एकद्वित्रि-चतुःपञ्चेन्द्रियजातिविकल्पेन तासां जातीनामुदयात् । एकेन्द्रियतादिपर्यायभाजो जीवा एकेन्द्रियादिशब्दे-नोच्यन्ते । तेषामेकेन्द्रियादीना योनय आश्रया बादरसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्तकाख्या जीवद्रव्याणामिहाश्रयत्वेन विवक्षिता । ‘सचित्तशीतसंवृता सेतरा मिआस्सैकशस्तछोनय’ [ त० सू० २।३२ ] इति सूत्रे ये निर्दिष्टाश्च-तुरशीतशीतसहस्रविकल्पास्त इह न गृह्यन्ते । यत सूत्रान्तरे देवत्वनारकत्वमनुष्यत्वतिर्यक्त्वाख्या भवपर्याय-परावृत्तिर्भवसंसार इत्युक्त ।

गिरयाविजहण्णाविमु जाव दु उवरिल्लमावु नेबज्जा ।

मिण्णत्तसंसिद्धेण दु भवट्ठिठी भग्गिवा बहुसो ॥ इति वचनात् ॥

योनयो न भवशब्दवाच्या । जीवपर्यायो हि भवस्तत्र भव संसारस्त्रिशद्विध — पृथिव्यप्तेजोवायुवन-

गा०- कर्मरूपी माण्डसे भरा हुआ जीवरूपी जहाज शुभ अशुभ परिणामरूप वायुसे युक्त अतिभयकर ससार महासागरमें प्रवेश करके चिरकाल तक भ्रमण करता है ॥१७६६॥

अब भवसंसारका कथन करते हैं—

गा०-टी०—नामकर्मके गतिनामकर्म जातिनामकर्म आदि अनेक भेद है । उनमेंसे जाति-नामकर्मके पाँच भेद है—एकेन्द्रिय जातिनाम, दोइन्द्रिय जातिनाम, त्रीन्द्रिय जातिनाम, चतुरिन्द्रिय जातिनाम और पञ्चेन्द्रिय जातिनाम । उन जातिनाम कर्मों के उदयसे एकेन्द्रिय आदि पर्यायमें जन्म लेनेवाले जीव एकेन्द्रिय आदि शब्दसे कहे जाते हैं । उन एकेन्द्रिय आदिकी बादर सूक्ष्म पर्याप्त और अपर्याप्त योनियोंको यहाँ जीवद्रव्यका आश्रय कहा है । तत्त्वार्थ सूत्रके ‘सचित्तशीत-संवृताः’ इत्यादि सूत्रमें जो चौरासी लाख योनियाँ कही हैं, यहाँ उनका ग्रहण नहीं किया है । क्योंकि उसी तत्त्वार्थसूत्रके ‘ससारिणो मुक्ताश्च’ सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि ठीकामे देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यञ्च नामक भवपर्यायके परावर्तनको भवसंसार कहा है । कहा है—‘इस जीवने नरकगति आदिकी जघन्य स्थितिसे लेकर उपरिम ग्रीवेयक पर्यन्त अनेक भवस्थितियोंको मिथ्यात्वके ससर्गसे भोगा है ।’

अतः भवशब्दसे योनियाँ नहीं कही जाती । जीवकी पर्यायको भव कहते हैं । भवसंसार तीस प्रकारका है—पृथिवीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकायमेंसे प्रत्येकके



स्पृष्टिकायाः प्रत्येकं बादरसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्तकविकल्पाद्विंशतिविधाः । द्वित्रिचतुरिन्द्रिबासंज्ञासंज्ञिककल्पाः पञ्चैन्द्रियादत्र पर्याप्तापर्याप्तकविकल्पा दशविधाः । अन्ये तु भवपरिवर्तनमेवं 'वदन्ति । नरकगतौ सर्वाजघन्य-मायुर्दशवर्षसहस्राणि । तेनायुषा तत्रोत्पन्न पुनः परिभ्रम्य तेनैवायुषा तत्र जायते । एवं दशवर्ष-सहस्राणां यावन्त समयास्तावत्कृत्वा तत्रैव जातो मृतः । पुनरेकसमयाधिकभावेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि । ततः प्रच्युत्य तिर्यग्गतौ अन्तर्मुहूर्तायुःसमुत्पन्नः । पूर्वोक्तेन क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि परि-समापितानि । ततः प्रच्युत्य एवं मनुष्यगतौ । देवगतौ नारकवत् । अयं तु विशेषः, एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापितानि यावन्तावद्भवपरिवर्तना सर्वास्ता भवन्ति इति । अनन्तवारमयं प्राप्तो जीवः ॥१७६७॥

द्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—

अणुं गिण्हदि देहं तं पुण मुचूण गिण्हदे अणुं ।

घटिजंतं व य जीवो भमदि इमो दब्बसंसारे ॥१७६८॥

'अणुं गेष्ठीदि देहं' अन्यच्छरीरं गृह्णाति । 'त पुण मुचूण' तच्छरीरं मुक्त्वा पुनरन्यद् गृह्णाति । 'घटीयंत्रमिव जीवो' घटीयन्त्रवज्जीवः । यथा घटीयन्त्रं अन्यज्जलं गृह्णाति तत्र त्यक्त्वा पुनरन्यवाहसे एवमयं शरीराणि गृह्णन् मुचश्च भ्रमति । शरीराणि विचित्राणि द्रव्यशब्देनोच्यन्ते तत्स्वात्मनः परिवर्तनं

बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त चार भेद होनेसे बीस भेद होते हैं । तथा दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और संज्ञिपञ्चेन्द्रियके पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेद होनेसे दसभेद होते हैं ।

अन्य आचार्य भवपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—

नरकगतिमें सबसे अघन्य आयु दस हजार वर्षकी है । कोई जीव उस आयुको लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ । पुनः परिभ्रमण करके उतनी ही आयुको लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ । इस प्रकार दस हजार वर्षोंके जितने समय होते हैं उतनी बार दस हजार वर्षकी आयु लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ और मरा । पुनः दस हजार वर्षकी आयुमें एक-एक समय बढ़ाकर नरकमें उत्पन्न होते हुए वहाँकी उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागर पूर्ण की । नरककी आयु पूर्ण करनेके पश्चात् तिर्यञ्च-गतिमें एक अन्तर्मुहूर्तकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ और मरा । नरकगतिमें कहे क्रमानुसार तिर्यञ्चगतिकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्य पूर्ण की । तिर्यञ्चगतिके समान मनुष्यगतिकी आयु पूर्ण की और नरकगतिके समान देवगतिकी आयु पूर्ण की । किन्तु इतना विशेष है कि उपरिम ग्रन्थेयककी उत्कृष्ट आयु इकतीस सागर पूर्ण होने पर समस्त भवपरिवर्तन हो जाते हैं । ऐसे भवपरिवर्तन इस जीवने अनन्तवार किये हैं ॥१७६७॥

द्रव्यपरिवर्तनको कहते हैं—

गा०—टी०—घटीयन्त्रकी तरह जीव अन्य शरीरको छोड़कर अन्य शरीरको ग्रहण करता है । उसे भी छोड़कर अन्य शरीरको ग्रहण करता है । जैसे घटीयन्त्र नया जल ग्रहण करता है उसे निकालकर फिर नया जल ग्रहण करता है । उसी प्रकार यह जीव शरीरोंको ग्रहण करता और छोड़ता हुआ भ्रमण करता है । द्रव्यशब्दसे विचित्र शरीर कहे हैं । आत्माके शरीरोंका

द्रव्यसंसार इति सूत्रकारस्यास्य व्याख्या स्थूलबुद्धीनुद्दिश्य । एव तु द्रव्यपरिवर्तनं ग्राह्यं । द्रव्यपरिवर्तनं द्विविधं—नोकर्मपरिवर्तनं कर्मपरिवर्तनं चेति । तत्र नोकर्मपरिवर्तनं नाम त्रयाणां शरीराणां षण्णा पर्याप्तीनां योस्या ये पुद्गला एकेन जीवने एकस्मिन्समये गृहीता स्निग्धरूक्षवर्णगन्धादिभिस्तीव्रममन्दमध्यमभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा अगृहीताननन्तवारानतीत्य, मिश्रकाश्च अनन्तवारानतीत्य मध्ये गृहीतागृहीताश्च अनन्तवारानतीत्य त एव तेनैव प्रकारेण तस्यैव जीवस्य नोकर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्समुद्भूतं नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं । कर्मद्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—एकस्मिन्समये एकेन जीवने अष्टविधकर्मभावेन ये च गृहीता. समयाधिकारबलिकामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा. पूर्वोक्तैर्नैव क्रमेण त एव तेनैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभावमापद्यन्ते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनं ॥१७६८॥

**रंगगदण्डो व इमो बहुविहसंठाणवण्णरूवाणि ।**

**गिण्हदि मुच्चदि य ठिदं जीवो संसारमावण्णो ॥१७६९॥**

‘रंगगदण्डो व’ रंगप्रविष्टत इव । ‘इमो’ अयं ‘बहुविहसंठाणवण्णरूवाणि’ बहुविधसंस्थानवर्णस्वभावान् । ‘गिण्हदि य मुच्चदि य अठिदं’ गृह्णाति मुच्चति च अस्थित । क्रियाविशेषणमेतत् । ‘जीवो संसारमावण्णो’ जीवो द्रव्यसंसारमापन्नः ॥१७६९॥

क्षेत्रसंसार निरूपयति—

**जत्थ ण जादो ण मदो हवेज्ज जीवो अणतसो चेव ।**

**काले तदम्मि इमो ण सो पदेसो जए अत्थि ॥१७७०॥**

परिवर्तनं द्रव्यसंसारं है । ग्रन्थकारने स्थूलबुद्धिं वालोको लक्ष करके द्रव्यसंसारका यह स्वरूप कहा है, किन्तु द्रव्यपरिवर्तनं इस प्रकार लेना ।

द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं—नोकर्म परिवर्तनं और कर्म परिवर्तनं । उनमेंसे नोकर्म परिवर्तनं इस प्रकार है—तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य जो पुद्गल एक जीवने एक समयमें ग्रहण किये, उनमें जैसे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रहा हो और तीव्र, मन्द या मध्यम भावसे वे ग्रहण किये गये हो, दूसरे आदि समयमें उन्हें भोगकर छोड़ दिया । उसके पश्चात् अनन्तवार अगृहीतको ग्रहण करके, अनन्तवार मिश्रको ग्रहण करके, मध्यमें गृहीत और अगृहीतको अनन्तवार ग्रहण करके वे ही पुद्गल उसी जीवके उसी प्रकारसे जब नोकर्म रूपको प्राप्त होते हैं, उस सबको नोकर्म परिवर्तनं कहते हैं । अब कर्मद्रव्य परिवर्तनं कहते हैं—एक समयमें एक जीवने आठ कर्मरूपसे जो पुद्गल ग्रहण किये और एक समय अधिक एक आवली कालके पश्चात् द्वितीय आदि समयमें उन्हें भोगकर छोड़ दिया । नोकर्म परिवर्तनमें कहे क्रमके अनुसार वे ही कर्मपुद्गल उसी जीवके उसी प्रकारसे जब कर्मरूपसे आते हैं उस सबको कर्मद्रव्य परिवर्तनं कहते हैं ॥१७६८॥

गा०—जैसे रंगभूमिमें प्रविष्ट हुआ नट अनेक रूपको धारण करता है उसी प्रकार द्रव्यसंसारमें भ्रमण करता हुआ जीव निरन्तर अनेक आकार, रूप, स्वभाव आदिको ग्रहण करता और छोड़ता है ॥१७६९॥

‘कल्पे न जादो न मदो ह्येवञ्च’ यत्र क्षेत्रे जातो मृतो वा न भवेज्जीवः । ‘अणंतसो चैव’ अनन्त-  
वारान् । ‘कालेतीर्षमि इष्यो’ अतीते कालेऽयः । ‘न सो पक्षेसो ज्ञेवो अस्मि’ नासी प्रदेशो जगति विद्यते । अन्ये  
तु क्षेत्रपरिवर्तनं—जगति सूक्ष्मनिगोदजीवो पर्याप्तकः सर्वजघन्यप्रदेशशरीरो लोकस्याष्टमध्यप्रदेशान् स्वशरीर-  
मध्यप्रदेशान् कृत्वोत्पन्न, क्षुद्रभवग्रहणं जीवित्वा मृतः, स एव पुनस्तेनैवावगाह्येन द्विरुत्पन्नस्तथा त्रिरुत्पन्नतुरिति ।  
एवं यावन्तोऽङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिताकाशप्रदेशास्तावत्कृत्वा तत्रैव जनित्वा पुनरेकैकप्रदेशाधिकमात्रेण  
सर्वलोक आत्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपनीतो भवति यावत्तावत् क्षेत्रपरिवर्तनं । उक्तं च—

सत्त्वन्मि लोणक्षिते कमसो तं कस्मि जन्म उच्यन्तं ।

ओगाहणा य कहुसो परिभन्निवो क्षितसंसारे ॥ [ बा० अणु० २६ ] ॥१७७०॥

कालपरिवर्तनमुच्यते—

तत्कालतदाकालसमयसु जीवो अणंतसो चैव ।

जादो मदो य सञ्चेषु इमो तीदम्मि कालम्मि ॥१७७१॥

‘तत्कालतदाकालसमयेषु’ उत्सर्पिण्यवसर्पिणीसंज्ञितयोः कालयोर्धे समयोऽस्तेषु । ‘जीवो अणंतसो चैव’  
जीवोऽनन्तवारान् । ‘जादो मदो य सञ्चेषु’ जातो मृतश्च सर्वेषु समयेषु । ‘इमो तीदम्मि कालम्मि’ अयम-  
तीते काले । इयमस्या गाथाया प्रपञ्चव्याख्या—उत्सर्पिण्या’ प्रथमसमये जातः कश्चिज्जीवः स्वायुष परि-  
माप्तो मृतः, स एव पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जातः स्वायुषः क्षयान्मृतः । स एव पुनस्तृतीयाया-

अब क्षेत्रससारको कहते हैं—

गा०—जगत्मे ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ यह जीव अतीत कालमे अनन्तवार जन्मा  
और मरा न हो ॥१७७०॥

टी०—अन्य आचार्य क्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—सूक्ष्म निगोदिया  
लक्ष्यपर्याप्तक जीव सबसे जघन्य प्रदेशवाला शरीर लेकर लोकके आठ मध्यप्रदेशोंको अपने  
शरीरके मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और क्षुद्रभव ग्रहण करके एक श्वासके अठारहवें भाग  
समय तक जिया और मरा । वही जीव पुनः उसी अवगाहनाको लेकर उसी स्थानमें दुबारा  
उत्पन्न हुआ, तिसरा उत्पन्न हुआ, चौथी बार उत्पन्न हुआ । इस तरह अगुलके असख्यातवें  
भाग प्रमाण आकाशमे जितने प्रदेश होते हैं उतनी बार वही उत्पन्न हुआ । पुनः एक-एक प्रदेश  
बढ़ाते-बढ़ाते सर्वलोकको अपना जन्मक्षेत्र बनाया । इस सबको क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं । कहा  
भी है—

सर्व लोकक्षेत्रमे ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह क्रमसे उत्पन्न नहीं हुआ । अनेक अब-  
गाहनाके साथ इस जीवने क्षेत्र संसारमे परिभ्रमण किया ॥१७७०॥

कालपरिवर्तनको कहते हैं—

गा०—यह जीव अतीत कालमे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोंमें अनन्त  
बार उत्पन्न हुआ और अनन्तबार मरा ॥१७७१॥

टी०—इस गाथाकी विस्तृत व्याख्या इस प्रकार है—उत्सर्पिणी कालके प्रथम समयमे  
उत्पन्न हुआ कोई जीव अपनी आयुके समाप्त होनेपर मरा । वही जीव पुनः दूसरी उत्सर्पिणीके

उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये जात' । एवमनेन क्रमेण उत्सर्पिणी परिसमाप्ता तथा चावसर्पिणी । एव जन्मनैरन्तर्य-  
मुक्तं । मरणस्यापि नैरन्तर्यं तथैव ब्राह्मणेवं तावत्कालपरिवर्तनं । उक्तं च—

'उत्सर्पिण्यिअवसर्पिणिसमधावल्लिगासु गिरवसेसामु ।

जावो मदी य बह्वसो भवणेण तु कालसंसारे ॥' [ वा०, अणु० २७ ] ॥१७७१॥

स्पन्दनसंसार निरूपयत्युत्तरगाथा—

अट्टपदेशे मृत्तूण इमो सेसेसु सगपदेशेसु ।

तत्तमिव अद्वरणं उच्चत्तरत्तणं कुणदि ॥१७७३॥

'अट्टपदेशे मृत्तूण' अष्टौ प्रदेशान्कचकाकारान् मुक्त्वा । 'इमो' अयं जीव । 'सेसेसु सगपदेशेसु' शेषेषु  
स्वप्रदेशेषु 'तत्तमिव अद्वरणं' तप्तजलमध्यस्थतन्दुलवत् । 'उच्चत्त परत्तणं कुणदि' उद्वर्तनं परावर्तनं करोति ।  
एतया गायथा स्वप्रदेशेषु संसारनामात्मनः क्षेत्रसंसारत्वेनोच्यते ॥१७७३॥

भावसंसारोत्तरप्रतिपादनार्थं गाथा—

लोगागासपएसा असंखगुणिदा हवन्ति जावदिया ।

तावदियाणि हु अज्जवसाणाणि इमस्स जीवस्स ॥१७७४॥

'लोगागासपदेशा' लोकाकाशस्य प्रदेशा । 'असंखगुणिदा' असंख्यगुणिता । 'हवन्ति जावदिया'  
यावन्तो भवन्ति । 'तावदियाणि हु अज्जवसाणाणि' तावदध्यवसायस्थानानि भवन्ति । 'इमस्स जीवस्स' अस्य  
जीवस्य । जीवस्य असंख्यातलोकप्रमाणेष्वध्यवसायसंज्ञितेषु भावेषु परावृत्तिर्भावसंसार ॥१७७४॥

दूसरे समयमे उत्पन्न हुआ और अपनी आयुके समाप्त होने पर मरा । वह जीव पुन तीसरी  
उत्सर्पिणीके तीसरे समयमे उत्पन्न हुआ । इस क्रमसे उसने उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी  
क्रमसे अवसर्पिणी समाप्त की । अर्थात् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोमे क्रमसे  
जन्मा । तथा इसी प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके सब समयोमे मरा भी । इस सबको  
काल परिवर्तन कहते है । कहा भी है—

कालसंसारमे भ्रमण करनेसे यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोमे  
अनेक बार जन्मा और अनेक वार मरा ॥१७७१॥

आगे क्षेत्रसंसाररूप स्पन्दन संसारको कहते हैं—

गा०—लोकके मध्यमे स्थित गौके स्तनके आकार आठ प्रदेशोको छोड़कर यह जीव अपने  
शेष प्रदेशोमे तप्त जलके मध्यमे स्थित चावलीकी तरह उद्वर्तन परावर्तन किया करता है ।  
अर्थात् जैसे आग पर रखे गर्म जलमें पड़े हुए चावल ऊपर नीचे हुआ करते है उसी प्रकार आठ  
मध्य प्रदेशोको छोड़कर जीवके शेष प्रदेश चल रहते है ॥१७७३॥

भाव संसारका कथन करते हैं—

गा०—लोककाशके प्रदेशोको असंख्यातसे गुणा करनेपर जितनी राशि होती है उसने ही  
इस जीवके अध्यवसाय स्थान होते हैं । इन असंख्यात लोक प्रमाण अध्यवसाय नामक भावोंमें  
जीवके परावर्तनको भाव संसार कहते हैं ॥१७७४॥

अङ्गवसाज्जठानंतराणि जीवो विङ्गुवद् इमो ह् ।

णिच्चं पि जहा सरडो गिण्हदि गणाविहे वण्णे ॥१७७६॥

‘अङ्गवसाज्जठानंतराणि जीवो विङ्गुवद् इमो ह्’ अध्यवसायस्थानान्तराणि जीवः परिणमत्ययं । ‘निच्चं पि’ नित्यमपि, ‘यथा सरडो गणाविहे वण्णे’ यथा गोधा नानाविधान्वर्णानुपादत्ते । एवं ससार’ ॥१७७५॥

तस्य भयमुपदर्शयति—

आगासम्मि वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी ।

हिंसति एकमेवकं सव्वत्थ भयं खु संसारे ॥१७७६॥

‘आगासम्मि वि पक्खी’ आकाशे संचरन्त परकीयपिणोऽपि बाधन्ते । ‘जले वि मच्छा’ जलेऽपि मत्स्या । ‘थले वि थलचारी’ भूमावपि भूमिचारण । ‘हिंसति’ बाधन्ते । ‘एकमेवकं’ अन्योन्य । ‘सव्वत्थ भयं खु संसारे’ सर्वत्र भयं ससारे ॥१६७६॥

गा०—जैसे गिरगिट नित्य ही नाना प्रकारके रंग बदलता है वैसे ही यह जीव अध्यवसाय स्थानोको धारण करता हुआ परिणमन करता है ॥१७७५॥

विशेषार्थ—भावपरिवर्तनका विस्तृत स्वरूप इस प्रकार है—पञ्चेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्या-दृष्टि कोई जीव सबसे जघन्य अपने योग्य ज्ञानावरण कर्मका अन्त कोटिकोटी सागर प्रमाण स्थितिबन्ध करता है । उस जीवके उस स्थितिबन्धके योग्य असंख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थान होते है । उनमेंसे सबसे जघन्य कषायाध्यवसायस्थानमें निमित्त असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान होते है । इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कषायाध्यवसाय स्थान, सबसे जघन्य ही अनुभागबन्ध स्थानको प्राप्त उस जीवके उसके योग्य सबसे जघन्य एक योगस्थान होता है । फिर उसी स्थिति, उसी कषाय स्थान और उसी अनुभागस्थानको प्राप्त उस जीवके दूसरा योगस्थान होता है जो पहलेसे असंख्यात भागवृद्धियुक्त होता है । इस प्रकार श्रेणिके असंख्यातवे भागप्रमाण योगस्थानोके समाप्त होनेपर पुन वही स्थिति और उसी कषायाध्यवसायस्थानको प्राप्त उसी जीवके दूसरा अनुभागाध्यवसायस्थान होता है । उसके भी योगस्थान पूर्ववत् जानना चाहिये । इस प्रकार तीसरे आदि असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थानोके समाप्त होनेपर उसी स्थितिको प्राप्त उसी जीवके दूसरा कषायाध्यवसायस्थान होता है । उसके भी अनुभागाध्यवसायस्थान पूर्ववत् जानना । इस प्रकार तीसरे आदि कषायाध्यवसायस्थानोके समाप्त होनेपर वही जीव एक समय अधिक जघन्यस्थितिको बांधता है । उसके भी कषायादि स्थान पूर्ववत् जानना । इसी प्रकार एक-एक समय अधिकके क्रमसे ज्ञानावरण कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोडी सागर पूर्ववत् बाधता है । इसी प्रकार सब मूलकर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियोंकी सब स्थितियोंको उक्त प्रकारसे बांधता है । इस सबको भावपरिवर्तन कहते हैं ॥१७७५॥

संसारसे भय दर्शते हैं—

गा०—आकाशमें विचरण करते हुए पक्षियोंको दूसरे पक्षी बाधा देते हैं । जलमें मच्छ बाधा करते हैं । थलमें थलचारी बाधा करते हैं । इस प्रकार सर्वत्र एक दूसरेकी हिंसा करते हैं । अतः संसारमें सर्वत्र भय है ॥१७७६॥

ससगो बाहपरद्धो बिलति णाऊण अजगरस्स मुहं ।

सरणत्ति मण्णमाणो मच्चुस्स मुहं जह अदीदि ॥१७७७॥

‘ससगो बाहपरद्धो’ शशो व्याघ्रेनोपद्रुतः, ‘बिलतिणाऊण अजगरस्य मुहं’ बिलमिति ज्ञात्वा अजगरस्य मुखं । ‘सरणत्ति मण्णमाणो’ शरणमिति मन्यमान । ‘मच्चुस्स मुहं जह अदीदि’ मृत्योर्मुखं यथा प्रविशति ॥१७७७॥

तह अण्णाणी जीवा परिद्धमाणच्छुहादिबाहेहिं ।

अदिगच्छंति महादुहहेदुं संसारसप्पमुहं ॥१७७८॥

‘तह अण्णाणी जीवा’ तथा अज्ञानिनो जीवा । ‘परिद्धमाणच्छुहादिबाहेहिं’ अनुबाध्यमाना क्षुदादिभिः व्याधैः । ‘अदिगच्छंति’ प्रविशन्ति । ‘महादुहहेदुं’ महतो दुःखस्य निमित्त । ‘संसारसप्पमुहं’ संसारसर्पमुखं ॥१७७८॥

जावदियाइं सुहाइं होति लोगम्मि सव्वजोणीसु ।

ताइंपि बहुविघाइं अणंतखुत्तो इमो पत्तो ॥१७७९॥

‘जावदियाइं’ यावन्ति । ‘सुहाणि होति लोगम्मि’ सुखानि भवन्ति लोके । ‘सव्वजोणीसु’ सर्वासु योनिषु । ‘ताइंपि बहुविघाइं’ तान्यपि बहुविधानि । ‘अणंतखुत्तो इमो पत्तो’ अनन्तवारमय जीवः प्राप्त ॥१७७९॥

दुक्खं अणंतखुत्तो पावेत्तु सुहंपि पावदि कहिं वि ।

तह वि य अणंतखुत्तो सव्वानि सुहाणि पत्ताणि ॥१७८०॥

‘दुक्खं अणंतखुत्तो पावेत्तु सुहंपि पावदि कहिं वि’ दुःखमपि अनन्तवार प्राप्य सुखमपि प्राप्नोति कथञ्चित् । ‘तह वि य अणंतखुत्तो’ तथाप्यनन्तवारं ‘सव्वानि सुहाणि पत्ताणि’ सर्वाणि सुखानि प्राप्तानि गणभृता चक्रवर्तिना पञ्चानुत्तरविमानवासिनां लोकान्तिकानामहमिन्द्राणां च सुखानि मुक्त्वा ॥१७८०॥

गा०—जैसे खरगोश व्याधसे सताया जानेपर बिल समझकर अजगरके मुखमें प्रवेश करता है । वह उसे अपना शरण मानकर मृत्युके मुखमें प्रवेश करता है ॥१७७७॥

गा०—उसी प्रकार अज्ञानी जीव भूखप्यास आदि व्याधोके द्वारा पीडित होनेपर महान् दुःखमें निमित्त संसाररूपी सर्पके मुखमें प्रवेश करते हैं ॥१७७८॥

गा०—लोकमें सब योनियोंमें जितने प्रकारके सुख होते हैं उन सब अनेक प्रकारके सुखोंको भी इस जीवने अनन्तवार भोगा है ॥१७७९॥

गा०—अनन्तवार दुःखोंको प्राप्त करके कदाचित् सुखको भी प्राप्त करता है । तथापि अनन्तवार इस जीवने सब सुखोंको प्राप्त किया है ॥१७८०॥

टी०—किन्तु गणधर, चक्रवर्ती, पांच अनुत्तर विमानवासी, लोकान्तिक और अनुदिश विमानवासी देवोंका सुख इस जीवने प्राप्त नहीं किया, क्योंकि ये चक्रवर्तीको छोड़कर शेष सब नियमसे सम्यग्दृष्टि होनेसे मोक्षगामी होते हैं । और चक्रवर्ती पद बार-बार प्राप्त नहीं होता है ॥१७८०॥

करणेहि होदि विगलो बहुसो चित्तवचितोदधिचेहि ।

घाणेण य जिम्माए चिट्ठावलविरियजोगैहि ॥१७८१॥

'करणेहि होदि विगलो' विकलेन्द्रियः क्वचिद्भवति । 'बहुसो' बहुयः । 'चित्तवचितोदधिचेहि' मनसा वचसा श्रोत्रेण नेत्रेण करणेन हीनः । स्पृशमेन्द्रियवैकल्यासमवात् 'तत्कमुपग्यातः' । 'घाणेण य' घ्राणेन च । 'जिम्माए' जिह्वया । 'चेट्ठावलविरियजोगैहि' चेष्टया क्लेश वीयेण च ॥१७८१॥

जच्चबंधबहिरमूओ छादो तिसिओ वणे व एयाई ।

भमइ सुचिरंपि जीवो जन्मवणे णट्टसिद्धिपहो ॥१७८२॥

'जच्चबंधबहिरमूओ' जात्यन्धो, बहिरो, मूकः । 'छादो' क्षुधा पीडितः, 'तिसिओ' तृषामिभूतः । 'वणे व एयाओ भवदि' असहायो यथा वने भ्रमति । तथा 'सुचिरंपि' चिरकालमपि । जीवो 'जन्मवणे' जन्मवने भ्रमति । 'णट्टसिद्धिपहो' नष्टसिद्धिमार्गः । उक्त च—

कलुषचरितैर्नष्टज्ञानस्फुसंश्रितकर्मभिः, करणविकलः 'कर्मोद्भूतो भवार्जवपाततः ।

सुचिरमवशो दुःकार्तो 'निमीकितलोचनो, भ्रमति कृपणो नष्टप्राणः क्षुभेतरकर्मकृत् ।

श्रवणविकलो वाग्धीनोऽसौ घषाभूतलोचनः, सुचित्तमस्मिन् नष्टोऽव्यां बरेदतहावकः ।

असह्यवसकृत् गुह्यन् मुच्चबंधबहिराचरवेहतां, भ्रमति सुचिरं जन्माटव्यां तथायमवेशकः ॥इति॥१७८२॥

एइंदियेसु पंचविधेसु वि उत्थाणवीरियविहूणो ।

भमदि अणंतं कालं दुक्खसइस्साणि पार्वेदो ॥१७८३॥

'एइंदियेसु पंचविधेसु वि' एकेन्द्रियेषु पञ्च प्रकारेष्वपि । पृथग्यत्तेजोवायुवनस्पतिशरीरवर्णविवृ ।

गा०—यह जीव बहुत बार मन, वचन, श्रोत्र, नेत्र, घ्राण और जिह्वा इन्द्रिय तथा चेष्टा बल और वीर्यसे हीन विकलेन्द्रिय होता है ।

टी०—किसी प्राणीका स्पर्शन इन्द्रियसे हीन होना तो असंभव है अतः उसका कक्षन नहीं किया है ॥१७८१॥

गा०—टी०—कभी यह जीव जन्मसे ही अन्धा, बहिरा, गूंगा होता है और भूख तथा व्यास से पीड़ित होकर जैसे कोई मार्ग भूलकर वनमें अकेला भटकता है उसी प्रकार मोक्षमार्गसे अज्ञ होकर जन्मरूपी वनमें अकेला भ्रमण करता है । कहा भी है—अपने बुरे वाचरणोंसे संश्लिष्ट विज्ञे कर्मोंके द्वारा अपना ज्ञान खोकर यह जीव विकलेन्द्रिय होता है तथा कर्मोंसे प्रेरित हो संसाररूपी समुद्रमें गिरकर चिरकाल तक पराधीन हो, आंसू बन्द करके भ्रमण करता है । उसका कोई रक्षक नहीं होता । जैसे कोई बहुरा, गूंगा अन्धा मूक प्राणी व्याससे व्याकुल हो, मार्ग भूलकर अकेला वनमें भटकता है । उसी प्रकार यह संसारी प्राणी मार्गदर्शकोंके बिना बार-बार संसारवाचरण पर्यायको ग्रहण करता और छोड़ता हुआ चिरकाल तक जन्मरूपी वनमें भ्रमण करता है ॥१७८२॥

गा०—पृथिवी, जल, तेज, वायु और धनस्पतिका शरीर धारण करनेवाले पांच प्रकारके

१. कर्मोद्भूतम—अ० । २. तिसिओ वि—कृ० ।

‘उत्पाणवीरियबिहीणो’ पृथिव्याविकायाम् परित्यज्य असकायप्राप्तिनिमित्तोत्पानवीर्यरहितः । ‘भ्रमवि भ्रमणं कालं’ भ्रमति अनन्तकालं । ‘दुःखसहस्राणि पावैतो’ दुःखसहस्राणि प्राप्नुवन् ॥१७८३॥

**बहुदुःखावत्ताए संसारणदीए पावकलुसाए ।**

**भमइ वरागो जीवो अण्णाणनिमीलितो सुचिरं ॥१७८४॥**

‘बहुदुःखावत्ताए’ बहुदुःखावर्तिया । ‘संसारणदीए’ संसृतिनद्या । ‘पावकलुसाए’ पापकलकसहितायां । ‘वरागो जीवो भ्रमवि’ दीनो जीवो भ्रमति । ‘सुचिरं अण्णाणनिमीलितो’ अज्ञानेन निमीलितः ॥१७८४॥

**विसयामिसारगाढं कुज्जोणिणेमि सुहदुःखददखीलं ।**

**अण्णाणतुंबधरिदं कसायददपट्टियाबंधं ॥१७८५॥**

‘विसयामिसारगाढं’ विषयामिलापारीगाढं स्तब्ध । ‘कुज्जोणिणेमि सुहदुःखददखीलं’ कुत्सितयोनि-  
नेमिकं सुखदुःखदुःखकील । ‘अण्णाणतुंबधरिदं’ अज्ञानतुंबधारित । ‘कसायददपट्टियाबंधं’ कषायदृढ-  
पट्टिकाबन्धं ॥१७८५॥

**बहुजन्मसहस्सविसालवत्तणिं मोहवेगमहिचवलं ।**

**संसारचक्रमारुहिय भमदि जीवो अणप्पवसो ॥१७८६॥**

‘बहुजन्मसहस्सविसालवत्तणिं’ अनेकजन्मसहस्रविशालमार्गं । ‘मोहवेगं’ मोहवेग । ‘संसारचक्रमारु-  
हिय’ एवंभूत संसारचक्रमारुह । ‘अणप्पवसो जीवो भ्रमदि’ अनात्मवशो जीवो भ्रमति ॥१७८६॥

**भारं ञरो वहंतो कर्हिचि विस्समदि ओरुहिय भारं ।**

**देहभरवाहिणो पुण ण लहंति खणं पि विस्समिदु ॥१७८७॥**

‘भारं ञरो वहंतो’ भार वहन्तरः । ‘कर्हिचि भारमोरुहिय’ कस्मिंश्चिद्देशे काले च भारमवतार्यं ।  
‘विस्समदि’ विधाम्यति । ‘देहभरवाहिणो पुण’ देहभारोद्वाहिणो जीवा पुनः । ‘न लभंति खणं पि विस्समिदु’  
न लभन्ते क्षणमपि विश्राम कर्तुं । औदारिकवैक्रियिकयोर्विनष्टयोरपि कार्माणतंजसयोरवस्थानात् ॥१७८७॥

एकेन्द्रियोमें यह जीव हजारो कष्ट भोगता हुआ अनन्तकाल तक भ्रमण करता है । उसमे इतनी भी शक्ति नहीं होती कि पृथिवी आदि कायोका त्याग करके असकायकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर सके ॥१७८३॥

गा०—अज्ञानमे पडा हुआ यह बेचारा जीव पापरूपी मैले पानीसे भरी और बहुत दुःख-  
रूपी भँवरोसे युक्त ससाररूपी नदीमे चिरकाल भ्रमण करता है ॥१७८४॥

गा०—यह ससाररूपी चक्र ( पहिया ) विषयोंकी अभिलाषारूपी आरोसे जकड़ा हुआ है,  
कुयोनिरूपी नेमि—हाल उसपर चढी हुई है । उसमे सुख दुःखरूपी मजबूत कीले लगी हैं ।  
अज्ञानरूपी तुम्बपर वह स्थित है, कषायरूपी दृढ पहियोसे कसा हुआ है । अनेक हजार जन्मरूपी  
उसका विशाल मार्ग है । उसपर वह ससार चक्र चलता है । मोहरूपी वेगसे अतिशीघ्र चलता  
है । ऐसे संसाररूपी चक्रपर सवार होकर यह पराधीन जीव भ्रमण करता है ॥१७८५-८६॥

गा०-टी०—भारवाही मनुष्य तो किसी देश और कालमे अपना भार उतारकर विश्राम कर  
लेता है । किन्तु शरीरके भारको ढोनेवाले जीव एक क्षणके लिये भी विश्राम नहीं पाते । औदारिक



कम्माणुभावदुहिदो एवं मोहबंधवारगहणम्मि ।

अंधो व दुग्गमग्गो ममदि हु संसारकंतारे ॥१७८८॥

‘कम्माणुभावदुहिदो’ असद्वेद्यादिपापकर्ममाहात्म्यजनितदुःखः । ‘एव’ मुक्तेन क्रमेण । ‘संसारकंतारे भवति’ संसारकान्तारे भ्रमति । कीदृशे ? ‘मोहबंधवारगहणम्मि’ मोहान्धकारग्रहणे । ‘अंधो व दुग्गमग्गो’ अंध इव दुर्गमार्गे ॥१७८८॥

दुक्खस्स पडिगरंतो सुहमिच्छंतो य तह इमो जीवो ।

पाणवधादीदोसे करेइ मोहेण संछण्णो ॥१७८९॥

‘दुक्खस्स पडिगरंतो’ दुःखस्य प्रतीकारं कुर्वन् । ‘सुहमिच्छंतो व’ इन्द्रियसुखमभिलषन् । ‘इमो जीवो’ अयं जीवः । ‘पाणवधादीदोसे’ हिंसादिदोषान् । ‘करेइ मोहेण संछण्णो’ करोति मोहेन संछन् । एतदुक्तं भवति—दुःखभीर्शनिरवशेषदुःखापायस्थोपायं न वेत्ति । दुःखनिराकरणार्थ्यपि दुःखहेतून्नेव हिंसादीन् प्रवर्तयति । इन्द्रियसुखलम्पटोऽपि तेष्वेव हिंसादिषु दुःखहेतुषु प्रवर्तते । ततोऽस्य सकलो व्यापारो दुःखस्यैव मूलमिति ॥१७८९॥

दोसेहिं तेहिं बहुगं कम्मं बंधदि तदो णवं जीवो ।

अध तेण पच्चइ पुणो पविसित्तु व अग्गिमग्गीदो ॥१७९०॥

‘दोसेहिं तेहिं’ प्राणिवधादिर्करीदोषे । ‘बहुगं कम्मं बंधदि’ महत्कर्म बध्नाति । ‘णवं’ प्रत्ययः । ‘तदो’ पश्चात् । ‘अध’ कर्मबन्धानन्तरं । ‘तेण पच्चइ’ तेन बन्धनेन कर्मणा पच्यते । ‘पविसित्तु व’ प्रविश्येव । किं ? ‘अग्गि’ अग्निः । ‘अग्गीदो’ अग्नेः । अग्नेरागत्य अग्निं प्रविश्य यथा बाध्यते एव पूर्वं कर्मनिर्बाधितः पुनः प्रत्ययकर्मनिलेन दह्यते इति ॥१७९०॥

और वैक्रियिक शरीरोंके छूट जानेपर भी कामंण और तैजस शरीर बराबर बने रहते है ॥१७८७॥

गा०—इस प्रकार असातावेदनीय आदि पापकर्मोंके प्रभावसे दुःखी जीव मोहरूपी अन्धकारसे गहन ससाररूपी बन्धने उसी प्रकार भ्रमण करता है जैसे अन्धा व्यक्ति दुर्गम मार्गमें भटकता है ॥१७८८॥

गा०-टी०—मोहसे आच्छादित यह जीव दुःखसे बचनेका उपाय करता है और इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा रखता है और उसके लिये हिंसा आदि दोषोंको करता है । आशय यह है कि दुःखसे डरता है किन्तु समस्त दुःखोंके विनाशका उपाय नहीं जानता । यद्यपि दुःखोंको दूर करना चाहता है किन्तु हिंसा आदि पापोंमें प्रवृत्त होता है जो दुःखके हेतु है । इन्द्रिय सुखका लम्पटी होते हुए उन्ही हिंसा आदि पापोंमें लगा रहता है जो दुःखके कारण है । इसलिये उसका सब काम दुःखका ही मूल होता है ॥१७८९॥

गा०—उन हिंसा आदि दोषोंको करनेसे जीव बहुत-सा नया कर्म बाँधता है । कर्मबन्धके पश्चात् उस कर्मका फल भोगता है । इस प्रकार जैसे कोई एक आगसे निकलकर दूसरी आगमें प्रवेश करके कष्ट उठाता है, वैसे ही पूर्वबद्ध कर्मोंको भोगकर पुनः नवीन कर्मरूपी आगमें जलता है ॥१७९०॥

१. भीरुनरो विशेषदुःखापायस्यापाय—आ० मु० । निःशेषदुःखापायोपायं—मूलारा० ।

२. कर्मनिबन्धेन—आ० ।

बंधतो मुच्यन्ते एवं कर्म पुणो पुणो जीवो ।

सुहृत्कामो बहुदुःखं संसारमणादियं भमइ ॥१७९१॥

‘बंधतो मुच्यन्ते’ कथन् मुच्यन् । ‘एव कर्म पुणो पुणो जीवो’ कर्म पुन पुनर्जीव’ दत्तकलानि मुच्यति, कर्मफलानुभवकालोपजातराश्रयैश्चादिवरिजावैरभिनवानि कर्माणि बध्नाति । ‘सुहृत्कामो’ सुखाभिलाषवान् । ‘बहुदुःखं’ विषयदुःखं । ‘संसारमणादिनं भमइ’ अनादिकं ससार भ्रमति । ससारचिन्ता ॥१७९१॥

लोकानुप्रेक्षा निरूप्यते । नामस्थापनाद्रव्यादिविकल्पेन यद्यप्यनेकप्रकारो लोकस्तथापीह लोकशब्देन जीवद्रव्यलोक एवोच्यते । कथं ? सूत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिक्रमनिरूपणात्—

आहिंश्यपुरिसस्स व इमस्स णीया तहिं तहिं होंति ।

सव्वे वि इमो पत्तो संबधे सव्वजीवेहिं ॥१७९२॥

‘आहिंश्यपुरिसस्स व’ देशान्तर भ्रमत पुस इव । ‘इमस्स णीया तहिं तहिं होंति’ अस्य बध्वस्तत्र तत्र भवन्ति । ‘सव्वे वि इमो पत्तो’ सर्वानयं प्राप्त । ‘संबधे’ सम्बन्धान् । ‘सव्वजीवेहिं’ सर्वजीवः सह ॥१७९२॥

माया वि होइ भज्जा भज्जा मायत्तणं पुणमुवेदि ।

इय संसारे सव्वे परियट्ठते हु संबंधा ॥१७९३॥

‘माया व होइ भज्जा’ माता भार्या भवति । भार्या मातृता पुनरुपति । एव संसारे सर्वे सम्बन्धा परिवर्तन्ते इति गाथाय ॥१७९३॥

जणणी वसंततिलया भगिणी कमला य आसि भज्जाओ ।

धनदेवस्स य एककम्मि भवे संसारवासम्मि ॥१७९४॥

‘जणणी वसंततिलया’ धनदेवस्य जननी वसंततिलका । कमला भगिनी । ते उभे भार्ये जाते

गा०—इस प्रकार जीव जो कर्म फल दे लेते हैं उन्हें छोड़ देता है और कर्मोंका फल भोगते समय होनेवाले राग-द्वेष रूप परिणामोंसे नवीन कर्मोंका बन्ध करता है । सुखकी अभिलाषा रखकर बहुत दुःखोंसे भरे अनादि ससारमे भ्रमण करता है ॥१७९१॥ ससार अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

अब लोकानुप्रेक्षाका कथन करते हैं । यद्यपि नाम, स्थापना, द्रव्य आदिके भेदसे लोकके अनेक भेद हैं । तथापि यहाँ लोक शब्दसे जीव द्रव्यलोक ही कहा है क्योंकि गाथामे जीवके प्रवृत्ति क्रमका कथन किया है—

गा०—जैसे देशान्तरमे भ्रमण करनेवाले पुरुषको सर्वत्र इष्ट-मित्र मिलते हैं उसी प्रकार इस जीवके भी जहाँ-जहाँ यह जन्म लेता है वही-वही बन्धु-बाणध्व होते हैं । इस तरह इसने सब जीवोंके साथ सब सम्बन्ध प्राप्त किये हैं ॥१७९२॥

गा०—जो इस जन्म माता है वही दूसरे जन्ममे पत्नी होती है और पत्नी होकर पुनः माता बन जाती है । इस प्रकार ससारमे सब सम्बन्ध परिवर्तनशील हैं ॥१७९३॥

गा०—दो—दूसरे भवोंमें सम्बन्ध बदलनेकी तो बात ही क्या है । किन्तु धनदेवकी माता वसन्ततिलका और बहन कमला, ये दोनों उसी भवमें धनदेवकी पत्नी हुईं । कहा भी है—

धनदेवस्य तस्मिन्नेव भवे । भवान्तरेषु संबन्धान्यथाभवे किमस्ति ह्यस्य ? उक्तं च—

बधेकौहृदहने कभतेऽपराधं दुःखं तस्ये च्छान्दस्युपसर्गं च नामम् ।  
नानाशरीरबहनेषु कथं न दुःखं प्राप्नोति को न विषयावित्तवाचकम् ॥  
कुर्यान्न तन्मद्यकोदृतवसवेगः हाथी विष्टुद्वलपानिविसुहचारः ।  
कुर्वांस्ति दुःखवधिकं विख्या सरायां, सस्वारास्यकरीत विप्रान्त् परिदुष्टतरवाः ॥

एवमय कष्टो लोकधर्मः ॥१७९४॥

राया वि होइ दासो दासो रायधर्मं पुण्ड्रवेदि ।

इय संसारे परिवर्द्धते ठाणाणि सञ्चाणि ॥१७९५॥

'राया वि होइ दासो' राजा दासो भवति, श्रीचर्गीभार्जनात्, दासो राजतां पुनरुपति उच्चर्गीभ-  
कर्मण उदयात् । एव संसारे परिवर्तन्ते सर्वाणि स्थानानि ॥१७९५॥

कुलरुवतेयभोगाधिभो वि राया विदेहदेसवदी ।

वच्यधरम्मि सुभोगो जाओ कीडो सकम्मेहि ॥१७९६॥

'कुलरुवतेयभोगाधिभो वि' कुलेन रूपेण तेजसा भोगेनाधिकोऽपि । विदेहजनपदाधिपती राजा सुभोग-  
सज्ज सुवर्चोगृहे कीटो जात' स्वैः कर्मभिः प्रेरितः । उक्तं च—

बुधाः क्वचित्सुरमनुष्यगणप्रधानाः सर्वादिबीसवपुषः शशिकास्तख्या ।

अष्टास्त एव पुनरस्य भत प्रपुन्ना बीना भवन्ति कुलरुववमप्रतापैः ॥१७९६॥

यदि एक शरीर धारण करनेपर जीव अनेक अपवादो और दुःखोको पाता है और उससे मनोवेदना और उग्र पापको बाधता है तब विषय सेवनके द्वारा पापकर्मका उपाजर्जन करनेवाला कौन पुरुष नाना शरीर धारण करनेपर कैसे दुःख नहीं पाता है अर्थात् अवश्य दुःख पाता है ।

मदसे मत्त हाथीके द्वारा वेगपूर्वक किया गया प्रहार तथा बलशाली हाथसे छोड़ी गयी तीक्ष्ण तलवार दुःख नहीं देते । उससे भी अधिक दुःख विषय देते हैं । इसलिये तत्त्वज्ञानी जन विषयोको त्याग देते हैं । इस प्रकार यह लोकधर्म दुःखदायक है ॥१७९४॥

शा०—नीच गोत्रका बन्ध करनेसे राजा मरकर दास होता है और उच्च गोत्रका बन्ध करनेसे दास राजा हो जाता है । इस प्रकार संसारमें सब स्थान परिवर्तनशील है ॥१७९५॥

शा०—विदेह देसका राजा सुभोग कुल, रूप, तेज और भोगमें अधिक होते हुए भी अपने कर्मोंसे प्रेरित होकर विष्टाधरमें कीट हुआ, कहा भी है—जो देव और मनुष्योंमें प्रधान थे, जिनका शरीर सब ऋद्धियोंसे दीप्तिमान था, जिनका रूप बन्धुमाकी तरह मनोहर था, वे भी अन्य गतिमें कुल, रूप, धन और प्रतापसे अष्ट होकर बीन होते हैं ॥१७९६॥

होउण महद्गीओ देवो सुभवणगंधरूवधरो ।

कुणिमम्मि वसदि गम्मे धिगत्यु संसारवासस ॥१७९७॥

'होऊण महद्गीओ देवो' महद्दिको देवो भूत्वा । 'सुभवणगंधरूवधरो' प्रशस्ततेजोगन्धरूपान्वित ।

इन्द्रचापतडिबन्धुवराणां यद्वायु गगने सहसैव ।  
जन्म क्षीयति तद्दधीर्वा जन्म वेद्यमक्षुण्णिप्रविमुक्तम् ॥  
वातपित्तकफश्ले. परिमुक्तं व्याधिभिर्धिगतश्लेदमनिद्रम् ।  
अकपुतं परमयौवनयुक्तं सर्वतोऽधिकलमुत्तमकान्ति ॥  
सर्वतदेव विमलाम्बरवर्णस्पर्शागन्धवरवाङ्मिताहासं ।  
सद्द्विलासयतिचेष्टितलोकं ते शरीरभरवत्र लभन्ते ॥  
गीतवाद्यतनुयुग्मिनाद्वैस्तास्तवाद्य समपेत्य सहर्षाः ।  
देवदेव<sup>१</sup>चमिताः प्रणिपत्य क्रुधतेऽत्र समुपासनयेषां ॥  
कुलपङ्कजसमेरय हस्तैर्बद्धिर्षः प्रवरलक्षणकीर्णः ।  
चारुचन्द्रवदना मतिषेवां स्निग्धदृष्टिहसिताः प्रतिगृह्य ॥  
मृगपासनमस्तकोपविष्टान् मृगपानप्रगतानिवाचलानां ।  
अथ ताननिबेकमाययति सुवितास्तत्र ३सुराः सुवर्णकुम्भैः ॥  
प्रथिकाशय वक्त्रपङ्कजानि सुरनाथार्कगुणाङ्गभिः सुराणां ।  
४कुण्डमः सुधिरं स्वमाधिपत्यमिति ताप्याग्निभरभिष्टुबन्ति चैव ॥

गा०-टी०-शुभरूप, शुभगन्ध, और प्रशस्त तेजधारी महती ऋद्धिका धारक देव भी होकर गन्दे गर्भस्थानमे वास करता है ।

देवोंमें उत्पत्तिका वर्णन करते हुए कहा है—

जैसे आकाशमें सहसा ही शीघ्रतासे इन्द्रधनुष, बिजली और मेघ प्रकट होते हैं उसी प्रकार देवोंका जन्म होता है । उनका शरीर अपवित्र वस्तुओंसे रहित होता है, वात, पित्त और कफसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंसे रहित होता है । खेद और नीदसे रहित होता है । उत्कृष्ट यौवनसे युक्त होता है, सब रूपसे परिपूर्ण होता है, उत्तम कान्तिसे युक्त होता है । उत्तम रूप, रस गन्धसे युक्त है । वचन-विलास, हास-विलास, गति चेष्टासे लीला सहित होता है । वे देव ऐसा शरीर तत्काल प्राप्त कर लेते हैं । उसके पश्चात् गीत वाद्योंको पक्ति तथा भेरोक शब्दोंके साथ देव-देवागना बड़े हर्षके साथ उनके पास जा, नमस्कार करके उनकी सेवा करते हैं । हास सहित स्निग्ध दृष्टिसे युक्त सुन्दर चन्द्रमुखी देवागनाएँ खिले हुए कमलके समान तथा उत्तम लक्षणोंसे युक्त दक्षिण हाथोंसे उनका नमस्कार स्वीकार करती हैं ।

पर्वतोंके अग्रभाग पर बैठे हुए सिंहके समान सिंहासनके मस्तक पर बैठे हुए उन देवोंका वे देव प्रसन्नतापूर्वक सुवर्ण कलशोंसे अभिषेक करते हैं । हे देवेन्द्ररूपी सूर्य ! अपने गुणरूपी किरणोंसे देवोंके मुखरूपी कमलोंको विकसित करो और चिरकाल तक हमारे स्वामी रहो, इस

आद्याय नैवाचरन्ति शिरःसु श्वास्तीरिबेत्तैर्मुकुटानि भूत्वा ।  
 विभूषिताश्चाभरन्नेरनर्धेहारार्धहारंगवकुण्डलादीः ॥  
 ज्योतिर्विभूषान् गगनप्रवेशान्, विद्वद्धिमद्धान् यश्चिराम्बुवाक्च ।  
 रत्नाभितान् हेममहत्गिरांश्च विज्ञेयन्तोऽज्यधिकं विभ्रान्ति ॥  
 दिव्यवीर्यबलविक्रमापुषो दिव्यवीर्यपुषो विज्ञो बल ।  
 भासयति विमलान् रार्कबहिष्यसौम्यवपुषः शशाङ्कवत् ॥  
 दूरमप्यतिपतन्ति लाघवात् गौरवाद् गिरिसमा भवन्ति च ।  
 आणवावतिविशन्ति वेदिनीं पार्थिवाश्च महतोऽपि बन्धते ॥  
 काष्ठमग्निमनिलं जलं महीं संप्रक्षिप्य च तन्मः शरीरिणां ।  
 निर्विशेषपुणकाः सहासितुं ते भवन्ति सुचिरं सुअन्य ॥  
 पावकाचलमुरम् वनावनीसामरांश्च सहसा निक्षय ते ।  
 स्थानभीप्सिततमं श्वाङ्घ्रिना यान्ति चाङ्घ्रिहृताःसमीरवत् ॥  
 उत्क्रियेयुरवनीं महाबलात् पातयेयुरपि मन्दराङ्करैः ।  
 मन्दराप्रक्षिप्तं घरास्थितास्ते ल्यूधेयुरपि यद्यभीप्सितं ॥  
 ईशितुं सुरनुषामयत्नतः कर्तुंमात्स्यवशगाम्भमानपि ।  
 रूपमात्ममनसां समीप्सितं श्वष्टुमप्यलमभी सहस्रधा ॥

प्रकार वे देव अपने वचनोंसे उनकी स्तुति करते हैं ॥ उनके मस्तक पर मुकुट घोभित होते हैं जो मानों ग्रीष्म कालके सूर्यको ही पकड़ कर सिरों पर रख लिया है ऐसे प्रतीत होते हैं । उन मुकुटोंसे तथा हार, अर्द्धहार, बाजूबन्द, कुण्डल आदि बहुमूल्य आभरणोंसे भूषित होकर वे देव सूर्यचन्द्रसे सुशोभित आकाशसे, विजलीसे सम्बद्ध सुन्दर मेघोंसे और रत्नोंसे खचित स्वर्णमयी पर्वतोंसे भी अधिक सुशोभित होते हैं । दिव्य वीर्य, बल, विक्रम और आयुवाले तथा दिव्य चमकदार शरीरवाले वे देव निर्मल आकाशमें स्थित सूर्य और दिव्य सौम्य शरीरवाले चन्द्रमाकी तरह दसो दिशाओंको प्रकाशित करते हैं । वे लाघवसे सुदूर तक ऊपर उठे हुए हैं और गौरवसे पर्वतके समान होते हैं । सूक्ष्म होनेसे पृथ्वीमें प्रवेश करते हैं और महान् होनेसे बड़ों-बड़ोंको रोकते हैं । अर्थात् अणिमा, महिमा, लघिमा और गरिमा सिद्धिके धारी होते हैं । वे काष्ठ, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वीमें तथा प्राणियोंके शरीरमें प्रवेश करके उन्हींके समान हो जाते हैं । ऐसी उनमें शक्ति होती है ॥ वे आग, पर्वत, पृथ्वी और सागरमें, सहसा प्रवेश करके अमके बिना बेरोक-टोक वायुकी तरह इच्छित स्थानको चले जाते हैं । वे महान् बलसे पृथ्वीको ऊपर उठा सकते हैं । अपने हाथोंसे मन्दराचलको गिरा सकते हैं । वे पृथ्वी पर रहकर यदि चाहें तो सुमेरुकी चोटीके अग्रभागको छू सकते हैं अर्थात् प्राप्ति और प्राकाम्य सिद्धिसे सम्पन्न होते हैं ॥

वे बिना प्रयत्नके देवों और मनुष्योंका स्वायित्व कर सकते हैं । सूर्योंको भी अपने वशमें कर सकते हैं और हजारों इच्छित रूप बना सकते हैं । अर्थात् ईशित्व और वाशित्व सिद्धिसे सम्पन्न होते हैं ॥ अपनी सुगन्धसे और मिष्ट वचनोंसे दिशाओंको पूरित करके सन्तान आदिके

१. तोऽज्यधि -आ० । २. बरा क्वचिद् -आ० । ३. ति विभवात् सु-आ० । ४. ता शरीर-अ० ।  
 ५. महाबलात् -अ० मु० । ६. श्वष्टुम -अ० । ७. सहःस्तथा. -आ० ।

संपूर्वाक्षाः स्वसुरविषयैर्वाविर्वाष्टीः सुखसुखेषु ।  
 संतानादींश्चिरचित्तमात्रा नित्याभ्यासाः परित्यक्तानाः ॥  
 मास्यैर्गन्धैः सुसुगन्धुश्चित्तं 'दध्मुर्दस्त्राण्यतिचिरजीति ।  
 रंरच्यति रतिनिपुणाधिस्त्राभिः कर्तुं चरचमिताभिः ॥  
 सुखेनेवं जीवन्तो याति विद्येभ्यस्तं परित्यागं ।  
 तत्र महद्विमुता अपि देवः स्त्रीमुखा विचनानुचं एव ॥  
 प्राणभृतामिह कल्पमलोकैः तीक्ष्णरादिकायांश्चतुष्कं ।  
 स्यात्सुरसंततवः शनकाकाः, तन्न भवन्ति हि कर्मवज्जेल ॥  
 श्रद्धमुपमानितजीवित्यैवे, स्त्री चिरच्छेदितवत्यपि तन्ना ।  
 पत्यमितां वत जीवितकालं तेच विद्योगिताः सुरलोकः ॥  
 मृत्युकृतं च विदित्य सुदुःखं भावि सुरः परिधीतमनस्काः ।  
 तत्र भवन्ति मृगा इव बद्धा ध्याप्रसमीपमुपेत्य समीक्षाः ॥  
 गर्भकृतामपि ते दुरवस्थां संपरिचित्य पुनः समवाप्य ।  
 शोकभये विपुले परियान्ति चारकरोध इवाभ्युपयाते ॥  
 मूत्रपबाह्युवेरतिदुःखं निर्गमनं स्मरतां च सुखीनां ।  
 जन्मतयेति भयं द्विविधानां, स्यादधिकं तववाप्य सुखं तत् ॥  
 तानपि चासु पतेत् सुवनिष्ठा पश्यत सर्ववर्षीरिव कृष्टा ।  
 वर्षसहस्रमितीह पतौऽपि कालवरो न जहात्यहर्निशं ॥  
 उच्छ्वसन्नं भ्रमणं मृपतेपि-पक्षमितौर्दिवसैर्वधि याति ।  
 काम्यसुरेषु कथा वत लोकै ह्रीं सभयो जनतायंश्चवासः ॥

सुन्दर फूलोंसे रचित माला धारण करते हैं जो कभी मुरझाती नहीं है ॥ सुखपूर्वक माला और गन्धसे विलिप्त वे देव अत्यन्त स्वच्छ वस्त्र धारण करते हैं और रस्मिने निपुण अपनी देवांगनाओंके साथ रमण करते हैं ॥ इस प्रकार सुखपूर्वक जीवन यापन करते हुए वियोगजन्म सन्तापको सहते हैं । क्योंकि स्वर्गोंमें महद्विदिक भी देव-देवांगना समान आयुवाले नहीं होते । आगे-पीछे मरते हैं ॥ मध्यलोकसे यहाँके प्राणियोंकी कथाय तीव्रतर होती है । अतः कर्मवश देव-देवांगनाओकी आयु समान नहीं होती ॥ देवकी आयु सागरप्रमाण होती है और देवांगना चिरकाल तक भी जीवित रहते तो उसकी आयु पत्न्यप्रमाण ही होती है इसलिये देवलोकमें वियोगजन्म सन्ताप होता है । भविष्यमें होनेवाले मृत्यु जन्म दुःखका विचार करके देव डर जाते हैं और वहाँ ऐसे भयभीत रहते हैं जैसे ध्याघ्रके समीपमें बाँधे गये मृग । स्वर्गलोकसे प्युत होनेपर गर्भमें होनेवाली दुरवस्थाका भी विचार करके वे महान् शोक और भयसे भूँक होते हैं जैसे कोई जेलखानेसे डरता है । पवित्र देवोंको देवलोकमें जितना सुख होता है उससे भी अधिक भय स्त्रीके अपवित्र मूत्रमार्गसे जन्म लेनेका स्मरण करके जन्मसे ही होता है । यहाँ स्वर्गमें तो हजार वर्ष बीतनेपर भी भूख नहीं सताती थी । किन्तु मनुष्य पर्यायमें जन्म लेनेपर सर्पिणीकी तरह भूख सताती है, यह भय अहमिन्द्रदेवको भी नहीं छोड़ता । स्वर्गमें तो पन्द्रह दिनमें एक बार स्वास लेनेका श्रम उठाना होता

रोगजराविकल्पविविहीनाश्च पुनश्च भवन्मनुजानाम् ।  
 तस्मिन्निवृत्तं प्रसन्नोऽप्य सुरस्तात् प्राण्यमवदमनस्तदनुभवान् ॥  
 अन्यवशादवशा विलयन्तो देहमिवाप्यनुभवमुत्तं ।  
 संप्रतिपत्स्य उद्यमयं ते शोकवशा बहुशोऽपि भवन्ति ॥  
 यत्पुरस्तीरुदमवाप्य विमाने भूतशब्दो जगतीरपि यन्ति ।  
 तत्परिचिन्तयतां कुजलानां केन सुरेषु भवेद्बहुमानं ॥  
 तेऽवधिना विधिना बहुतरुं दूरगतामपि जानत एव ।  
 तेन भयान्मनुभूय पुरस्तादनुवते 'भयकुलवपश्चात्' ॥  
 यः सहसा भयमनुभवति पूर्वतर्ह मः भवं लोचयति ।  
 प्राग्ब्रह्मिन्मवदस्तु नरः शक प्राप्य भवं वचनेति हि पश्चात् ॥  
 अतो न सीक्यं तद्विहास्ति किंचन विमृश्यमानं मनसा भवार्णवे ।  
 सुखे प्रसक्तो त्रिपुरे पुमानयं भजेत दुःखेन विनापुनापि सत् ॥  
 यथाशुकेषोपहृतेऽपि भोजने न तं नरो रोचयते कुलोदितः ।  
 तथात्पयो'वेऽप्यसुखे सुखे सति न तद्बुधो रोचयते कदाचन ॥  
 'प्रपीयमानेऽन्वुनि पातितो यथा लब्धोऽपि मूत्रस्थ तर्बन्नु यक्येत् ।  
 तथा लब्धोऽप्यसुखस्य सत्सुखे करोति सर्वस्य सुखस्य दूषणं ॥

किन्तु मनुष्यगतिमें तो सतत स्वास लेना होता है । हा, जन्मरूपी समुद्रका वास भयकारक है । यहाँ देवगतिमें तो रोग, बूढापा आदि नहीं है । किन्तु मनुष्योंमें तो ये सब हैं । यहसि च्युत होने पर ये सब अवश्य प्राप्त होंगे । ऐसा देख वे देव दुःखी होते हैं । जैसे कोई परबश होकर उपद्रवसे युक्त अन्य देशमें जानेपर बिलाप करता है वैसे ही देव स्वाधीन होते हुए भी परबश होकर देवगतिसे मनुष्यगतिमें जानेका बहुत शोक करते हैं । स्वर्गके विमानोंमें देवोंका सुख प्राप्त करके भी जीवोंको पुनः इसी मनुष्यलोकमें जन्म लेना होता है ऐसा विचार करनेवाले बुद्धिमानोंको देवोंके प्रति बहुमान कैसे हो सकता है । वे देव अवधिज्ञानके द्वारा दूरवर्ती तत्त्वोंको भी जानते ही हैं । इससे पहले ही भयका अनुभव करते हैं ।

जो भय अचानक उपस्थित होता है उसका भय पहलेसे नहीं होता । किन्तु जिस मनुष्यको पहलेसे यह ज्ञात हो जाता है कि मेरा वध होगा वह पहले भयभीत होता है, पीछे मारा जाता है । अर्थात् मनुष्यगतिमें तो मृत्युका बोध पहलेसे नहीं होता । किन्तु देवगतिमें तो मृत्युसे छह मास पूर्व माला मुरझा जाती है । अतः मृत्यु पीछे होती है और उसका भय पहले जा जाता है । अतः विचार करनेपर इस संसाररूपी समुद्रमें कुछ भी सुख नहीं है । बहुत सुखमें आसक्त मनुष्य भी एक परमाणु प्रमाण दुःखके बिना सुख नहीं भोग सकता । अर्थात् संसारके सुखमें दुःखका मिश्रण रहता ही है । जैसे कुलीन मनुष्यको यदि भोजनमें जरा सा भी बाल आदि गिर जाये तो भोजन नहीं रुचता उसी प्रकार ज्ञात्रीको बहुतसे सुखमें थोडा सा भी दुःख मिला हो तो वह सुख नहीं रुचता । जैसे पीनेके पानीमें मूत्रकी एक बूँद भी गिरनेपर वह पानी दूषित

१. भयमप्य पश्चात् -आ० । २. पुमानय -ज्ञा० मु० । ३. दोषोऽय-अ० मु० । ४. प्रदीपमाने -अ० प्रा० ।

पुत्रैरेकैरपि संपुत्रां स्त्रियं कृतापचारं सकृदप्यनिर्वृण ।  
नरो जहात्येव यथा तथा ब्रूयो न वृष्टिदोषादिव सोऽनुमिच्छति (?)

‘कुञ्जिमन्त्रि बसति गर्भे’ कुपितगर्भे बसति । ‘धिगत्सु संसारवासस्त’ धिगत्सु संसारवासस्य ।  
उक्तं च—

त्यागाद्भोगादेव ‘समृद्धं मनुष्ये गर्भस्मत्त्वा गर्भनिपात च समीप्य ।  
त्रस्तादेव ‘वेहाशुचीनपि निरीक्ष्य गर्भमिच्छता दुःकमिवास्तेऽनुभवन्ति ॥१७९७॥

इष किं परलोगे वा सत् पुरिसस्त इति णीया वि ।  
इहई परत्त वा स्वाह पुत्तमंसं णिययमादा ॥१७९८॥

‘इत्थ किं परलोगे वा’ इहलोके परलोके वा, ‘पुरिसस्त णीया वि सत्, ह्येति’ ब्रह्मवोऽपि शत्रवो भवति पुरुषस्य । ‘इहई परत्त वा स्वाह’ इह वा परत्र वा अस्ति, ‘पुत्तमंसं णिययमादा’ पुत्रस्य मास आत्मीया जननी अस्ति किमत पर कष्ट ॥१७९८॥

होऊण रिऊ बहुदुःखकारओ बंधवो पुणो होदि ।  
इय परिवत्तइ णीयत्तणं च सत्तुत्तणं च जये ॥१७९९॥

‘होऊण रिऊ’ रिपुर्भूत्वा पूर्व । ‘बहुदुःखकारो’ विचित्रदुःखकारी । स एव पुणो पश्चादपि । ‘पिय बन्धवो होदि’ प्रियबंधवो भवति । ‘इय परिवत्तइ’ एव परिवर्तते । ‘णीयत्तणं च सत्तुत्तणं च’ बन्धुत्व च शत्रुत्वं च । ‘जये’ जीवलोके ॥१७९९॥

विमलाहेदुं बंकेण मारिओ णिययमारियागन्भे ।  
जाओ जाओ जादिभरो सुदिट्ठी सकम्भेहि ॥१८००॥

‘विमलाहेदुं’ विमलानिमित्त । ‘बंकेण मारिओ’ वक्रास्थेन मृतकेन मारित । क ? ‘सुदिट्ठी’ सुदृष्टि-

हो जाता है उसी प्रकार दुःखका जरा सा भी अंश सब सुखको दूषित कर देता है । जैसे अनेक गुणोंसे युक्त स्त्री यदि एक बार भी व्यभिचार दोषसे दूषित हो जाये तो दयालु भी मनुष्य उसे त्याग देता है । उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य भी दुःखसे मिश्रित सुखको त्याग देता है ।

अतः कहा है—मनुष्योमे गर्भका स्मरण करके तथा गर्भपातको देखकर और मनुष्योंके अपवित्र शरीरको देखकर देव दुःखी होते हैं और मरण होनेपर गर्भमे प्रवेश करके दुःख भोगते हैं ॥१७९७॥

श०—इस लोक अथवा परलोकमे बन्धु भी मनुष्यके शत्रु हो जाते हैं । इस लोक तथा परलोकमे माता भी अपने पुत्रके मासको खाती है इससे अधिक कष्टकी बात और क्या है ? ॥१७९८॥

श०—बहुत दुःख देनेवाला शत्रु भी पुनः प्रिय बन्धु हो जाता है । इस प्रकार जगत्मे बन्धुता और शत्रुता परिवर्तनशील है ॥१७९९॥

श०—सुदृष्टि नामक रत्नपारखो मेथुन करते समय अपनी पत्नी विमलाके निमित्तसे



नामधेयः । 'सकन्नेहि' आत्मीयैः कर्मभिः । 'कान्तो' उत्पन्नः । एव 'विद्ययाचारिमापन्ने' मित्रभायनिर्मे ।  
'दार्दिजरो बावो' जातिस्मरणश्च जात ॥१८००॥

**होऊण बंभणो सोत्तिओ खु पावं करिचु माणेण ।**

**सुणगो व सुणरो वा पाणो वा होइ परलोए ॥१८०१॥**

'होऊण बंभणो सोत्तिओ' श्रोत्रियो ब्राह्मणो भूत्वा । 'माणेण' जातिमदंन । शुणिजननिन्वावमानाम्यां  
'पावं करिचु' पाप कृत्वा नीचैर्गोत्रमुपचित्य । 'सुणगो व सुणरो वा पाणो वा होइ परलोए' एवा  
शूकरवचाण्डालां वा भवति परजन्मनि ॥१८०१॥

**दारिइ अड्ढत्तं षिंदं च थुदिं च वसणमञ्जुदयं ।**

**पावदि बहुसो जीवो पुरिसिस्थिणवुंसयत्तं च ॥१८०२॥**

'दारिइ' दारिद्र्य । 'बहुसो जीवो पावदि' बहुश जीव प्राप्नोति लाभान्तरायोदयात् । 'अड्ढत्त'  
आढ्यता पूर्ववदेव सम्बन्ध । 'पावदि बहुसो इमो' इत्यनेन । लाभान्तरायक्षयोपशमादीप्सितानि प्रव्याणि लभते,  
लब्धानि च नश्यन्ति तत आढ्यता । 'निवा' श्वपाकश्चण्डालः कुण काणो दुर्भगो मूर्ख कृपण इत्यादिकां ।  
'थुदिं च' स्तुति च कुलीनो रूपवान् वाग्मी आढ्य प्राज्ञ इत्यादिका यशस्कीर्तेरुदयात् । 'एव वसणं' दुःख  
असद्वेद्योदयात् । 'अञ्जुदय' देवमनुजभवजं सुख सद्देद्योदयात् । 'पुरिसिस्थिणवुंसयत्तं च' पुरुषत्व च स्त्रीत्व च  
नपुंसकत्वं च बहुश प्राप्नोति ॥१८०२॥

**कारी होइ अकारी अप्पडिभोगो जणो हु लोणम्मि ।**

**कारी वि जणसमक्खं होइ अकारी सपडिभोगो ॥१८०३॥**

'अकारी अपि' दोषमकुर्वन्नपि कारी भवति, 'अप्पडिभोगो जणो' पुण्यरहितो जनः । 'कारीवि' कुर्व-

अपने सेवक बकके द्वारा मारा गया और मरकर अपनी पत्नी विमलाके गर्भसे उत्पन्न हुआ ।  
उत्पन्न होनेपर उसे पूर्वजन्मका स्मरण हो आया ॥१८००॥

विशेषार्थ—वृहत्कथाकोशमे १५३वे नम्बर पर इसकी कथा है ।

ग०—श्रोत्रिय ब्राह्मण होकर यह जीव अपनी जातिका अभिमान करके गुणी जनोकी  
निन्दा और अपमानके द्वारा नीच गोत्रका बन्ध करता है और मरकर परलोकमे कुत्ता, सूकर या  
चण्डाल होता है ॥१८०१॥

ग०—टी०—यह जीव लाभान्तरायका उदय होनेसे अनेक बार दरिद्र अवस्था पाता है ।  
लाभान्तरायका क्षयोपशम होनेसे अनेक बार इच्छित धन पाता है । इस प्रकार अनेक बार धनीसे  
दरिद्र और दरिद्रसे धनी होता है । अयसकीतिका उदय होनेसे चण्डाल, काना, अभागा, मूर्ख,  
कंजूस आदि निन्दाका पात्र होता है । यशःकीर्तिका उदय होनेसे कुलीन, रूपवान्, धनी, पण्डित  
इत्यादि स्तुतिका पात्र होता है । असातावेदनीयका उदय होनेसे दुःख उठाता है और सातावेद-  
नीयका उदय होनेसे देव और मनुष्य भवका सुख भोगता है । इसी प्रकार अनेक बार स्त्री, पुरुष  
और नपुंसक होता है ॥१८०२॥

ग०—पुण्यहीन मनुष्य लोकमें दोष नहीं करनेपर भी दोषका भागी होता है । और  
पुण्यवान् अनाचार करके भी लोगोंके सन्मुख दुराचारी सिद्ध नहीं होता ॥१८०३॥

नन्वप्याचारं, 'जन्मसम्बन्ध' जनानां प्रत्यक्ष 'अकारी होबि' दुराचारो न भवति । 'सर्वद्विभक्त  
पुण्यवान् ॥१८०३॥

सरिसीए चंदिगाए कालो वेस्सो पिओ जहा जोण्हो ।

सरिसे वि तहाचारे कोई वेस्सो पिओ कोई ॥१८०४॥

'सरिसीए चंदिगाए' चंद्रिकायां समानायामपि । 'कालो वेस्सो' कालपक्षो द्वेष्य । 'पिओ जहा जोण्हो' शुक्लपक्षो यथा प्रिय । 'सरिसे वि तहाचारे' मृदोऽप्याचारे द्वयोः पुंसोः । 'कोई वेस्सो पिओ कोई' कश्चित् द्वेष्य कश्चित् प्रिय ॥१८०४॥

इय एस लोगधम्मो चित्तिज्जंतो करेइ णिव्वेदं ।

धण्णा ते भयवता जे मुक्का लोगधम्मादो ॥१८०५॥

'इय एस लोगधम्मो' अयमेव प्राणिधर्म । 'चित्तिज्जंतो' चिन्त्यमानो । 'करेइ णिव्वेदं' निर्वेद करोति । 'धण्णा ते भयवता' पुण्यवन्तस्ते यतय । 'जे मुक्का लोगधम्मादो' ये मुक्ता प्राणिधर्माद् व्यावर्णितात् ॥१८०५॥

विज्जू व चंचलं फेणदुब्बलं वाधिमहिममच्चुहदं ।

भाणी किह पेच्छतो रमेज्ज दुक्खुद्धुदं लोगं ॥१८०६॥

'विज्जू व चंचलं' विशुद्धिव चंचल, 'फेणदुब्बलं' फेनमिव दुर्बल । 'वाधिमहिममच्चुहदं' व्याधि-  
भिमथित मृत्युना हतं । 'लोगं पेच्छतो' लोक पश्यन् । 'भाणी किह रमेज्ज' ज्ञानी कथ तत्र रति कुर्यात् ।  
लोगधम्मचिन्ता ॥१८०६॥

अशुभत्वानुप्रेक्षा प्रक्रम्यते—

असुहा अत्था कामा य हुंति देहो य सव्वमणुयाणं ।

एओ चैव सुभो णवरि सव्वसोकखायरो भ्रम्मां ॥१८०७॥

'असुहा अत्था कामा य हुंति' अशुभा अर्था. कामाश्च भवन्ति । 'देहो य सव्वमणुयाणं' देहश्च सर्व

गा०—जैसे चाँदकी चाँदनीके समान होनेपर भी लोग कृष्णपक्षसे द्वेष करते है और शुक्लपक्षसे प्रेम करते है । वैसे ही समान आचार होते हुए भी कोई मनुष्य लोगोको प्रिय होता है और कोई अप्रिय होता है ॥१८०४॥

गा०—इस प्रकार लोकदशाका चिन्तन करनेसे वैराग्य उत्पन्न होता है । वे पुण्यवान यतिजन धन्य है जो इस ऊपर कहो संसारकी दशासे मुक्त हो गये है ॥१८०५॥

गा०—विजलीकी तरह चंचल, फेनकी तरह दुर्बल, रोगोसे ग्रस्त और मृत्युसे पीड़ित इस लोकको देखकर ज्ञानी इससे अनुराग कर सकता है ॥१८०६॥

इस प्रकार लोकानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

अब अशुभत्व अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—अर्थ, काम और सब मनुष्योंकी देह अशुभ है । एक सब सुखोकी खान धर्म ही शुभ है । शेष सब अशुभ है ॥१८०७॥

मनुष्यानाम् । 'एकको केव सुको' एक एव सुभः पुनः । 'सम्बन्धुकारयो बन्धो' सर्वेषां सीम्नानामाकरो धर्मः ॥१८०७॥

अर्थस्याशुभता व्याचष्टे—

इहलोगियपरलोगियदोसे पुरिसस्स आवहइ णिच्चं ।

अत्थो अणत्थमूलं महाभयं मुत्तिपडिपंथो ॥१८०८॥

'इहलोगियपरलोगियदोसे' ऐहिकान् पारलौकिकांश्च दोषान् । 'पुरिसस्स आवहइ णिच्चं' पुरुषस्व आवहति नित्यं । 'अत्थो अणत्थमूलं' अर्थोऽनर्थाणां मूलं, 'महाभयं' महती भयस्य मूलत्वान्महाभयं । 'मुत्तिपडिपंथो' मुक्तेरर्गलीभूतः ॥१८०८॥

कामस्याशुभतमतामाचष्टे—

कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया अप्पकालिया कामा ।

उवधो लोए दुक्खावहा य ण य हुंति ते सुलहा ॥१८०९॥

'कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया' अशुचिकुटिभवा. लघुत्वकारिण । 'अप्पकालिया कामा' अल्पकालेषु भवा कामा । 'उवधो लोए' लोकद्वये दुःखावहात्त्व । 'ण य हुंति ते सुलहा' नैव ते सुलभा भवन्ति ॥१८०९॥

कामाशुभत्वमाख्याति—

अट्ठदलिया छिरावक्कवड्डिया मंसमड्डियालित्ता ।

बहुकुणिमण्डभरिदा विहिंसणिज्जा सु कुणिमकुडी ॥१८१०॥

'अट्ठदलिया' अस्थिदलनिष्पन्ना । 'छिरावक्कवड्डिया' शिरावत्कलवद्धा । 'मंसमड्डियालित्ता' मांस

अर्थकी अशुभता बतलाते हैं—

गा०—टी०—धन सब अनर्थोंकी जड है । यह पुरुषमें इस लोक और परलोक सम्बन्धी दोष लाता है अर्थात् धन पाकर मनुष्य व्यसनोमें फँस जाता है और उससे वह इस लोकमें भी निन्दाका पात्र होता है और परलोकमें भी कष्ट उठाता है । मृत्यु आदि महान् भयोंका मूल होनेसे धन महाभय रूप है । और मोक्षमार्गके लिये तो अर्गला है । धनमें मस्त मनुष्य मोक्षकी बात भी सुनना नहीं चाहता ॥१८०८॥

अब कामकी अशुभता बतलाते हैं—

गा०—यह कामभोग अपवित्र अपने और परके शरीरके संयोगसे पैदा होता है । यह मनुष्यको गिराता है, उसे लोगोंकी दृष्टिमें लघु करता है । यह अल्पकालके लिये होता है तथा दोनों ही लोकमें दुःखदायी है । तथा सुलभ भी नहीं है ॥१८०९॥

अब शरीरकी अशुचिता कहते हैं—

गा०—यह शरीर रूपी कुटी हड्डी रूपी पत्तोंसे बनी है । सिराएँ रूपी बल्कल (छाल) से

मृत्तिकालिप्ता । 'अशुचिभ्रमंभरिवा' अनेकाशुचिद्रव्यपूर्णा । 'विहितविष्णा खु कुणिमकुडी' जुगुप्सनीया  
अशुचिकुटी ॥१८१०॥

इंगालो धुव्वंतो ण सुद्धिमुवयादि जह जलादीहिं ।

तह देहो धोव्वंतो ण जाइ सुद्धिं जलादीहिं ॥१८११॥

'इंगालो धोव्वंतो' प्रक्षाल्यमाना मद्यो न शुद्धमुपयाति न शुक्लतामुपयाति । 'जह' यथा । 'जलादी-  
हिं' जलाधिमिः । 'तह देहो धोव्वंतो' तथा शरीरं प्रक्षाल्यमानं । 'ण जाइ सुद्धिं जलादीहिं' न याति शुद्धिं  
जलाधिमिः ॥१८११॥

सल्लिदादीणि अमेज्झं कुण्ह अमेज्झाणि ण दु जलादीणि ।

मेज्झममेज्झं कुव्वंति सयमवि मेज्झाणि संताणि ॥१८१२॥

'सल्लिदादीणि' सल्लिदादीनि द्रव्याणि शुचीनि । 'अमेज्झं कुण्हि' अमेध्यं करोति । 'अमेज्झाणि'  
अशुचीनि । 'ण दु जलादीणि मेज्झं कुण्हि' नैव जलादीनि शुचितामापादयन्तीति । 'अमेज्झाणि' अशुचीनि  
'सयममेज्झाणि संताणि' अमेध्ययोगात् स्वयमशुचीनि सन्ति ॥१८१२॥

तारिसयममेज्झमयं सरीरयं किह जलादिजोगेण ।

मेज्झं हवेज्ज मेज्झं ण हु होदि अमेज्झमयघटओ ॥१८१३॥

'तारिसयममेज्झमयं' शुचीनामशुचिताकरणसमर्थाशुचिमय शरीरक । 'किह' कथ । 'जलादिजोगेण'  
जलादिसम्बन्धेन । 'मेज्झं हवेज्ज' शुचिर्भवेत् । 'अमेज्झमय घटओ' अमेध्यमयो घट । 'न हु मेज्झो होवि'  
नैव शुचिर्भवति । यथा जलादियोगेन ॥१८१३॥

यदि शरीरमशुचि किं तर्हि शुचीत्यत्राह—

णवरि हु धम्मो मेज्झो धम्मत्थस्स वि णमंति देवा वि ।

धम्मणेण चैव जादि खु साह जन्लोसधादीया ॥१८१४॥

बाँधो हुई है । मासरूपी मिट्टीसे लीपी गई है तथा अनेक अपवित्र वस्तुओसे भरी हुई है । इस  
तरह यह शरीररूपी कुटिया घृणास्पद है ॥१८१०॥

गा०—जैसे कोयलोको जलादिसे धोनेपर भी वे सफेद नहीं होते । उसी प्रकार जलादिसे  
धोनेपर भी शरीरकी शुद्धि नहीं होती ॥१८११॥

गा०—अपवित्र शरीर जलादिको भी अपवित्र कर देता है । अर्थात् शरीरके सम्बन्धसे  
निर्मल जल मैला हो जाता है । जल स्वयं मैला नहीं है, स्वयं तो निर्मल ही है किन्तु जल  
शरीरको पवित्र नहीं बनाता । बल्कि शरीरके संयोगसे जल ही अपवित्र हो जाता है ॥१८१२॥

गा०—निर्मलको मलीन करनेवाला अपवित्र-शरीर जलादिके सम्बन्धसे कैसे पवित्र हो  
सकता है । क्या मलसे भरा घडा पानीसे धोनेसे पवित्र हो सकता है ॥१८१३॥

यह शरीर अपवित्र है तो पवित्र कौन है, इसका उत्तर देते हैं—

गा०—किन्तु धर्म पवित्र है क्योंकि रत्नत्रयारमक धर्ममें स्थितको देव भी नमस्कार करते

'ज्वरि दु बन्धो वेणतो' धर्म पुनः शुचिः । कस्मात् क्षुब्धो यस्माद्विलम्बे. वर्तते । 'बन्धवस्स वि बन्धति देवा वि' यस्माद्धर्मे रत्नत्रयात्मके स्थितस्य देवा अपि नमस्कार कुर्वन्ति । धर्मेण शुचिना योगा-  
वात्मापि शुचिरिति । 'धर्मेण वेध जावि सु साधू' धर्मेणैव प्राप्नुवन्ति साधवः । कि ? 'जल्लोषधाधीय' जल्लोषध्यादिकमुद्रार्थितशम् ॥१८१४॥ अशुभं ।

आस्रवानुप्रेक्षा निरूप्यते—

जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिए दुक्खजलयराइण्णे ।

जीवस्स दु परिभ्रममज्झि कारणं आसवो होदि ॥१८१५॥

'जम्मसमुद्दे' जन्मसमुद्रे । 'बहुदोसवीचिए' विचित्रदोषतरङ्गो । 'दुक्खजलयराइण्णे' दुःखजलचरैरा-  
कीर्णो । 'जीवस्स परिभ्रममज्झि' जीवस्य परिभ्रमणे यत् कारणं तत् 'आसवो' आस्रवो भवति । ननु च कर्माणि कारणानि नत्वास्रवः । अत्रोच्यते । कर्मणा परिभ्रमणकारणानां कारणत्वादास्रवः कारण-  
मित्युक्तं ॥१८१५॥

संसारसागरे से कम्मजलमसंचुडस्स आसवदि ।

आसवणीए णावाए जह सलिलं उदधिमज्झि ॥१८१६॥

'संसारसागरे' संसारसमुद्रे । 'से' तस्य । 'असंचुडस्स' संवररहितस्य सम्यक्त्वसयमक्षमामार्दवाज्व-  
सतोषपरिणामरहितस्य । 'कम्मजलमासवदि' ज्ञानावरणादिकर्मजलमास्रवत्यागच्छति । 'आसवणीए णावाए' आस्रवणशीलाया नावि यथा सलिलं प्रविशति । 'उदधिमज्झे' समुद्रमध्ये ॥१८१६॥

घूली णेहुत्तुप्पिदगत्ते लग्गा मलो जहा होदि ।

मिच्छत्तादिसिणेहोन्लिदस्स कम्मं तहा होदि ॥१७१७॥

है । पवित्र धर्मके सम्बन्धसे आत्मा भी पवित्र है । धर्मसे ही साधु भी जल्लोषधी आदि ऋद्धियों-  
को प्राप्त करते हैं । अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्मका साधन करनेसे साधुओके शरीरका मल भी औषधीरूप हो जाता है ॥१८१४॥

आगे आस्रवानुप्रेक्षाको कहते हैं—

गा०-टी०—यह जन्ममरणरूपी समुद्र विविध दोषरूपी लहुरोसे युक्त है तथा दुःखरूपो  
जलचर जीवोसे भरा है । इस समुद्रमें परिभ्रमणका कारण आस्रव है ।

शंका—संसार समुद्रमे परिभ्रमणका कारण तो कर्म है, आस्रव नहीं है ।

समाधान—परिभ्रमणका कारण कर्म है यह ठीक है । किन्तु उन कर्मोंका कारण आस्रव  
है । अतः आस्रवको परिभ्रमणका कारण कहा है ॥१८१५॥

गा०—जैसे समुद्रके मध्यमे छेदयुक्त नावमें जल प्रवेश करता है वैसे ही संसाररूपी समुद्रमें  
जो जीव संवरसे रहित है अर्थात् सम्यक्त्व, संयम, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि रूप  
परिणामोसे रहित है उसके ज्ञानावरण आदि कर्मरूप जलका आस्रव होता है ॥१८१६॥

गा०—जैसे तैलसे लिप्त शरीरमें लगी हुई घूल मलरूप हो जाती है वैसे ही जो आत्मा

'बूली बोकुत्तुपिबयत्ते लम्बा' बूली स्नेहाम्यकशरीरलम्बा । 'बहा मत्तो होवु' यथा मरुं भवति । 'मिच्छसाविसिबोहेरिल्लवत्स' मिथ्यात्वासयमकषायपरिणामस्नेहाम्यकस्यात्मन प्रदेशेष्ववस्थितं कर्मप्रामोष्यं द्रव्यं । 'तह' तथा । 'कम्मं होवि' कर्म भवति । एतदुक्तं भवति-आत्मपरिणामान्मिथ्यात्वादिकात् विशिष्ट पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमयतीति कर्मत्वपर्यायहेतुरात्मन' परिणाम आस्रव इत्यर्थः ॥१८१७॥

ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलद्वेहिं सव्वदो लोपो ।

सुहमेहिं बादरेहिं य दिस्सादिस्सेहिं य तहेव ॥१८१८॥

'ओगाढगाढणिचिदो' अनुप्रवेशगाढं निश्चितः । 'पुग्गलद्वेहिं' पुद्गलद्रव्यं । 'सव्वदो लोपो' कात्स्न्येन लोकः । 'सुहमेहिं बादरेहिं य' सूक्ष्मं स्थूलं च । 'दिस्सादिस्सेहिं' चक्षुषा दृश्यैरदृश्यैश्च । 'तहेव' तथैव । एतया गायया कर्मत्वपर्याययोग्यानां पुद्गलद्रव्याणां सर्वत्र लोकाकाशे बहनामस्तित्वमाख्यातम् ॥१८१८॥

के ते आस्रवा इत्यत्राह—

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य आसवा होति ।

अरहंतवुत्तअत्थेसु विमोहो होइ मिच्छत्तं ॥१८१९॥

'मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होति' मिथ्यात्वमसंयम कषाययोगाश्च आस्रवा भवन्ति । आस्रवत्प्रागृच्छन्ति कर्मत्वपर्याय पुद्गला एभि कारणभूतैरिति मिथ्यात्वादेव आस्रवशब्दवाच्या तेष्व्वास्त्रवेषु । मिथ्यात्वस्वरूप कथयति । 'अरहंतवुत्त अत्थेषु' अहंदुक्तेषु अनन्तद्रव्यपर्यायात्मकेषु अर्थेषु 'विमोहो मिच्छत्तं होवि' अश्रद्धानं मिथ्यात्वं भवति ॥१८१९॥

असंयममाचष्टे—

अविरमणं हिंसादी यंच वि दोसा हवति णायव्वा ।

कोधादीया चत्तारि कसाया रागदोसमया ॥१८२०॥

मिथ्यात्व, असंयम और कषायपरिणामरूप तैलसे लिप्त होता है उस आत्माके प्रदेशोंमें स्थित कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गलस्कन्ध कर्मरूप हो जाते हैं । इसका आशय यह है, मिथ्यात्व आदि रूप आत्माके परिणामोंसे विशिष्ट पुद्गलद्रव्य कर्मरूपसे परिणमन करता है इसलिये कर्मरूप परिणमनमें कारण आत्माके परिणाम ही आस्रव हैं ॥१८१७॥

गा०—यह लोक सर्वत्र पुद्गल द्रव्योंसे ठसाठस भरा हुआ है । वे पुद्गल सूक्ष्म भी हैं और बादर भी हैं । चक्षुके द्वारा दिखाई देने योग्य भी हैं और न दिखाई देने योग्य भी हैं ।

टी०—इस गायिकाके द्वारा कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गल द्रव्योंका सर्वत्र लोकाकाशमें अस्तित्व बतलाया है ॥१८१८॥

वे आस्रव कौन हैं यह बतलाते हैं—

गा०—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये आस्रव हैं । जिन कारणोंसे पुद्गल कर्मरूप होकर आते हैं उन मिथ्यात्व आदिको आस्रव कहते हैं । उनमेंसे मिथ्यात्वका स्वरूप कहते हैं—अहंस्त भगवान्के द्वारा कहे गये अनन्त द्रव्य पर्यायात्मक पदार्थों में अश्रद्धान करना मिथ्यात्व है ॥१९१९॥

'अविरमणं' अविरमणं नाम । 'हिंसादि बंध वि दोषा' हिंसाभुक्तद्वेषाद्वेषपरिग्रहाख्याः पञ्चापि दोषाः । 'हृषति नावच्छा' अविरमणं भवन्तीति ज्ञातव्याः । प्रमत्तयोग्यताप्राम्थ्यपरोपणं, असदभिधानं, अवसादानं, मैथुनकर्म विशेषं, भ्रूक्षां चेति एते परिणामा अविरमणशब्देनोच्यन्ते । विरमणं हि निवृत्तिस्ततोऽप्यत्वात् । प्रवृत्तिरूपा हिंसादयः अविरमणं इत्युच्यते । 'कोपातीका' क्रोधमानमाकाशोमा । 'वृत्तारि' चत्वारः । 'कसाया' कषाया इत्युच्यन्ते । 'रागद्वेषमाया' रागद्वेषात्मकाः ॥१८२०॥

रागद्वेषयोर्माहात्म्यं दर्शयति—

किहदा राजो रंजेदि परं कुण्डि वि जाणुगं देहे ।

किहदा दोसो वेसं खुणेण नीयंषि कुणइ परं ॥१८२१॥

'किहदा राजो रंजेदि परं' कथं तावद्रागो रञ्जयति नरं । 'कुण्डि वि देहे' अनुभावपि देहे, अनुरागस्यायोग्ये । 'जाणुगं' शरीराशुचित्वं जानन्तं अन्नं रंजयति । सारे कस्वुवि नरं रञ्जयतीति न तच्चित्रं ज्ञातारमशुचित्वसारे शरीरे रञ्जयतीत्येतदद्भुतमिति भावः । 'दोसो' दोषः, 'किहदा वेसं कुणइ' कथं तावद्दुष्टं करोति । 'खुणेण' क्षणमात्रेण । 'नीयंषि परं' बान्धवमपि नरं । अनेनापि द्वेषमाहात्म्यमाख्यायते । रागाश्रयानपि बंधून् द्वेष्यान् करोतीति ॥१८२१॥

सम्मादिट्ठी वि णरो जेसिं दोसेण कुणइ पावाणि ।

धित्तेसि गारविदियसण्णामयरागादोसामं ॥१८२२॥

'सम्मादिट्ठी वि णरो' तत्तन्नामजडानलकनचित्तोऽपि नरः । 'जेसिं दोसेण कुणइ पावाणि' येषां दोषेण करोति पापानि । 'धित्तेसि गारविदियसण्णामयरागादोसामं' निष्कारणैरव्यभिचरिण्याणि संज्ञामदान् रागद्वेषाच्च ॥१८२२॥

असंयमका स्वरूप कहते हैं—

भा०—हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पांच दोषोंको असंयम कहते हैं । कषाययुक्त आत्मपरिणामके योगसे प्राणोके घातको हिंसा कहते हैं । प्राणि पीडाकारक अप्रशस्त वचन बोलनेको असत्य कहते हैं । बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणको चोरी कहते हैं । मैथुन कर्मको अब्रह्म कहते हैं और ममत्व भावको परिग्रह कहते हैं । ये सब परिणाम असंयम कहे जाते हैं । इन सबके निवृत्तिको संयम कहते हैं । और प्रवृत्तिरूप हिंसादि परिणाम असंयम हैं । तथा रागद्वेषमाया चार कषाय हैं । अर्थात् हिंसादिरूप परिणाम असंयम है और क्रोधादि कषाय हैं इनसे क्रोध और मान द्वेषरूप हैं और माया, लोभ रागरूप हैं ॥१८२०॥

राग और द्वेषका माहात्म्य बतलावे हैं—

श्ल०-टी०—यह शरीर अनुषुवि है । रागके अयोग्य है । यह राग शरीरकी अनुचितताको जाननेवाले अज्ञानीको उसमें अनुरक्त करता है स्मरणान् वस्तुमें अनुषुवको अनुरक्त नहीं करता । इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । आश्चर्य इसमें है कि यह जाननेवालेको भी अस्मरण शरीरमें अनुरक्त करता है । तथा द्वेष क्षणमात्रमें बन्धु मनुष्यको भी द्वेषका पात्र बनाता है । इससे द्वेषका महत्त्व कहते हैं कि जो बन्धु राग करने योग्य हैं उन्हें भी वह द्वेषका पात्र बनाता है ॥१८२१॥

भा०—सत्त्वोके ज्ञान और अज्ञानसे युक्त मनुष्य भी अर्थात् सम्बन्धुकी मनुष्य भी जिनके

ओ अभिलाषो विसप्तु तेण ण य पावए सुहं पुरिसो ।

पावदि य कम्मबंधं पुरिसो विसयाभिलासेण ॥१८२३॥

‘ओ अभिलाषो विसप्तु’ यो अभिलाषो विषयेषु स्पर्शाविषु । ‘तेण विषयाभिलासेण ण य पावदे सुहं पुरिसो’ प्राप्नोति तैव सुखं पुरुष । ‘पावदि य कम्मबंधं’ प्राप्नोति च कर्मबन्ध, ‘पुरिसो विसयाभिलासेण’ पुरुषो विषयाभिलाषेण निमित्तेन । एतेन विषयाभिलाषपरिणामस्य प्राणिनामसकृत् प्रवर्तमानस्याहितता निवेदिता, सुखं न प्रयच्छति कर्मबन्धकारण तु भवतीति विषयाभिलाषस्यालवस्य स्वरूपं कथितं ॥१८२३॥

विषयाभिलाषस्य दुष्टतां प्रकारान्तरेणाचष्टे—

कोई इहिज्ज अह चंदणं णरो दारुगं च बहुमोल्लं ।

णासेइ मणुस्सभवं पुरिसो तह विसयलोहेण ॥१८२४॥

‘कोई इहिज्ज अह चंदणं’ करिचद्यथा दहेच्छन्दन । ‘बहुमोल्लं’ महामूल्यं । ‘दारुगं च’ अगुर्वीदिदारु च, यथा वहति भस्मादिक स्वल्पं समुद्दिश्य । ‘तहा णासेइ मणुस्सभवं’ तथा नागयति मानुषभवं अतीन्द्रियानन्त-सुखकारणं । ‘पुरिसो तह विसयलोहेण’ अतितुच्छविषयगाध्यैः ॥१८२४॥ उक्तं च—

विषया अभितोग्रियोत्सवा बहुभिषयापि समन्विता रसैः ।

विषयसंसुप्तस्फुल्लान्मद्यत् परिशुक्ताः परिणामवारुणाः ॥

विषयसुखप्रतिबद्धलोलजितो विषयानिमित्तमनिष्टकर्म कृत्वा ।

विषयसुखप्रविहीणवातिजातो विषयसुखं कल्पते न ना किमुष्यः ॥

दोषसे पाप करता है उन गारवोको, इन्द्रियोको, संज्ञामदोको और राग द्वेषको धिक्कार हो ॥१८२२॥

शा०—विषयोंमें जो अभिलाषा है उसके कारण पुरुष सुख नहीं पाता विषयोंकी चाहके निमित्तसे पुरुष कर्मबन्ध करता है ॥१८२३॥

टी०—इससे प्राणियोंमें निरन्तर प्रवर्तमान विषयोंकी चाहरूप परिणामको अहितकारी बतलाया है । उससे सुख तो नहीं होता, किन्तु कर्मबन्ध होता है । अतः विषयोंकी अभिलाषाको आलवरूप कहा है ॥१८२३॥

शा०—टी०—अन्य प्रकारसे विषयोंकी अभिलाषाकी दुष्टता बतलाते हैं—जैसे कोई मनुष्य राख आदिके लिये बहुमूल्य चन्दनकी लकड़ीको जला देता है । वैसे ही मनुष्य अति तुच्छ विषयोंके लोभसे उस मनुष्य भबको नष्ट कर देता है जिसके द्वारा अतीन्द्रिय अनन्त सुख प्राप्त हो सकता है । कहा भी है—ये विषय इन्द्रियोंके लिये आनन्द उत्पन्न करते हैं तो बहुतसे रत्न उन विषयोंमें रहते हैं । किन्तु विषयसे संस्कार किये गये अन्नकी तरह उनको भोगनेपर अत्यन्त भयंकर परिणाम होता है । जिसका चंचल चित्त विषय सुखमें अत्यासक्त होता है वह विषयोंकी प्राप्तिके लिये अनिष्ट कार्य करके ऐसी पर्यायमें जन्म लेता है जहाँ उसे विषयसुख मिलता ही नहीं । ठीक ही है, पुण्यहीन मनुष्य विषयसुखको नहीं पाता ॥१८२४॥



**छद्दिय रयणाणि जहा रयणदीवा इरेज्ज कहुणि ।**

**माणुसभवे वि छद्दिय धम्मं भोगे मिलसदि तथा ॥१८२६॥**

'छद्दिय रयणाणि जहा' रत्तानि त्यक्त्वा यथा, 'रयणदीवा इरेज्ज कहुणि' रत्तद्वीपात्काष्ठान्या-  
हरति । 'तथा माणुसभवे वि' मनुष्यभवेऽपि, 'छद्दिय धम्मं' धर्मं भिङ्गाय । 'भोगे मिलसदि' भोगेऽप्याच्छति ।  
एतदुक्तं भवति—अनेकसाररत्तनास्पद रत्तद्वीप सुदुर्लभं प्राप्य युवा लब्धत्वापि रत्तान्यनुयायाय असारमिच्छन्  
सुलभं सारभूतया यथा कश्चिदाहरति कथः । तथातेकगुणरत्तनाकरं मनुष्यभवं दुरभाषमभाष्य असर्पकं पराधीनं  
अल्पकालिकं विषयसुखमभिलषति ॥१८२६॥

**गंतूण षंदणवणं अमयं छद्दिय विसं जह पिणइ ।**

**माणुसभवे वि छद्दिय धम्मं भोगे मिलसदि तथा ॥१८२६॥**

'गंतूण षंदणवणं' गत्वा नन्दनवन । 'अमयं छद्दिय' अमृतं त्यक्त्वा । 'विसं जहा पिणइ' विषं यथा  
पिबति कश्चित् । 'माणुसभवे वि छद्दिय' मनुष्यभवेऽपि त्यक्त्वा । 'धम्मं' धर्मं । 'भोगेमिलसदि तथा'  
भोगानामभिलषति तथा ॥१८२६॥

योगशब्दार्थमाचष्टे—

**पापपओगा मणवच्चिकाया कम्मासवं पकुब्बंति ।**

**भुञ्जंतो दुग्गत्तं वणम्मि जह आसवं कुणइ ॥१८२७॥**

'पापपओगा' पाप प्रयुज्यते प्रवर्त्यते एभिरिति पापप्रयोगाः । 'मणवच्चिकाया' मनोवाक्कायाः, 'कम्मा-  
सवं पकुब्बंति' कर्मत्वपर्यायागमं पुद्गलानां कुर्वन्ति । 'भु'जंतो दुग्गत्तं' भुञ्जमानो दुराहारं । 'वणम्मि जह  
आसवं कुणइ' व्रजे यथा आसवं लुट्ति पूतीनां करोति ॥१८२७॥

भा०—टी०—जैसे कोई मनुष्य रत्तद्वीपमें जाकर रत्तनोंको छोड़ लकड़ी बीनता है वैसे ही  
मनुष्यभवे धर्मको छोड़ भोगोंकी अभिलाषा करता है । इसका अभिप्राय यह है कि जैसे कोई  
मूर्ख अनेक बहुमूल्य रत्तनोंसे भरे तथा अतिदुर्लभ रत्तद्वीपमें जाकर बिना प्रयत्नके ही प्राप्त भी  
रत्तनोंको ग्रहण न करके असार और सुलभ ईषनको ही सारभूत मानकर ग्रहण करता है, उसी  
प्रकार जो मनुष्यभवे अनेक गुणरूपी रत्तनोंकी खान है, जिसका मिलना बहुत कठिन है उसे प्राप्त  
करके भी अज्ञानी ऐसे विषयसुखकी अभिलाषा करता है जो तृप्ति प्रदान नहीं करता तथा पराधीन  
है और अल्प काल ही रहता है ॥१८२६॥

भा०—जैसे कोई पुरुष नन्दन वनमें जाकर भी अमृतको छोड़ विष पीता है । वैसे ही  
मनुष्यभवेको पाकर भी मनुष्य धर्मको छोड़ भोगोंकी अभिलाषा करता है ॥१८२६॥

योगशब्दका अर्थ कहते हैं—

भा०—जिनके द्वारा पापमें प्रवृत्ति की जाती है वे मन, वचन, काय, पुद्गलोंको कर्मरूपसे  
परिणमाते हैं । जैसे अपथ्य सेवन करनेवाला अपने घाबमें पीब पैदा करता है । अर्थात् जैसे  
अपथ्य सेवन करनेसे घाबमें पीब आता है वैसे ही मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे कर्मों का आसव  
होता है ॥१८२७॥

कर्माणि शुभाशुभरूपानि द्विविधानि, तत्र कर्म कर्मणः क आत्मव इत्यत्राह—

**अनुकम्पसङ्गुर्मुनयो वि य पुण्यस्त असवदुवर्ग ।**

**तं विवरीद आस्रवदारं पावस्त कम्मस्त ॥१८२८॥**

'अनुकम्पा' अनुमाना । 'सुवृत्तजो' शुद्धश्च प्रयोगः परिणामः, 'पुण्यस्त असवदुवर्ग' पुण्यकान्तं पुण्यत्वपर्यायानममुषं सङ्घं सम्बन्धं, रक्षिहास्यपुत्रेवाः कुमे नामगोत्रे शुभं चायुः पुण्यं इत्येवमेव्यसि पापानि । अनुकम्पा विप्रकारा । अशुभकम्पा मिश्रानुकम्पा सर्वानुकम्पा चेति । तत्र धर्मानुकम्पा नाम परित्यक्तसंघमेषु मानावमानसुखदुःखलाभालाभतृणसुवर्णादिषु समानचितेषु दम्तेन्द्रियास्तत्कारणेषु जगत्त्रिविध मुक्तिमाशितेषु परिहृतोपकवायविषयेषु दिव्येषु भोगेषु शोषाम्बिञ्चिन्य विरायत्तमुपपत्तेषु संसारमहासमुद्राद्भयेन निशास्वप्यल्पनिद्रेषु, अङ्गीकृतमिस्तत्कृतेषु, अमादिदशविधधर्मपरिणतेषु यानुकम्पा सा धर्मानुकम्पा, यया प्रयुक्तो जनो विवेकी तद्योग्यान्पानावसवैषणादिकं सयमसाधनं यतिभ्य प्रयच्छति । स्वामिर्विगुह्य शक्ति उपसर्ग-धौषानवसारयति अस्त्वाप्यसतमिति सेवां करोति भ्रष्टमार्गाणां पन्थानमुपदर्शयति । तैः प्रसंयोगक्याप्य अहो सपुण्या बध्नन्ति ह्युष्मति, सभाषु तेषां गुणामुत्कीर्तयति<sup>१</sup>, तान् गुह्यमिव पश्यति । तेषां गुणानामाभीषणं स्मरति, महात्मनिः कदा नु मम समागम इति । तैः सयोग समीप्सति, तदीयान् गुणान् परैरभिवर्ष्यमानाम्निशम्ब पुष्यति । इत्थमनुकम्पापरः साधुगुणानुमननानुकारी भवति । त्रिधा च सन्तो बन्धमुपविच्छन्ति, स्वयं कृते, कारणायाः, परैः कृतस्यानुमतेष्व । कृत्वा महागुणराशिगतहर्षात् महान् पुण्यास्रवः ।

कर्म शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारके हैं । किससे किस कर्मका आस्रव होता है यह कहते हैं—

गा०—अनुकम्पा और शुद्ध उपयोग पुण्य कर्मके आस्रवके द्वार हैं । और अनुकम्पा तथा शुद्ध उपयोगसे विपरीत परिणाम पाप कर्मके आस्रवके द्वार है ॥१८२८॥

टी०—अनुकम्पाके तीन भेद हैं—धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा, सर्वानुकम्पा । जिन्होंने असंयमका स्थान कर दिया है, मग्न, अपमान, सुख-दुख, लाभ-अलाभ तथा तृण-सुवर्ण आदिमे विभक्ता समभाव है, इन्द्रिय और मनका जिन्होंने दमन किया है, जो माताके समान मुच्छिके आश्रित हैं, जिन्होंने उग्र कषाय विषयोका परित्याग किया है, दिव्य भोगोंमें दोषोंका विचार करके विरागताको अधनामा है, संसाररूपी महासमुद्रके भयसे रात्रिमें भी जो अल्प निद्रा लेते हैं, जिन्होंने निःसंगताको स्वीकार किया है और जो उत्तम क्षमा आदि दस प्रकारके धर्मोंमें लीन हैं उनमें जो अनुकम्पा है उसे धर्मानुकम्पा कहते हैं । उस धर्मानुकम्पासे प्रेरित होकर विवेकी जब उन मुनियोगे योग्य अन्नपान, वसतिका आदि सयमके साधन प्रदान करते हैं । अपनी शक्तिको व छिपाकर उपसर्ग और दोषोंको दूर करते हैं । 'हमे आज्ञा कीजिये' इस प्रकार निवेदन करके सेवा करते हैं । जो मार्गसे भ्रष्ट हो जाते है उन्हें सन्मार्ग दिखलाते हैं । उन मुनियोगका संश्लेष प्राप्त होनेपर 'अहो हम बड़े पुण्यशाली हैं ।' इस प्रकार विचार कर प्रसन्न होते हैं । समाधियोंमें उनके गुणोंका बखान करते हैं । उनको गुह्यके समान मानते हैं । उनके गुणोंका सदा स्मरण करते हैं कि कब उनका समागम हो । उनके संयोगको अभिलाषा रखते हैं । दूसरे द्वारा उनके गुणोंकी प्रशंसा सुनकर सन्तुष्ट होते हैं । इस प्रकार अनुकम्पामे तत्पर साधु गुणोंकी अनुमोदना करनेवाला

मिश्रानुकम्पाम्बते—पुष्पापकर्ममूलकम्बे हिंसाविषयो अज्ञानताः शरीरवैराग्यपरता विनीताः दिग्विरति, देशविरति, अनर्थादण्डविरति बोधवत्तस्तीव्रदोषाद् बोधोपमोपनिष्कम्प्यन् बोधे च बोधे कृतावकाशाः पापस्तरि-भीतचित्ताः, विशिष्टदेशे काले च विवर्जितसर्वावकाशाः पर्वस्वारम्भयोगं सकलं किन्तु च कल्पसर्गं वे कुर्वन्ति तेषु संयत्तासंयतेषु क्रियमाणानुकम्पा मिश्रानुकम्पेऽप्युच्यते । वीक्षणसि वीक्षेण दयां च कृत्वा कृत्स्नामनुष्यमाणाः जिन-सूत्राद्वाह्या येऽप्यपाखण्डरताचिनीताः कष्टानि तपांसि कुर्वन्ति, तेषु क्रियमाणानुकम्पा तथा सर्वोऽपि कर्मपुण्यं प्रचिनोति ।

वेदा प्रवृत्तिर्गृह्णानकृत्स्नात् मिश्रानुभवोऽप्युच्यते ॥  
इत्येषु मिश्रते भवतीति सर्वो विद्यानुकम्पानुभवोऽप्युच्यते ॥  
समुष्टयो वापि कुक्षुण्डयो वा कल्पनामते सर्वकर्मास्तुत्याः ॥  
या कुर्वते सर्वशरीरवर्गे सर्वानुकम्पैत्यभिधीयते सा ॥

छिन्नान् बद्धान् रुद्धान् प्रहृत्तान् विलुप्यमानाश्च मर्यान्, सहैतसो निरैतसो वा परिवृश्य भृगान्विहृगान् सरीसृपान् पशूँश्च मांसादिनिमित्तं प्रहृष्यमानान् परलोकैः परस्परं वा तान् हिंसतो भक्षयत्तश्च वृष्ट्वा सूक्ष्माननेकान् कुम्भुपिपीलिकाप्रभृति प्राणभूतो मनुजकरभक्षरभक्षरभक्षरिपुरगादिभि संमुखमानानभिबीक्ष्य असाध्यरोगोदगदशनात् परितप्यमानान् मृतीर्जस्वि नष्टीस्म्यभिषावतेति रोगानुसूयमानान्, गुरुपुत्रकलत्रादिभिर-

होता है । पूर्व ज्ञानियोंने बन्धकमे तीन प्रकारसे कहा है । स्वयं करनेसे, दूसरोंसे करानेसे और दूसरोंके करने पर उसकी अनुमोदना करनेसे । अतः अज्ञानानुभवोऽपि मुनियोंको देखकर हर्षं प्रकट करनेसे महान् पुण्यास्त्रव होता है ।

अब मिश्रानुकम्पा कहते हैं । जो महान् पाप कर्मके मूल हिंसा आदिसे निवृत्त हैं, सन्तोष और वैराग्यमें तत्पर हैं, विनीत हैं, दिग्विरति, देशविरति और अनर्थादण्डविरतिको धारण किये हुए हैं, तीव्र दोषवाले भोग उपभोगोंका त्याग करके शेष भोगोंका जिन्होंने परिमाण कर लिया है, जिनका चित्त पापसे भीत रहता है, जो विशिष्ट देश और कालमें सर्व सावधका त्याग करते हैं अर्थात् त्रिकाल सामायिक करते हैं, पर्वके दिनोंमें समस्त आरम्भको त्याग उपवास करते हैं उन संयत्तासंयतियोंमें जो अनुकम्पा की जाती है वह मिश्रानुकम्पा है । मैं जिलाता हूँ ऐसा मान जो जीवोंपर दया तो करते हैं किन्तु पूर्णरूपसे दयाकी नहीं जानते । ऐसे जो जिनागमसे बाह्य अन्य धर्मोंको माननेवाले विनयी तपस्वी हैं कष्टदायक तपस्या करते हैं उनमें अनुकम्पा भी मिश्रानुकम्पा है । उससे सब जीव पुण्य कर्मका संचय करते हैं । कहा भी है—

गृहस्थ एकदेशमें प्रवृत्तिशील होनेसे पूर्ण संयमका पालक नहीं होता । तथा मिथ्यात्वके दोषसे सदोष अन्य धर्मवालोंमें अनुकम्पा मिश्रानुकम्पा है । सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जो स्वभावसे ही मार्दव भावसे युक्त है वे जो समस्त प्राणियोंमें अनुकम्पा करते हैं उसे सर्वानुकम्प्य कहते हैं । जिनके अथयव कट भये हैं, जो बाधे गये हैं, रोके भये हैं, पीटे भये हैं, श्लोये भये हैं ऐसे निरपराधी अथवा अपराधी मनुष्योंको देखकर तथा मृगों, पक्षियों, सरीसृपों और पशुओंको मांस के लिये दूसरे लोगोंके द्वारा मारा जाता अथवा उन्हें परस्परमें ही एक दूसरेकी हिंसा करते और एक दूसरेका भक्षण करते देखकर, तथा कुंभु चींटी जर्जरि अनेक छोटे जन्तुओंको मनुष्य, खैट, गधा, शरभ, हाथी, घोड़े आदिके द्वारा कुचले जाते देखकर, तथा असाध्य रोगरूपी सर्पके द्वारा

१. 'पासवगच्छतज अ० ।

प्रत्यक्षः सहसा विपुष्य-कर्मभुक्तान् विप्रोक्तः, स्वाश्रुतिं भ्रतस्य शोकेन, उपाजितप्रविर्भविष्यमानान्  
 कृपणान् प्रनष्टबन्धून् शीर्षकिलपि कियाम्यवसायहीनान् यान् प्रजाप्रदाकत्या वराकान् निरीक्ष्य तद् दुःखमात्मस्वमिष  
 विचिन्तन् स्वात्मभुषणमननकम्पयाः ।

शुद्धं चानुबन्धनं लज्जायां ना क्रीडापात्राणि वृथैव भूत ।  
 धर्मं शुभे भूतहिते यत्तन्वमित्येकमाक्षरं चोपदेशीः ॥

कृतकरिष्यमाणोपकारानपेक्षैरनुकम्पया कृता भवति ।

पुण्यालक्षं सा विचिन्तयन्नुकम्पया मुनिषु पुत्रं जननी कुमेव ।  
 ध्वंशतानुकम्पया प्रनष्टाङ्गिपुण्यान्नाके भूता जप्युपपत्तिनीयुः ॥

शुद्धप्रयोगो निरूप्यते स च द्विप्रकारः यतिगृहिगोचरभेदेन । यत् शुद्धोपयोग इत्यम्भूत —

जीवात्म हृष्यां न मृवा वधेयं धैर्यं न क्रुयान्न भजेय भोगान् ।  
 धर्मं न सेवेयं न च अपासु भुञ्जीय कृच्छ्रंऽपि शरीरतापे ॥१॥  
 रोषेण मानेन च भायया च लोभेन चाहं बहुदोषकेन ।  
 मुञ्चयेय नारक्यपरिग्रहेव दीक्षां शुभामभ्युपगम्य भूय ॥२॥  
 यथा न मायाकवलमौलिवाली निक्षां वरन्कामुं कर्माणपाणिः ।  
 तथा न धार्यं यदि दीक्षितः सन् वहेय दोषामवहाय लज्जाम् ॥३॥

इसे जानेसे पीड़ित मैं मर गया, मैं नष्ट हो गया इत्यादि चिल्लानेवाले रोगियोंको देख तथा जिनकी  
 अवस्था अभी मरनेकी नहीं है ऐसे गुरु, पुत्र, स्त्री आदिका सहसा वियोग हो जानेसे चिल्लाते हुए,  
 अपने अर्गोंको शोकसे पीटते हुए, कमाये हुए धनके नष्ट हो जानेसे दीन हुए तथा धैर्य, शिल्प,  
 विद्या और व्यवसायपे रहित गरीब प्राणियोंको देख उनके दुःखको अपना ही दुःख मानकर  
 उसको शान्त करना अनुकम्पा है। 'अति दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर वृथा ही क्लेशके पात्र मत  
 बनो। प्राणियोंके लिये कल्याणकारी धर्ममे मन लगाओ' इत्यादि उपदेशोंके द्वारा किये गये  
 अथवा भविष्यमें किये जानेवाले उपकारकी अपेक्षाके बिना अनुकम्पा करना चाहिये।

ये तीनों प्रकारकी अनुकम्पा पुण्य कर्मका आस्रव करती है। वह जैसे माता पुत्रके  
 लिये शुभ होती है उसी प्रकार शुभ है। उस अनुकम्पासे हुए पुण्यके विपाकसे मरकर स्वर्गमे देव  
 होते हैं।

अब शुद्ध प्रयोगका स्वरूप कहते हैं—उसके दो भेद है—एक यति सम्बन्धी शुद्धसंप्रयोग और  
 दूसरा गृहस्थ सम्बन्धी शुद्ध संप्रयोग। यतिका शुद्ध प्रयोग इस प्रकार है—मैं जीवोंका घात नहीं  
 करूँगा। मृत नहीं बोलूँगा। चोरी नहीं करूँगा। भोगोंको नहीं भोगूँगा। धनका सेवन नहीं करूँगा।  
 शरीरमें अत्यन्त कष्ट होनेपर भी रात्रिमे भोजन नहीं करूँगा। शुभ दीक्षा लेकर बहुदोषपूर्ण  
 क्रोध मान्ना माया लोभसे आरम्भ और परिग्रहसे सम्बन्ध नहीं रखूँगा। जैसे कोई मनुष्य सिरपर  
 मुकुटमाला धारण करके और हाथमें धनुष बाण लेकर भिक्षा मांगे तो शोभा नहीं देता। उसी  
 प्रकार यदि मैं दीक्षा लेकर लज्जा त्याग दोषोंको बहन करूँ तो शोभा नहीं देता। महान्



संवरानुश्रेशा कथ्यते । संश्लेषणो विचक्षणोऽभिज्ञः कर्मपर्यायः पुद्गलानां येन जीवपरिणामेन । मिथ्यात्वादिपरिणामो वा निश्चयश्चे स संवरः । तत्रानं कुर्यात्सिद्ध्यात्वादिपरिणामसंवरत् सम्यक्त्वादीनां संवरसामाचष्टे—

मिच्छतासवहारं संख्यं सम्यक्चिद्विद्वत्वादेण ।  
हिंसादिदुवाराणि च दृढबन्धफलहेहिं कंमति ॥१८२९॥

‘मिच्छतासवहारं’ तत्त्वबन्धनानामवहारः । ‘संख्यं’ कथ्यते, ‘सम्यक्चिद्विद्वत्वादेण’ तत्त्वबन्धनानां कथोटेन । ‘हिंसादिदुवाराणि च’ हिंसादिद्वाराण्यपि, ‘दृढबन्धफलहेहिं कंमति’ दृढव्रतपरिषं स्वयं-यन्ति ॥१८२९॥

उपसमदद्यादमाउहकरेण रक्षता कसायचोरेहिं ।  
सक्का काउं आउहकरेण रक्खाव चोराणं ॥१८३०॥

‘उपसमदद्यादमाउहकरेण’ उपसम. कषायवेदनीयस्य कर्मणस्तिरोभवन, दया सर्वप्राणिविषया, दमः कषायदोषभावनया चित्तनिग्रहः । एते त्रय आयुषा. करे यस्य तेन । ‘कसायचोरेहिं’ कषायचोरेभ्यः । ‘रक्खा सक्का काउं’ रक्षा क्षय्या कर्तुं, ‘आयुषकरेण रक्खाव चोरेहिं’ आयुषहस्तेन चोरेभ्यो रक्षो व, कषायदोषपरिज्ञाने-नासकृत् प्रवृत्तेन क्रोधविनिमित्तवस्तुपरिहारेण तत्प्रतिपक्षक्षमादिपरिणामेन च कषायनिवारण । उक्तं च—

जयेत्सदा क्रोधमुपाश्रितः क्षमां जयेच्च मानं सनुपेत्य भावंचं ।

तथैव भावाद्यपि भाजंवाञ्छयेत्, जयेच्च संतोषवशेन लुब्धतां ॥

विज्ञाः कषाया अवि किञ्च हीजिता कषायमूक सक्का हि बन्धनमिति ॥१८३०॥

मिथ्यात्वसंवरं कषायसंवरं च निरूप्य इन्द्रियसंवरं ध्याचष्टे—

इदिवदुइं वससा पिच्छिप्यंति दमन्नापसल्लिगेहिं ।  
उप्यह्वयामी पिच्छिप्यंति हु खल्लिगेहिं जह तुरया ॥१८३१॥

अब संवर अनुश्रेशा कहते हैं । जिस जीव परिणामसे पुद्गलोंके नवीन कर्म पर्यायों अथवा मिथ्यात्वादि परिणाम कहते हैं उसे संवर कहते हैं । उनमेंसे ग्रन्थकार मिथ्यात्व आदि परिणामोंका संवर करनेसे सम्यक्त्व आदिके संवर कहते हैं—

भा०—मिथ्यात्व अर्थात् तत्त्वके अश्रद्धानरूप आस्रवका द्वार सम्यक्त्व अर्थात् तत्त्वके श्रद्धान रूप दृढ़ कपाटोंके द्वारा रोका जाता है और हिंसा आदि आस्रव द्वारोंको दृढ़ व्रतरूपी अगंलाओंसे रोका जाता है ॥१८२९॥

भा०—खी०—कषायवेदनीय कर्मके तिरोभाव अर्थात् उदय अवस्थाको प्राप्त न होनेको उपसम कहते हैं । सब प्राणियोंपर दयाभाव होना दया है । कषायोंके दोषोंका विचार करके चित्तका निग्रह करना दम है । ये क्षीन अस्त्र जिसके पास हैं वह कषायरूप चोरोसे अपनी रक्षा कर सकता है । जैसे जिसके हाथमें अस्त्र होता है वह चोरोसे अपनी रक्षा कर सकता है उसी प्रकार कषायके दोषोंको जाननेसे, क्रोध आदिये निमित्त वस्तुसे बचनेसे और कषायोंके विरोधी क्षमा आदि परिणामोंसे कषायको दूर किया जा सकता है । कहा भी है—सदा क्षमाकी उपासना करके क्रोधको जीतना चाहिये । माईके धारण करके माचको जीतना चाहिये । तथा आर्जवभावसे भायाको जीतना चाहिये और सन्तोषसे लोभको जीतना चाहिये । जिसने कषायोंको जीत लिया उन्होंने क्या नहीं जीता । अर्थात् सबको जीत लिया । क्योंकि सब बन्धनका मूल कषाय है ॥१८३०॥

'इन्द्रियदुर्दान्ताश्वाः' इन्द्रियदुर्दान्ताश्वाः । 'जिगिष्यन्ति' निगृह्यन्ते निरुष्यन्ते । केन ? 'बलवान्मल्लिकार्जुनो हि' दमप्रधानानि दमज्ञानानि, तान्येव खलिलानि तैः । शब्दादिषु वर्तमानानि इन्द्रियज्ञानानि रागद्वेषमूलानि तानी-  
हेन्द्रियशब्देनोच्यन्ते । तेषां चास्त्रवानां निरोधस्तत्त्वज्ञानभावनया भवति । इष्यो रूपयोर्मुग्धपदेकस्मिन्नात्मन्य-  
प्रवृत्तेः । 'उपपद्यामी' उन्मार्गयायिनः । 'बहू तुरया जिगिष्यन्ति' यथाश्वा निगृह्यन्ते । 'खलिको हि' खरः  
खलिनं ॥१८३१॥

अणिहुदमगसा इन्द्रियसप्याणि जिगेषिहुं ष तीरंति ।

विज्जामंतोसघहीणेण व आसीविषा सप्या ॥१८३२॥

'अणिहुदमगसा' ज्ञानेन अनिमृत्चेष्टया । 'इन्द्रियसप्याइ' इन्द्रियसर्पाः । 'जिगिष्येहुं' निग्रहीतु ।  
'ष तीरंति' न शक्यन्ते । 'विज्जामंतोसघहीणेण व' विद्यया मन्त्रेण औषधेन वा हीनेन, 'आसीविषा सप्या'  
आसीविषा सर्पा यथा न गृह्यन्ते ॥१८३२॥

प्रमादसंवर कथयत्युत्तरगाथा—

पावपयोगासबदारजिरोधो अप्पमादफल्लोण ।

कीरइ फल्लोण जहा पावाए जलासबजिरोधो ॥१८३३॥

'पावपयोगासबदारजिरोधो' अशुभपरिणामास्रबदारनिरोधः । विकथादयः पञ्चवशप्रमादपरिणामाः  
'पावपयोगा' इत्युच्यन्ते । तेषां निरोध 'अप्पमादफल्लोण' अप्रमादफलकेन । केन फलकेन क. 'प्रमाद उच्यते  
सत्यासत्यमृषाभाषा विकथा निरुणद्धि, स्वाध्यायो ध्यानं एकाग्रतेति चेति एते प्रमादविकथाप्रतिपक्षभूताः ।

मिध्यात्व और कषायके संवरका कथन करके इन्द्रिय संवर कहते हैं—

गा०—टी०—जैसे कुमार्गमें जानेवाले दुष्ट घोड़ोंको कठोर लगाभके द्वारा वशमें किया जाता है । वैसे ही दमप्रधान ज्ञानके द्वारा इन्द्रियरूपी दुर्दान्त घोड़ोंको वशमें किया जाता है । यहाँ इन्द्रिय शब्दसे शब्द आदि विषयोंमें प्रवर्तमान इन्द्रिय ज्ञानको कहा है जिसका मूल राग और द्वेष है । उनसे होनेवाले आस्रवोंका निरोध तत्त्वज्ञानकी भावनासे होता है क्योंकि एक आत्मामें एक साथ दो रूप—तत्त्वज्ञान भी और इन्द्रिय विषयोंमें प्रवृत्ति भी नहीं हो सकते ॥१८३१॥

गा०—जैसे जिसके पास विद्या, मंत्र और औषध नहीं है वह सर्पोंको वशमें नहीं कर सकता । उसी प्रकार जिसका मन चंचल है वह इन्द्रियरूपी सर्पोंको वशमें नहीं कर सकता ॥१८३२॥

आगे प्रमादके संवरकी कहते हैं—

गा०—जैसे लकड़ीके पाटिये से नावमें जलका आना रोका जाता है । वैसे ही अप्रमादरूपी पाटियेसे अशुभ परिणामोंरूपी आस्रव द्वारको रोका जाता है ॥१८३३॥

टी०—किस पाटियेसे किस प्रमादको रोका जाता है यह कहते हैं—सत्य और अनुभयरूप बचन विकथा नामक प्रमादको रोकते हैं । स्वाध्याय, ध्यान, एकाग्रता ये विकथा नामक प्रमादके प्रतिपक्षी हैं । इनमें लगे रहनेसे खोटी कथाका अवसर ही नहीं मिलता । क्षमा, मार्दव, आर्जव

कषामावर्षावर्षसंतोषाः, कषायप्रमादस्य प्रत्यमीकभूताः । ज्ञानभावना, रागद्वेषेन्द्रियविषयविविक्तदेशाव-  
स्थानं ज्ञानेन मनःप्रणिधानं, इन्द्रियविषयरागद्वेषजदोषाणामनुस्मरण, विषयोपलब्धावनादरश्चेति एते इन्द्रिय-  
प्रमादप्रतिपक्षाः । तथा चोक्त—

स्वराङ्गमाङ्गापि च रागघोषितौ यदुच्छ्रया वा न निरीक्ष्य रज्यति ।  
तथैव कषायान्शुभानि बोधितुं, न नेच्छति द्वेषवशाप्रघोषितः ॥१॥  
निरीक्ष्य न हृष्टि यदुच्छ्रयापि च भवेत्स जेता पुरुषः स्वकक्षुयः ।  
सुगौतवादिममवाग्मनोहरान् स्वराग्मनोहाग्न्युद्यतीरितानपि ॥२॥  
न वाञ्छति श्रोतुमिहावरेण यो यदुच्छ्रया वा न निशम्य रज्यति ।  
स्वरामनेकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितुं ॥३॥  
निशम्य न हृष्टि यदुच्छ्रयापि च भवेत्स जेता अत्रयेन्द्रियस्य च ।  
सुखकालामुद्युक्तुङ्कुमान् तमालपत्रोत्पलचम्पकादिकान् ॥४॥  
सुग्ं न जिघ्रासति गन्धमादरात् यदुच्छ्रयाग्राय न चापि रज्यति ।  
तथैव गन्धान्शुभानपीह यो न नेच्छति द्राघुमसूनतद्विषान् ॥५॥  
निवेद्य न हृष्टि यदुच्छ्रयापि च भवेत्स नासेन्द्रियजिम्नरोत्तमः ।  
न यो भृहान्दृष्टिषिष्टभोजनत्रिधापलेहापि मनोहरान् रसान् ॥६॥  
मिषेवितुं रागवशेन काङ्क्षति यदुच्छ्रया वा न निवेद्य रज्यति ।  
रसामनेकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितुं ॥७॥  
निवेद्य न हृष्टि यदुच्छ्रयापि च भवेत्स जेता रसनेन्द्रियस्य च ।

कषायनामक प्रमादके विरोधी हैं । ज्ञानकी भावना, रागद्वेषके कारण इन्द्रिय विषयोसे रहित देशमे रहना, ज्ञानके द्वारा मनको एकाग्र करना, इन्द्रियोके विषयोमे रागद्वेषसे उत्पन्न हुए दोषोंका स्मरण करना, और विषयोंकी उपलब्धिमे आदरभाव न होना, ये इन्द्रिय नामक प्रमादके विरोधी हैं । कहा भी है—

रागसे प्रेरित होकर अथवा स्वेच्छासे सुन्दर स्त्रीके अंगोंको देखकर राग नहीं करता । तथा द्वेषसे प्रेरित होकर अशुभ रूपोंको देखनेकी इच्छा नहीं करता । जो यदृच्छासे देखकर भी द्वेष नहीं करता वह पुरुष अपनी आँसोंका विजेता है । अच्छे गीत, और वादिकोंके मनोहर स्वरोंको तथा युवती स्त्रियोंके द्वारा कहे गये शब्दोंको भी जो आदरपूर्वक सुनना नहीं चाहता और अचानक सुनकर भी उनसे अनुराग नहीं करता । तथा द्वेषवश अनेक अमनोहर स्वरोंको भी सुननेकी इच्छा नहीं करता । अचानक अमनोज्ञ स्वर सुनाई पड़ जाये तो उससे द्वेष नहीं करता, वह श्रवणेन्द्रियका जेता है । लोबान, काला अगर, कुष्ठ, कुकूम, तमालपत्र, कमल, चम्पक आदिकी सुगन्धकी आदरभावसे जो नहीं सूँघता, और अचानक सूँघनेमें आ जाये तो उसमें राग नहीं करता । उसी प्रकार जो अशुभ गन्धको भी सूँघनेसे द्वेष नहीं करता । और अचानक दुर्गन्ध सूँघ ले तो उससे द्वेष नहीं करता वह श्रेष्ठ पुरुष नासा इन्द्रियको जीतनेवाला है । जो अत्यन्त मीठे विशिष्ट भोजनको और मनोहर रसोंको रागवशा सेवन करना नहीं चाहता, अचानक सेवनमें आ जाये तो उसमें राग नहीं करता । तथा द्वेषवश अनेक अमनोहर रसोंको भी सेवन



वनोज्ञस्य्यासनकामतयोषितां, शुभाश्व यः स्वर्गविधीन् कनोहरान् ॥८४॥  
 न सेविन्तुं रागप्रज्ञेन वाञ्छति यदुच्छ्रया वा न निषेध एवमिति ।  
 प्रमहंताच्छादनमार्जनानि वा विलेपनाभ्यञ्जनमभ्यञ्जनानि च ॥९॥  
 शरीरसौख्याय न यत्नं सेवते विदुःशैवैराग्ययुक्तो महावतिः ।  
 हिमोष्णभूतैर्लघुशिलातुण्णादिजानसोभनान् स्वर्गविधीष्य सर्वथा ॥१०॥  
 न मेच्छति द्वेष्टि न वाप्नुयामताम् स्वर्गप्रियस्यैव भवेद्विचिन्तता ।  
 रणे रिपून्नामिव निर्वधो जयेत् प्रवेष्टिवाणां जयमस्तिवतो घतिरिति ॥११॥

निद्राया प्रतिपक्षभूतोऽप्रमादः, अनशनमवमोदयं, रसपरित्यागः, संसाराद्भूतिनिद्रादोषचिन्ता रत्न-  
 त्रयेऽनुरागः स्वदुश्चरिताना स्मरणेन शोक इत्येवमादिकः । स्नेहप्रमादप्रतिपक्षभावनोच्यते—बन्धुताया अनवस्थि-  
 तस्वभावना, तदवधिकारम्भपरिग्रहप्रवृत्तिचिन्ता, धर्मविघ्नता, दोषापेक्षणमित्यादिकः । एवंभूतेनाप्रमादफलकेन  
 प्रवर्तता निरुच्यते । 'कीरदि फलकेन जहा' क्रियते फलकेन यथा । 'जाबाए जलासबगिरोधो' नाथ जलासब-  
 निरोधः ॥१८३३॥

गुप्तिपरिखाइ हि गुप्तं संजमणयरं ण कम्मरिउसेणा ।

बंधे<sup>३</sup> सत्तुसेणा पुरं व परिखादिहिं सुगुप्तं ॥१८३४॥

'गुप्तिपरिखाह्निगुप्तं' गुप्तिपरिखाभिगुप्तं, संयमनगरं कर्मरिपुसेना न भक्तु शक्नोति । परिखादि-  
 भिगुप्तं शत्रुसेनेवेति । गुप्ते सबरताख्याता ॥१८३४॥

न करनेकी इच्छा नहीं करता । और अचानक सेवनमें आ जाय तो द्वेष नहीं करता, वह रसना  
 इन्द्रियका जेता होता है । जो मनोज्ञ शय्या, मनोज्ञ आसन, सुन्दर स्त्री, तथा मनोहर शुभ  
 स्पर्शवाली वस्तुओको रागके वशीभूत हो सेवन करनेकी इच्छा नहीं करता । अचानक सेवनमें  
 आनेपर उनसे राग नहीं करता । तथा जो बड़े हुए वैराग्यसे शोभित महायती शारीरिक सुखके  
 लिये शरीरका दबाना, आच्छादन, मार्जन, लेपन, तेल, स्नान आदिका सेवन नहीं करता । तथा  
 सर्वदा अतिशीतल या अतिउष्ण पृथ्वी, पहाड़, पत्थर, तूण आदि अन्य अप्रिय स्पर्शोंको सेवन न  
 करनेकी इच्छा नहीं करता और ऐसे अप्रिय स्पर्श प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष नहीं करता वह स्पर्शन  
 इन्द्रियका जीतनेवाला होता है । जैसे युद्धमें निर्भय व्यक्ति शत्रुओंको जीतता है । उसी प्रकार  
 वह यति इन्द्रियोंको जीतता है । निद्राका विरोधी है अप्रमाद, अनशन, अवमोदयं, रसपरित्याग,  
 संसारसे भय, निद्राके दोषोका चिन्तन, रत्नत्रयमें अनुराग, अपने बुरे आचरणोंका स्मरण करके  
 शोक करना आदि । स्नेह नामक प्रमादकी विरोधी भावना कहते हैं—बन्धुता अस्थिर है ऐसा  
 विचारना जिनके प्रति स्नेह होता है उनके लिये अनेक आरम्भ परिग्रह आदिकी चिन्ता करना  
 होती है । धर्म साधनमें विघ्न होता है । इत्यादि दोषोंका चिन्तन स्नेहका प्रतिपक्षी है । इस  
 प्रकारके अप्रमादरूप पाटियेसे प्रमादजन्य आश्रयका संवर होता है ॥१८३३॥

गा०—जैसे शत्रुकी सेना परिखा आदिसे सुरक्षित नगरको नष्ट नहीं कर सकती ।  
 वैसे ही कर्मरूपी शत्रुकी सेना गुप्तिरूपी परिखा आदिसे युक्त संयमरूपी नगरको नष्ट नहीं कर  
 सकती ॥१८३४॥

१. योषितः शुभाश्व—आ० । २. मार्जनानि अ० मु० । ३. वसेदि—मूलारा० ।

गुप्तीनां संवरकाभाख्याति—

समिदिदिदृणावमारुहिय अप्पमत्तो भवोदधि तरदि ।

छज्जीवणिकायवघादिपावमगरेहिं अच्छित्तो ॥१८३५॥

'समिदिदिदृणावमारुहिय' समितिसंज्ञितां दृढनावमारुह्य । 'अप्पमत्तो' अप्रमत्तो भवोदधि तरति षड्जीवणिकायवघादिपापमकरैरस्पृष्टः । एतेन समिते. सबरताख्याता ॥१८३५॥

दारेव दारवालो हृदये सुप्पणिहिदा सदी जस्स ।

दोसा धंसन्ति ण तं पुरं सुगुत्तं जहा सच्चू ॥१८३६॥

'दारेव दारवालो' द्वारे द्वारपाल इव । हृदये सम्यक्प्रणिहिता वस्तुतत्त्वाना स्मृतिर्यस्य त दोषा नाऽभिभवन्ति पुर सुगुप्त क्षत्रव इव ॥१८३६॥

जो हु सदिधिप्पहूणो सो दोसरिऊण गेज्झओ होइ ।

अंधल्लगो व चरंतो 'अरीणमविदिज्जओ चैव ॥१८३७॥

'जो हु सदिधिप्पहूणो' य स्मृतिहीन । 'सो दोसरिऊण गेज्झओ होइ' असौ दोषरिपुभिर्ग्राह्यो भवति । अरीणां मध्ये असहायोज्ज्व शत्रुघाह्यो यथा ॥१८३७॥

अमुयंतो सम्मत्तं परीसहचसुक्करे उदीरंतो ।

णेव सदी भोत्तच्चा एत्थ दु आराधणा भणिया ॥१८३८॥

'अमुयंतेण' अमुञ्जता । 'सम्मत्तं' रत्नत्रय । 'परीसहससोणरे' परीषहप्रकरे अभिभवत्यपि नैव स्मृति-नीकन्या । अत्राराधना कथिता । संवर । ॥१८३८॥

इससे गुप्तिको संवरका कारण कहा है—

गा०—प्रमादरहित साधु समितिरूपी दृढ नावपर आरूढ होकर छह कायके जीवोंके घातसे होनेवाले पापरूपी मगरमच्छोसे अछूता रहकर ससार समुद्रको पार करता है ॥१८३५॥

इससे समितिको संवरका कारण कहा है—

गा०—जैसे सुरक्षित नगरका शत्रु ध्वंस नहीं कर सकते, उसी प्रकार द्वारपर खड़े द्वारपालकी तरह जिसके हृदयमे वस्तु तत्त्वकी स्मृति बनी रहती है, दोष उसका अनिष्ट नहीं कर सकते ॥१८३६॥

गा०—जैसे शत्रुओंके मध्यमे असहाय अन्धा व्यक्ति शत्रुओंके द्वारा पकड़ा जाता है । वैसे ही जिसे वस्तु तत्त्वकी सतत स्मरण नहीं रहता, वह दोषरूपी शत्रुओंसे पकड़ा जाता है ॥१८३७॥

गा०—परीषहोके समूहसे पीड़ित होते हुए भी साधुको रत्नत्रयको न छोड़ते हुए तत्त्वोका स्मरण नहीं छोड़ना चाहिये । सदा तत्त्वका स्मरण करते रहना चाहिये । इसीको यहाँ आराधना कहा है ॥१८३८॥

संवर अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

निर्जरातुप्रोक्ष्यते—

इयं सव्वत्थवि संवरसंबुद्धकम्मभासवो भवित्तु मुणी ।

कुम्भंति तवं विविहं सुचुचं णिज्जराहेहुं ॥१८३९॥

‘इयं’ एव । ‘सव्वत्थवि’ उक्तः संवरप्रकारः । ‘संबुद्धकम्मभासवो भवित्तु मुणी’ सवृतकर्मात्मनो भूत्वा मुनिः करोति विविध तपः सूत्रोक्तं निर्जराहेतु ॥१८३९॥

तवसा विणा ण मोक्खो संवरमित्तेण होइ कम्मस्स ।

उवभोगादीहिं विणा धणं ण हु खीयदि सुगुचं ॥१८४०॥

‘तवसा विणा’ तपसोऽन्तरेण न कर्ममोक्षो भवति संवरमात्रेण । सुरक्षितमपि धनं नैव हीयते उपभोग-मन्तरेण तथा । तस्मात् तपोनुष्ठानव्य निर्जरार्थं । का सा निर्जरा नाम ? पूर्वकृतकर्मशासनं तु निर्जरा ॥१८४०॥

पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा पुणो हवे हुविहा ।

पढमा विवागजादा विदिया अविवागजाया य ॥१८४१॥

‘पुव्वकदकम्मसडणं’ पूर्वकृतकर्मपुद्गलस्कन्धावृत्तानामवयवानां जीवप्रदेशेभ्योऽपगमनं निर्जरा । तथा चोक्तं ‘एकदेशकर्मसंशय रक्षणं निर्जरेति’ । निर्जरा द्विविधा द्रव्यनिर्जरा भावनिर्जरा चेति । द्रव्यनिर्जरा नाम गृहीतानामशनपानादिद्रव्याणां एकदेशापगमनं वमनादिव । भावनिर्जरा नाम कर्मत्वपर्यायविगमं पुद्गलानां । सा पुनर्द्विविधा, आद्या विपाकजाता वस्तुफलानां कर्मणां गलनं विपाकजा निर्जरा । द्वितीयाऽविपाक-जाता ॥१८४१॥

अब निर्जरा अनुप्रेक्षाको कहते है—

गा०—इस प्रकार सवरके उक्त भेदोंके द्वारा मुनि कर्मों का आस्रव रोककर आगममे कहे अनेक प्रकारके तपोको करता है जो निर्जराके कारण है ॥१८३९॥

गा०—जैसे सुरक्षित भी धन उपभोग किये बिना नहीं घटता, उसी प्रकार तपके बिना कर्मोंके संवरमात्रसे कर्मों का क्षय नहीं होता । अतः निर्जराके लिये तप करना चाहिये । पूर्वमें बद्ध कर्मोंके क्रमसे क्षयको निर्जरा कहते है ॥१८४०॥

गा०—टी०—पूर्वमें बांधे हुए पौद्गलिक कर्मस्कन्धोंके अवयवोंका जीवके प्रदेशोंसे अलग होना निर्जरा है । कहा भी है—‘कर्मोंके एकदेशका क्षय निर्जराका लक्षण है । निर्जराके दो भेद हैं—द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा । खाये हुए भोजन पान आदि द्रव्योंके एकदेशका वमन आदिके द्वारा बाहर निकलना द्रव्यनिर्जरा है । और पुद्गलका कर्मरूप पर्यायको त्यागना भावनिर्जरा है । भावनिर्जराके भी दो भेद है—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा । जो कर्म अपना फल दे चुके हैं उनकी निर्जरा सविपाक निर्जरा है और जिन कर्मोंका विपाक काल नहीं आया है उन्हें तप आदिके द्वारा बलात् उदयमें लाकर खेरना अविपाक निर्जरा है ॥१८४१॥

विकीर्णार्थ—द्रव्यसंग्रह आदिमें भी निर्जराके उक्त भेदोंका कथन है किन्तु उनमें फल दे चुकने वाले कर्म पुद्गलोंका जीवसे पृथक् होना द्रव्यनिर्जरा है और जीवके जिस भावसे यह द्रव्यनिर्जरा होती है उस भावको भावनिर्जरा कहा है ॥१८४१॥

अत्र वृष्टान्तमाचष्टे द्विविधां निर्जरामवगमयितुं—

कालेण उवाचेण य पच्वन्ति जहा वणप्फदिफलाइं ।

तह कालेण तवेण य पच्वन्ति कदाणि कम्मणि ॥१८४२॥

'कालेण उवाएण य' यथा कालेनोपायेन च वनस्पतीना फलानि पच्यन्ते तथा कालेन तपसा पच्यन्ते कृतानि कर्माणि ॥१८४२॥

तयोर्निर्जरयोः का कस्य भवतीत्यांशच्छायामाचष्टे—

सच्चेसि उदयमा'गदस्स कम्मस्स णिज्जरा होइ ।

कम्मस्स तवेण पुणो सच्चस्स वि णिज्जरा होइ ॥१८४३॥

'सच्चेसिमुदयसमयागवस्स' सर्वेषा समयपूर्वके तपसि वृत्ताना अवृत्ताना च अथवा मिथ्यादृष्ट्यादीनां समयवृष्ट्यादीना वा उदयावलिकाप्रविष्टस्य वस्तस्य फलस्य कर्मणो निर्जरा भवति । एतेन विपाकनिर्जरा स्वल्पेस्त्राख्यातं भवति । कथं न सर्वाणि कर्माणि गच्छन्तीति चेदुच्यते—सर्वाणि कर्माणि भिन्नस्थितिकानि सहकारिकारणाना द्रव्यक्षेत्रादीना युगपदसान्निध्यादुदय सर्वस्य नोपपन्नन्ति, ततो यदुदयप्राप्त तदेवागच्छति नेतरदिति । 'तवेण पुणो' तपसा पुन । 'कम्मस्स सच्चस्स वि' कर्मण सर्वस्यापि निर्जरा भवति ॥१८४३॥

ण हु कम्मस्स अबेदिदफलस्स कस्सइ हवेज्ज परिमोक्खो ।

होज्ज व तस्स विणासो तवग्गिणा उज्झमाणस्स ॥१८४४॥

दोनों प्रकारकी निर्जराको समझानेके लिये दृष्टान्त कहते हैं—

शा०—जैसे वनस्पतियोंके फल अपने समयपर भी पकते हैं और उपाय करनेसे समयसे पहले भी पक जाते हैं, उसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्म भी अपनी स्थिति पूरी होनेपर अपना फल देते हैं और तपके द्वारा स्थिति पूरी होनेसे पूर्व ही फल देकर चले जाते हैं ॥१८४२॥

उक्त दोनों निर्जराजोंमेंसे किसके कौन निर्जरा होती है, यह कहते हैं—

शा०-टी०—सभी जीवोंके जो तप करते हैं या तप नहीं करते, अथवा समयदृष्टी हों या मिथ्यादृष्टी हों उन सब जीवोंके उदयावलीमें प्रवेश करके अपना फल देनेवाले कर्मोंकी निर्जरा होती है अर्थात् सविपाक निर्जरा तो सभी जीवोंके सदा हुआ करती है क्योंकि सभी जीव सदा कर्म करते हैं और सदा उनका फल भोगते हैं । इससे सविपाक निर्जरा थोड़े ही कर्मकी होती है यह सूचित होता है ।

शंका—सब कर्मोंकी निर्जरा क्यों नहीं होती ?

समाधान—सब कर्मोंकी स्थिति भिन्न-भिन्न होती है । तथा सबके सहकारी कारण द्रव्य क्षेत्र आदि एक साथ नहीं मिलते अतः सब कर्म एक साथ उदयमें नहीं आते । अतः जिस कर्मका उदय होता है उसीकी निर्जरा होती है । शेषकी निर्जरा नहीं होती । किन्तु तप करनेसे सब कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥१८४३॥

'कम्मसस्य च तु ह्येकस्य परिणोक्त्वो' क्षम्युत्तफलस्य कर्मणो नैव कस्यचित् कोचो भवति इति । ततः फलं प्रदायापयति । एतेन विपाकनिर्जरोक्ता 'होण्ण व तद्वत् कम्मसस्य विनासो' भवेद्वा तस्य कर्मणो विनाशः । 'तच्चग्गिणा ढण्हतमानसस' तपोऽग्निना दह्यमानस्य । एतेन कृतं कर्म तत्फलमदत्त्वा न निवर्तत इत्येतस्मिन् रस्तं ॥१८४४॥

**ढहिऊण जहा अग्गी विद्धंसदि सुवहुगंपि तणरासी ।**

**विद्धंसेदि तवग्गी तह कम्मतणं सुवहुगंपि ॥१८४५॥**

'ढहिऊण जहा अग्गी' यथाग्निर्दग्ध्वा नाशयति महान्तमपि तृणराशिं तथा तपोऽग्निः सुमहदपि कर्मतृणं विनाशयति ॥१८४५॥

तपसः कर्मविनाशनक्रमधुपवर्षायत्युत्तरगाथा—

**कम्मं पि परिणमिज्जह सिणेहपरिसोसएण सुतवेण ।**

**तो तं सिणेहमुक्कं कम्मं परिसड्दि धूलिब्ब ॥१८४६॥**

'कम्मं पि परिणमिज्जह' 'कर्माप्यपि अभावं नीयन्ते, केण ? 'सुतवेण' ज्ञानवर्धनवरणसहभाविना तपसा । 'सिणेहपरिसोसणेन' कर्मपुद्गलगतस्नेहपरिणामविक्षोभणकारिणा । 'तो' पश्चात् । स्नेहपरिणामविनाशोत्तरकालं । 'कम्म परिसड्दि' कर्म परितोऽपयति, 'सिणेहमुक्कं' स्नेहमुक्तं धूलिव । दृश्यते हि स्नेहाद्वन्ध-मुपागतानां तत्क्षते परस्परतो वियोग यथा जलेनैव पिण्डतामसानां सिकतानां शुष्के जले वियोगमापद्यमानता ॥१८४६॥

गा०-टी०—जिस कर्मका फल नहीं भोगा गया है उसका विनाश नहीं होता । अतः कर्म फल देकर जाता है । इससे सविपाक निर्जराका स्वरूप कहा । सविपाक निर्जरा उन्ही कर्मोंकी होती है जो अपना फल दे चुकते हैं । किन्तु तपकी अग्निमें जलकर ऐसे कर्मोंका भी विनाश होता है जिन्होंने फल नहीं दिया है । इससे जो मत ऐसा म.नते है कि किया हुआ कर्म बिना फल दिये नहीं जाता, उनका खण्डन होता है ॥१८४४॥

गा०—जैसे आग महान् भी तृणराशिको जलाकर खाक कर देती है । उसी प्रकार तपरूपी आग महान् भी कर्मरूपी तृणोंके ढेरको जलाकर नष्ट कर देती है ॥१८४५॥

आगे तपसे कर्मों के विनाशका क्रम दिखलाते हैं—

गा०-टी०—ज्ञान, दर्शन और चारित्रिके साथ होनेवाला तप कर्म-पुद्गलोंमें रहनेवाले स्नेह परिणामको सोख लेता है । अतः उससे कर्मोंका अभाव होता है । क्योंकि कर्मोंमें रहनेवाले स्नेहपरिणामका विनाश होनेके पश्चात् स्नेहरहित धूलकी तरह कर्म नष्ट हो जाते हैं । देखा जाता है जो वस्तुएँ चिक्कणता गुणके कारण परस्परमें बँधी होती हैं, उनकी चिक्कणता नष्ट होनेपर वे परस्परमें अलग हो जाती हैं जैसे जलके संयोगसे धूल बँध जाती है और जलके सूखने पर अलग-अलग हो जाती है । इसी प्रकार कषाय आदि रूप स्नेहके कारण जो कर्मपुद्गल जीवके साथ एकरूप होते है, तपके द्वारा कषायके चले जानेपर वे जीवसे धूयक् हो जाते हैं ॥१८४६॥

१. कर्मापि सुतवेण क्षोभनेन तपसाऽप्यथाभावं नीयन्ते । केण ? ज्ञान अ० ।

धादुगदं जह कणयं सुज्झइ धम्मंतमग्गिणा महदा ।  
सुज्झइ तवग्गि धंतो तह जीवो कम्मधादुगदो ॥१८४७॥

‘धादुगदं’ यथा सुवर्णपाषाणगत कनक महतारिणना दह्यमान शुष्यति, मलात् पृथग्भवति तथा जीव-  
कर्मधातुगतस्तपोऽग्निना दह्यमान शुष्यति ॥१८४७॥

यद्येवं तप एवानुष्ठातव्य किं सवरेणेति शङ्का निराकरोति—

तवसा चेव ण मोक्खो संवरहीणस्स होइ जिणवयणे ।  
ण हु सोचे पविसंते किसिणं परिसुस्सदि तलायं ॥१८४८॥

‘तवसा चेव ण मोक्खो’ तपसैव न सर्वकर्मपायो भवति, संवरहीनस्य जिनवचने । खेतसि प्रविशति  
न जलादिकं कृत्स्नं परिशुष्यति ॥१८४८॥

एवं पिणद्धसंवरवम्मो सम्मत्तवाहणारूढो ।  
सुदणामहाधणुगो ज्ञाणादितवोमयसरेहिं ॥१८४९॥

‘एवं पिणद्धसंवरवम्मो’ एव पिणद्धसंवरकवच, सम्यक्त्ववाहनारूढ, श्रुतज्ञानचापधर, ध्यातादित-  
वोमयसरीः ॥१८४९॥

संजमरणभूमिण कम्मरिचमू पराजिणिय सञ्चं ।  
पावदि संजमजोहो अणोवमं मोक्खरज्जसिं ॥१८५०॥

‘संजमरणभूमिण’ संयमयुद्धाङ्गणे कर्म्मरिचमू सर्वाभिभूय प्राप्नोति सयतयोध अनुपमा मोक्षराज्य-  
श्रियं । निर्जरा ॥१८५०॥

शा०—जैसे सुवर्ण पाषाणको महान् अग्निसे फूँकने पर उसमेंसे सोना अलग हो जाता है ।  
उसी प्रकार तपरूपी आगसे तपानेपर कर्मरूपी धातुसे घिरा हुआ जीव शुद्ध हो जाता है ॥१८४७॥

इस परसे कोई शंका करता है कि यदि तपसे जीव शुद्ध होता है तो तप ही करना चाहिए,  
संवरकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर देते हैं—

शा०—जिनागममें संवरके बिना केवल तपसे ही सब कर्मोंका विनाश नहीं कहा  
है । क्योंकि यदि तालाबमें जल आता रहता है तो तालाबको पूर्णरूपसे सुखाया नहीं जा  
सकता ॥१८४८॥

शा०—अतः जिसने संवररूप कवच धारण किया है, जो सम्यक्त्वरूपी रथपर सवार है,  
और श्रुतज्ञानरूपी धनुष लिये हुए है वह संयमरूपी योद्धा संयमरूपी रणभूमिमें ध्यान आदि  
तपोमय बाणोंके द्वारा समस्त कर्मरूपी शत्रुओंकी सेनाको पराजित करके मोक्षरूपी अनुपम राज्य-  
लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥१८५०॥

निर्जरानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

धर्मगुणानुभवे क्षणायोच्यते—

जीवो मोक्षसुखकण्ठकल्याणपरंपरस्त जो भागी ।

भावेषुववज्जदि सो धम्मं तं तारिसमुदारं ॥१८५१॥

'जीवो मोक्षसुखकण्ठकल्याणपरंपरस्त जो भागी' यो जीवः मोक्षावसानकल्याणपरंपराय भोजनभूतः । स धर्मं भावेन प्रतिपद्यते, त तादृशमुदारं सकलसुखसंपादनधर्मं महान्तं धर्मं ॥१८५१॥

धम्मेण होदि पुज्जो विस्ससणिज्जो फिजो जसंसी य ।

सुहसज्जो य णराणं धम्मो मणणिन्नुदिकसो य ॥१८५२॥

'धम्मेण होदि पुज्जो' धर्मेण पूज्यो भवति । विश्वसनीय प्रियो यशस्वी च भवति, सुखेन च साध्यो नराणां धर्मः । उक्तं च—दृष्टे धृते च विहिते स्मृते च धर्मे फलगतो मन्वीति, मनसो निर्वृत्तिं च करोति ॥१८५२॥

जावदियाइं कन्त्ताणाइं' माणुस्स-देवल्लोमे य ।

आवहदि ताण सव्वाणि मोक्खं सोक्खं च वरधम्मो ॥१८५३॥

'जावदिगाइं कन्त्ताणाइं' भावति कल्याणानि स्वर्गे मनुष्यलोके च तानि सर्वाभ्याकर्षति धर्मो मोक्षसुखं च ॥१८५३॥

ते धण्णा जिणधम्मं जिणदिट्ठं सव्वदुक्खणासयरं ।

पडिबण्णा दिट्ठधिदिया विसुद्धमणसा णिरावेक्खा ॥१८५४॥

'ते धण्णा' पुण्यवन्तः । जिनदृष्ट धर्मं सर्वदुःखनाशकरं प्रतिपन्नाः । सुखेन मनसा दृढधृतिका, निर्व्याकुला ॥१८५४॥

अब धर्मानुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—जो जीव सुदेवत्व सुमानुषत्व आदि कल्याण परम्पराके साथ अन्तमें मोक्षको प्राप्त करता है वही समस्त सुख सम्पादनमें समर्थ महान् धर्मको भावपूर्वक धारण करता है । अर्थात् भावपूर्वक धर्मका पालन करनेसे सांसारिक सुखके साथ मोक्षसुख प्राप्त होता है ॥१८५१॥

गा०—धर्मसे मनुष्य पूज्य होता है, सबका विश्वासपात्र होता है, सबका प्रिय और यशस्वी होता है । मनुष्य धर्मको सुखपूर्वक पालन कर सकते हैं । कहा भी है—धर्मको श्रद्धा करनेपर, धर्मको सुननेपर, धर्मको जानने और धर्मका स्मरण करनेपर फलकी प्राप्ति होती है । तथा धर्मसे मनको शान्ति मिलती है ॥१८५२॥

गा०—मनुष्यलोक और देवलोकमें जितने कल्याण हैं उन सबको उत्तमधर्म लाता है और अन्तमें मोक्षसुखको भी लाता है ॥१८५३॥

गा०—जिन्होंने जिन भगवान्के द्वारा कहे गये और सब दुःखोका नाश करनेवाले जिन धर्मको दृढ धैर्यके साथ निर्मल मनसे और बिना किसी प्रकारकी अपेक्षाके धारण किया वे पुण्यशाली हैं ॥१८५४॥

१ इं सग्गे य मणुअल्लोमे य —मु० ।

१०४

विसयादवीष्ट उम्मगगविहरिदा सुचिरमिदियस्सेहिं ।

जिणदिहुगिञ्चुदियहं घण्णा ओदरिव गच्छन्ति ॥१८५५॥

‘विसयादवीष्ट’ विषयादव्या उम्मार्गविहारिण सुचिरमिन्द्रियावर्बलाप्नीता सन्त ये च जिनवृष्ट-  
निवृत्तिमार्गं गच्छन्ति ते धन्या इन्द्रियाव्येभ्योऽवरुह्य ॥१८५५॥

रागेण य दोसेण य जगे रमंतम्मि वीदरागम्मि ।

धम्मम्मि फिरासादम्मि रदी अदिदुल्लहा होइ ॥१८५६॥

‘रागेण य दोसेण य जगे रमंतम्मि’ रागद्वेषाभ्यां सह जगति क्रीडति । वीतरागे धर्मे निरास्वादे रति-  
रतीव दुर्लभा भवति । उक्तं च—

कुलं च रूपं च यथाह्व क्रीतिर्धनं च विद्या च सुखं च लक्ष्मीः ।

आरोग्यमात्रं पित्तसम्प्रयोगो द्वेष्यैर्बियोगोऽपि च दीर्घनायुः ॥

स्वर्गाह्व मोक्षह्व मज्जोपधिहा भावा इमेऽन्ये च जगत्प्रगस्ताः ।

धर्मेण शक्या जगतीह लब्धुं, हिताय तं कर्तुंमतोऽर्हसि त्वं ॥ [॥१८५६॥]

सहलं माणुसजम्मं तस्स हवदि जस्स चरणमणवज्जं ।

संसारदुक्खकारयकम्मागमदारसंरोधं ॥१८५७॥

‘सहलं माणुसजम्मं’ तस्य मनुष्यस्य जन्म सफलं भवति यस्य चरणमनवच । कीदृश ? संसारदुःख-  
संपादनोद्यतकर्ममार्गानिरोधकारी । अनेन चारित्रमिह शब्दो धर्मत्वेनोच्यत इत्याख्यातं भवति ॥१८५७॥

जह जह जिञ्चेदसमं वेरग्गदयादमा पवड्ढन्ति ।

तह तह अब्भासयरं जिञ्चाणं होइ पुरिसस्स ॥१८५८॥

भा०—जो विषयरूपी धनमें इन्द्रियरूपी घोड़ेके द्वारा बलपूर्वक ले जाये जाकर चिरकालसे  
कुमार्गमें विहार करते हैं और एक दिन उन इन्द्रियरूपी घोड़ेसे उतरकर जिन भगवान्के द्वारा  
कहे मोक्षमार्गमें चलने लगते हैं वे धन्य हैं ॥१८५५॥

भा०—टी०— जो राग और द्वेषपूर्वक संसारके भोगोंमें फँसे हैं, स्वादरहित वीतराग धर्ममें  
उनकी रुचि होना अतिदुर्लभ है । कहा भी है—जिनेन्द्रदेवने कुल, रूप, यश, कीर्ति, धन, विद्या,  
सुख, लक्ष्मी, आरोग्य, इष्टसंयोग, अनिष्ट वियोग, दीर्घ आयु, स्वर्ग, मोक्ष तथा अन्य भी जगत्में  
प्रशस्त भाव कहे हैं । इस जगत्में उन्हे धर्मके द्वारा प्राप्त करना शक्य है । अतः तुम अपने हितके  
लिये धर्माचरण करो ॥१८५६॥

भा०—संसारके दुःखोंको करनेमें समर्थ कर्मोंके आनेके द्वारको रोकनेवाला चारित्र  
जिसका निर्दोष है उसका मनुष्य जन्म सफल है । यहाँ धर्म शब्दसे चारित्र कहा है, इससे यह  
प्रकट होता है ॥१८५७॥

भा०—जैसे-जैसे मनुष्यमें वैराग्य, निर्वेद, उपशम, दया और चित्तका निग्रह बढ़ता है  
वैसे-वैसे मोक्ष निकट आता है ॥१८५८॥



यथा यथा निर्वेद उपशमो वैराग्यं दया चित्तनिग्रहश्च प्रवर्तते तथा तथा समीपतरं भवति निर्वणि  
पुरुषस्य ॥१८५८॥

धर्मं स्तौति—

**सम्मद्दंसणतुंबं दुबालसंगारयं जिणिदाणं ।**

**वयणेमियं जणे जयइ धम्मचक्रं तपोचारं ॥१८५९॥**

'सम्मद्दंसणतुंबं' सम्यग्दर्शनतुम्बं द्वादशाङ्गारकं व्रतनेमिकं तपोचारं जिनेन्द्राणां धर्मचक्रं जयति  
जयति ॥१८५९॥ धम्मं ।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कथ्यते—

**दंसणसुदत्तवचरणमइयम्मि धम्ममि दुल्लहा बोही ।**

**जीवस्स कम्मसत्तस्स संसरंतस्स संसारे ॥१८६०॥**

'दंसणसुदत्तवचरणमइयम्मि' दर्शनश्रुततपश्चरणमये धर्मे दुर्लभा बोधिर्जिविस्य कर्मसत्तस्य संसारे  
ससरत ॥१८६०॥

तस्या दुर्लभतां प्रकटयत्युत्तरप्रबन्धेन—

**संसारम्मि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सत्तं ।**

**जुगसमिलासं जोगो जह लवणजले समुदम्मि ॥१८६१॥**

'संसारम्मि अणंते' अनन्तसंसारे जीवानां मनुष्यत्वं दुर्लभं पूर्वापरसमुद्रनिसिसुगतसंबंधिकाष्ठ-  
संयोग इव ॥१८६१॥

गा०—जिनेन्द्रका धर्मचक्र जगत्में जयशील होता है। सम्यग्दर्शन उसकी नाभि है,  
द्वादशांग उसके अर है, व्रत नेमि है और तप धाग अर्थात् दूसरी नाभि है ॥१८५८॥

विशेषार्थ—जैसे गाड़ीके चक्केमे अर होते हैं, बीचमे उसकी नाभि होती है। उसी प्रकार  
जिनेन्द्रके धर्मचक्रकी नाभि सम्यग्दर्शन है। द्वादशशंखवाणी या बारह तप उसके ङण्डे हैं। और  
व्रत नेमि है। इनके आधारपर वह धर्मचक्र गतिशील होता है ॥१८५९॥

धर्मानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

अब बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—संसारमें भटकते हुए कर्मलिप्त जीवके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् तपश्च-  
रणमयी धर्ममें बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्ति दुर्लभ है ॥१८६०॥

आगे उसकी दुर्लभता बतलाते हैं—

गा०—जैसे लवणसमुद्रके पूर्व भागमें जुआ और पश्चिम भागमें उसकी लकड़ी डाल देनेपर  
दोनोंका संयोग दुर्लभ है। उसी प्रकार अनन्त संसारमें अनुष्ण भवका पाना दुर्लभ है ॥१८६१॥

मनुजताया दुर्लभत्वे कारणमाह—

असुहपरिणामबहुलक्षणं च लोगस्स अदिमहन्लत्तं ।

जोणिबहुत्तं च कुण्णदि सुदुन्ल्लहं माणुसं जोणी ॥१८६२॥

‘असुहपरिणामबहुलक्षणं च’ अशुभपरिणामाना मिथ्यात्वासंयमकषायप्रमादाना परिणामाना बहुत्व मनुजयोनिदुर्लभता करोति । मनुजरहितलोकस्यानिमहत्त्वं च तत् दुर्लभता करोति । असंख्येया हि द्वीपसमुद्रका नारकावासा, स्वर्गपटलानि, इतरश्च लोकाकाशमतिमहत् । योनीना बहुत्व चेतारासा निबन्धनं तद्दुर्लभताया ॥१८६२॥

अपरामपि दुर्लभतापरम्परा दर्शयत्युत्तरगाथा—

‘देशकुलरूपमारोगमाउगं बुद्धिसवणगहणाणि ।

लद्धे वि माणुसत्ते ण हुंति सुलभाणि जीवस्स ॥१८६३॥

‘देशकुलरूपमारोगं’ ‘देशकुलरूपमारोग्य । आयुगमायुष्क । ‘बुद्धिसवणगहणाणि’ बुद्धिश्रवणग्रहणाणि । लब्धेऽपि मनुष्यत्वे मनुष्यगतिनामकर्मोदयात्, जिनप्रणीतधर्मप्रगल्भमानवबहुलो देशो दुर्लभ । अन्तर्द्वीपाना शक्यवनकिरातबर्बरपारसीकसिंहलादिदेशाना धर्मज्ञमानवरहितानामतिबहुलत्वात् । लब्धेऽपि देशे सुजनावासे

मनुष्य पर्यायकी दुर्लभताका कारण कहते है—

गा०—टी०—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और प्रमादरूप अशुभ परिणामोकी बहुतायतके कारण मनुष्य योनि दुर्लभ है । तथा मनुष्य रहित लोक अतिमहान् है इससे भी मनुष्ययोनि दुर्लभ हो क्योंकि असंख्यात द्वीप समुद्रो तक तो नरकावास है, ऊपर स्वर्गपटल । शेष लोकाकाश भी महान् है । तथा जीवोकी योनिया बहुत है । इससे भी मनुष्य योनि दुर्लभ है ॥१८६२॥

विशेषार्थ—लोकके मध्यमे पैतालीस लाख योजन प्रमाण क्षेत्र ही मनुष्य लोक है । अढाई द्वीपकेबाहर सब तिर्यञ्च ही रहते हैं । नारकी रहते हैं । ऊपर देव रहते हैं । तथा जीवोका योनियाँ भी बहुत हैं इसके साथ ही अशुभ परिणामोकी भी बहुलता है । शुभ परिणाम हानसे ही मनुष्यगतिमे अच्छा क्षेत्र, जाति, कुल आदि उपलब्ध होते हैं तभी तो मनुष्य होकर धर्मलाभ हो सकता है । मनुष्य पर्याय भी पाई किन्तु देश, कुल, जाति ठीक नहीं मिले तो मनुष्य पर्याय पाकर भी क्या लाभ हुआ । अतः धर्मसाधनके योग्य मनुष्य पर्याय दुर्लभ है ॥१८६२॥

आगे और भी दुर्लभताके कारण कहते है

गा०—जीवके मनुष्य पर्याय प्राप्त करने पर भी देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, श्रवण, ग्रहण सुलभ नहीं है ॥१८६३॥

टी०—मनुष्यगति नाम कर्मके उदयसे मनुष्यपर्याय पानेपर भी जिन भगवान्के द्वारा कहे गये धर्ममें दक्ष मनुष्योंसे भरा हुआ देश प्राप्त होना दुर्लभ है । क्योंकि धर्मके ज्ञाता मनुष्योंसे रहित अन्तर्द्वीप तथा शक, यवन, किरात, बर्बर, पारसीक और सिंहल आदि देश अनेक हैं ।

१. ‘देशकुल जाह रूप, आरोग्य आउग व पुण्य च ।

बुद्धिसवणगहणाणि लद्धे णरत्तेहि दुल्लह होई ॥’—आ० ।

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यादिक कुलं दुरधिषमनीयं सुकुलानामल्पत्वात् असङ्गन्नीचैर्नोन्नवन्वनात् । मिथ्यात्वोदयात् प्रायेण प्राणिनो गुणान् क्षुण्जन्तं च निन्दन्त्याक्तोन्नति, निर्बुधोऽपि कुलाभिमानमतिमहदुद्वहति, तेन नीचैर्नोन्नमुप-  
बिभोति, गुणे गुणजने चानुराग कुलाभिमानतिरस्कारणं वा कदाचिदेव भवति इति शोभन कुलं कदाचिदेव लभ्यते । चारित्रमोहोदयात् षड्जीवनिकायबाधाकरणे सततमुद्यतः तदीयरूपशोभोन्मूलनसंपादनेनोपाजितेनाशुभ-  
रूपनामकर्मणा विरूपो बहुशो भवति । जीवदयां कदाचिदेव कदाचिदेव करोति । प्रशस्तरूपनामकर्मलभ्य सौरूप्यमपि क्लेशेन लभ्यते । परजीवसंतापकरणे कृतोत्साहः सर्वदैवेति रोगी भवति बहुशः, परसंतापपरिहारं वैयावृत्यं च कदाचिदेव करोति । इति नीरोगतापि कायान्तिकी दुर्लभा । परेषां प्रायेणामुनिहन्तीति स्वल्पायुरेवाय ज्ञानो जायते । कदाचिदेवाहिंसात्रतपरिपालनाच्चिरजीविता सदा न लभ्यते । समीचीनज्ञानजननूषणत्वात् सन्मात्सर्मत् तद्विघ्नकरणात्पासादनाच्चक्षुरादीन्द्रियोपघातकरणाच्च मतिश्रुतज्ञानावरणो वराको घ्नन्तीति दुर्मेधा भवति । बहुषु जन्मशतसहस्रेषु मतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमात् क्षुभपरिणामोपनीतात् कदाचिदेव विवेक-  
कारिणी बुद्धिर्भवति । सत्यामपि बुद्धी हिंसाहितविचारणक्षम धर्मश्रवणमतिदुर्लभं, यतीना विरागद्वेषाणां, समीचीनज्ञानप्रकाशनोन्मूलितदुर्भेद्यमोहान्धताना, अशेषजीवनिकायदयाक्रियोद्यताना असौलभ्यात्, तीव्रमिथ्या-  
दर्शनोपनीतगुणजनद्वेषेण मिथ्याज्ञानलबलाभदुर्विषयतया स्वगृहीततत्त्वपरवशतया आलस्येन वा यतीना

धर्मज्ञजानोसे बसा हुआ देश मिलनेपर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि कुल मिलना कठिन है क्योंकि अच्छे कुल बहुत कम हैं । और इसका कारण यह है कि जीवोंके निरन्तर नीच गोत्रका बन्ध हुआ करता है । मिथ्यात्वके उदयसे प्रायः प्राणी गुणों और गुणीजनोकी निन्दा करते हैं, उनके सम्बन्धसे बका करते हैं । गुणहीन भी अपने कुलका नव अभिमान रखते हैं । उससे वे नीच गोत्रका बन्ध करते हैं । गुणोंमें और गुणीजनोंमें अनुराग तथा कुलके अभिमानका तिरस्कार कम ही देखा जाता है । इसलिये जीवोको अच्छा कुल कम ही मिलता है । चारित्रमोहके उदयसे जीव छह कायके जीवोको बाधा देनेमें निरन्तर लगे रहते हैं वे उनके रूपकी शोभाको विनष्ट करते हैं । उससे उपाजित अशुभ नामकर्मसे जीव अधिकतर विरूप होते हैं । जीवोपर दया कम ही लोग करते हैं । अतः प्रशस्त रूपनामकर्मके द्वारा प्राप्य सुन्दर रूप भी बड़े कष्टसे प्राप्त होता है । प्राणी सर्वदा दूसरे जीवोको संताप देनेका उत्साह रखते हैं । इसलिये अधिकतर रोगी होते हैं । दूसरोका कष्ट दूर करनेवाली वैयावृत्य कम ही करते हैं । इसलिये नीरोगता भी दुर्लभ है । प्राणी प्रायः दूसरोकी आयुका घात करते हैं उन्हें मार देते हैं । इससे वे अल्प आयुवाले होते हैं । कदाचित् ही अहिंसात्रतका पालन करनेसे चिरजीवि होते हैं, सदा चिरजीवी नहीं होते । सच्चे ज्ञानिजनोंको दूषण लगानेसे, उनसे डाह करनेसे, उनके ज्ञानाराधनमें विघ्न डालनेसे, उनकी आसादना करनेसे तथा चक्षु आदि इन्द्रियोका घात करनेसे प्राणी मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञाना-  
वरण कर्मोंका बन्ध करनेसे बुद्धिहीन होते हैं । लाखों जन्मोंमेंसे कुछ ही जन्मोंमें क्षुभपरिणामवश मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेसे विवेकशील बुद्धि प्राप्त होती है । बुद्धि प्राप्त होनेपर भी हित अहितके विचारमें समर्थ धर्मका सुनना दुर्लभ है । क्योंकि रागद्वेषसे रहित, सच्चे ज्ञानके प्रकाशनसे दुर्भेद्य मोहान्धकारका उन्मूलन करनेवाले और समस्त जीवोपर दया करनेवाले मुनिगण दुर्लभ हैं । तथा तीव्र मिथ्यादर्शनके कारण गुणीजनोंसे द्वेष करनेवाले या थोड़ा-सा मिथ्याज्ञान प्राप्त करके अपनेको बड़ा विद्वान् माननेवाले या अपने जाने हुए तत्त्वके

स्वपरोद्धरणप्रवीणतापरिज्ञानाच्च न ङीकते यतिजनमिति धर्मश्रवणस्य दुर्लभता । कदाचिदेव पापोपशमाद्यति-  
कमानु ङीकतेऽपि भयपुरस्सरे संभ्रमे प्रशस्तवागनुयायिनि गुरुवने चाभिमुखे सति श्रवण भवतीति दुर्लभता  
श्रवणस्य । किञ्च यतिजननिकेतनमुपगतोऽपि यदुच्छया निद्राति, स्वय परेषा यत्किञ्चिदसारं वदति, सुगधानां  
का वचनं श्रुणोति न विनयेन ङीकत इति वा दुर्लभं श्रवण । श्रुतेऽपि धर्मं तत्परिज्ञानमतिदुर्लभं श्रुतज्ञाना-  
वरणोद्ययात् । दुःकरत्वं मनःप्रणिधानस्य कदाचिदप्यश्रुतपूर्वत्वात्, सूक्ष्मत्वाच्च जीवादितत्त्वस्य । श्रुतज्ञाना-  
धिकरणे क्षयोपशामे मनःप्रणिधानं वक्तुर्वचनसौष्ठवं चेति सकलमिदमसुलभमिति धर्मज्ञान दुर्लभं । ज्ञातेऽपि  
धर्मं अस्ति धर्मो जीवपरिणामसम्यक्त्वज्ञानावरणतपोदानपूजात्मकोऽभ्युदयनिश्चयसफलदायी जिनैर्व्याधिग्नितरूप-  
इति श्रद्धानं न सुखेन लभ्यते, दर्शनमोहोदयात् । उपदेशकालकरणलब्धयश्च कादाचित्का इति ॥१८६३॥

लद्वेसु वि तेसु पुणो बोधी जिणसासणम्मि ण हु सुलहा ।

कुपधाकुलो य लोगो जं बलिया रागदोसा य ॥१८६४॥

‘लद्वेसु वि तेसु पुणो’ लब्धेष्वपि तेषु मनुजभवादिषु बोधिदीक्षाभिमुखा बुद्धिर्न सुलभा प्रबलत्वात्स-  
यमघातिकर्मण । कुमार्गाकुलत्वात् लोकस्य बहूनामाचरणमेव प्रमाणयन् यत्किञ्चनाचरति, बलवन्तश्च रागद्वेषा  
ज्ञानश्रद्धानोपेतमपि न सम्भागं ङीकितुं ददति ॥१८६४॥

परवश मनुष्योंके कारण या यतिगणके आलस्यसे अथवा अपना और दूसरोंका उद्धार करनेमें  
दक्ष न होनेसे यतिजन भी नहीं आते है इससे भी धर्मश्रवणकी दुर्लभता है । कदाचित् पापका  
उपशम होनेसे यतिजनके पधारनेपर भी विनयपूर्वक प्रश्न करनेपर और प्रशस्त वचन बोलनेवाले  
गुरुके सन्मुख होनेपर धर्म सुननेको मिलता है इसलिये धर्मश्रवणकी दुर्लभता है । अथवा मुनिगणके  
वास स्थानपर जाकर भी सोता है स्वयं जो कुछ असार वचन बोलता है या मुखों के वचन  
सुनता है, विनय पूर्वक बर्ताव नहीं करता । इससे भी धर्म श्रवण दुर्लभ है ।

धर्म सुननेपर भी श्रुतज्ञानावरणका उदय होनेसे उसको समझना अतिदुर्लभ है । तथा  
समझनेपर भी उसमें मन लगाना दुष्कर है क्योंकि पहले कभी नहीं सुना था । तथा जीवादि तत्त्व  
भी सूक्ष्म है । श्रुतज्ञानका क्षयोपशम, मनका लगना, वक्ताका वचन सौष्ठव ये सब दुर्लभ होनेसे  
धर्मज्ञान दुर्लभ है, धर्मका ज्ञान होनेपर भी ‘जिन भगवान्के द्वारा कहा हुआ स्वर्ग और मोक्षरूप  
फलको देनेवाला, जीवके सम्यक्त्व, ज्ञान चारित्र्य तप दान पूजा भावरूप धर्म है’ ऐसा श्रद्धान  
दुर्लभ है क्योंकि जीवोंके दर्शनमोहका उदय रहता है । उपदेशलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि  
भी सदा नहीं होती, कदाचित् ही होती है ॥१८६३॥

शा०—टी०—मनुष्यभव आदिके प्राप्त होनेपर भी ‘बोधि’ अर्थात् जिन दीक्षाकी ओर  
अभिमुख बुद्धिका होना सुलभ नहीं है क्योंकि जीवोंके सयमको घातनेवाला कर्म प्रबल होता है ।  
तथा यह लोक मिथ्यामर्तोसे भरा है । अतः बहुत लोग जिस धर्मका आचरण करते हैं उसे ही  
प्रमाण मानकर जो कुछ मनमें आता है, करते हैं । रागद्वेषके बलवान होनेसे ज्ञान और श्रद्धानसे  
युक्त भी मनुष्य सन्मार्गपर नहीं चलता ॥१८६४॥

इय दुल्लहाए बोहीए जो प्रमाइज्ज कह वि लुद्धाए ।

सो उल्लहुइ दुल्लेण रदणगिरिसिहरमाकहिब ॥१८६५॥

‘इय दुल्लहाए बोहीए’ उक्तेन क्रमेण दुर्लभाया दीक्षाभिमुखाया बुद्धी लब्धायामपि यः प्रमाद्यत्यसी रत्नगिरिशिखरमारुह्य तत पतति प्रमादी ॥१८६५॥

फिडिदा संती बोधी ण य सुलहा होइ संसरंतस्स ।

पडिदं समुद्दमज्जे रदणं व तमंघयारम्मि ॥१८६६॥

‘फिडिदा संती’ बोधिविनष्टा सती दीक्षाभिमुखा बुद्धिः पुनर्न सुलभा भवति संसरतः । अन्धकारे समुद्रमध्ये पतित रत्नमिव ॥१८६६॥

ते धण्णा जे जिणवरदिट्ठे धम्मम्मि होंति संबुद्धा ।

जे य पवण्णा धम्मं भावेण उवड्ढिदमदीया ॥१८६७॥

स्पष्टोत्तरा गाथा । बोधिति ॥१८६७॥

प्रस्तुतमर्थमुपसंहरति—

इय आलंबणमणुपेहाओ धम्मस्स होंति ज्ञाणस्स ।

ज्झायंतो ण वि णस्सदि ज्झाणे आलंबणेहिं सुणी ॥१८६८॥

‘इय आलंबणं’ एवमालम्बनं भवन्त्यनुप्रेक्षा धर्मध्यानस्य । ध्याने प्रवृत्तो न विप्रणश्यति ध्याननिमित्तालम्बनेभ्यो यति । यो हि यद्वस्तुस्वरूपे प्रणिहितचित्तः सततं वस्तुयाधारम्यान्न प्रच्यवते तस्याविस्मरणात् ॥१८६८॥

गा०—इस प्रकार उक्त क्रमानुसार दीक्षाके अभिमुख दुर्लभ बुद्धि प्राप्त होनेपर भी जो प्रमाद करता है वह प्रमादी सुमेरुके शिखरपर चढ़कर भी उससे गिरता है ॥१८६५॥

गा०—जैसे अन्धकारमें समुद्रके मध्यमें गिरा रत्न पाना दुर्लभ है वैसे ही एक बार प्राप्त होकर नष्ट हुई दीक्षाभिमुख बुद्धिरूप बोधि संसारमे भ्रमण करनेवाले जीवको प्राप्त होना दुर्लभ है ॥१८६६॥

गा०—जो जिन भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट धर्ममे प्रबुद्ध होते हैं वे धन्य हैं । तथा जो दीक्षाभिमुख बुद्धिको प्राप्त करके भावपूर्वक धर्मको अपनाते हैं वे तो महाधन्य हैं ॥१८६७॥

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

प्रस्तुत चर्चाका उपसंहार करते हैं—

गा०—इस प्रकार अनुप्रेक्षा धर्मध्यानका आलम्बन होती है । ध्यान करनेवाला साधु ध्यानमे निमित्त आलम्बनोंका आश्रय लेनेसे ध्यानसे व्युत्त नहीं होता । जो जिस वस्तुके स्वरूपमें अपने मनको लगाता है वह उस वस्तुके यथार्थस्वरूपसे व्युत्त नहीं होता, क्योंकि वह उसे मूलता नहीं है ॥१८६८॥

ध्यातुरालम्बनबाहुल्यं दर्शयत्युत्तरा गाथा—

आलंबणं च वायण पुच्छणपरिवृण्णाणुपेहाओ ।  
धम्मस्स तेण अविक्खाओ सच्चाणुपेहाओ ॥१८६९॥  
आलंबणेहिं भरिदो लोगो झाइदुमणस्स खवयस्स ।  
जं जं मणसा पिच्छदि तं तं आलंबणं हवइ ॥१८७०॥

‘धम्मस्स आलंबणेहिं भरिदो’ ध्यानस्थालम्बनं पूर्णं लोको ध्यातुकामस्य क्षपकस्य यद्यन्मनसा पश्यति तत्तदालम्बनं भवति ॥१८६९॥१८७०॥

धर्मध्यान व्याख्याय ध्यानान्तरं व्याख्यातुमुत्तरप्रबन्ध —

इच्छेवमदिककंतो धम्मज्झाणं जदा हवइ खवओ ।  
सुक्कज्झाणं ज्ञायदि ततो सुविसुद्धलेस्साओ ॥१८७१॥

‘इच्छेवमदिककंतो’ धर्मध्यानमेव व्यापणितरूपमतिक्रान्तो यदा भवेत् क्षपक शुक्लध्यानमसी ध्याति सुविशुद्धलेष्यासमन्वित । परिणामश्रेण्या हि उत्तरोत्तरानुगुणतया स्थित क्रमेणैव प्रवर्तते । न हि प्रथमे सोपानेऽस्थापितचरण द्वितीयादिक सोपानमारोह प्रभवति । एवमप्रमत्तो धर्मध्याने प्रवृत्त एव शुक्लध्यानमर्हतीति सूत्रेणानेन ज्ञापितं ॥१८७१॥

चतुर्विधशुक्लध्यानं नामती दर्शयति गाथाद्वयम्—

ज्झाणं पुधत्तसवितक्कसवीचारं हवे पढमसुक्कं ।  
सवितक्केक्कत्तावीचारं ज्झाणं विदियसुक्कं ॥१८७२॥

आगेकी गाथासे ध्यान करनेवालेके अनेक आलम्बन बतलाते हैं—

गा०—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना तथा अनुप्रेक्षाएँ नामक स्वाध्याय धर्मध्यानके आलम्बन है । अतः सब अनुप्रेक्षा धर्मध्यानके अनुकूल आलम्बन हैं अर्थात् उनको लेकर धर्मध्यान किया जाता है ॥१८६९॥

ध्यान करनेके इच्छुक क्षपणके लिये यह लोक आलम्बनोसे भरा हुआ है । वह मनको जिस ओर लगाता है वही आलम्बन हो जाता है ॥१८७०॥

धर्मध्यानका कथन करके शुक्लध्यानका कथन करते हैं—

गा०—डी०—इस प्रकार ऊपर कहे धर्मध्यानको जब क्षपक पूर्ण कर लेता है तब वह अति विशुद्ध लेष्याके साथ शुक्लध्यानको ध्याता है । क्योंकि परिणामोकी पक्ति उत्तरोत्तर निमलताको लिये हुए स्थित है अतः वह क्रमसे ही होती है । जिसने पहली सीढीपर पैर नहीं रखा वह दूसरी सीढीपर नहीं चढ़ सकता । अतः धर्मध्यानमें परिपूर्ण हुआ अप्रमत्त संयमी ही शुक्लध्यान करनेमें समर्थ होता है, यह बात इस गाथाके द्वारा कही है ॥१८७१॥

आगे दो गाथाओंके द्वारा चार प्रकारके शुक्लध्यानोके नाम कहते हैं—

गा०—पहला शुक्लध्यान पृथक्त्वं सवितर्कं सविचारं नामक है । दूसरा शुक्लध्यान सवितर्कं एकत्वं अविचारं नामक है ॥१८७२॥

'ज्ज्ञानं पृथक्सवितर्कसवीचारं' ध्यानं पृथक्त्वसवितर्कसवीचारं प्रथममुक्तं भवति । 'सवितर्कसवीचार-  
बोधारं' सवितर्कसवीचारं द्वितीयं शुक्लध्यानं ॥१८७२॥

सुदुमकिरियं तु तदियं सुक्कञ्जाणं जिणेहिं पणत्तं ।

वेति चउत्थं सुक्कं जिणा समुच्छिण्णकिरियं तु ॥१८७३॥

'सुदुमकिरियं तु तदियं' तृतीयं शुक्लध्यानं जिनैः प्रज्ञप्तं सूक्ष्मक्रियमिति । 'वेति चउत्थं सुक्कं' बुधते  
चतुर्थं शुक्लं जिना समुच्छिन्नक्रियं ॥१८७३॥

पृथक्त्वसवितर्कसवीचारं व्याचष्टे गाथानयेण—

दब्बाइ अणेयाइं तीहिं वि जोगेहिं जेण ज्जायति ।

उवसंतमोहणिज्जा तेण पुधत्तं तं मणिया ॥१८७४॥

'दब्बाइं अणेयाइं तीहिं वि जोगेहिं जेण ज्जायति' द्रव्याध्यनेकानि त्रिमिर्योगैः परावर्तमाना येन  
चिन्तयन्त्युपशान्तमोहनीयास्तेन पृथक्त्वमिति प्रथमध्यानमुक्तम्, एतदर्थं कथयति—अन्यदन्व्यद्रव्यमवलम्ब्य  
प्रवृत्तेनान्येनान्येन योगेन प्रवृत्तस्यात्मनो भवतीति पृथक्त्वव्यपदेशो ध्यानस्येति ॥१८७४॥

जम्हा सुदं वितर्कं जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य ।

ज्जायदि ज्जाणं एदं सवितर्कं तेण तं ज्जाणं ॥१८७५॥

'जम्हा सुदं वितर्कं' यस्मात् श्रुतं वितर्कं यस्मात् पूर्वगतार्थकुसलो ध्यानमेतत्प्रवर्तयति । तेन तत्  
ध्यानं सवितर्कं । चतुर्दशपूर्वाणां श्रुतत्वात्तदुपदिष्टोऽर्थः साहचर्यात् वितर्कशब्देनोच्यते । तेन वितर्कणार्थश्रुतेन

गा०—जिन भगवान्ने तीसरा शुक्लध्यानं सूक्ष्मक्रियं कहा है और चतुर्थं शुक्लं समुच्छिन्न-  
क्रियं कहा है ॥१८७३॥

आगे तीन गाथाओसे पृथक्त्व सवितर्क सविचारका कथन करते हैं—

गा०—उपशान्त मोहनीय गुणस्थानवाले यतः तीन योगोके द्वारा अनेक द्रव्योको बदल  
बदलकर ध्यान करते हैं इससे इसे पृथक्त्व कहते हैं ॥१८७४॥

विशेषार्थ—प्रथम शुक्लध्यानका नाम पृथक्त्व है क्योंकि इसमें योगपरिवर्तनके साथ ध्येयका  
भी परिवर्तन होता रहता है इसलिये इसको पृथक्त्व कहते हैं । धर्मध्यान और शुक्लध्यानके  
स्वामिधर्मोको लेकर मतभेद पाया जाता है । तत्त्वार्थसूत्रमें श्रेणीसे नीचे धर्मध्यान और श्रेणीमें  
शुक्लध्यान कहा है । श्रेणि आठवें गुणस्थानसे प्रारम्भ होती है । अतः आठवेंसे ही पृथक्त्व शुक्ल-  
ध्यान कहा है । किन्तु यहाँ ग्यारहवें गुणस्थानमें पृथक्त्व शुक्लध्यान कहा है । स्वैताम्बर परम्परा-  
में भी ऐसा ही माना गया है । वीरसेन स्वामीने धबला टीका ( १३, पृ० ७४ ) में भी ऐसा ही  
लिखा है । उनका कथन है कि कषायसहित जीवोंके धर्मध्यान होता है और कषायरहित जीवोंके  
शुक्लध्यान होता है । क्योंकि कषायका अभाव होनेसे ही उसका नाम शुक्लध्यान है । इस प्रथम  
शुक्लध्यानमें योगका और ध्येयका परिवर्तन होते रहनेसे इसे पृथक्त्व नाम दिया है ॥१८७४॥

गा०—टी०—यतः श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं और यतः चौदह पूर्वोंमें आये अर्थमें कुशल  
१०५

ध्येयेन सह वर्तत इति श्रुतज्ञानमेवावलम्ब्य सवितर्कमित्युच्यते । अथवा वितर्कशब्द श्रुतं तद्वद्वेषुत्वात् । श्रुतज्ञानं ध्यानसंज्ञितं सह कारणेन ध्युतेन वर्तत इति सवितर्कः ॥१८७५॥

अत्याण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो ।

तस्स य भावेण तयं सुत्ते उच्चं सवीचारं ॥१८७६॥

‘अत्याण वंजणाण य जोगाण य संकमो हु वीचारो’ अर्थात् ये व्यञ्जना शब्दास्तेषामिति, वैयधि-करण्येन सम्बन्धः, न पुनरर्थाना व्यञ्जनाना चेति समुच्चयः । अर्थपृथक्त्वस्य पृथक्त्वशब्देनोपादानात् । योगानां च संक्रमो वीचारः ‘तस्स य भावेण’ वीचारस्य सद्भावेन । ‘तयं’ तद्वि शुकलध्यान सूत्रे सवीचार-मित्युक्तं । ‘अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला’ इत्येवमादिपरिमितानेकद्रव्यप्रत्ययपरमश्रुतवाक्योद्भूत ध्यानमिति पृथग्भूतद्रव्यालम्बनत्वेन रूपेण एकद्रव्यालम्बनात् एकत्ववितर्काद्भिद्यते योगत्रयसहायत्वादेकयोगाद-विचाराद्द्वितीयध्यानाद्भिद्यते । उपशान्तमोहनोयस्वामिकरत्वात् क्षीणकषायस्वामिकादध्यानाद्भिद्यते । सवितर्क-त्वेन अवितर्काम्यां तृतीयचतुर्थाम्यां विलक्षणं । अत एव नामनिर्देशैव ध्यानान्तरविलक्षण पृथक्त्वसवितर्क-सवीचारमिति लक्षणमुक्तं ॥१८७६॥

अर्थात् चौदह पूर्वो का ज्ञाता साधु ही इस शुक्लध्यानको ध्याता है इससे इस प्रथम शुक्लध्यानको सवितर्क कहते हैं । अर्थात् चौदह पूर्व श्रुतरूप होनेसे उनमे जो वस्तुविवेचन है उसको भी वितर्क शब्दसे कहते हैं । प्रथम शुक्लध्यानमें उस अर्थश्रुतरूप वितर्कका ध्यान किया जाता है इससे उसे सवितर्क कहते हैं । अथवा श्रुतका कारण होनेसे वितर्क शब्दका अर्थ श्रुत है । ध्यान श्रुतज्ञानकी सज्ञा है उसका कारण श्रुत है । तो अपने कारण श्रुतके साथ रहनेसे उसे सवितर्क कहते हैं ॥१८७५॥

गा०-टी०—तथा अर्थके वाचक जो शब्द हैं उनके सक्रम अर्थात् परावर्तन को और योगोंके परिवर्तनको विचार कहते हैं । ‘अत्याण वंजणाण य’ का अर्थ अर्थों के और व्यञ्जनोंके परिवर्तनको वीचार कहते हैं इस प्रकारसे समुच्चयरूप नही लेना चाहिये क्योंकि पृथक्त्व शब्दसे अर्थका पृथक्त्व ग्रहण किया है । इस वीचारके होनेसे इस शुक्लध्यानको आगममे सवीचार कहा है ।

‘अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः’ इत्यादि परिमित अनेक द्रव्योंका ज्ञान करानेमें समर्थ श्रुतके वचनसे उत्पन्न हुआ यह ध्यान भिन्न-भिन्न द्रव्योंका आलम्बन करता है अतः एक ही द्रव्यका आलम्बन करनेवाले एकत्व वितर्क शुक्लध्यानसे भिन्न होता है । तथा पृथक्त्व वितर्क शुक्लध्यान तीनों योगोंकी सहायतासे होता है और एकत्ववितर्क एक ही योगकी सहायतासे होता है । इससे भी वह इससे भिन्न पड़ता है । पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यानका स्वामी उपशान्तमोह नामक ग्यारहवे गुणस्थानवर्ती होता है और एकत्ववितर्कका स्वामी क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती होता है । इससे भी वह इससे भिन्न है । पृथक्त्ववितर्क वितर्क सहित होता है और तीसरा तथा चतुर्थ शुक्लध्यान वितर्क रहित होते हैं । अतः वह तीसरे और चतुर्थ शुक्लध्यानसे विलक्षण है । अतः पृथक्त्ववितर्क सवीचार नामसे ही अन्य ध्यानोंसे इसकी विलक्षणता प्रकट होती है । इस प्रकार प्रथम शुक्लध्यानका लक्षण कहा है ॥१८७६॥

१. माद्यपरि—आ० । २. यमपरशु—अ० भु० ।—मादिपरिमितानेकद्रव्य प्रत्यायनपरश्रुत—मूलारा० ।



ज्योगमेव द्रव्यं ज्योगेभ्येण अपणदरगेण ।

क्षीणकसाधो ज्ञायदि तेभ्येणत्तं तथं यणियं ॥१८७७॥

'ज्योगमेव द्रव्यं ज्योगेभ्येण अपणदरगेण' येनैकमेव द्रव्यं अन्यतरेण योगेनैकेन सह वृत्तः, क्षीणकसाधो ज्ञायति तेनैकत्वं तद्गणितं एकद्रव्यालम्बनत्वात् । अन्यतरयोगवृत्तरेवात्मन उत्पत्तरेकत्वं ध्यान क्षीणकसाध-स्वामिकं भवेत् ॥१८७७॥

जम्हा सुदं वितक्कं जम्हा पुण्वगदअत्थकुसलो य ।

ज्ञायदि ज्ञाणं एवं सवितक्कं तेण तं ज्ञाणं ॥१७७८॥

अत्थाण वंजणाण य जोगाणं संकमो हु वीचारो ।

तस्स अमावेण तयं ज्ञाणं अविचारमिति वुत्तं ॥१८७९॥

एकद्रव्यालम्बनत्वेन परिमितानेकसर्बपर्यायद्रव्यालम्बनात् प्रथमध्यानात्समस्तवस्तुविषयाम्या तृतीय-चतुर्थीम्या च विलक्षणता द्वितीयस्थानया गाथया निवेदिता । क्षीणकसाधप्रहणेन उपशान्तमोहस्वामिक-त्वात् । सयोग्ययोगकेवलस्वामिकाम्या च भेदः । सवितर्कता पूर्ववदेव । पूर्वव्यावर्णितवीचाराभावाद-वीचारस्व ॥१८७८-७९॥

**विशेषार्थ—**महापुराणके इक्कीसवें पूर्वमे ध्यानका वर्णन करते हुए कहा है—अनेकपनेको पृथक्त्व कहते हैं और श्रुतको वितर्क कहते हैं । तथा अर्थ, व्यंजन और योगोंके परिवर्तनको वीचार कहते हैं । इन्द्रियोंको वशमे करनेवाला मुनि एक अर्थसे दूसरे अर्थको, एक वाक्यसे दूसरे वाक्यको और एक योगसे दूसरे योगको प्राप्त होता हुआ इस ध्यानको ध्याता है । यत तीनों योगोंके धारक और चौदह पूर्वोंके ज्ञाता मुनिराज इस ध्यानको करते हैं अतः प्रथम शुक्लध्यान सवितर्क और सबीचार होता है । श्रुतस्कन्धरूपी समुद्रमें जितना वचन और अर्थका विस्तार है वह इस शुक्लध्यान में ध्येय होता है और इसका फल मोहनीय कर्मका उपशम या क्षय है । यह ध्यान उपशान्त मोह और क्षीणमोह गुणस्थानमें तथा उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणिके शेष गुण-स्थानोंमें माना गया है ॥१८७६॥

**गा०—टी०—**दूसरे शुक्लध्यानका नाम एकत्ववितर्क है क्योंकि इसमें एक ही योगका अवलम्बन लेकर एक ही द्रव्यका ध्यान किया जाता है । अतः एक द्रव्यका अवलम्बन लेनेसे इसे एकत्व कहते हैं । यह ध्यान किसी एक योगमें स्थित आत्माके ही होता है । इसका स्वामी क्षीण कसाध गुणस्थानवर्ती मुनि होता है ॥१८७७॥

**विशेषार्थ—**यहाँ एक शब्दका अर्थ है 'प्रधान' और समस्त छह द्रव्योंमें प्रधान एक आत्मा ही है । सोमदेव उपासकाध्ययन ( श्लोक ६२३ ) मे कहा है—मनमें किसी विचारके न होते हुए जब आत्मा आत्मामे लीन होता है उसे निर्बीजध्यान कहते हैं । यह निर्बीजध्यान एकत्ववितर्क ही है । अतः एक द्रव्य और एक योगका अवलम्बन करनेसे प्रथम शुक्लध्यानसे भिन्न है ॥१८७७॥

**गा०—**यतः श्रुतको वितर्क कहते हैं और यतः चौदह पूर्वगत अर्थमें कुशल मुनि ही इस ध्यानका ध्याता है । इससे दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क है । तथा अर्थ, व्यंजन और योगोंके परि-

तृतीयध्यानमाचष्टे—

अवितर्कमवीचारं सुहृमकिरियसंबंधणं तदियसुक्कं ।

सुहृमम्मि कायजोगे भणिदं तं सच्चभावगदं ॥१८८०॥

‘अवितर्कमवीचारं’ श्रुतानालम्बनत्वादवितर्कं स्वयं श्रुतज्ञानं भवतीति वा अवितर्कं । पूर्वमालम्बी-  
कृतादर्थार्थान्तरालम्बनत्वं नाम वीचारो नास्तीत्यविचारः । ‘सुहृमकिरियसंबंधणं’ सूक्ष्मक्रियास्येति सूक्ष्मक्रिय-  
आत्मसम्बन्धनमाश्रयोऽप्येति सूक्ष्मक्रियाबन्धनं तृतीयशुक्लं । ‘सुहृमम्मि काययोगे’ सूक्ष्मकाययोगे सति प्रवृत्ते  
भणितं सूक्ष्मक्रियमिति । ‘तं सच्चभावगदं’ तृतीयं शुक्लध्यानं त्रिकालगोचरानन्तसामान्यविशेषात्मकद्रव्यषट्क-  
युगपत्प्रकाशनस्वरूपं, द्रव्यषट्कसमस्तस्वरूपयुगपत्प्रकाशनमेकमग्रं मुख्यमस्येति एकमुखतापि विद्यत इति  
ध्यानशब्दस्यार्थोऽभिमुखे विद्यते । ‘एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमित्यत्र’ सूत्रे विताशब्दो ज्ञानसामान्यवचनः । तेन  
श्रुतज्ञानं क्वचिद्ध्यानमित्युच्यते, क्वचित्केवलज्ञानं क्वचिच्छ्रुतज्ञानं क्वचिन्मतिज्ञानं मत्तयज्ञानं वा, यतोऽविच-  
लत्वमेव ध्यानं, ज्ञानस्य तस्याविचलत्वसाधारणं सर्वज्ञानोपयोगानां ॥१८८०॥

वर्तनको वीचारं कहते हैं । उसके न होनेसे दूसरा शुक्लध्यान अवीचारं कहा है ॥१८७८-७९॥

विशेषार्थ—प्रथमं शुक्लध्यानं परिमितं अनेकं द्रव्यो और पर्यायोका अवलम्बनं लेता है  
और दूसरा शुक्लध्यान एक ही द्रव्यका अवलम्बनं लेता है । तथा तीसरे और चतुर्थं शुक्लध्यानोका  
विषय समस्त वस्तु है क्योंकि केवलज्ञानका विषय सब द्रव्य और सब पर्याय है । अतः दूसरा  
शुक्लध्यान शेष तीनोंसे विलक्षण है । प्रथमं शुक्लध्यानका स्वामी उपशान्तमोह होता है और  
दूसरेका क्षीणकषाय होता है तथा तीसरेका स्वामी सयोग केवली और चतुर्थका स्वामी अयोग  
केवली होता है । अतः स्वामीकी अपेक्षा भी दूसरा शुक्लध्यान शेष तीनोंसे भिन्न है । किन्तु प्रथम  
शुक्लध्यानकी तरह दूसरा भी सवितर्कं है । और पूर्वं कथित वीचारका अभाव होनेसे अवीचार  
है ॥१८७८-७९॥

अब तीसरे शुक्लध्यानका स्वरूप कहते हैं—

गा०—टी०—तीसरे शुक्लध्यानका आलम्बनं श्रुतं नहीं है अथवा वह स्वयं श्रुतज्ञानरूप  
होता है इसलिये वितर्कसे रहित होता है । पूर्वमे आलम्बनं किये हुए अर्थको छोड़कर अर्थान्तरके  
आलम्बनं करनेको वीचारं कहते हैं । वह भी इसमे नहीं होता । अतः यह अवीचारं है । इसमे  
स्वासोच्छ्वासादिक्रिया सूक्ष्म हो जाती है । तथा यह सूक्ष्मकाययोगके होनेपर होता है इसलिये इसे  
सूक्ष्मक्रियं कहते हैं । यह तीसरा शुक्लध्यान त्रिकालवर्ती अनन्त सामान्यविशेषात्मक धर्मोंसे  
युक्त छह द्रव्योंको एक साथ प्रकाशन करता है अतः सर्वगत है । एक साथ समस्त छह द्रव्योंके  
समस्त स्वरूपको प्रकाशन करना ही इसका एकमात्र मुख होनेसे ध्यानका लक्षण ‘एकाग्रचिन्ता  
निरोधः’ इसमें रहता है । एकाग्रचिन्तानिरोधमें चिन्ता शब्द ज्ञान सामान्यका वाचक है । अतः  
कहीं श्रुतज्ञानको ध्यान कहते हैं, कहीं केवलज्ञानको ध्यान कहते हैं, कहीं श्रुतअज्ञानको ध्यान  
कहते हैं, कहीं मतिज्ञान या मतिअज्ञानको ध्यान कहते हैं । क्योंकि निश्चलताका ही नाम ध्यान  
है । अतः ज्ञानकी निश्चलता सब ज्ञानोपयोगीमे साधारण है । आशय यह है कि ज्ञानकी निश्च-  
लताका ही नाम ध्यान है । अतः ध्यानका यह लक्षण सब निश्चल ज्ञानोपयोगीमे घटित होता है ।  
केवलीका ध्यान केवल ज्ञान मूलक होता है । अतः वह तो सर्वथा निश्चल ही होता है । इससे  
सूक्ष्मक्रियं नामक ध्यानमे भी ध्यानका लक्षण घटित होता है ॥१८८०॥

सुहुमन्मि कायजोगे वट्टंतो केवली तदियसुक्कं ।

ज्जायदि णिरुंभिदुं जे सुहुमत्तं कायजोगंपि ॥१८८१॥

'सुहुमन्मि कायजोगे' सूक्ष्मे काययोगे प्रवर्तमान' केवली तृतीयं शुक्लं ध्याति निरोद्धुं तमपि सूक्ष्मं वा काययोगं ॥१८८१॥

अविबक्कमवीचारं अणियद्धिमकिरियं च सीलेशिं ।

ज्जाणं निरुद्धयोगं अपच्छिमं उत्तमं सुक्कं ॥१८८२॥

'अविबक्कमवीचारं' पूर्वोक्तवितर्कवीचाररहितत्वात् अवितर्कमवीचारं, 'अणियद्धि' सकलकर्मसातनम-  
कृत्वा न निवर्तत इत्यनिवर्तित । 'अकिरियं' समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्बकायबाहुमनोयोगपरिस्पन्दनक्रियाव्यापा-  
रत्वात् अक्रिय । 'सीलेशिं' शीलानामीश शीलेश यथाख्यातचारित्र । शीलेशस्य भावः शैलेष्य, तत्सहचारि  
ध्यानमपि शैलेष्य । 'निरुद्धयोगं' अपश्चिमं न विद्यते पश्चाद्भाविध्यानमस्मादित्यपश्चिम । 'उत्तमं सुक्कं'  
परमं शुक्ल ॥१८८२॥

तं पुण निरुद्धजोगो सरीरतियणासणं करेमाणो ।

सवण्हु अपडिवादी ज्जायदि ज्जाणं चरिमसुक्कं ॥१८८३॥

'तं पुण' तच्चतुर्थं शुक्लध्यान । निरुद्धयोग. सर्वज्ञ अप्रतिपातिध्यानं ध्याति 'शरीरत्रिकनाशं कुर्वन्,

गा०—अतः सूक्ष्मकाययोगमे स्थित केवली उस सूक्ष्म भी काययोगको रोकनेके लिये तीसरा शुक्लध्यान ध्याता है ॥१८८१॥

गा०—टी०—यह तीसरा शुक्लध्यान पूर्वोक्त वितर्क और वीचारसे रहित होनेसे अवितर्क और अवीचार होता है । समस्त कर्मों को नष्ट किये बिना समाप्त नहीं होता इसलिये अनिर्वर्तित है । इसमे प्राण अपान श्वास उच्छ्वासका प्रचार, समस्त काययोग मनोयोग वचन योगरूप हलन-चलन क्रियाका व्यापार नष्ट हो जाता है । इसलिये यह अक्रिय है । शीलोके स्वाभीको शीलेश कहते है । उसके भावको शैलेशीभाव कहते है वह है यथाख्यात चारित्र । उसके साथ होनेवाले ध्यानको भी शैलेशी कहा है । उससे सब कर्मों का आस्रव रुक जाता है अतः उसे निरुद्धयोग कहा है । इसके अनन्तर कोई ध्यान नहीं होता इससे इसे अपश्चिम कहा है । तथा यह परम शुक्लध्यान है ॥१८८२॥

विशेषार्थ—शैलेशीभाव से यथाख्यात चारित्र लिया है किन्तु यथाख्यात चारित्र तो ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानमे भी होता है किन्तु उसे शैलेशी नहीं कहा । क्योंकि शैलेशीपना तीसरे शुक्लध्यानकी अवस्थासे पहले नहीं होता, इसका कारण है कर्मोंका आस्रव होना । तथा तीसरेके पश्चात् भी चतुर्थं शुक्लध्यान होता है फिर भी तीसरेको विवक्षा भेदसे अपश्चिम कहा है ॥१८८२॥

गा०—काययोगका निरोध करके अयोग केवली औदारिक तैजस और कामर्षण शरीरों

अयीगात्मपरिणामः केवलज्ञानं चतुर्थशुक्लं, तृतीयं तु सूक्ष्मकाययोमात्मपरिणाम केवलमिति भेदस्तृतीय-  
चतुर्थयोः ॥१८८३॥

इय सो खवओ ज्ञाणं एयग्गमणो स'मस्सिदो सम्मं ।

विउल्लाए णिज्जराए बह्हुदि गुणसेट्ठिमारूढो ॥१८८४॥

'इय सो खवओ' एवमसौ क्षपकः, एकाग्रचित्तः सम्यग्ध्यान समाश्रित्य विपुलाया कर्मनिर्जारायां वर्तते।  
'गुणसेट्ठिमारूढो' गुणश्रेणीमारूढः उपशान्तकषायादिकां ॥१८८४॥

ध्यानमहात्म्यस्तवनार्थं उत्तरप्रबन्ध —

सुचिरं वि संकिलिद्धं विहरंतं ज्ञाणसंवरविहूणं ।

ज्ञाणेण संबुडप्पा जिणदि अंतोमुहुत्तेण ॥१८८५॥

'सुचिरमिव संकिलिद्धं विहरंतं' पूर्वकोटिकाल देशोर्न क्लेशसहितचारित्र्योद्यत 'ज्ञाणसंवरविहूणं'  
ध्यानाख्येन सवरेण विहीन । 'जिणदि' जयति । क ? 'अहोरसमितेण ज्ञाणेण संबुडप्पा' अहोरात्रमात्रेण  
ध्यानेन सवृतात्मा ॥१८८५॥

एवं कसायजुद्धंमि हवदि खवयस्स आउधं ज्ञाणं ।

ज्ञाणविहूणो खवओ 'रगेव अणाउहो मन्तो ॥१८८६॥

का नाश करता हुआ अन्तिम शुक्ल ध्यानको ध्याता है । सूक्ष्मकाय योग रूप आत्म परिणाम  
वाला सयोगकेवली तीसरे शुक्ल ध्यानको ध्याता है और अयोगरूप आत्मपरिणाम वाला  
अयोगकेवली चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याता है । यह तीसरे और चतुर्थ शुक्ल ध्यान में भेद  
है ॥१८८३॥

विशेषार्थ—महापुराणमें कहा है—तीसरेके पश्चात् योगका निरोध करके आत्म से रहित  
अयोगकेवली समुच्छिन्न क्रिय अनिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याता है । एक अन्तमुहूर्त  
काल तक अतिनिर्मल उस ध्यानको करके शेष चार अघातिकर्मोंका विनाशकर मोक्षको प्राप्त  
होता है । अयोगकेवलीके उपान्त्य समय में बासठ और अन्तिम समय में तेरह प्रकृतियाँ नष्ट हो  
जाती हैं । उसके पश्चात् वह शुद्धात्मा ऊर्ध्वगमन स्वभावके कारण एक ही समयमें लोकके अन्त  
पर्यन्त जाकर सिद्धालयमें विराजमान हो जाता है ॥१८८३॥

गा०—इस प्रकार वह क्षपक एकाग्रमन से सम्यक् ध्यान को ध्याकर उपशान्त कषाय  
आदि गुण स्थानों की श्रेणि पर आरूढ़ होकर विपुल कर्म निर्जरा करता है ॥१८८४॥

आगे ध्यानके माहात्म्यको कहते हैं—

गा०—एक अन्तमुहूर्त मात्र या एक दिन रात मात्र ध्यान रूप संवरसे युक्त मुनि, कुछ  
कम एक पूर्व कोटि काल तक ध्यानरूप संवरसे रहित तथा संक्लेशसहित चारित्र्य का पालन करने  
वाले साधुसे श्रेष्ठ है ॥१८८५॥

१. समणिसो—अ० । २. अहोरसमितेण अन्तोमुहूर्तेन कर्म जयति । अहोरात्रमात्रेण ज्ञाणेण संबुडप्पा  
ध्यानेन सवृतात्मा कर्मकाण्डकोषेण न जयति—आ० । ३. रणगोवज—आ० । जुद्धेव गिरावुओ होदि—मु० ।

‘एवं कसायबुद्धिं’ कषायसप्रहारे ध्यानमायुधं क्षपकस्य भवति । ध्यानहीनः क्षपकः युद्धे निरायुध इव न प्रतिपक्षं प्रहृन्मुमलं । कषायविनाशकारित्वं ध्यानस्यानया कथितं ॥१८८६॥

रणभूमौ क्वचं व कसायरणे तयं ह्ये क्वचं ।

युद्धे व पिरावरणो भ्रात्रेण विणा ह्ये खवओ ॥१८८७॥

‘रणभूमौ’ युद्धभूमौ क्वचवत्कषाययुद्धे ध्यानं क्वचो भवति । एतेन कषायपीडारक्षां करोति ध्यान-मित्याख्यात । ध्यानाभावे दोषमाचष्टे । ‘युद्धे व निरावरणो’ युद्धे निरावरण इव भवति ध्यानेन विना क्षपकः ॥१८८७॥

ज्झाणं करेइ खवयस्सोवहुंमं सु हीणयेइस्स ।

थेरस्स जहा जंतस्स कुणदि जह्ठी उवहुंमं ॥१८८८॥

‘ज्ञाणं करेवि’ ध्यानं करोति क्षपकस्योपष्टम्भं हीनचेष्टस्य स्थविरस्य गच्छते यथा करोति यष्टि-रुपष्टम्भं ॥१८८८॥

मल्लस्स षेहपाणं व कुणइं खवयस्स दढवलं भ्राणं ।

झाणविहीणो खवओ रंगे व अपोसिओ मल्लो ॥१८८९॥

‘मल्लस्स षेहपाणं व’ मल्लस्य स्नेहपानमिव क्षपकस्य ध्यानं करोति । ध्यानहीनः क्षपको रङ्गे अपोषितो मल्ल इव न प्रतिपक्षं जयति ॥१८८९॥

वहरं रदणेषु जहा गोसीसं चंदणं व गन्धेषु ।

वेरुलियं व मणीणं तह ज्झाणं होइ खवयस्स ॥१८९०॥

भा०—टी०—इस प्रकार कषायोंके साथ युद्ध करनेमें अर्थात् कषायोंका संहार करनेमें ध्यान क्षपकके लिये आयुध होता है । अर्थात् ध्यानके द्वारा कषायोंका विनाश किया जाता है । जैसे विना अस्त्रके युद्धमें शत्रुका घात करना संभव नहीं है, उसी प्रकार ध्यान हीन क्षपक कषायों को नहीं जीत सकता । इससे ध्यानको कषायोंका विनाश करने वाला कहा है ॥१८८६॥

भा०—टी०—जैसे युद्ध भूमिमें क्वच होता है वैसे ही कषायोंसे युद्ध करनेमें ध्यान क्वचके समान है । इससे कहा है कि ध्यान कषायसे रक्षा करता है । ध्यानके अभावमें दोष कहते हैं । जैसे युद्ध में क्वचके विना योद्धा होता है वैसे ही ध्यान के विना क्षपक होता है । अर्थात् युद्धमें विना क्वचके योद्धाकी जो स्थिति है वही स्थिति ध्यानके विना क्षपक की होती है । वह भी उसी की तरह मारा जाता है ॥१८८७॥

भा०—जैसे बलमें अस्त्रमर्धं वृद्ध पुरुषको नमन करते समय लाठी सहायक होती है वैसे ही अस्त्रमर्धं क्षपकका सहायक ध्यान होता है ॥१८८८॥

भा०—जैसे दुग्धपान मल्ल पुरुषके बलको हृद करता है वैसे ही ध्यान क्षपककी शक्ति को हृद करता है । जैसे अपुष्ट मल्ल अस्त्रादेमें हार जाता है वैसे ही ध्यानसे रहित क्षपक कषायोंसे हार जाता है ॥१८८९॥

'वैशं रक्षणेसु क्षमा' यथा रत्नेषु बज्रं गन्धर्वेषु गोशीर्षं चन्दनं । मणिसु वैडूर्यमिव क्षपकस्य ध्यानं सर्वेषु दर्शनचरित्रतपस्तु सारभूतं ॥१८९०॥

ज्ञानं किलेससावदरक्ष्णा रक्ष्णाव सावदभयम् ।

ज्ञानं किलेसवसणे भिचं भिचेव वसणाम् ॥१८९१॥

'ज्ञानं किलेससावदरक्ष्णा' ध्यानं दुःखरूपदाना रक्षा, स्वापदभये रक्षेव ध्यानं क्लेशव्यसने मित्र, व्यसने मित्रमिव ॥१८९१॥

ज्ञानं कसायवादे गम्भधरं मारुदेव गम्भधरं ।

ज्ञानं कसायउण्हे छाही छाहीव उण्हम् ॥१८९२॥

ज्ञानं कसायडाहे होदि वरदहो दहोव डाहम् ।

ज्ञानं कसायसीदे अग्गी अग्गीव सीदम् ॥१८९३॥

ज्ञानं कसायपरचक्कभए बलवाहण्हओ राया ।

परचक्कभए बलवाहण्हओ होइ जह राया ॥१८९४॥

ज्ञानं कसायरोगेसु होदि वेज्जो तिगिछदे कुसलो ।

रोगेसु जहा वेज्जो पुरिसस्स तिगिछओ कुसलो ॥१८९५॥

ज्ञानं विसयछुहाए होइ य छुहाए अण्णं वा ।

ज्ञानं विसयतिसाए उदयं उदयं व तण्हाए ॥१८९६॥

स्पष्टार्थोत्तरगाथा ॥१८९२॥१८९३॥१८९४॥१८९५॥१८९६॥

गा०—जैसे रत्नोंमें हीरा, सुगन्धित द्रव्योंमें गोशीर्षं चन्दन और मणियोंमें वैडूर्यमणि सारभूत है । वैसे ही क्षपकके दर्शन चारित्र और तपमे ध्यान सारभूत है ॥१८९०॥

गा०—जैसे हिंसक जन्तुओंसे भय होने पर उनसे रक्षा बचाव करती है वैसे ही ध्यान दुःखरूपी हिंसक जन्तुओंसे रक्षा करता है । तथा जैसे संकट मे मित्र सहायक होता है वैसे ही दुःखरूपी संकटमे ध्यान सहायक होता है ॥१८९१॥

गा०—जैसे गर्भगृह वायुसे रक्षा करता है वैसे ही ध्यान कषायरूपी वायुके लिये गर्भगृह है । जैसे घामसे बचनेके लिये छाया है वैसे ही कषायरूपी घामसे बचावके लिये ध्यान छायाके समान है ॥१८९२॥

गा०—जैसे दाहके लिये उत्तम सरोवर है वैसे ही कषायरूप दाहके लिये ध्यान उत्तम सरोवर है । जैसे शीतसे बचावके लिये आग है वैसे कषायरूपी शीतसे बचावके लिये ध्यान आग के समान है ॥१८९३॥

गा०—जैसे सेना और बाहनोंसे समृद्ध राजा शत्रु सेनाके आक्रमणके भयसे रक्षा करता है वैसे ही कषायरूपी शत्रु सेनाका भय दूर करनेके लिये ध्यान बल बाहनोंसे समृद्ध राजाके समान है ॥१८९४॥

इय ज्ञायंतो स्वओ जइया परिहीणवाधिओ होइ ।

आराधणाए तइया इमाणि लिंगाणि दंसेई ॥१८९७॥

‘इय ज्ञायंतो स्वओ’ एवं ध्यानेन प्रवर्तमान क्षपकः । यदा वक्तुमसमर्थो भवति तदा ‘आराधणाए’ रत्नत्रयपरिणतेरात्मनो लिङ्गानीमानि दर्शयति ॥१८९७॥

हुंकारंजलिभग्गुलीहिं अच्छीहिं वीरहुड्डीहिं ।

सिरचालणेण य तहा सण्णं दावेदि सो स्वओ ॥१८९८॥

‘हुंकारंजलिभग्गुलीहिं अच्छीहिं’ हुंकारेण वा अञ्जलिरचनया, भूक्षेपेण, अञ्जुलिपञ्चकदशनेन उप-  
द्वेष्टार प्रति प्रसन्नतया(भया) दृष्ट्या किं समाहितचित्तोऽसीत्युक्ते शिरःकम्पनेन सञ्जां दर्शयति क्षपकः ॥१८९८॥

तो पडिचरया स्वयस्स दिति आराधणाए उवओगं ।

जाणंति सुदरहस्सा कदसण्णा कायस्वएण ॥१८९९॥

‘तो पडिचरया’ तत प्रतिचारकास्तस्य क्षपकस्याराधनायामुपयोगं जानन्ति श्रुतरहस्याः क्षपकेण कृतसंकेता । ज्ञाणन्ति ॥१८९९॥

लेख्याया सबन्ध करोति—

इय समभावमृवगदो तह ज्ञायंतो पसत्तद्धानं च ।

लेस्ताहिं विसुज्झंतो गुणसेढिं सो समारुहदि ॥१९००॥

गा०—जैसे वैद्य पुरुषके रोगों की चिकित्सा में कुशल होता है वैसे ही ध्यान कषायरूपी रोग की चिकित्सा करने में कुशलवैद्य है ॥१८९५॥

गा०—जैसे अन्न भूखको दूर करता है वैसे ही विषयोंकी भूख दूर करनेके लिये ध्यान अन्नके समान है । तथा जैसे प्यास लगने पर पानी उसे दूर करता है वैसे ही विषयरूपी प्यासके लिये ध्यान पानीके समान है ॥१८९६॥

गा०—इस प्रकार ध्यानमें संलग्न क्षपक जब बोलनेमें असमर्थ होता है तब मैं रत्नत्रयमें संलग्न हूँ यह बात आगे कहे चिन्होंसे प्रकट करता है ॥१८९७॥

गा०—निर्यापकाचार्यके पूछनेपर कि तुम्हारा चित्त सावधान है, वह क्षपक हुंकारसे, हाथों की अञ्जुलि द्वारा, या भौं के संचालनसे अथवा पाँचों अँगुलियोंकी मुट्टी बनाकर या सिर हिलाकर प्रसन्न दृष्टिसे संकेत करता है ॥१८९८॥

गा०—तब क्षपकके द्वारा पहलेसे ही संकेत ग्रहण करने वाले और आगमक रहस्यको जानने वाले परिचारक मुनिगण यह जान लेते हैं कि क्षपकका उपयोग आराधनामें है ॥१८९९॥

विशेषार्थ—क्षपक पहले ही कह रखता है या परिचारक पहले ही क्षपकसे कह देते हैं कि बोलनेमें असमर्थ होनेपर मैं अपनी परिणतिको हुंकार आदि संकेतोंसे कह दूँगा ॥१८९९॥

आगे क्षपककी लेख्याविशुद्धिका कथन करते हैं—

गा०—इस प्रकार समताभावको प्राप्त वह क्षपक प्रशस्त ध्यान ध्याता है और विशुद्ध  
१०६

'इय सप्तभावनमुच्यते' एवं समचित्तां गतः प्रशस्ताध्यानं पवर्तयेत्, लेश्याभिर्विशुद्धगुणश्रेणी-  
मारोहति ॥१९००॥

जह बाहिरलेस्साओ किण्हादीओ इवंति पुरिसस्स ।

अब्भंतरलेस्साओ तह किण्हादी य पुरिसस्स ॥१९०१॥

किण्हा णीला काओ लेस्साओ तिण्णि अप्पसत्थाओ ।

पज्जइ विरायकरणो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥१९०२॥

जह बाहिरलेस्साओ' कृष्णनीलकापोताश्चेति तिस्रः अप्रशस्ताः प्रजहाति वैराग्यभावनादान् ससार-  
भीष्टां परामुयागतः ॥१९०१-१९०२॥

लेश्यापूर्वक अर्थात् क्रमसे पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यारूप परिणमन करता हुआ गुणश्रेणिपर  
अर्थात् उपशम या क्षपक श्रेणिपर आरोहण करता है ॥१९००॥

गा०—जैसे पुरुषके शरीरमे कृष्ण आदि द्रव्य लेश्या—शरीरका रंग काला गौरा होता  
है। वैसे ही अभ्यन्तरमे कृष्ण आदि भावलेश्या होती है ॥१९०१॥

विशेषार्थ—लेश्याके दो भेद हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। मिथ्यात्व आदिके कारण  
जीवके जो तीव्रतम आदि भाव होते हैं वह भावलेश्या है। आगममे कहा है कि मिथ्यात्व, अवि-  
रति, कषाय और योगसे प्राणियोंके जो संस्कार होते हैं वह भावलेश्या है। लेश्या छह है—कृष्ण,  
नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। इनमेसे प्रारम्भकी तीन लेश्या अशुभ हैं और शेष तीन शुभ हैं।  
अशुभ लेश्याओमे तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम रूपसे तथा शुभलेश्याओमे मन्द, मन्दतर और  
मन्दतमरूपसे हानिवृद्धि होती रहती है। जैसे अशुभ लेश्याओमे कापोत लेश्या तीव्र है, नीललेश्या  
तीव्रतर है और कृष्णलेश्या तीव्रतम है। इसी तरह शुभलेश्याओमे पीतलेश्या मन्द, पद्मा मन्दतर  
और शुक्ला मन्दतम है। उदाहरणके रूपमे जो व्यक्ति फलसे भरे वृक्षको जड़से काटकर फल  
खाना चाहता है उसके कृष्णलेश्या है। जो जड़को छोड़ केवल तना काटकर फल खाना चाहता  
है उसके नीललेश्या है। जो एक शाखा काटकर फल खाना चाहता है उसके कापोत लेश्या है।  
जो एक उपशाखा तोड़कर फल खाना चाहता है उसके पीतलेश्या है। जो केवल फल ही तोड़कर  
खाना चाहता है उसके पद्मलेश्या है। और जो जमीनपर गिरे हुए फलोको ही उठाकर खाना  
चाहता है उसके शुक्ललेश्या होती है। जो रागी, द्वेषी, अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभसे  
युक्त है, निर्दय है, कलहप्रिय है, मद्य मासके सेवनमे आसक्त है वह कृष्णलेश्या वाला होता है।  
जो घमण्डी, मायावी, विषयलम्पट, अनेक प्रकारकी परिग्रहमे आसक्त प्राणी है वह नीललेश्यावाला  
होता है। जो परकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करता है, अपनी प्रशंसासे प्रसन्न होता है, फिर  
हानि लाभको भी नहीं देखता, लडाईं होनेपर मरने मारनेको तैयार रहता है वह कापोतलेश्या  
वाला है। जो सर्वत्र समदृष्टि है कृत्य अकृत्य, हित अहितको जानता है दयादानका प्रेमी है वह  
पीतलेश्यावाला होता है। जो त्यागशील, क्षमाशील, भद्र और साधुजनोंकी पूजामें तत्पर रहता  
है वह पद्मलेश्यावाला होता है। जो माया और निदान नहीं करता, रागद्वेष नहीं करता वह  
शुक्ल लेश्यावाला है ॥१९०१॥



तेओ पम्मा सुक्का लेस्साओ तिण्णि वि हु पसत्थाओ ।  
पडिवज्जेइ य कमसो संवेगमणुत्तरं पत्तो ॥१९०३॥

‘तेओ पम्मा सुक्का’ तेज पपशुक्कलेख्याः प्रतिपद्यते परिपाटया ॥१९०३॥

एदेसिं लेस्साणं विसोघणं पडि उवकमो इणमो ।  
सव्वेसिं संगारणं विवज्जणं सव्वहा होइ ॥१९०४॥

‘एवेसिं लेस्साणं’ एतासा शुभलेख्याना शुद्धिं प्रत्ययमुपक्रमः बाह्याभ्यन्तरसर्वपरिग्रहस्याग ॥१९०४॥

लेस्सासोधी अज्झवसाणविसोधीए होइ जीवस्स ।  
अज्झवसाणविसोधी मंदकसायस्स णादव्वा ॥१९०५॥

‘लेस्सासोधी’ लेख्याना शुद्धि । ‘अज्झवसाणविसोधीए होइ’ परिणामविशुद्धया भवति । ‘अज्झवसाणविसोधी’ परिणामविशुद्धिश्च । ‘मंदकसायस्स’ मन्दकषायस्य भवतीति ज्ञातव्या ॥१९०५॥

कषायाणा मन्दता कथमित्यात्राह—

मंदा हुंति कसाया बाहिरसंगविजडस्स सव्वस्स ।  
गिण्हइ कसायबहुलो चैव हु सव्वंपि गंथकलिं ॥१९०६॥

‘मंदा हुंति कसाया’ कषाया मन्दा भवन्ति, कृतबाह्यसंगपरित्यागस्य । कषायबहुल एवाय सर्वो जीवः सर्वं ग्रन्थकलिं गृह्णाति ॥१९०६॥

जह इंधणेहिं अग्गी बड्डइ विज्झाइ इंधणेहिं विणा ।  
गंथेहिं तह कसाओ बड्डइ विज्झाइं तेहिं विणा ॥१९०७॥

वही कहते हैं—

गा०—क्षपक कृष्ण, नील, कापोत, इन तीन अप्रशस्त लेख्याओको त्यागकर वैराग्य भावनासे युक्त होता है और ससारसे अत्यन्त भयभीत रहता है ॥१९०२॥

गा०—तथा पीत, पद्म, शुक्ल, इन तीन प्रशस्त लेख्याओको क्रमसे स्वीकार करके उत्कृष्ट संवेगभावको धारण करता है ॥१९०३॥

गा०—इन लेख्याओकी विशुद्धिका उपक्रम यह है कि समस्त परिग्रहोका संबंधा त्याग होता है अर्थात् परिग्रहके त्यागसे लेख्यामे विशुद्धि आती है ॥१९०४॥

गा०—परिणामोकी विशुद्धि होनेसे लेख्याकी विशुद्धि होती है । और जिसकी कषाय मन्द है उसके परिणामोमे विशुद्धि होती है ॥१९०५॥

गा०—कषायोंकी मन्दता कैसे होती है, यह बतलाते हैं—

जो बाह्य परिग्रहका त्याग करता है उसकी कषाय मन्द होती है । जिसकी कषाय तीव्र होती है वही सब परिग्रहरूप पापको स्वीकार करता है ॥१९०६॥

'जह इंधनोह अग्नी' इन्धनीयथाग्निवर्द्धते तैर्विना प्रक्षाम्यति । ग्रन्थैस्तथा कषायो बद्धते, तैर्विना मन्वी भवति ॥१९०७॥

जह पत्थरो पडंतो खोमेइ दहे पसण्णमवि पंकं ।

खोमेइ पसण्णमवि कसायं जीवस्स तह गंधो ॥१९०८॥

'जह पत्थरो पडंतो' यथा पाषाण पतन् हृदे प्रशान्तमपि पङ्क क्षोभयति, तथा जीवस्य कषायं ग्रन्थाः क्षोभयन्ति ॥१९०८॥

अभंतरसोधीए गंधे णियमेण बाहिरे चयदि ।

अभंतरमइलो चैव बाहिरे गेण्हदि हु गंधे ॥१९०९॥

'अभंतरसोधीए' अभ्यन्तरशुद्धया नियमेन बाह्यान्परिग्रहास्त्यजति, अभ्यन्तरमलिन एव बाह्यान् गृह्णाति परिग्रहान् ॥१९०९॥

अभंतरसोधीए बाहिरसोधी वि होदि णियमेण ।

अभंतरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरे दोसे ॥१९१०॥

'अभंतरसोधीए' अभ्यन्तरशुद्धया बाह्यशुद्धिनियमेन भवति । अभ्यन्तरदोषेणैव बाह्यान्कायगतान् दोषान् करोति ॥१९१०॥

जध तंडुलस्स कोण्डयसोधी मत्तुसस्स तीरदि ण कादुं ।

तह जीवस्स ण सका लिस्तासोधी ससंगस्स ॥१९११॥

'जह तंडुलस्स' यथा तन्दुलस्य अभ्यन्तरमलशुद्धिं कर्तुं न शक्यते बाह्यतुषसहितस्य । तथा जीवस्य न शक्या लेश्याशुद्धिं कर्तुं सपरिग्रहस्य ॥१९११॥

इत उत्तर लेख्याभ्रयेणाराधनाविकल्पो निरूप्यते—

सुक्काए लेस्ताए उक्कस्सं असय परिणमिता ।

जो मरदि सो हु णियमा उक्कस्साराधओ होई ॥१९१२॥

गा०—जैसे इंधनसे आग बढ़ती है और इंधनके अभावमें बुझ जाती है वैसे ही परिग्रहसे कषाय बढ़ती है और परिग्रहके अभावमें मन्द हो जाती है ॥१९०७॥

गा०—जैसे जलमें पत्थर फेकनेसे नीचे बैठे हुई कीचड़ ऊपर आ जाती है । वैसे ही परिग्रहसे जीवकी दबी हुई कषाय उदयमें आ जाती है ॥१९०८॥

गा०—अन्तरगमें कषायकी मन्दता होनेपर नियमसे बाह्य परिग्रहका त्याग होता है । अभ्यन्तरमें मलिनता होनेपर ही जीव बाह्य परिग्रहको ग्रहण करता है ॥१९०९॥

गा०—अभ्यन्तरमें विशुद्धि होनेपर बाह्य विशुद्धि नियमसे होती है । अभ्यन्तरमें दोष होनेसे ही मनुष्य शारीरिक दोष करता है ॥१९१०॥

गा०—जैसे बाहरमें तुष ( छिलका ) रहते हुए चावलकी अभ्यन्तर शुद्धि संभव नहीं है । वैसे ही परिग्रही जीवके लेश्याकी विशुद्धि संभव नहीं है ॥१९११॥

‘सुक्राए लेस्साए’ शुक्ललेख्याया उत्कृष्टां परिणतो यो मृत्तिमुपति स नियमादुत्कृष्टाराधको भवति ॥१९१२॥

खाइयदंसणचरणं खओवसमियं च णाणमिदि मग्गो ।  
तं होइ खीणमोहो आराहिचा य जो हु अरहतो ॥१९१३॥  
जे सेसा सुक्राए दु अंसया जे य पम्मलेस्साए ।  
तल्लेस्सापरिणामो दु मज्झिमाराधणा मरणे ॥१९१४॥

‘जे सेसा सुक्राए दु अंसया’ उत्कृष्टाज्ञान्ये ये शुक्ललेख्याया अंश ये चापि पद्मलेख्याया अंशः तत्र परिणामो मरणे मध्यमाराधना ॥१९१३॥१९१४॥

तेजाए लेस्साए ये अंसा तेसु जो परिणमिचा ।  
काल करेइ तस्स हु जहणियाराधणा भणिदा ॥१९१५॥

‘तेजाए लेस्साए’ तेजोलेख्याया ये अंशास्तेषु परिणतो यदि काल कुर्यात् तस्य जघन्याराधना भवति ॥१९१५॥

जो जाए परिणमिचा लेस्साए संजुदो कुणइ कालं ।  
तल्लेसो उववज्जइ तल्लेसे च्चैव सो सग्गे ॥१९१६॥

‘जो जाए’ यो यया लेख्याया परिणत काल करोति, स तल्लेख्य एवंपजायते, तल्लेख्यासमन्विते स्वर्गे ॥१९१६॥

अध तेउपउमसुककं अदिच्छिदो णाणदंसणसमग्गो ।  
आउक्खया दु सुद्धो गच्छदि सुद्धिं चुयकिलेसो ॥१९१७॥

आगे लेख्या के आश्रयसे आराधनाके भेद कहते हैं—

गा०—जो क्षपक शुक्ललेख्याके उत्कृष्ट अंश रूपसे परिणत होकर मरण करता है वह नियमसे उत्कृष्ट आराधक होता है ॥१९१२॥

गा०—क्षायिक सम्पत्त्व, यथाख्यात चारित्र और क्षायोपशमिक ज्ञानकी आराधना करके क्षीणमोह होता है और वह बारहवें गुणस्थानवर्ती क्षीणमोह तदनन्तर अरहत होता है ॥१९१३॥

गा०—शुक्ललेख्याके शेष मध्यम और जघन्य अंश तथा पद्मलेख्याके उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य अंश रूपसे परिणत होकर मरण करने वाला क्षपक मध्यम आराधक होता है ॥१९१४॥

गा०—तेजोलेख्याके अंशरूपसे परिणत होकर यदि मरण करता है तो वह जघन्य आराधक होता है ॥१९१५॥

गा०—जो क्षपक जिस लेख्यारूपसे परिणत होकर मरण करता है वह उसी लेख्यावाले स्वर्गमें उसी लेख्यावाला ही देव होता है ॥१९१६॥

गा०—जो पीत पद्म और शुक्ललेख्याको भी छोड़कर लेख्यारहित अयोग अवस्थाको प्राप्त होता है वह सम्पूर्ण केवलज्ञान और केवल दर्शनसे युक्त होकर आयुका क्षय होनेपर मोक्ष प्राप्त

'अथ तेजपद्मसुन्दरं' अथ तेज पद्मसुन्दरलेख्या अतिक्रान्त अलेख्यतामुपगतं ज्ञानदर्शनसमग्र आयुधः क्षयात् सिद्धिं गच्छति कर्मलोपापगमाद्विशुद्धो निरस्ताशेषकलेशः । लेसेति ॥१९१७॥

एवं सुभाषिदप्या ज्ञानोवगजो पसत्थलेस्साओ ।

आराधनापढायं हरइ अविग्नेण सो खवओ ॥१९१८॥

'एवं सुभाषिदप्या' एवं सुष्ठु भावितात्मा ध्यानमुपगत प्रशस्तलेख्यापरिणत आराधनापताकां हरत्यविग्नेन ॥१९१८॥

तेलोककसम्बसारं चउगइसंसारदुक्खणासयरं ।

आराहणं पवणो सो भयवं मुक्खपडिमुल्लं ॥१९१९॥

'तेलोककसम्बसारं' त्रैलोक्ये सर्वस्मिन्सारभूता चतुर्गतिससारदुःखनाशकरणीमाराधना प्रपन्नोऽप्यौ भगवान् मोक्षप्रतिमौल्य ॥१९१९॥

एवं जघाक्खादविधिं संपत्ता सुद्धदंसणचरिणा ।

केई खवंति खवया मोहावरणंतरायाणि ॥१९२०॥

'एवं जघाक्खादविधिं' एव यथाख्यातविधिं संप्रप्ता शुद्धदर्शनचारित्र्या केचित्क्षपका घातिकर्माणि क्षपयन्ति ॥१९२०॥

केवलकप्पं लोगं संपुण्णं दव्वपज्जयविधीहिं ।

ज्जायंता एयमणा जहंति आराहया देहं ॥१९२१॥

'केवलकप्पं' केवलज्ञानस्य परिच्छेद्यत्वेन योग्य लोक संपूर्णं द्रव्यपर्यायविकल्पैः परिच्छिन्दन्त जहति ते स्वदेह ॥१९२१॥

करता है । वह समस्त कर्मलेपके चले जानेसे विशुद्ध होता है तथा समस्त क्लेशोंसे छूट जाता है ॥१९१७॥

गा०—इस प्रकार वह क्षपक अच्छी तरहसे आत्माकी भावना भाकर प्रशस्त लेख्यापूर्वक ध्यान करके, किसी विघ्न बाधाके बिना आराधना पताकाको धारण करता है ॥१९१८॥

गा०—वह भगवान् तीनो लोकोंमें सारभूत तथा चार गतिरूप ससारके दुःखोका नाश करनेवाली आराधनाको प्राप्त करता है जो उस मोक्षका प्रतिमूल्य है अर्थात् आराधनारूपी मूल्य प्रदान करके ही मोक्षको खरीदा जा सकता है ॥१९१९॥

गा०—इस प्रकार कोई-कोई चरमशरीरी क्षपक यथाख्यात चारित्रकी विधिके द्वारा शुद्ध सम्यग्दर्शन और चारित्रको प्राप्त करके मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंका क्षय करते हैं ॥१९२०॥

गा०—केवलज्ञानके द्वारा जाननेके योग्य सम्पूर्ण लोकको द्रव्य पर्यायोंके भेदोंके साथ एकाग्रमनसे जानते हुए आराधक अपना शरीर छोड़ते हैं ॥१९२१॥

सव्वुक्कसं जोगं जुंजंता इंसणे चरित्ते व ।

कम्मरयविप्पमुक्का इवंति आराधया सिद्धा ॥१९२२॥

‘सव्वुक्कसं’ सर्वोत्कृष्ट दर्शनचारित्रयोयोगं प्रतिपद्यमानाः कर्मरजोभ्यो विप्रयुक्ता आराधकाः सिद्धा भवन्ति ॥१९२२॥

इयमुक्कस्सियमाराधणमणुपलित्तु केवली भविया ।

लोगग्गसिहरवासी इवंति सिद्धा धुयकिलेसा ॥१९२३॥

‘इय उक्कस्सिय’ एवमुत्कृष्टामाराधनामनुपाल्य केवलिनो भूत्वा निरस्तक्लेशा लोकाग्रशिखरगगसिनः सिद्धा भवन्ति ॥१९२३॥

अह सावसेसकम्मा मलियकसाया पणहुमिच्छत्ता ।

हासरइअरइभयसोगदुगुंछावेयणिम्महणा ॥१९२४॥

‘अह सावसेसकम्मा’ अथ मावशेषकर्मणो मथितकषायाः प्रणष्टमिथ्यात्वा हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्सा-वेदत्रिकमथना ॥१९२४॥

पंचसमिदा तिगुत्ता सुसंबुडा सव्वसंगउम्मुक्का ।

धीरा अदीणमणसा समसुहदुक्खा असंमूढा ॥१९२५॥

‘पंचसमिदा’ समितिपचकोपेता गुप्तिप्रयोपेता सुसंबुता अपाकृतसर्वसंगा धीरा अदीनमनसः समसुख-दुःखा असंमूढा ॥१९२५॥

सव्वसमाधाणेण य चरित्तजोयो अधिहुदा सम्मं ।

धम्मे वा उवजुत्ता ज्झाणे तह पढमसुक्के वा ॥१९२६॥

‘सव्वसमाधाणेण’ सर्वेण समाधानेन चारित्र्ये सम्यगवस्थिता धर्मध्याने प्रथमशुक्ले वा उपयुक्ताः ॥१९२६॥

गा०—सबसे उत्कृष्ट अर्थात् क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यक् चारित्र्यको प्राप्त करके वे आराधक कर्मरूपी रजसे अर्थात् शेष चार अघाति कर्मोंसे छूटकर सिद्ध हो जाते हैं ॥१९२२॥

गा०—इस प्रकार उत्कृष्ट आराधनाका पालन करके केवलज्ञानी होकर सम्पूर्ण क्लेशोंसे छूट जाते हैं और लोकके शिखर पर विराजमान होते हैं ॥१९२३॥

गा०—किन्तु जिनके कर्मबन्धन शेष रहता है वे मिथ्यात्वको नष्ट करके तथा कषायोंका और हास्य रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, तीनों वेदोंका मथन करके, पाँच समिति और तीन गुप्तियोंके द्वारा सम्यक् रूपसे संबर करके समस्त परिग्रहसे रहित होकर धीरतापूर्वक, मनमें दीनताका भाव नहीं लाते । मोहरहित होकर सुख और दुःखमें समभाव रखते हैं । मन, वचन, कायको समाहित करके चारित्र्यमें सम्यक्निष्ठ रहते हैं तथा धर्मध्यान या प्रथम शुक्लध्यानमें उपयोग लगाते हैं ॥१९२४-२६॥

इय मज्जिममाराधणमणुपालिता सरीरपजहिता ।

हुति अणुत्तरवासी देवा सुविसुद्धलेस्सा य ॥१९२७॥

‘इय मज्जिम’ एव मध्यमाराधनामनुपाल्य शरीरं त्यक्त्वा विशुद्धलेस्याधरा अनुत्तरवासिनो देवा भवन्ति ॥१९२७॥

दंसणणाणचरित्ते उक्किट्ठा उत्तमोपघाणा य ।

इरियावहपडिबण्णा हवंति लवसत्तमा देवा ॥१९२८॥

‘दंसणणाणचरित्ते’ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्येषु उत्कृष्टा उत्तमाभिग्रहा ईर्यापथ्य प्रपन्ना लवसत्तमा देवा भवन्ति ॥१९२८॥

कप्पोवगा सुरा जं अञ्छरसहिया सुहं अणुहवंति ।

तत्तो अणंतगुणिदं सुहं दु लवसत्तमसुराणं ॥१९२९॥

‘कप्पोवगा सुरा ज’ कल्पोपपन्ना सुरा. अप्मरोभिस्सहिता यत्सुखमनुभवन्ति ततोऽप्यनन्तगुणित लवसत्तमदेवाना ॥१९२९॥

णाणम्मि दंसणम्मि य आउत्ता संजमे जहक्खादे ।

वड्ढिट्ठदत्तवोवघाणा अवहियलेस्सा सददमेव ॥१९३०॥

‘णाणम्मि दंसणम्मि य’ ज्ञानदर्शनयोर्यथाख्याते च सधमे आयुक्ता वड्ढिततपोऽभिग्रहा सतत विशुद्धलेस्या क्षपका. ॥१९३०॥

पजहिय सम्मं देहं सददं सव्वगुणावड्ढिट्ठदत्तगुणद्धा ।

देविंदचरमठाणं लहंति आराधया खवया ॥१९३१॥

‘पजहिय देहं’ विहाय देहं सम्यक्सत्वा सर्वगुणवर्धितगुणादघा देवेन्द्रचरमस्थान लभन्ते ॥१९३१॥

गा०—इस प्रकार मध्यम आराधनाका पालन करके शरीर त्याग कर विशुद्ध लेस्याके धारक अनुत्तरवासी देव होते हैं ॥१९२७॥

गा०—वे मध्यम आराधनाके पालक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्यमे उत्कृष्ट होते हैं। अर्थात् कल्पोपपन्न देवोंमे उत्पन्न कराने वाले रत्नत्रयके आराधकोसे उत्कृष्ट होते हैं। उनकी तपश्चर्या उत्तम होती है, वे ईर्यापथ आस्रवके धारी होते हैं अर्थात् कषायरहित कायकी क्रियासे होनेवाला शुभास्रव ही उनके होता है। वे मरकर लवसत्तम अर्थात् ग्रंथेयक या अनुदिश विमानवासी देव होते हैं ॥१९२८॥

गा०—कल्पवासी देव अपनी देवागनाओंके साथ जिस सुखको भोगते हैं उससे अनन्तगुणा सुख अहमिन्द्रदेव भोगते हैं ॥१९२९॥

गा०—जो क्षपक ज्ञान दर्शन और यथाख्यात चारित्र्यमे लीन रहते हैं, अपनी तपश्चर्याको निरन्तर बढ़ाते हैं, वे विशुद्ध लेस्यावाले होते हैं ॥१९३०॥

गा०—वे आराधक क्षपक सम्यक् भावना पूर्वक शरीर त्यागकर अनन्तगुणी अणिमा आदि ऋद्धियोंसे सम्पन्न उपरिम स्वर्गमे स्थान प्राप्त करते हैं ॥१९३१॥

सुयमचीए विसुद्धा उन्मत्तवग्नियमजोवसंसुद्धा ।  
 लोमंतिया सुरवस हवति आराधया धीरा ॥१९३२॥  
 जावदिया रिद्धिओ हवति इंदियगदाणि य सुहाणि ।  
 ताहं लहंति ते आगमेसिं भ्र्वा तवत्त खवया ॥१९३३॥

‘जावदिया रिद्धिओ’ यावन्त्यः ऋद्धयो भवन्ति यावन्तोन्द्रियसुखानि च भवन्ति तानि सर्वाणि लप्स्यन्ते भद्राशया क्षपका ॥१९३२-१९३३॥

जे वि हु जहणियं तेउलेस्समाराहणं उवणमंति ।  
 ते वि हु सोचम्ममहासु हवति देवा च हेड्डिण्णा ॥१९३४॥

‘जे वि हु जहणियं’ येषां जघन्यामाराधनां तेजोलेश्याप्रवृत्तामुपनमन्ति तेषां सौधमंदिषु देवा भवन्ति, नाधोभाविनो देवा ॥१९३४॥

किं जपिण्ण बहुणा जो सारो केवलस्स लोगस्स ।  
 तं अचिरेण लहंते फासिताराहणं णिहितं ॥१९३५॥

‘किं जपिण्ण बहुणा’ किं बहुनोक्तेन यत्सर्वस्यास्य लोकस्य सारभूतं तदचिरेण लभन्ते आराधनां प्रपन्नाः ॥१९३५॥

भोगे अणुत्तरे भुंजिऊण तत्तो चुदा सुमाणुस्से ।  
 इड्ढीमतुलं चइत्ता चरंति जिण्णदेसियं धम्मं ॥१९३६॥

‘भोगे अणुत्तरे’ भोगानुत्कृष्टान् भुक्त्वा स्वर्गच्युता मनुष्यभवेऽपि प्राप्य सकलामृद्धिं तां च त्यक्त्वा जिनाभिहितं धर्मं चरन्ति ॥१९३६॥

गा०—श्रुतभक्तिसे विशुद्ध, उग्रतप, नियम और आतापन आदि योगसे शुद्ध धीर आराधक लोकान्तिक देव होते हैं ॥१९३२॥

गा०—जितनी ऋद्धियाँ हैं और जितने भी इन्द्रिय सुख हैं उन सबको भद्रपरिणामी क्षपक आगामी कालमे प्राप्त करते हैं ॥१९३३॥

गा०—तेजोलेश्यासे युक्त जो क्षपक जघन्य आराधना करते हैं वे भी सौधर्म आदि स्वर्गमें देव होते हैं, नीचेके देव नहीं होते । अर्थात् भवनत्रिकमें जन्म नहीं लेते ॥ १९३४॥

गा०—अधिक कहजैसे क्या ? जो समस्त लोकका सारभूत है उस सबको आराधना करने वाले शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं ॥१९३५॥

गा०—स्वर्गके उत्कृष्ट भोगोंको भोगकर स्वर्गसे च्युत होनेपर मनुष्य भवमें जन्म लेते हैं और वहाँ भी समस्त ऐश्वर्य प्राप्त करदेते हैं । फिर उसे त्यागकर जिन् मगवान्के द्वारा कहे हुए धर्मका पालन करते हैं ॥१९३६॥

सदिमंतो धिदिमंतो सद्दृष्टासंवेगवीरियोवगवा ।

जेदा परीसहाणं उवसग्गाणं च अभिमविय ॥१९३७॥

‘सदिमंतो’ स्मृतिमन्तः धृत्तिसमन्विताः श्रद्धासंवेगवीर्यसहिताः परीसहाणा विजेतारः उपसर्गाणामभि-  
मवितारः ॥१९३७॥

इय चरणमधक्खादं पडिवण्णा सुद्धदंसणमुवेदा ।

सोधिंति ज्जाणज्जाता लेस्साओ संकिलिट्ठाओ ॥१९३८॥

‘इय चरणमधक्खादं’ एवं यथाख्यातचारित्र्य प्रतिपन्ना शुद्धदर्शनमुपगता ध्यानयुक्ताः संकिलिष्टलेष्या  
विनाशयन्ति ॥१९३८॥

सुक्कं लेस्समुवगदा सुक्कज्जाणेण खविदसंसारा ।

उम्मुक्ककम्मकवया उर्विति सिद्धिं धुदकिलेसा ॥१९३९॥

‘सुक्कं लेस्समुवगदा’ शुक्ललेष्यामुपगता शुक्लध्यानेन क्षपितसंसारा उन्मुक्तकर्मकवचा दूरीकृत  
क्लेषाः सिद्धिमुपयान्ति ॥१९३९॥

एवं संधारगदो विसोघइत्ता वि दसपचरित्तं ।

परिवडदि पुणो कोईं भायंतो अट्ठरुदाणि ॥१९४०॥

‘एवं संधारगदो’ उक्तेन प्रकारेण संस्तरमुपगतोऽपि कृतदर्शनचारित्र्यशुद्धिरपि कश्चित्कर्मगौरवादात्-  
रीद्रपरिणतः पतति । तत्र दोषमाचष्टे ॥१९४०॥

ज्जायंतो अणगारो अट्ठं रुद्धं च चरिमकालम्मि ।

जो जहइ सयं देहं सो ण लहइ सुग्गदिं खवओ ॥१९४१॥

गा०—वे शास्त्रोका अनुचिन्तन करते हैं, धैर्यशाली होते हैं, श्रद्धा, संवेग और शक्तिसे युक्त होते हैं। परीषहोंको जीतते हैं और उपसर्गोंको निरस्त करते हैं, उनसे अभिभूत नहीं होते ॥१९३७॥

गा०—इस प्रकार शुद्ध सम्यग्दर्शन पूर्वक यथाख्यात चारित्र्यको प्राप्त करके ध्यानमें मग्न होकर संकलेशयुक्त अशुभ लेष्याओंका विनाश करते हैं ॥१९३८॥

गा०—शुक्ललेष्यासे सम्पन्न होकर शुक्लध्यानके द्वारा संसारका क्षय करते हैं और कर्मोंके कवचसे मुक्त हो, सब दुःखोंको दूर करके मुक्तिको प्राप्त होते हैं ॥१९३९॥

गा०—इस प्रकार संस्तरपर आरुढ़ होकर और सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र्यको निर्मल करके भी कोई-कोई क्षपक कर्मोंकी गुरुता होनेसे आतंरीद्र ध्यानपूर्वक रत्नत्रय रूप आराधनासे गिर जाता है ॥१९४०॥

गा०—जो क्षपक साधु मरते समय आतंरीद्र ध्यानपूर्वक अपने शरीरको छोड़ता है वह सुगति प्राप्त नहीं करता ॥१९४१॥



'अत्यंतो अवसन्तो' मरणकाले आतंरीन्द्रयोः परिपत्तो भूत्वा यः स्वदेहं जहाति तासौ अपकः सुगतिं लभते ॥१९४१॥

जदि दा सुभाविदप्या वि चरित्रकालमिह संकल्लेसेण ।

परिवट्टदि वेदणत्तो खवओ संधारमारूढो ॥१९४२॥

'जदि वा सुभाविदप्या वि' यदि तावत्सुभावितात्मापि संस्तरमारूढः वेदनात्. अपकः संकल्लेसेण हेतुना सन्मार्गात्परिपतति ॥१९४२॥

किं पुण जे ओसण्णा णिच्चं जे वा वि णिच्चपासत्था ।

जे वा सदा कुशीला संसत्ता वा जहाछंदा ॥१९४३॥

'किं पुण' किं पुनर्न परिपतन्ति ये नित्यमवसन्ना ये च नित्यं पार्श्वस्था ये वा सदा कुशीला. संसत्ता वा स्वच्छन्दा ॥१९४३॥

तत्र अवसन्ना निरूप्यन्ते—

'गच्छंहि केइ पुरिसा पक्खी इव पंजरंतरणिकुद्धा ।

सारणयंजरचकिदा ओसण्णागा पावेहरंति ॥१९४४॥

यथा कर्मणे क्षुण्ण मार्गाद्धीनोऽवसन्न इत्युच्यते स द्रव्यतोऽवसन्नः । भावावसन्नः अशुद्धचारित्रः सीदति उपकरणे, वसति सस्तरप्रतिलेखने, स्वाध्याये, विहारभूमिशोधने, गोचारशुद्धौ, ईर्यासमित्यादिषु, स्वाध्यायकालवलोकने, स्वाध्यायविसर्गे, गोचारे, च अनुद्यत, आबन्धकेष्वलसः, जनातिरिक्तो वा जनाधिकं करोति कुर्वन् च यथोक्तमात्रस्यैव वाक्कायाम्यां करोति न भावत एवभूतश्चारित्रोऽवसीदतीत्यवसन्नः । पन्थानं पश्यन्ति

गा०—यदि अपनी आत्माकी सम्यक् भावना करने वाले भी संस्तरपर आरूढ हो, संकल्लेश-के कारण मरते समय सन्मार्गसे गिर जाते हैं ॥१९४२॥

गा०—तो जो नित्य अवसन्न, नित्य पार्श्वस्थ, सदा कुशील, ससक्त और स्वच्छन्द साधु हैं उनका कहना ही क्या है ? ॥१९४३॥

गा०-टी०—अवसन्न आदिका स्वरूप कहते हैं—

जैसे कोई पुरुष कीचड़में फँस गया या मार्गमें थक गया तो उसको अवसन्न कहते हैं । वह द्रव्यरूपसे अवसन्न है । उसी प्रकार जिसका चारित्र अशुद्ध होता है वह भाव अवसन्न होता है । वह उपकरणमें, वसतिकामे, संस्तरके शोधनेमें, स्वाध्यायमें, विहार करनेकी भूमिके शोधनेमें, गोचरीकी शुद्धतामें, ईर्यासमिति आदिमें, स्वाध्यायके कालका ध्यान रखनेमें और स्वाध्यायकी समाप्तमें तत्पर नहीं रहता । छह आबन्धकोंमें आलस्य करता है । या दूसरोंसे करता तो अधिक है किन्तु वचन और कार्यसे करता है, भावसे नहीं करता । इस प्रकार चारित्रका पालन करते हुए खेदखिन्न होता है इससे उसे अवसन्न कहते हैं ।

१. इस गाथा पर किसी प्रति में क्रमांक नहीं दिया है । न इस पर किसी की टीका ही है । सं०

तत्समीपेऽप्येन कश्चिद् गच्छति, यथासौ मार्गपार्श्वस्थः, एवं निरतिचारसंयममात्रं जानन्नपि न तत्र वर्तते, किन्तु संयममार्गपार्श्वे तिष्ठति नैकान्तेनासंयतः, न च निरतिचारसंयम<sup>१</sup> सोऽभिधीयते पार्श्वस्थ इति । शय्याधरपिण्डमभिहितं नित्यं च पिण्डं मुहुक्ते, पूर्वापरकालयोर्दातुसस्संबं करोति, उत्पादनैषणादोषदुष्टं वा मुहुक्ते, नित्यमेकस्यां वसतीवसति, एकस्मिन्नेव संस्तरे शेते, एकस्मिन्नेव क्षेत्रे बहति । गृहिणां गृहाभ्यन्तरे निवधा करोति, गृहस्थोपकरणैर्व्यवहरति, दु प्रतिलेखमप्रतिलेखं वा गृह्णाति, सूचीकर्तारिणश्छेदसंबंधनपट्टिकाभ्रूरकर्णशोधनाजिनप्राप्ती, सीबनप्रक्षालनावधूननरञ्जनादिबहुपरिकर्मव्यापृतश्च वा पार्श्वस्थः । क्षारचूर्णं सौवीरलवणसपिरित्यादिकं अनागाढकारणेऽपि गृहीत्वा स्थापयन् पार्श्वस्थः । रात्रौ यथेष्ट शेते, सस्तरं च यथाकामं बहुतर करोति । उपकरणवकुशो देहवकुशः—दिवसे वा शेते च य पार्श्वस्थः । पदप्रक्षालनं<sup>२</sup>प्रक्षणं वा यत्कारणमन्तरेण करोति, यश्च गणोपजीवी<sup>३</sup>तृणपञ्चकसेवापरश्च पार्श्वस्थः । अयमत्र संक्षेपः—अयोग्य सुखशीलतया यो निवेवते कारणमन्तरेण स सर्वथा पार्श्वस्थः । कुत्सितशीलः कुशीलः । यद्येव अवसन्नादीनां कुशीलत्वं प्राप्नोति, नैव लोकप्रकटकुत्सितशीलः कुशील इति विवेकोऽत्र ग्राह्यः । स च कुशीलाञ्जेकप्रकारः कश्चित्कौतुकशीलः औषधविलेपनविद्याप्रयोगेणैव, सौभाग्यकरणं राजद्वारिककौतुकनापदर्शयति य स कौतुककुशीलः ।

जैसे कोई मार्गको देखते हुए भी उस मार्गसे न जाकर अन्य उसके समीपवर्ती मार्गसे जाता है, उसे मार्ग पार्श्वस्थ कहते हैं । इसी प्रकार जो निरतिचार सयमका मार्ग जानते हुए भी उसमें प्रवृत्ति नहीं करता किन्तु संयमके पार्श्ववर्ती मार्गमें चल्ता है, वह न तो एकान्तसे असयमी है और न निरतिचार सयमी है । उसे पार्श्वस्थ कहते हैं । शय्याधरपिण्डका स्वरूप पहले कहा है उस भोजनको नित्य करता है । भोजन करनेसे पहले और भोजन करनेके पश्चान् दाताकी स्तुति करता है । अथवा उत्पादन और एषणा दोषसे दूषित भोजन करता है । नित्य एक ही वसतिकामें रहता है । एक ही संस्तरपर सोता है । एक ही क्षेत्रमें रहता है । गृहस्थोके घरके भीतर बैठता है । गृहस्थोके उपकरणोंका उपयोग करता है । बिना प्रतिलेखनाके वस्तुको ग्रहण करता है या दुष्टता पूर्वक प्रतिलेखना करता है । सुई, कैंची, नख काटनेके लिये नहिनी, छुरा, कानका मेल निकालनेकी सीक, चर्म आदि पासमें रखता है । और सीना, धोना, रगना आदि कामोमें लगा रहता है, वह पार्श्वस्थ है । क्षारचूर्ण, सुर्मा, नमक, घी इत्यादि बिना कारण ग्रहण करके पासमें जो रखता है वह पार्श्वस्थ है । जो रातमें मनमाना साता है, मस्तरा इच्छानुसार लम्बा चौड़ा बनाता है वह उपकरण वकुश है । जो दिनमें सोता है वह देहवकुश है । ये भी पार्श्वस्थ है । जो बिना कारण पैर धोता है और तेल लगाता है तथा जो गणोपजीव है वह पार्श्वस्थ है । साराश यह है कि सुखशील होनेके कारण जो बिना कारण अयोग्यका सेवन करता है वह सर्वथा पार्श्वस्थ है ।

जिसका शील कुत्सित है वह कुशील मुनि है

शब्दा—यदि ऐसा है तो अवसन्न आदि भी कुशील कहलायेगे ।

समाधान—नहीं, क्योंकि लोकमें जिसका कुत्सित शील प्रकट है वह कुशील है, यह मे भेद ग्रहण करना चाहिये । वह कुशील अनेक प्रकारका होता है । कोई कौतुक कुशील होता है जो औषध लगानेकी विद्याके प्रयोग द्वारा सौभाग्यके कारण राजद्वारमें कौतुक दिखलाता है ।

कश्चित् भूतिकर्मकुशीलः भूतिग्रहणमुपलक्षणं भूत्वा, घृत्वा, सिद्धार्थकैः, पुष्पैः, फलैश्चकाश्चिभिर्वा मन्त्रितं रक्षां वशीकरणं वा यः करोति स भूतिकुशीलः । उक्तं च—

भूवीयव भूलीयं वा सिद्धत्वन पुष्पककुवकावीरिह ।  
रत्नं वसिगरणं वा करेदि जो भूदिगकुसीलो ॥

कश्चित्प्रसेनिकाकुशीलः, अंगुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनी, प्रक्षीपप्रसेनी, शशिप्रसेनी, सूर्यप्रसेनी स्वप्नप्रसेनीत्येवमादिभिर्जनं रञ्जयति यः सोऽभिधीयते प्रसेनिकाकुशील इति । कश्चिन्निमित्तकुशीलः विद्याभिर्मन्त्रैरौषध-प्रयोगैर्वा असयत चिकित्सा करोति सोऽप्रसेनिकाकुशीलः । कश्चिन्निमित्तकुशीलः अष्टाङ्गनिमित्तं ज्ञात्वा यो लोकस्यादेशं करोति स निमित्तकुशीलः । आत्मनो जातिं कुलं वा प्रकथय यो भिक्षाधिकमुत्पादयति स आजीव-कुशीलः । केनचिदुपद्रुतं परं शरणं प्रविशति, अनाथशालां वा प्रविश्य आत्मनश्चिकित्सा करोति स वा आजीवकुशीलः । विद्यायोगाविभिः परद्रव्यापहरणदम्भप्रदर्शनपरं कवचकुशीलः । इन्द्रजालाविभिर्यो जनं विस्मापयति सोऽभिधीयते कुहनकुशील इति । वृक्षगुल्मादीनां पुष्पाणां, फलानां च संभवमुपदर्शयति, गर्भस्थाप-नादिकं च करोति यः स सम्मूर्च्छनाकुशीलः । त्रसजानां, कीटादीनां, वृक्षादीनां, पुष्पफलादीनां, गर्भस्थ परिशासनं आभिचारिकं च यः करोति शापं च प्रयच्छति स प्रपातनकुशीलः ॥ उक्तं च—

काभौतिकभूतिकन्धे पसिणा वसिणे निमित्तमाजीवे ।  
कवचकुहन समुच्छण वपावजादीकुसीलो वु ॥ इति ॥

कोई भूतिकर्मकुशील होता है । यहाँ भूति शब्दसे भस्म, घूल, सरसो, पुष्प, फल, अथवा जल आदिसे मंत्र पढ़कर रक्षा या वशीकरण जो करता है वह भूतिकर्म कुशील है । कहा है—

जो भस्म, घूल, सरसों, पुष्प, फल, जल आदिके द्वारा रक्षा या वशीकरण करता है वह भूतिकर्म कुशील है । कोई प्रसेनिकाकुशील होता है जो अंगुष्ठप्रसेनिका, अक्षरप्रसेनिका, शशिप्रसेनिका, सूर्यप्रसेनिका, स्वप्नप्रसेनिका आदि विद्याओंके द्वारा लोगोका मनोरजन करता है । कोई अप्रसेनिका कुशील होता है जो विद्या, मंत्र और औषध प्रयोगके द्वारा असंयमी जनोका इलाज करता है । कोई निमित्तकुशील होता है जो अष्टांग निमित्तोंको जानकर लोगोको इष्ट अनिष्ट बतलाना है । जो अपनी जाति, अथवा कुल बतलाकर भिक्षा आदि प्राप्त करता है वह आजीवकुशील है । जो किसीके द्वारा सताये जानेपर दूसरेकी शरणमे जाता है अथवा अनाथशाला-मे जाकर अपना इलाज कराता है वह भी आजीव कुशील होता है । जो विद्या प्रयोग आदिके द्वारा दूसरोंका द्रव्य हरने और दम्भप्रदर्शनमे तत्पर रहता है वह कवचकुशील होता है । जो इन्द्रजाल आदिके द्वारा लोगोको आश्चर्य उत्पन्न करता है वह कुहनकुशील है । जो वृक्ष, झाड़ी, पुष्प और फलोंको उत्पन्न करके बताता है तथा गर्भस्थापना आदि करता है वह सम्मूर्च्छनाकुशील है । जो त्रसजातिके कीट आदिका, वृक्ष आदिका, पुष्प फल आदिका तथा गर्भका विनाश करता है, उनकी हिंसा करता है, शाप देता है वह प्रपातन कुशील है । कहा है—

कौतुक कुशील, भूतिकर्म कुशील, प्रसेनिका कुशील, अप्रसेनिका कुशील, निमित्तकुशील, आजीव कुशील, कवचकुशील, कुहनकुशील, सम्मूर्च्छनकुशील, प्रपातन कुशील आदि कुशील होते

आदिशब्दपरिगृहीताः कुशीला उच्छन्दे—क्षेत्रं हिरण्यं चतुष्पदं च परिग्रहं ये गृह्णन्ति हरितकन्दकल-  
भोजिनः कृतकारितानुमतपिण्डोपशिवसतिसेवापराः, स्त्रीकथारतयः, मैथुनसेवापरायणाः, विवेकालम्बादि  
अधिकरणोद्यताश्च कुशीलाः। कृष्टः प्रमत्तः विकृतवेषश्च कुशीलः। संसक्तो निरुच्यते—प्रियचारित्रं प्रिय-  
चारित्रं अप्रियचारित्रं दृष्टे अप्रियचारित्रः, नटवदनेकरूपग्राही ससक्तः। पञ्चेन्द्रियेषु प्रसक्तं त्रिविधगौरव-  
प्रतिबद्धं, स्त्रीविषये संक्लेशसहितः, गृहस्थजनप्रियश्च ससक्तः। 'अवसन्तो' अवसन्तः। पार्श्वस्थसंसर्गात्स्वय-  
मपि पार्श्वस्थः, कुशीलसंसर्गात्स्वयमपि कुशीलः, यः स्वच्छन्दसंपर्कात्स्वयमपि स्वच्छन्दवृत्तिः। यथाछन्दो  
निरुच्यते—उत्सृज्यमानुपदिष्टं स्वच्छाविकल्पितं यो निरूपयति सोऽभिधीयते यथाछन्द इति। तद्यथा वर्षे पतति  
जलधारणसमयम्। सूरकतरिकादिभिः केशापमयनप्रशंसनं आत्मविराधनान्यथा भवतीति भूमिशय्या तृणपुञ्जे  
वसतः अवस्थितानामावाधेति, उद्देशिकादिके अनेऽशेषः ग्राम सकलं पर्यटतो महतीं जीविकायविराधनेति,  
गृहामत्रेषु भोजनमदोष इति कथनं, पाणिपात्रिकस्य परिशातनदोषो भवतीति निरूपणा, सप्रति यथोक्तकारी न  
विद्यत इति च भाषणं एवमादिनिरूपणापराः स्वच्छन्दा इत्युच्यन्ते ॥१९४४॥

हैं। गायामे आये आदि शब्दसे ग्रहण किये कुशीलोको कहते हैं—जो क्षेत्र, सुवर्ण, चौपाये आदि परिग्रहको स्वीकार करते हैं, हरे कद, फल खाते हैं, कृत कारित अनुमोदनासे युक्त भोजन, उपधि वसतिकाका सेवन करते हैं, स्त्रीकथामे लीन रहते हैं, मैथुन सेवन करते हैं, आत्मवके अधिकरणोंमे लगे रहते हैं वे सब कुशील हैं। जो धृष्ट, प्रमादी और विकारयुक्त वेष धारण करता है वह कुशील है।

अब ससक्तका स्वरूप कहते हैं। चारित्र प्रेमियोंमें चारित्रप्रेमी, और चारित्रसे प्रेम न करनेवालोंमें चारित्रके अप्रेमी, इस तरह जो नटकी तरह अनेक रूप धारण करते हैं वे संसक्त मुनि हैं। जो पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होते हैं, ऋद्धिगारव, सातगारव और रसगारवमें लीन होते हैं, स्त्रियोंके विषयमें रागरूप परिणाम रखते हैं, और गृहस्थजनोके प्रेमी होते हैं वे संसक्त मुनि हैं। वे पार्श्वस्थके संसर्गसे पार्श्वस्थ, कुशीलके संसर्गसे कुशील और स्वच्छन्दके सम्पर्कसे स्वयं भी स्वच्छन्द होते हैं।

अब यथाछन्दका स्वरूप कहते हैं—जो बात आगममें नहीं कही है, उसे अपनी इच्छानु-  
सार जो कहता है वह यथाछन्द है। जैसे वर्षमें जलधारण करना अर्थात् वृक्षके नीचे बैठकर ध्यान लगाना असयम है। छुरे कैंची आदिसे केश काटनेकी प्रशंसा करना और कहना कि केश-  
लोच करनेसे आत्माकी विराधना होती है। पृथ्वीपर सोनेसे तृणोंमें रहनेवाले जन्तुओंको बाधा होती है। उद्दिष्ट भोजनमें कोई दोष नहीं है क्योंकि भिक्षाके लिये पूरे ग्राममें भ्रमण करनेसे जो व निकायकी महती विराधना होती है। घरके पात्रोंमें भोजन करनेमें कोई दोष नहीं है ऐसा कहना। जो हाथमें भोजन करता है उसे परिशातन दोष लगता है ऐसा कहना। आजकल आगमानुसार आचरण करनेवाले नहीं हैं ऐसा कहना। इत्यादि कहने वाले मुनि स्वच्छन्द कहे जाते हैं ॥१९४४॥

१. च पुष्पं च—अ०। २. विवेकायि—आ०। ३. अकरणो—अ०। ४. के भोजने मु०।  
५. गृह मात्रासु गो—अ० आ०।

अबिसुद्धभावदोसा कषायवसत्या य मन्दसंवेगा ।

अच्चासादणसीला भाषानहुला विदाणकदा ॥१९४५॥

‘अबिसुद्धभावदोसा’ भावाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामाः, तेषां दोषाः अङ्कावयवः ते अबिसुद्धा अनिराकृता यैस्ते अबिसुद्धभावदोषाः । ‘कषायवसतिगा’ कषायवशवसतिः । मन्दसंवेगाः । ‘अच्चासादणसीला’ गुणानां गुणिनां चापमानकारिणः । प्रचुरभायानिदानं गताः ॥१९४५॥

सुहसादा किमज्ज्ञा गुणसायी पावसुत्तपडिसेवी ।

विसयासापडिबद्धा गारवगलया पमाहन्ता ॥१९४६॥

‘सुहसादा’ सुखास्वादनपरा । ‘किमज्ज्ञा’ किं मह्यं केनचिदिति सर्वेषु संघकार्येष्वनादृता । ‘गुणसायी’ गुणेषु सम्यग्दर्शनादिषु शेरत इव निरुत्साहाः । ‘पावसुत्तपडिसेवी’ आत्मनः परेषां वा अशुभपरिणामस्य मिथ्यात्वासंयमकषायाणां प्रवर्तकं शास्त्रं पापसूत्रं निमित्तं, वैद्यकं, कौटिल्यं, स्त्रीपुरुषलक्षणं, घातुवादं, काव्यनाटकानि, चोरशास्त्रं, शस्त्रलक्षणं, प्रहरणविद्याचित्रकलागांधर्वगन्धर्वयुक्त्याधिकं एतस्मिन् पापसूत्रे कृतावराभ्यासाः ‘विसयासापडिबद्धा’ अभिमतविषयपरिप्राप्त्यर्था या आशा तस्यां प्रतिबद्धा, ‘तिगारवगुल्का’ गारवत्रयैर्गुरवः । ‘पमाहन्ता’ विकथादिपञ्चदशप्रमादसहिताः ॥१९४६॥

समिदीसु य गुत्तीसु य अभाविदा सीलसंजमगुणेषु ।

परतत्तीसु य तत्ता अणाहिदा भावसुद्धीए ॥१९४७॥

‘समिदीसु य’ समितिषु गुतिषु च संयमगुणेषु भावनारहिताः परव्यापारेषु प्रवृत्ता भावशुद्धाः वनादृताः ॥१९४७॥

उक्त प्रकारके क्षपक मरते समय सन्मार्गसे कयों च्युत हो जाते हैं यह सात गाथाओंसे कहते हैं—

गा०—टी०—वे क्षपक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्ररूप परिणामोंके जो शंका आदि दोष हैं उन्हें दूर नहीं करते हैं, कषायोंके वशवर्ती होते हैं, उनका संवेगभाव मन्द होता है, गुणोंका और गुणीजनोंका वे अपमान करते हैं, तथा माया और निदानशल्यकी उनमें प्रचुरता होती है ॥१९४५॥

गा०—टी०—वे सुखशील होते हैं, मुझे किसीसे क्या, ऐसा मानकर वे संघके सब कार्योंमें अनादरभाव रखते हैं, सम्यग्दर्शन आदि गुणोंमें उनका उत्साह नहीं होता । अपने और दूसरोंके अशुभ परिणामको तथा मिथ्यात्व, असंयम और कषायको बढ़ानेवाला शास्त्र पापसूत्र है । निमित्त शास्त्र, वैद्यक, कौटिल्यशास्त्र ( राजनीति ), स्त्री पुरुषके लक्षण बतलानेवाला कामशास्त्र, घातुवाद ( भौतिकी ), काव्य नाटक, चोरशास्त्र, शस्त्रोंका लक्षण बतलानेवाला शास्त्र, प्रहार करनेकी विद्या, चित्रकला, गांधर्व ( नाच गाना ), गन्धर्वशास्त्र, युक्तिशास्त्र आदि पापशास्त्रोंमें उनका आदर होता है, उसीका वे अध्ययन करते हैं । इष्ट विषयोंकी आशामें लगे रहते हैं, तीव्र गारवमें आसक्त होते हैं । विकथा आदि पन्द्रह प्रमादोंमें युक्त होते हैं ॥१९४६॥

गा०—समिति, गुति और शील तथा संयमके गुणोंमें भावनासे रहित होते हैं । लौकिक कार्योंमें संलग्न रहते हैं भावोंकी शुद्धिकी ओर ध्यान नहीं देते ॥१९४७॥

गंधअणियसत्तण्हा बहुमोहा सबलसेवणासेवी ।

सदरसरूबगंधे फासेसु य मुञ्चिदा 'बद्धिदा ॥१९४८॥

'गंधाणियसत्तण्हा' अत्तपरिग्रहतुष्णा, 'बहुमोहा' अज्ञानबहुलाः । सबलसेवनापराः, शब्दादिषु विषयेषु मुञ्चिताः 'तवचटिता ॥१९४८॥

परलोगणिप्पिवासा इहलोगे चैव जे सुपडिबद्धा ।

सज्जायादीसु य जे अणुट्ठदा संकिलिट्ठमदी ॥१९४९॥

'परलोयणिप्पिवासा' परलोकनिस्पृहा, ऐहिकेष्वेव कार्येषु प्रतिबद्धा, स्वाध्यायादिष्वनुत्तता, संकिलिट्ठमतय ॥१९४९॥

सव्वेसु य मूलुत्तरगुणेसु तइ ते सदा अइचरंता ।

ण लहंति खबोवसमं चरिसमोहस्स कम्मस्स ॥१९५०॥

मूलुत्तरगुणेषु सदा सातिचारा न लभन्ते चारित्रमोहस्य क्षयोपशम ॥१९५०॥

एवं मूढमदीया अबंतदीसा करंति जे कालं ।

ते देवदुब्भगतं मायामोसेण पावंति ॥१९५१॥

'एवं मूढमदीया' एव मूढबुद्धयो अनपास्तवोषा ये काल कुर्वन्ति ते देवदुर्भगता प्राप्नुवन्ति मायया ॥१९५१॥

किंमज्झ णिरुच्छाहा इवंति जे सव्वसंघकज्जेसु ।

ते देवसमिदिबज्जा कप्पंते हुंति सुरमिच्छा ॥१९५२॥

'किं मज्झणिरुच्छाहा' किं मज्झमिति ये सर्वसंघकार्येष्वनादृतास्ते देवसमितिबाह्या कल्पानामन्ते सुरम्लेच्छा भवन्ति ॥१९५२॥

गा०—उनकी परिग्रहकी तुष्णा कभी तुप्त नहीं होती । अज्ञानमे डूबे रहते है । गृहस्थोंके आरम्भमें फँसे होते हैं, शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्शमे ममत्वभाव रखते हैं ॥१९४८॥

गा०—परलोककी चिन्ता नहीं करते । इसी लोक सम्बन्धी कार्यों मे लगे रहते है । स्वाध्याय आदिमे उद्यम नहीं करते । उनकी मति संकलेशमय होती है ॥१९४९॥

गा०—सदा मूलगुणों और उत्तरगुणोंमे अतिचार लगाते हैं । इससे उनके चारित्रमोहका क्षयोपशम नहीं होता ॥१९५०॥

गा०—इस प्रकार दोषोंको दूर न करनेवाले वे मूढबुद्धि जब मरते हैं तो मायाचारके कारण अभागे देव होते हैं ॥१९५१॥

गा०—वे मुनि अवस्थामे 'मुझे इससे क्या' ऐसा मानकर संघके सब कार्योंमें अनादर

कंदर्पभावणाए देवा कंदर्पिया मदा ह्येति ।  
 खिम्बिसयभावणाए कालगदा ह्येति खिम्बिसया ॥१९५३॥  
 अभिजोगभावणाए कालगदा आभिजोगिया हुति ।  
 तद् आसुरीए जुत्ता हवंति देवा असुरकाया ॥१९५४॥  
 सम्मोहणाए कालं करित्तु दुंदुगा सुरा हुति ।  
 अण्णं पि देवदुग्गइ उवयंति विराधया मरणे ॥१९५५॥

स्पष्टार्थमुत्तरगायानत्रय ॥१९५३॥१९५४॥१९५५॥

इय जे विराधयित्ता मरणे असमाधिणा मरेज्जण्ह ।  
 तं तेसि बालमरणं होइ फलं तस्स पुब्बुत्तं ॥१९५६॥

‘इय जे विराधयित्ता’ एव ये रत्नत्रयं विनाश्य मरणकाले असमाधिना मृतिमुपयान्ति तत्तेषां बाल-  
 मरणं भवति । तस्य बालमरणस्य फलं पूर्वमुक्तमेव ॥१९५६॥

जे सम्मत्तं खवया विराधयित्ता पुणो मरेज्जण्ह ।  
 ते भवणवासिजोदिसभोमेज्जा वा सुरा ह्येति ॥१९५७॥

‘जे सम्मत्त खवया’ ये क्षपका सम्यक्त्वं विनाश्य त्रियन्ते भवनवासिनो ज्योतिष्का व्यन्तरा वा  
 भवन्ति ॥१९५७॥

दंसणणाणविहूणा तदो चुदा दुक्खवेदणुम्मीए ।  
 संसारमण्डलगदा भमंति भवसागरे भूढा ॥१९५८॥

भाव रखनेके कारण देवोकी समितिसे बहिष्कृत सौधर्मादि कल्पोके अन्तमे बसनेवाले चाण्डाल  
 जातिके देव होते हैं ॥१९५२॥

गा०—कन्दर्प भावनासे मरकर कन्दर्प जातिके देव होते हैं । किल्बिषभावनासे मरकर  
 किल्बिषक जातिके देव होते हैं ॥१९५३॥

गा०—आभियोग्य भावनासे मरकर आभियोग्य जातिके देव होते हैं । तथा आसुरी  
 भावनासे मरकर असुर जातिके देव होते हैं ॥१९५४॥

गा०—सम्मोहन भावनासे मरकर दुंदुग जातिके देव होते हैं । अन्य भी विराधना  
 करके मरनेवाले मुनि देवगतिमें हीन देव होते हैं ॥१९५५॥

गा०—इस प्रकार जो क्षपक मरते समय रत्नत्रयको नष्ट करके असमाधिपूर्वक मरते हैं  
 उनका वह मरण बालमरण होता है और उस बालमरणका फल पूर्वमें कहा है ॥१९५६॥

गा०—जो क्षपक सम्यक्त्वको नष्ट करके मरते हैं वे मरकर भवनवासी, व्यन्तर या  
 ज्योतिषीदेव होते हैं ॥१९५७॥

गा०—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे रहित वे भूइदेव स्वर्गसे व्युत्त होकर दुःखकी वेदना-  
 रूपी लहरोंसे भरे संसारसमद्रमें भ्रमण करते हैं ॥१९५८॥

‘संज्ञानाधिहीना’ सम्यग्दर्शनज्ञानहीनस्ततः स्वर्गाच्युता दुःखवेदनेर्भीकं भवसागरे मूढा भ्रमन्ति, संसारमण्डलं गता ॥१९५८॥

जो मिच्छत्तं गंतूण किण्हलेस्सादिपरिणदो मरदि ।

तल्लेस्सो सो जायइ जल्लेस्सो कुणदि सो कालं ॥१९५९॥

‘जो मिच्छत्तं गंतूण’ यः कृष्णलेषयादिपरिणतो मिथ्यात्व गत्वा त्रियते तल्लेस्यो जायते । परत्र च यल्लेषयः कालं कृतवान् । फलति ॥१९५९॥

विजहूणा निरूप्यते—

एवं कालगदस्स दु सरीरमंतोव्व होज्ज वाहिं वा ।

विज्जावच्चकरा तं सयं विक्किंचति जदणाए ॥१९६०॥

‘एवं कालगदस्स’ एवं कालगतस्य शरीरमन्तर्बहिर्वावस्थितं वैयावृत्यकरा स्वयमेवापनयन्ति यत्नेन ॥१९६०॥

समणाणं ठिदिकप्पो वासावासे तहेव उडुबधे ।

पडिलिहिदव्वा णियमा णिसीहिया सव्वसाधुहिं ॥१९६१॥

‘समणाणं ठिदिकप्पो’ श्रमणाणा स्थितिकल्पो वर्षावासे ऋतुप्रारम्भे च नियमेन सर्वे साधुभिर्निषीधिका नियमेन प्रतिलेखनीया ॥१९६१॥

तस्या लक्षणमाचष्टे—

एगंता सालोगा णादिविकिट्ठा ण चावि आसण्णा ।

वित्थिण्णा विद्धत्ता णिसीहिया दूमगागाढा ॥१९६२॥

गा०—जो क्षपक मिथ्यादृष्टि होकर कृष्ण आदि लेश्याके साथ मरता है वह जिस लेश्याके साथ मरता है उसी लेश्यावाला होकर जन्म लेता है ॥१९५९॥

गा०—इस प्रकार नगर आदिके मध्यमे या नगरसे बाहर मरणको प्राप्त उस क्षपकके शरीरको वैयावृत्य करनेवाले परिचारक मुनि स्वयं ही सावधानतापूर्वक हटा देते हैं ॥१९६०॥

गा०—वर्षा ऋतुके चार मासोमे एक स्थानपर वास प्रारम्भ करते समय और ऋतुके प्रारम्भमें सब साधुओको नियमसे निषीधिकाको प्रतिलेखना करना चाहिये, यह साधुओका स्थितिकल्प है ॥१९६१॥

विशेषार्थ—मुमुक्षु साधुगण तो अपने शरीरमें भी निरीह होते हैं वे मृत क्षपकके शरीरको हटानेका प्रयत्न क्यों करते हैं ? ऐसी शका होनेपर आचार्य उत्तर देते हैं कि पूर्वमे साधुओके जो दस स्थितिकल्पोंका कथन किया है, उसमें एक मास और पञ्जोसवण कल्प भी है । उसके अनुसार जब साधु वर्षा योग धारण करते हैं या ऋतुका प्रारम्भ होता है तब उन्हें निषीधिका दर्शन करना आवश्यक होता है । जहाँ क्षपकके शरीरको स्थापित किया जाता है उस स्थानको निषीधिका कहते हैं । इसलिये निषद्याका दर्शन साधुओका आवश्यक कर्तव्य होनेसे मुमुक्षु साधु निषद्याके निर्माणके लिये स्वयं प्रयत्न करते हैं ॥१९६१॥



'एगंता सालोगा' एकाता परैः प्रायेणादुश्मा नातिद्वस नात्यासन्ना विस्तीर्णा विध्वस्ता दूरमभ-  
माढा ॥१९६२॥

अविसुय असुसिर अघसा सा उज्जोवा बहुसमा असिणिद्धा ।

णिज्जंतुगा अराहदा अबिला य तथा अणावाधा ॥१९६३॥

जा अवरदक्खिणाए व दक्खिणाए व अइव अवराए ।

वसघीदो विरइज्जइ णिसीघिया सा पसत्थच्चि ॥१९६४॥

'जा अवरदक्खिणाए' अपरदक्षिणाशायां, दक्षिणस्या, अपरस्यां वा दिशि वसतितः निषीधिका  
प्रशस्ता ॥१९६३॥१९६४॥

सन्वसमाधी पढमाए दक्खिणाए दु भत्तमो सुलभं ।

अवराए सुविहारो होदि य से उवाधिलाभो य ॥१९६५॥

'सन्वसमाधी पढमाए' सर्वेषा समाधिर्भवति 'पढमाए' अपरदक्षिणदिगवस्थिताया निषीधिकाया,  
दक्षिणदिगवस्थितायामाहार सुलभ । पश्चिमाया सुखविहार उपकरणलाभश्च ॥१९६५॥

जदि तेसिं वाधादो दडुव्वा पुव्वदक्खिणा होइ ।

अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचिपुव्वुत्तरा कमसो ॥१९६६॥

'जदि तेसिं वाधादो' यदि ता निषीधिका न लभ्यन्ते, पूर्वदक्षिणनिषीधिका द्रष्टव्या, अपरोत्तरा वा  
पूर्वा वा उदीची वा पूर्वोत्तरा वा क्रमेण ॥१९६६॥

निषधाका लक्षण कहते हैं—

गा०—निषीधिका एकान्त स्थानमे होना चाहिये जहाँ दूसरे लोग उसे न देख सकते हो ।  
नगर आदिसे न अति दूर और न अति निकट होनी चाहिये । विस्तीर्ण होनी चाहिये । प्रासुक  
होनी चाहिये तथा अतिदृढ होनी चाहिये ॥१९६२॥

गा०—वह चीटियोसे रहित होनी चाहिये । अन्दर प्रवेश कराने वाले छिद्रोंसे रहित होनी  
चाहिये । प्रकाशवाली होनी चाहिये । समभूमि होनी चाहिये । गीली नहीं होनी चाहिये, जन्तु  
रहित होनी चाहिये । तिरछे छिद्रवाली नहीं होनी चाहिये तथा बाधारहित होनी चाहिये ॥१९६३॥

गा०—तथा वह निषीधिका क्षपकके स्थानसे पश्चिम-दक्षिण दिशामे या दक्षिण दिशामें  
या पश्चिम दिशामे हो तो उत्तम होती है ॥१९६४॥

गा०—यदि निषीधिका पश्चिम-दक्षिण दिशामे हो तो सर्व संघको समाधिलाभ होता  
है । यदि दक्षिण दिशामे हो तो संघको आहार लाभ सुलभ होता है । यदि पश्चिम दिशामे हो  
तो संघका विहार सुखपूर्वक होता है तथा उपकरणोका लाभ होता है ॥१९६५॥

गा०—यदि उक्त दिशाओंमें निषीधिका निर्माणमे बाधा हो तो क्रमशः पूर्व दक्षिणमें,  
पश्चिम-उत्तरमें, पूरबमें या उत्तरमें या पूर्वोत्तरमें होना चाहिये ॥१९६६॥

१ एता टीकाकारो नेच्छति । अतिसुइ-आ०, अभिसुआ-मु० । २. अहरिदा मु० । ३. अबला आ० ।

४. उवणिज्जइ आ०; वणिज्जइ -मु० ।

एदासु फलं कमसो जाणेज्ज तुमंतुमा य कलहो य ।

मेदो य गिलाणं पि य चरिमा पुण कड्ढदे अण्णं ॥१९६७॥

'एदासु' एतासु निधीषिकासु फलं क्रमशो विजानीयात् । 'तुमंतुमा य' पूर्वदक्षिणस्या स्पृष्टा अपः  
त्तरस्यां कलह, पूर्वस्यां भेदः उदोक्त्यां व्याधिः, पूर्वोत्तरस्यां अन्योन्म्येनापकृष्यते ॥१९६७॥

जं वेलं कालगदो भिक्खु तं वेलमेव णीहरणं ।

जग्गणबंधणछेदनविधी अवैलाए कादच्चा ॥१९६८॥

'जं वेलं कालगदो भिक्खु तं वेलमेव णीहरणं' यस्या वेलया मृतो भिक्षु तस्या वेलयामेवापनयन  
कर्तव्यं, अवैलाया मृतश्चेत् जागरणं बन्धन छेदनं वा कर्तव्यं ॥१९६८॥

के जागरण कुर्वन्तीत्याचष्टे—

बाले बुड्ढे सीसे तवस्सिभीरुगिलाणए दुहिदे ।

आयरिए य विक्किंचय धीरा जग्गति जिदणिहा ॥१९६९॥

'बाले बुड्ढे' बालवृद्धान्, शिक्षकान्, तपस्विन, भीरून्, व्याधितान्, दुःखितानाचार्याश्च अपाकृत्य  
धीरा जितनिद्रा जागरण कुर्वन्ति ॥१९६९॥

के बध्नतीत्याचष्टे—

गीदत्था कदकरणा महाबलपरक्कमा महासत्ता ।

बंधंति य छिंदंति य करचरणंगुट्टयपदेसे ॥१९७०॥

गा०—किन्तु पूर्व-दक्षिण दिशामे होनेसे 'मै ऐसा हूँ, तम ऐसे हो', इत्यादि रूप सघर्ष  
होता है। पश्चिमोत्तर दिशामे होनेसे कलह होता है। पूर्व दिशामे होनेसे सघमे भेद पड़ता  
है। उत्तर दिशामे होनेसे व्याधि होती है। पूर्वोत्तर दिशामे होनेसे परस्परमें खीचातानी  
हाती है। यह क्रमसे उक्त दिशाओमे निषद्या बनानेका फल है ॥१९६७॥

त्रिशोषार्थ—प० आशाधर जीने अपनी टीकामे लिखा है कि पूर्वोत्तर दिशामे निषद्या  
करनेसे बूसरे मुनिकी मृत्यु होती है ॥१९६७॥

गा०—जिस समय साधु मरे उसी समय उसे वहाँसे हटा देना चाहिये। यदि असमयमे  
मरा हो तो जागरण, बन्धन या छेदन करना चाहिये ॥१९६८॥

जागरण कौन करते हैं यह कहते हैं—

गा०—बालमुनि, वृद्ध मुनि, शिक्षक मुनि, तपस्वी मुनि, डरपोक मुनि, रोगी मुनि और  
दुःखित हृदय आचार्यों के सिवाय निन्द्रा को जीसनेवाले धीर मुनि जागरण करते हैं ॥१९६९॥

बाँधते कौन हैं, यह कहते हैं—

गा०—जो मुनि गृहीतार्थ होते हैं, जिन्होंने अनेक बार क्षपकोंका कर्म किया है, महाबल-

'गौहत्या' गृहीतार्थः, कृतकरणा महाबलपराक्रमा महासत्त्वा बध्नन्ति छिन्दन्ति च करधारणं अकृष्ट-  
प्रवेशं वा ॥१९७०॥

एवमकरणे को दोष इत्याशङ्क्यां दोषमाचष्टे—

जदि वा एस ण कीरेज्ज विधि तो तत्थ देवदा कोई ।

आदाय तं कलेवरमुद्धिज्ज रमिज्ज बाधेज्ज ॥१९७१॥

'जदि वा एस' यद्येष विधिर्न क्रियते कदाचिद्देवता क्रीडनशीला मृतकमादाय उत्तिष्ठेत् प्रधावेद्भमेत वा  
बाधयेद्वा तद्दर्शनात् बालादीनां वित्तसंक्षोभः पलायनं मरणं वा भवेत् ॥१९७१॥

'उयसयपडिदावण्णं उवण्णगहिदं तु तत्थ उवकरणं ।

सागारियं च दुविहं परिहारियमपरिहरियं वा ॥१९७२॥

जदि विक्खादा भत्तपहण्णा अज्जा व होज्ज कालमदो ।

देउलसागारित्ति व सिवियाकरणं पि तो होज्ज ॥१९७३॥

'जदि विक्खादा भत्तपहण्णा' यदि सर्वजनप्रकटा सल्लेखना आर्यिका वा भवेत् कालगता स्थानरक्षका  
गृहस्था वा तत्र शिविका कर्तव्या ॥१९७२॥१९७३॥

तेण परं संठाविय संथारगदं च तत्थ बंधित्ता ।

उट्टंतरक्खण्णदुं गामं तत्तो मिरं किच्चा ॥१९७४॥

तेन परं संस्थाप्य तेन मृतकेन संस्तरबन्धासतो मृतकबन्धनं कृत्वा ग्रामाभिमुखं शिरः कृत्वा उत्थान-  
रक्षणार्थं ॥१९७४॥

शाली, महापराक्रमी, महासत्त्वशाली वे मुनि मृतकके हाथ, पैर या अगूठेको बाँधते या छेदते  
हैं ॥१९७०॥

ऐसा नहीं करनेमें दोष कहते हैं—

गा०—यदि यह विधि न की जाये तो कोई मनो-विनोदी देवता मृतकको उठाकर दौड  
सकता है, क्रीडा कर सकता है, बाधा पहुँचा सकता है और उसे देखकर बालक आदि का वित्त  
चञ्चल हो सकता है, वे डरकर भाग सकते हैं और उनका मरण भी हो सकता है ॥१९७१॥

क्षपकके उपचारके लिये उपकरणोंके प्रकार बतलाते हैं—

गा०—कुछ उपकरण तो वसंतिकासे सम्बद्ध होते हैं। कुछ उपकरण गृहस्थ सम्बन्धी  
होते हैं। उनमेंसे कुछ त्याज्य होते हैं और कुछ त्यागने योग्य नहीं हैं ॥१९७२॥

अब आर्यिकाओंकी संन्यास विधि कहते हैं—

गा०—यदि भक्त प्रतिज्ञा मरण करने वाली विख्यात आर्यिका हो या कोई गृहस्था हो या  
स्थान की रक्षिका हो तो उसके लिये शिविका बनाना चाहिये ॥१९७३॥

गा०—शिविका बनानेके पश्चात् उसके शवको शिविकामे रखकर संस्तरके साथ उसे

१. एता टीकाकारो नेच्छति ।

पुष्पामोगिय मग्गेण आसु गच्छंति तं समादाय ।  
अट्टिदमणियत्ता य पिट्टदो अणिवमंता ॥१९७५॥

‘पुष्पामोगियमग्गेण’ पूर्वालोकितेन मार्गेण आसु गच्छन्ति तत्समादाय अस्थितं अनिवर्तमाना पृष्ठत-  
बालोकन मुक्त्वा ॥१९७५॥

कुसमुट्ठिं घेत्तूण य पुरदो एगेण होइ गंतव्वं ।  
अट्टिदअणियत्तंतेण पिट्टदो लोयणं मुच्चा ॥१९७६॥

‘कुसमुट्ठिं घेत्तूण’ कुशमुष्टिं गृहीत्वा पुरस्तादेकेन गन्तव्यं, अस्थितं अनिवर्तमानेन अपृष्ठावलोक-  
किना ॥१९७६॥

तेण कुसमुट्ठिधाराए अव्वोच्छिण्णाए समणिपादाए ।  
सथारो कादव्वो सव्वत्थ समो सणि तत्थ ॥१९७७॥

‘तेण कुसमुट्ठिधाराए’ तेन पुरस्ताद्गतेन पूर्वानिरूपितनिषीधिकास्थाने कुशमुष्टिधारया अव्युच्छिन्नया  
समनिपातया सवत्र सम’ सस्तरं कार्यं सकृत्तत्र ॥१९७७॥

जत्थ ण होज्ज तणाइं चुण्णेहिं वि तत्थ केमरेहिं वा ॥  
संघरिदव्वा लेहा सव्वत्थ समा अव्वुच्छिण्णा ॥१९७८॥

‘जत्थ ण होज्ज तणाइं’ यत्र न लभ्यन्ते कुशतृणानि तत्र चूर्णैर्वा केसरैर्वा सस्तरं कार्यं सर्वत्र  
समोऽव्युच्छिन्न ॥१९७८॥

बाँध देना चाहिये जिससे वह उठ न सके । उसका सिंग गाँवकी ओर रहना चाहिये ॥१९७४॥

गा०—उस गिचिकाको लेकर पहले देखे हुए मार्गसे शीघ्र जाते हैं । न तो मार्गमें रुकते हैं  
और न पीछेकी ओर देखते हैं ॥१९७५॥

गा०—उसके आगे एक मुट्टीमें कुश लेकर कोई मनुष्य जाना चाहिये । उसको भी न तो  
मार्ग में रुकना चाहिये और न पीछे देखना चाहिये ॥१९७६॥

गा०—उस आगे गये पुरुषको पहलेसे देखे गये निषीधिकाके स्थानमें जाकर लगातार  
मुट्टीसे एक समान कुश डालते हुए एक सस्तर बनाना चाहिये जो सर्वत्र सम हो ॥१९७७॥

गा०—जहाँ कुश न मिलते हों वहाँ प्रासुक चावल आदिके चूर्णसे अथवा प्रासुक केसरसे  
सस्तर बनाना चाहिये जो सर्वत्र सम हो ॥१९७८॥

विशेषार्थ—गाथामे ‘लेहा’ पाठ है उसका अर्थ रेखा होता है । अतः आशाघर जीने  
उसका यह अर्थ किया है कि चूर्ण या केसरसे मस्तकसे लेकर पैर तक समान रेखा बनाना चाहिये ।  
हमारी समझके अनुसार यह वह क्रिया है जिसे चौक पूरना कहते हैं । जो सर्वत्र शुभ क्रियामे  
किया जाता है ॥१९७८॥

असमत्वे दोषमाचष्टे—

जदि विसमो संचारो उवर्णि मज्जे व होज्ज हेद्वा वा ।

मरणं गिलाणयं वा गणिवसमजदीण णायच्वा ॥१९७९॥

'जदि विसमो संचारो' यदि विषम संस्तर उपरिष्ठात् मध्ये अधस्ताद्वा । उपरिविषम्ये गणिनो मरणं व्याधिर्वा, मध्ये विषमश्चेत् वृषभस्य मरणं व्याधिर्वा, अधस्ताद्विषमत्वे यतीर्ना मरणं व्याधिर्वा ॥१९७९॥

जत्तो दिसाए गामो तत्तो सीसं करित्तु सोवधियं ।

उट्ठं तरक्खणट्ठं वोसरिदब्बं सरीरं तं ॥१९८०॥

'जत्तो दिसाए गामो' यस्या दिशि ग्राम तत शिरः कृत्वा सपिच्छकं शरीर व्युत्स्रष्टव्य, उत्थानरक्षणार्थं ग्रामादिगमभिमुखतया शिरोरचना ॥१९८०॥

उपकरणस्थापनाया तत्र गुणमाचष्टे—

जो वि विराधिय दंमणमंते कालं करित्तु होज्ज सुरो ।

सो वि विबुज्जदि दट्ठूण सदेहं सोवधि सज्जो ॥१९८१॥

'जो वि विराधिय' योऽपि दर्शन विनाशयान्ते कालगतस्सुरो भवेत् सोऽपि जानाति सोपकरण स्वदेहं दृष्ट्वा प्रागह संयत इति ॥१९८१॥

णत्ता भाए रिक्खे जदि कालगदो सिवं तु 'सच्चोसिं ।

एक्को दु समे खेत्ते दिवद्धखेत्ते मरंति दुवे ॥१९८२॥

सस्तरेके विषम होनेपर दोष कहते हैं—

गा०—यदि संस्तर ऊपर मध्यमें या नीचे विषम होता है तो ऊपरमें विषम होनेपर आचार्य का मरण या उन्हे रोग होता है । मध्यमें विषम होनेपर एलाचार्यका मरण या उन्हे रोग होता है । और नीचे पैरके पास विषम होनेपर अन्य साधुओंका मरण या उन्हे रोग होता है ॥१९७९॥

विशेषार्थ—आशाधर जी ने लिखा है कि उक्त व्याख्यान टीकाकारोंका है । किन्तु टिप्पणकमे कहा है—ऊपरमें विषम होनेपर गणिका मरण होता है । मध्यमें विषम होनेपर एलाचार्यको रोग होता है और नीचेमें विषम होने पर साधुओंको रोग होता है ॥१९७९॥

गा०—जिस दिशामें ग्राम हो, उस ओर सिर करके पीछीके साथ उस शवको रख देना चाहिये । शवके उठनेके भयसे उसका सिर गाँवकी ओर किया जाता है ॥१९८०॥

उपकरण (पीछी) स्थापित करनेके गुण कहते हैं—

गा०—जो सम्यक्त्वकी विराधना करके मरकर देव होता है वह भी पीछीके साथ अपना शरीर (शव) देखकर ही यह जान लेता है कि मैं भी पूर्वभवमे संयमो था ॥१९८१॥

गा०—अल्पनक्षत्रमें यदि क्षपकका मरण होता है तो सबका कल्याण होता है । यदि

१ सच्चोसिं—अ० आ० । २. एक्को दु सो मरिज्ज वत्ते दिहद्दु खित्ते मरंति दुवो—आ० ।

‘सदभिसभरणा अहा सादा असलेस्स जिहु अवरवरा ।  
रोहिणिबिसाहपुणव्वसु तिउत्तरा मज्झिमा सेमा ॥१९८३॥

‘जत्ता भाणे रिक्खे’ अल्पनक्षत्रे यदि क्षपकः काल गत सर्वेभ्यः शिवं भवति, मध्यमनक्षत्रे यदि मृतः  
अभ्येष्वेको मृतिमुपैति, महानक्षत्रे यदि मृतो द्वयोर्भवति मरणं ॥१९८२-१९८३॥

गणरक्खणत्थं तम्हा तणमयपडिबिंबयं खु कादूण ।  
एक्कं तु समे खेत्ते दिवद्धखेत्ते दुवे देज्ज ॥१९८४॥

‘गणरक्खणत्थं’ गणरक्षणार्थं तस्मात्तुणमय प्रतिबिम्बक कृत्वा मध्यमनक्षत्रे एक दद्यात् । उत्तमनक्षत्रे  
प्रतिबिम्बद्वयं ॥१९८४॥

प्रतिबिम्बदानमाचष्टे—

तट्ठाणसावणं चिय तिक्खुत्तो ठविय मडयपासम्मि ।  
विदियवियप्पिय भिक्खु कुज्जा तह विदियतदियाणं ॥१९८५॥

‘तट्ठाणसावणं’ मृतकपाश्वे तत्प्रतिबिम्बं स्थाप्य त्रिकमुच्चैर्घोषयेत्, तस्मिन्स्थाने द्वितीयोर्जपित इति  
एकार्पणेश्य क्रमः । द्वयो प्रतिबिम्बयोरर्पणे द्वितीयतृतीयौ दत्ताविति त्रि श्रावयेत् ॥१९८५॥

मध्यम नक्षत्रमें मरण होता है तो शेष साधुओंमेंसे एकका मरण होता है । यदि महानक्षत्रमें मरण  
होता है तो दो का मरण होता है ॥१९८२॥

गा०—शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा ये जघन्य नक्षत्र है । रोहिणी,  
विशाखा, पुनर्वसु, उत्तरा फाल्गुनी, उत्तरा भाद्रपद, उत्तराषाढा ये उत्कृष्ट नक्षत्र है । शेष नक्षत्र  
मध्यम है ॥१९८३॥

विशेषार्थ—पं० आशाधर जी ने कहा है, अल्प नक्षत्रसे मतलब है जो पन्द्रह मुहूर्त तक  
रहते हैं । ऐसे शतभिषक्, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा इन छहमेंसे एक नक्षत्र या  
उसके अंशमें मरण होनेपर सबका कल्याण होता है । जो नक्षत्र तीस मुहूर्त तक रहते हैं ऐसे  
अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढा,  
श्रवण, घनिष्ठा, पूर्वभाद्रपद, रेवती, इनमेंसे किसी एक नक्षत्र या उसके अंशमें मरण होनेपर एक  
अन्य मुनिकी भी मृत्यु होती है । जो नक्षत्र पैंतालीस मुहूर्त तक रहते हैं ऐसे उत्तर फाल्गुनी,  
उत्तराषाढा, उत्तरा भाद्रपदा, पुनर्वसु, रोहिणी, विशाखामेंसे किसी एक नक्षत्र या उसके अंशमें  
मरण होनेपर दो अन्य मुनियोंकी भी मृत्यु होती है ॥१९८३॥

गा०—इस लिये संघकी रक्षाके अभिप्रायसे तूणोंका पुतला बनाकर यदि मध्यम नक्षत्रमें  
मरण हुआ है तो उसके साथ एक पुतला देवे । यदि उत्तम नक्षत्रमें मरण हुआ तो उसके साथ दो  
पुतले देवें ॥१९८४॥

गा०—टी०—मृतकके पासमें उस पुतलेको स्थापित करके तीन बार उच्च स्वरसे घोषणा  
करे कि मैंने उस दूसरेके स्थानमें यह दूसरा स्थापित किया है । जिसके स्थानमें यह पुतला स्थापित

१. एषा गाथा नास्ति ‘आ०’ प्रती ।

असदि तणे चुण्णेहिं च केसरच्छारिद्रियादिचुण्णेहिं ।  
कादच्योथ ककारो उवरिं द्विट्ठा चकारो से ॥१९८६॥

‘असदि तणे’ प्रतिबिम्बकरणार्थमसति तुणे चूर्णेः पुष्पकेसरैर्वा भस्मना इष्टकाचूर्णैर्वा उपरि ककारं लिखित्वा तस्याधस्तात् तकारं कुर्यात् क्त इति लिखेदित्यर्थः ॥१९८६॥

उवगहिदं उवकरणं हवेज्ज जं तत्थ पाडिहरियं तु ।  
पाडिबोधिन्ता सम्मं अप्पेदच्चं तयं तेसिं ॥१९८७॥

‘उवगहिदं उवकरणं’ मृतकशयने यद्गृहीतमुपकरणं बस्त्रकाष्ठादिकं गृहस्थयाञ्चां कृत्वा तत्रोपकरणेन यत्प्रतिनिवर्तनीयं बस्त्रादिकं तत्पाडिहारिकमित्युच्यते । तत्रपीयतस्य तेषां गृहस्थानां सम्यक्प्रतिबोध्य ॥१९८७॥

आराधणपत्तीयं काउसग्गं करेदि तो संघो ।  
अविउत्ताए इच्छागारं खवयस्स वसवीए ॥१९८८॥

‘आराधणपत्तीयं’ आराधनास्माकमित्येवं यथा स्यादिति संघं कायोत्सर्गं करोति, क्षपकस्य वसती अधियुक्तदेवतां प्रति इच्छाकारं कार्यं युष्माकमिच्छया संघोऽप्राप्तितुमिच्छतीति ॥१९८८॥

सगणत्थे कालगदे खमणमसज्जाइयं च तद्विसं ।  
णज्जाइ परगणत्थे भयणिज्जं खमणकरणंयि ॥१९८९॥

‘सगणत्थे कालगदे’ आत्मीयगणत्थे यती कालं गते उपवासः कार्यः स्वाध्यायश्च न कर्तव्यस्तस्मिन्

किया है वह चिरकाल तक जीवित रहकर तपस्या करे । यह एक पुतला देनेका विधान है । दो पुतले स्थापित करने पर तीन वार घोषणा करे कि मैंने दूसरा और तीसरा पुतला स्थापित किया है । ये दोनों जिनके बदलेमे स्थापित किये है वे दोनों साधु चिरकाल तक जीवित रहकर तप करे ॥१९८५॥

गा०—यदि पुतला बनानेके लिये तूण न हो तो ईंट पत्थर आदिके चूर्णसे अथवा, केशर, क्षार वगैरहसे ऊपर ककार लिखकर उसके नीचे तकार लिखे । इस प्रकार ‘क्त’ अक्षर लिखे ॥१९८६॥

गा०—टी०—मृतककी शय्याके निर्माणके लिये गृहस्थोंसे जो वस्त्र काष्ठ आदि लिया गया हो, उनमेंसे जो लौटा देने योग्य हो उसे पाडिहारिक कहते हैं । उस पाडिहारिकको गृहस्थोंको सम्यक् रीतिसे समझा बुझाकर लौटा देना चाहिये ॥१९८७॥

गा०—हमें भी इसी प्रकार आराधनाकी प्राप्ति हो इस भावनासे संघ एक कायोत्सर्ग करे । तथा क्षपककी वसतिकाकी जो अधिष्ठात्री देवता हो उसके प्रति इच्छाकार करे कि आपकी इच्छासे संघ इस स्थानपर बैठना चाहता है ॥१९८८॥

गा०—टी०—अपने संघके साधुका स्वर्गवास होनेपर उस दिन उपवास करना चाहिये और

१-२. य कारो वा० मु० । ३. त काय इति -आ० मु० । ४. सज्जाइ -मु० ।

दिने । परगणस्थे कालं गते पठन्ति उपवासकरणमपि भाष्यं । अन्ये तु पठन्ति, 'न ज्ञाहा परगणस्थे' 'स स्वाध्यायः कर्तव्यः परगणस्थे मृते उपवासकरणीयं भाष्यमिति तेषां व्याख्या ॥१९८९॥

**एवं पङ्क्तिविद्या पुणो वि तदियदिवसे उवेकसंति ।**

**संघस्स सुहविहारं तस्स गदी वेव ञादुं जे ॥१९९०॥**

'एवं पङ्क्तिविद्या' उपतेन क्रमेण क्षपकशरीरं प्रतिष्ठाप्य मुक्तस्तुतीये दिवसे गत्वा पश्यन्ति, संघस्य सुखविहारं तस्य च गतिं ज्ञातुं ॥१९९०॥

**जदि दिवसे संचिद्दुदि तमणालद्धं च अक्खदं मडयं ।**

**तदिवासाणि सुभिक्षं खेमसिवं तम्हि रज्जम्मि ॥१९९१॥**

'जदि दिवसे' यावन्तो दिवसाः न वृकादिभिरस्पृष्टमक्षतं च तन्मृतकं 'तदिवासाणि' तावन्ति वर्षाणि सुभिक्षा क्षेम शिव च तस्मिन् राज्ये ॥१९९१॥

**जं वा दिसमुवणीदं सरीरयं खगचदुप्पदगणेहिं ।**

**खेमं सिवं सुभिक्षं विहरिज्जो तद्दिसं संघो ॥१९९२॥**

'जं वा दिसमुवणीदं' या वा दिशमुपनीतं शरीरं पक्षिभिरुचतुष्पदैर्वा ता दिशं संघो विहरेत् क्षेमादिव. तत्र ज्ञात्वा ॥१९९२॥

**जदि तस्स उत्तमंगं दिस्सदि दंता च उवरिगिरिसिहरे ।**

**कम्ममलविप्पमुक्को सिद्धिं पत्तोत्ति णादब्बो ॥१९९३॥**

'जदि तस्स उत्तमंगं' यदि तस्य शिरो दृश्यते वन्ता वा गिरिशिखरस्योपरि कर्ममलविप्रमुक्तः सिद्धिमसौ प्राप्त इति ज्ञातव्य ॥१९९३॥

स्वाध्याय नहीं करना चाहिये । दूसरे संघके साधुका मरण होनेपर स्वाध्याय तो नहीं ही करना चाहिये । उपवास कर भी सकते हैं, नहीं भी करते । अन्य ऐसा पढ़ते हैं कि दूसरे संघके साधुका मरण होनेपर स्वाध्याय करना चाहिये । उपवास कर भी सकते हैं नहीं भी करते ॥१९८९॥

गा०—उक्त प्रकारसे क्षपकका शरीर स्थापित करके तीसरे दिन जाकर देखते हैं कि संघका विहार सुखपूर्वक होगा या नहीं । तथा मृतककी गति अच्छी हुई या बुरी ॥१९९०॥

गा०—जितने दिनों तक वह सुख गौदड़ आदिसे सुरक्षित रहता है उतने वर्षों तक उस राज्यमें सुभिक्ष और शान्ति रहती है ॥१९९१॥

गा०—अथवा पक्षी और पशुओंके द्वारा वह शरीर जिस दिशामें ले जाया गया ही क्षेम-सुभिक्ष आदि जानकर उसी दिशामें संघको विहार करना चाहिये ॥१९९२॥

गा०—यदि उसका सिर और दात पर्वतके शिखरके ऊपर दिखाई दे तो वह मुक्तिको प्राप्त हुआ है, ऐसा जानना चाहिये ॥१९९३॥



वैमाणिजो धलगदो समम्मि जो दिसि य वाणवितरजो ।

गड्ढाए भवणवासी एस गदी से समासेण ॥१९९४॥

'वैमाणिजो धलगदो' वैमानिको देवो जात उत्तमभूमिस्थे उत्तमाङ्गे, समभूमिदेशे यदि दृश्यते ज्योतिष्को व्यन्तरो जातः, यत्ने यदि दृश्यते भवनवासी देवो जातः, एषा गतिस्तस्य संक्षेपेण निरूपिता । विजहणसि सूत्र-पदं गत । विजहणा ॥१९९४॥

आराधकस्तवनमुत्तरं ते सुरा भगवतो—

ते सुरा भयवतो आहञ्चद्दूण संघमज्झम्मि ।

आराधणापडाया चउप्पयारा भिदा जेहिं ॥१९९५॥

'ते सुरा भगवतः आहञ्चद्दूण' प्रतिक्रा कृत्वा संघमध्ये चतुष्प्रकाराधना पताका यैरामुह्यता ॥१९९५॥

ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो य तेहिं सन्वेहिं ।

आराधणा भयवदी पडिवण्णा जेहिं संपुण्णा ॥१९९६॥

'ते धण्णा' पुण्यवन्तः । ते ज्ञानिनः, ते लब्धलाभा, सर्वेभ्यो यैराराधना भगवतो सपूर्णा प्रति-पन्ना ॥१९९६॥

किं णाम तेहिं लोगे महानुभावेहिं हुज्ज ण य पत्तं ।

आराधणा भगवदी सयला आराधिदा जेहिं ॥१९९७॥

'किं णाम तेहिं लाभे' किं नाम तैल्लोके महानुभागेरप्राप्तं यैराराधिता सकला आराधना भगवती ॥१९९७॥

विशेषार्थं—आशाधरजो ने 'कर्ममल विप्रमुक्त' का अर्थ मिथ्यात्व आदि स्तोत्र कर्मों से मुक्त किया है । तथा लिखा है कि जयनन्दिके टिप्पणमें 'सिद्धि' का अर्थ सवार्थसिद्धि किया है । किन्तु प्राकृतटीकामें सिद्धिका अर्थ निर्वाण किया है ॥१९९९॥

गा०—टी०—यदि मृतकका मस्तक उन्नत भूमिभागमें दिखाई दे तो वह मरकर वैमानिक देव हुआ जानना । यदि सम भूमिभागमें दिखाई दे तो वह ज्योतिष्क देव या व्यन्तर हुआ जानना । यदि गह्वरे दिखाई दे तो वह भवनवासी देव हुआ जानना । इस प्रकार यह उसकी गति संक्षेपमें कही है ॥१९९४॥

आगे आराधक क्षपकका स्तवन करते हैं—

गा०—जिन्होंने संघके मध्यमें प्रतिज्ञा करके चार प्रकारकी आराधना रूप पताकाको ग्रहण किया वे शूरवीर और पूज्य हैं ॥१९९५॥

गा०—जिन्होंने भगवती आराधनाको सम्पूर्ण किया वे पुण्यशाली और ज्ञानी हैं और उन्होंने जो प्राप्त करने योग्य था उसे प्राप्त कर लिया ॥१९९६॥

गा०—जिन्होंने सम्पूर्ण भगवती आराधनाका आराधन किया उन महानुभावोंने लोकमें क्या प्राप्त नहीं किया ॥१९९७॥

निर्यापकस्तवनमुत्तर—

ते वि य महानुभावा घण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स ।

सव्वादरसचीए उवविहिदाराधणा सयल्ल ॥१९९८॥

'ते वि य महानुभावा' तेजपि च महाभागा धन्या यस्तथा तस्य क्षपकस्य सर्वादरेण शक्या च सकलाराधना उपविहिता ॥१९९८॥

निर्यापकाना फलमाचष्टे—

जो उवविधेदि सव्वादरेण आराधणं खु अण्णस्स ।

संपज्जदि णिविग्घा सयल्ल आराधणा तस्स ॥१९९९॥

'जो उवविधेदि' यो ढोकयति सर्वादरेण अन्यस्याराधना तस्य आराधना सकला निर्विघ्ना संपद्यते ॥१९९९॥

ये क्षपकप्रक्षणाय यान्ति तानपि स्तोति—

ते वि कदत्था घण्णा य हुत्ति जे पावकम्ममलहरणे ।

ण्हायंति खवयतित्थे सव्वादरभत्तिसंजुत्ता ॥२०००॥

'ते वि कदत्था' तेजपि कृतार्था धन्याश्च भवन्ति ये क्षपकतीर्थे पापकर्ममलापहरणे सर्वादराभियुक्ता स्नान्ति ॥२०००॥

क्षपकस्य तीर्थता व्याचष्टे—

गिरिणदियादिपदेसा तित्थाणि तवोधणेहिं जदि उमिदा ।

तित्थं कधं ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवउ ॥२००१॥

आगे निर्यापककी प्रशसा करते है—

गा०—वे महानुभाव भी धन्य हैं जिन्होंने सम्पूर्ण आदर और शक्तिसे उस क्षपककी आराधना सम्पन्न की ॥१९९८॥

निर्यापकोंको प्राप्त होनेवाले फलको कहते हैं—

गा०—जो निर्यापक सम्पूर्ण आदरके साथ अन्यकी आराधना कराता है—उसकी समस्त आराधना निर्विघ्न पूर्ण होती है ॥१९९९॥

जो क्षपकको देखने जाते है उनकी भी प्रशसा करते हैं—

गा०—टी०—क्षपक एक तीर्थ है क्योंकि संसारसे पार उतारनेमें निमित्त है। उसमें स्नान करनेसे पापकर्म रूपी मल दूर होता है। अतः जो दर्शक समस्त आदर भक्तिके साथ उस महातीर्थमें स्नान करते है वे भी कृतकृत्य होते है तथा वे भी सौभाग्यशाली हैं ॥२०००॥

क्षपकके तीर्थ होनेका समर्थन करते हैं—

गा०—यदि तपस्विद्योके द्वारा सेवित पहाड़ नदी आदि प्रदेश तीर्थ होते है तो तपस्वारूप गुणोकी राशि क्षपक स्वयं तीर्थ क्यों नहीं है ॥२००१॥

‘गिरिषद्विधाविपदेशा’ गिरिनद्यादिप्रदेशा बद्धि तपोधनैरुचितानि तीर्थानि तीर्थं स्वयं कथं न भवेत् क्षपकस्तपोगुणराशिः ॥२००१॥

पुष्करिणीं पडिमाओ बंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं ।

स्वयस्स बंदओ किह पुण्णं बिउलं ण पाविज्ज ॥२००२॥

‘पुष्करिणीं पडिमाओ’ पूर्ववा ऋषीणां प्रतिष्ठा बंदमानस्य यदि पुण्यं भवति क्षपके वन्दनोद्यतः कथं विपुल पुण्यं न प्राप्नुयात् ॥२००२॥

जो ओलग्गादि आराधयं सदा तिप्पवमत्तिसंजुचो ।

संपज्जदि णिव्विग्घा तस्स वि आराहणा सयला ॥२००३॥

‘जो ओलग्गादि आराधयं’ यस्सेवते आराधक सदा तीर्थभक्तिसयुक्त, संपद्यते निर्विघ्ना तस्याप्याराधना सकला ॥२००३॥

सविचारभक्तबोसरणमेवमुववण्णिदं सवित्थारं ।

अविचारभक्तपच्चवस्साणं एत्तो परं बुच्छं ॥२००४॥

‘सविचारभक्तबोसरण’ सविचारभक्तप्रत्याख्यानमेवमुपवर्णितं सविस्तर अविचारभक्तप्रत्याख्यानं अतः परं प्रवक्ष्यामि ॥२००४॥

तत्थ अविचारभक्तपहण्णा मरणम्मि होइ आगाढो ।

अपरक्कम्मस्स मुण्णिओ कालम्मि असंपुहुत्तम्मि ॥२००५॥

‘तत्थ अविचारभक्तपहण्णा’ अविचारभक्तप्रत्याख्यानं सहसोपस्थिते मरणे भवति । अपराक्रमस्य यतेः सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य काले असति ॥२००५॥

तत्थ पढमं णिरुद्धं णिरुद्धतरयं तथा हवे विदियं ।

तदियं परमणिरुद्धं एवं तिविधं अवीचारं ॥२००६॥

‘तत्थ पढमं णिरुद्धं’ तत्र अवीचारभक्तप्रत्याख्याने प्रथमं निरुद्ध, द्वितीयं निरुद्धतरक, तृतीयं परम-निरुद्ध एव त्रिविधमवीचारभक्तप्रत्याख्यान ॥२००६॥

गा०—यदि प्राचीन ऋषियोकी प्रतिमाओंकी वन्दना करनेवालेको पुण्य होता है तो क्षपक की वन्दना करने वालोको विपुल पुण्य क्यों नहीं प्राप्त होगा ॥२००२॥

गा०—जो तीर्थ भक्तिपूर्वक क्षपककी सेवा करता है उसकी भी सम्पूर्ण आराधना सफल होती है ॥२००३॥

गा०—इस प्रकार विस्तारसे विचारपूर्वक किये गये भक्तप्रत्याख्यानका कथन किया । आगे अविचार भक्तप्रत्याख्यानका कथन करते हैं ॥२००४॥

गा०—जब विचार पूर्वक भक्तप्रत्याख्यान करनेका समय न रहे, और सहसा मरण उपस्थित हो जाये तो कुछ करनेमें असमर्थ मुनि अविचार भक्त प्रत्याख्यान स्वीकार करता है ॥२००५॥

गा०—अविचार भक्तप्रत्याख्यानके तीन भेद हैं—प्रथम निरुद्ध, दूसरा निरुद्धतर और तीसरा परमनिरुद्ध ॥२००६॥

निरुद्धमेवंभूतस्य भगवतीत्याचष्टे—

तस्स निरुद्धं भणिदं रोगादंकेहिं जो समभिभूदो ।

जंघाबलपरिहीणो परगणगमणम्मि ण समत्थो ॥२००७॥

‘तस्स निरुद्धं भणिदं’ तस्य निरुद्धमुक्त रोगेण आतङ्केन वा यस्समभिभूत. जङ्घाबलपरिहीणो वा परगणगमनासमर्थो य ॥२००७॥

जावय बलविरियं से सो विहरदि ताव णिप्यडीयारो ।

पञ्छा विहरदि पडिजग्गिज्जंतो तेण सगणेण ॥२००८॥

‘जावय बलविरियं’ यावद्बलवीर्यं चास्ति । ‘से’ तस्य । ‘सो विहरात’ स तावद्गणे प्रवर्तते निष्प्रतीकार. यदा शक्तिस्तीव्रभ्यूता तदा पश्चाद्विहरति तेन स्वगणेन क्रियमाणोपकार ॥२००८॥

इय सण्णिरुद्धमरणं भणियं अण्हारिमं अवीचारं ।

सो चेव जभाजोग्गं पुम्बुत्तविघी हवदि तस्स ॥२००९॥

‘इय सण्णिरुद्धमरणं भणियं’ एव सन्निरुद्धमरणं भणित, जङ्घाबलपरिहीनतया व्याध्यभिभवेन वा स्वस्मिन्गणे निरुद्धो यस्तस्य मरणं निरुद्धमरणं । ‘अण्हारिमं’ सविचारभक्तप्रत्याख्यानोक्तपरित्यागाभावात्, परित्यागहीन अनियतविहाराविधिविचारणाभावादवीचार । आत्मीय एव गणे आचार्यस्म्य समीपे प्रव्रज्याती-चार उक्त्वा निन्दागर्हापरः कृतप्रतिक्रम. कृतप्रायश्चित्तो यावद्वीर्यमस्ति तावन्निष्प्रतीकारो विहरति, यदा हीनसर्वश्रेष्ठस्तदा परैरनुगृह्यमाणो विहरति ॥२००९॥

निरुद्ध किसके होता है, यह कहते हैं—

गा०—जो रोगसे ग्रस्त है, पैरोमें चलनेकी शक्ति न होनेसे दूसरे सधमे जानेमे असमर्थ है उसके निरुद्ध नामक अविचार प्रत्याख्यान होता है ॥२००७॥

गा०—जबतक उसमे शक्ति रहती है तबतक वह अपने संघमे रहते हुए किसीसे परिचर्या नहीं कराता । पीछे शक्तिहीन होनेपर अपने संघके द्वारा परिचर्या कराता हुआ विहरता है ॥२००८॥

गा०—टी०—पैरोमें चलनेकी शक्ति न होनेसे तथा रोगसे ग्रस्त होनेके कारण जो अपने ही सधमे निरुद्ध है—रुका है उसके मरणको निरुद्धमरण कहते हैं । इस प्रकार निरुद्धमरणका स्वरूप कहा है । सविचार भक्तप्रत्याख्यानमें जिस प्रकार संघ आदिका त्याग किया जाता है वह इसमें संभव न होनेसे यह मरण परित्यागसे रहित है । और इसमें अनियत विहार आदि विधिका विचार न होनेसे यह अवीचार है । अर्थात् अपने ही संघमें आचार्यके समीपमें दीक्षा लेकर उनसे अपने दोष कहकर अपनी निन्दा और गर्हा करता है, प्रतिक्रमण करता है, प्रायश्चित्त लेता है । और जब तक शक्ति रहती है तब तक दूसरेकी सहायताके बिना अपनी आराधना करता है । जब शक्ति अत्यन्त हीन हो जाती है तब दूसरोसे सहायता लेकर अपनी आराधनाओंका पालन करता है ॥२००९॥

द्विविधं तं पि अणीहारिमं पगासं च अप्पमासं च ।

जणपादं च पगासं इदं च जणेण अप्पपादं ॥२०१०॥

‘द्विविधं तं पि अणीहारिमं’ द्विविधं तदपि अणीहारसंशितं भक्तप्रत्याख्यानं प्रकाशरूपमप्रकाशरूपमिति ।  
ज्ञातं प्रकाशरूपमितरवप्रकाशात्मकं ॥२०१०॥

स्वयस्स चित्तसारं खिचं कालं पडुच्च सज्जं वा ।

अण्णम्मि य तारिस्सयम्मि कारणे अप्पगासं तु ॥२०११॥

‘स्वयस्स चित्तसारं’ क्षपकस्य बुद्धि, बलं, क्षेत्रं, कालं, स्वजनं वा प्रतिपद्य अन्यस्मिन्वा तादृशे  
कारणे जाते अप्रकाशभक्तप्रत्याख्यानं, यदि क्षपकः क्षुवादिपरीषहासहः, वसतिर्था अबिबिक्ता, कालो वा  
अतिरुक्षो, बधवो वा यदि परित्यागविघ्न कुर्वन्ति न प्रकाशः कार्यं । चिरद्वं गवं ॥२०११॥

निरुद्धतरंगं व्याचष्टे—

बालगिबग्घमहिसगयरिंछपडिणीय तेण मिच्छेहिं ।

मुच्छाविसूचियादीहिं होज्ज सज्जो हु बावत्ती ॥२०१२॥

‘बालगिबग्घमहिस’ व्यालेनाग्निना, व्याघ्रेण, महिषेण, गजेन, ऋक्षेण, शत्रुणा, स्तेनेन, म्लेच्छेन,  
मूर्च्छया, विसूचिकादिभिर्वा मद्यो व्यापतिर्भवेत् ॥२०१२॥

जाव ण वाया किस्सयदि बलं च विरियं च जाव कायम्मि ।

तिव्वाए वेदणाए जाव य चित्तं ण विक्खित्तं ॥२०१३॥

‘जाव ण वाया किस्सयदि’ यावद्वाग्नि विनश्यति बल वीर्यं च यावदस्ति काये तीव्रया वेदनया यावच्चित्तं  
न व्यासिप्तं भवति तावत् ॥२०१३॥

गा०—टी०—वह अनिहार नामक भक्तप्रत्याख्यान, जिसमें अपना संघ नहीं छोड़ा जाता है, और इसीलिये जिसे स्वगणस्थ भी कहा जाता है, दो प्रकार है—एक प्रकाशरूप और दूसरा अप्रकाशरूप । जो लोगोके द्वारा ज्ञात होता है वह प्रकाशरूप है और जिसकी लोगोको खबर नहीं होती, वह अप्रकाशरूप है ॥२०१०॥

गा०—टी०—क्षपकके मनोबल, क्षेत्र, काल अथवा स्वजन तथा इस प्रकारके अन्य कारणके होनेपर उसे दृष्टिमें रखकर अप्रकट भक्तप्रत्याख्यान होता है । अर्थात् यदि क्षपक भूख प्यास आदिकी परीषह सहनेमें असमर्थ होता है, या, वसति एकान्तमें नहीं होती, या ग्रीष्म आदि ऋतु होती हैं, या परिवारके लोग विघ्न कर सकते हैं तो समाधिकी प्रकट नहीं किया जाता ॥२०११॥

अब निरुद्ध समाधिकी विधि कहते हैं—

गा०—सर्प, आग, व्याघ्र, भंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर, म्लेच्छ, मूर्छा या विसूचिका आदि रोगसे तत्काल यदि मरण उपस्थित हो ॥२०१२॥

गा०—तो जब तक बोलो बन्द न हो, जब तक शरीरमें बल और शक्ति रहे, और जब तक तीव्र वेदनाके कारण चित्त व्याकुल न हो ॥२०१३॥

णञ्चा संबद्धिज्जंतमाउगं सिग्धमेव तो भिक्खु ।

गणियादीणं सण्णहिदाणं आलोचए सम्मं ॥२०१४॥

‘णञ्चा संबद्धिज्जंतं आउगं’ ज्ञात्वा संहियमाणमायुः शीघ्रमेव ततो भिक्षुराचार्यादीना सन्निहितानामालोचना सम्पक् कुर्यात् रत्नत्रयाराधनायां परिणतः । व्युत्सृजेत् बसति, सस्तरमाहारमुपधि शरीरं परिचारकान्, बलवीर्यं हानेः परगणगमनासमर्थाः ‘निरुद्धा’ प्रदेशाः प्रकर्षेण निरुद्धतरक इत्युच्यते ॥२०१४॥

एवं निरुद्धतरयं विदियं अणिहारिमं अवीचारं ।

सो वैव जघाजोगं पुब्बुत्तविधी हवदि तस्स ॥२०१५॥

स्पष्टार्थगाथा । निरुद्धरं ॥२०१५॥

बालादिएहिं जइया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया ।

तइया परमणिरुद्धं भणिदं मरणं अवीचारं ॥२०१६॥

‘बालादिएहिं’ ब्यालादिभिः पूर्वोक्तैः यद्योपहृतस्य वाग्बिनष्टा तदा परिमनिरुद्धमरण । वाग्निरोधोऽत्र परमशब्देनोच्यते ॥२०१६॥

णञ्चा संबद्धिज्जंतमाउगं सिग्धमेव तो भिक्खु ।

अरहंतसिद्धसाहूण अंतिगं सिग्धमालोचे ॥२०१७॥

‘णञ्चा संबद्धिज्जंतं आउगं’ ज्ञात्वोपसंहियमाणमायु अर्हता सिद्धाना माधूना चान्तिके शीघ्रमालोचनाः कुर्यात् ॥२०१७॥

गा०—साधु, अपनी आयुको शीघ्र ही समाप्त होती हुई जानकर जो निकटवर्ती आचार्य आदि हो, उनके सन्मुख अपने दोषोकी सम्पक् रूपमे आलोचना करे । तथा रत्नत्रयकी आराधनामे तत्पर होता हुआ बसति, संस्तर, आहार, उपाधि, शरीर और परिचारकोसे ममत्वका त्याग कर दे । बल और वीर्यके क्षीण होनेसे जिनके प्रदेश अन्य सधमे जानेमे अत्यन्त असमर्थ होते है उन्हें निरुद्धतरक कहते हैं ॥२०१४॥

गा०—इस प्रकार विहार रहित अत्यन्त निरोध रूप अविचार भक्तप्रत्याख्यानके दूसरे भेद निरुद्धतरका कथन किया । पूर्वमे भक्त प्रत्याख्यानकी जो विधि कही है वही विधि यथायोग्य यहाँ भी जानना ॥२०१५॥

गा०—जब पूर्वोक्त सर्प आदिसे डसे जानेके कारण क्षपककी वाणी नष्ट हो जाती है, वह बोल नहीं सकता तब उसके परम निरुद्ध नामक अविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है । यहाँ परम शब्दसे वाणीका रुकना कहा है ॥२०१६॥

गा०—तब वह साधु शीघ्र ही अपनी आयुको समाप्त होती हुई जान अर्हन्तो, सिद्धो और साधुजनोंके पासमें तत्काल आलोचना करे ॥२०१७॥

आराधनाविधी जो पुष्पं उववञ्जिदो सचित्तारो ।

सो चैव जुज्जमाणो एत्थ विही होदि णादब्बो ॥२०१८॥

‘आराधनाविधी’ आराधनाया विधेयं पूर्वं विस्तारो व्यावर्णितः स एवात्रापि युज्यमानो ज्ञातव्यः ॥२०१८॥

एवं आसुक्कारमरणे वि सिज्जन्ति केइ धुदकम्मा ।

आराधयित्तु केइ देवा वैमाणिया ह्वेति ॥२०१९॥

‘एवं आसुक्कारमरणे वि’ एव सहसा मरणेऽपि तिष्ठन्ति विषुतकर्मसंहतयः । केचिदाराध्य वैमानिका देवा भवन्ति ॥२०१९॥

आराधणाए तत्थ दु कालस्स बहुत्तणं ण हु पमाणं ।

बहवो मुहुत्तमत्ता संसारमहण्णवं तिण्णा ॥२०२०॥

कथमल्पेन कालेन निवृत्तिर्मान्येत्याद्यङ्का न कार्येति वदति—‘आराधणाए तत्थ दु’ तस्यामाराधनायां कालस्य बहुत्वं न प्रमाण । बहवो मुहूर्तमात्रेणाराध्य संसारमहर्णवं शीर्णाः ॥२०२०॥

खणभेत्तेण अणादियमिच्छादिद्धी वि बद्धणो राया ।

उसहस्स पादमूले संबुज्जित्ता गदो सिद्धि ॥२०२१॥

‘खणभेत्तेण’ क्षणमात्रेणानादिमिथ्यादृष्टिरपि बद्धेननामभेयो राजा ऋषभस्य पादमूले संबुद्धो गतः सिद्धि ॥२०२१॥

‘सोलसत्तिथयराणं तित्थुप्पण्णास्स पढमदिबसम्मि ।

सामण्णजाणसिद्धी मिण्णमुहुत्तेण संपण्णा ॥२०२२॥

परमणिवद्धं ॥२०२२॥

गा०—पूर्वमे जो आराधनाकी विधि विस्तार पूर्वक कही हैं वही यहाँ भी यथायोग्य जानना ॥२०१८॥

गा०—इस प्रकार सहसा मरण होनेपर भी कोई-कोई मुनि कर्मोंको नाश करके मुक्त होते हैं और कोई आराधना करके वैमानिक देव होते हैं ॥२०१९॥

गा०—थोड़े ही समयमे मोक्ष कैसे हो सकता है ऐसी आशका नहीं करना चाहिये; क्योंकि आराधनामे कालका बहुतपना प्रमाण नही है । बहुतसे मुनि एक मुहूर्त मात्रमे आराधना करके संसारसमुद्रको पार कर गये हैं ॥२०२०॥

गा०—अनादि मिथ्यादृष्टि भी बद्धेन नामका राजा भगवान् ऋषभदेवके पादमूलेमे बोध को प्राप्त होकर मोक्षको गया ॥२०२१॥

गा०—भगवान् ऋषभदेवसे शान्तिनाथ तीर्थंकर पर्यन्त सोलह तीर्थंकरोंके तीर्थकी उत्पत्ति होनेके प्रथम दिन ही बहुतसे साधु दीक्षा लेकर एक अन्तमुहूर्तमे केवलज्ञानको प्राप्तकर मुक्त हुए ॥२०२२॥

१ एतां टीकाकारो नेच्छति ।

११०

एसा भक्तपद्विष्णा वाससमासेण वणिज्जा विधिणा ।

इत्तो इंगिणिमरणं वाससमासेण वण्णेसिं ॥२०२३॥

‘एसा भक्तपद्विष्णा’ एतद्भक्तप्रत्याख्यानं व्यासेन संक्षेपेण च वर्णित । अत ऊर्ध्वं सांन्यासि-  
कर्मिणिणीमरणं व्याससमासाभ्यां वर्णयिष्यामि ॥२०२३॥

जो भक्तपद्विष्णाए उवक्कमो वणिज्जो सवित्थारो ।

सो खेव जधाजोग्गं उवक्कमो इंगिणीए वि ॥२०२४॥

‘जो भक्तपद्विष्णाए’ यो भक्तप्रत्याख्यानस्य उपक्रमो व्यावर्णित सविस्तार स एव यथासंभवमुपक्रमो  
इंगिणीमरणेऽपि ॥२०२४॥

पव्वज्जाए सुद्धो उवसंपज्जित्तु लिंगकप्पं च ।

पवयणमोगाहिता विणयसमाधीए विहरित्ता ॥२०२५॥

‘पव्वज्जाए सुद्धो’ प्रव्रज्याया सुद्धो दीक्षाग्रहणयोग्य इत्यर्थः । एतेन अर्हता निरूपिता । ‘उव-  
संपज्जित्तु’ प्रतिपद्य । ‘लिंगकप्पं च’ योग्यं लिङ्गं ‘लिंगं’ इत्यनेन सूचितम् । ‘पवयणमोगाहिता’ श्रुतमवगाह्य  
एतेन शिक्षा उपन्यस्ता । ‘विणयसमाधीए विहरित्ता’ विनयसमाधी विहृत्य ॥२०२५॥

गिप्पादिता सगणं इंगिणिविधिसाधणाए परिणमिया ।

सिदिमारुहित्तु भाविय अप्पाणं सल्लिहित्ताणं ॥२०२६॥

‘गिप्पादिता सगणं’ योग्यं कृत्वा स्वगणं । इंगिणीविधिसाधनाय परिणतो भूत्वा, ‘सिदिमारुहित्तु’  
परिणामार्थं गिमारुह्य । ‘भाविय’ भावना प्रतिपद्य । ‘अप्पाणं सल्लिहित्ताणं’ आत्मानं सलेख्य ॥२०२६॥

गा०—इस भक्तप्रत्याख्यानका विस्तार और संक्षेपसे विधिपूर्वक कथन किया । आगे  
इ गिनीमरण का विस्तार और संक्षेपसे वर्णन करेगे ॥२०२३॥

गा०—जो भक्त प्रत्याख्यानकी विधि विस्तारसे कही है वही विधि इंगिनीमरणकी यथा-  
योग्य जाननी चाहिये ॥२०२४॥

वही विधि कहते हैं—

गा०—जो दीक्षा ग्रहणके योग्य है वह निग्रन्थ लिंग धारण करके श्रुतका अभ्यास करे  
तथा विनय और समाधिमें विहार करे ॥२०२५॥

विशेषार्थ—दीक्षा ग्रहण योग्यसे अर्हताका कथन किया है, लिंगसे लिंगकी सूचना की है ।  
और श्रुताभ्याससे शिक्षाका ग्रहण किया है । इस प्रकार भक्तप्रत्याख्यानमें जो कहा था उसीको  
यहाँ कहा है ॥२०२५॥

गा०—अपने संघको इंगिनीमरणकी विधिकी साधनामें योग्य करके अपने चित्तमें यह  
निश्चय करे कि मैं इंगिनीमरणकी साधना करूँगा । फिर शुभ परिणामोकी श्रेणि पर आरोहण  
करके तप आदिकी भावना करे और अपने शरीर और कषायोको कृश करे ॥२०२६॥



परियाङ्गमालोचिय अणुजाणित्ता दिसं महजणस्स ।

तिविधेण खमावित्ता सवालवुट्टाउलं गच्छं ॥२०२७॥

‘परियाङ्गमालोचिय’ क्रमेण रत्नत्रयाचारमालोच्य । ‘अणुजाणित्ता’ अनुज्ञाय । ‘दिसं’ गणधरं । ‘महजणस्स’ महाजनस्य चतुर्विधसंघस्येत्यर्थः । ‘तिविधेण खमावित्ता’ त्रिविधेण क्षमां प्राहयित्वा । सवाल-वृद्धाकुलं गच्छं ॥२०२७॥

अणुसट्ठि दादूण य जावज्जीवाय विप्पओगच्छी ।

अम्मदिगजादहासो णीदि गणादो गुणसम्मगो ॥२०२८॥

‘अणुसट्ठि दादूण य’ शिक्षां दत्त्वा गणपतेर्गणस्य च । ‘जावज्जीवाय विप्पओगच्छी’ यावज्जीवं विप्र-योगार्थी । ‘अम्मदिगजादहासो’ कृतार्थोऽस्मीति जातहर्षः । ‘णीदि गणादो’ नियतिं यतिगणात् । ‘गुणसम्मगो’ संपूर्णगुणः ॥२०२८॥

एवं च णिककमित्ता अंतो बाहिं व थंडिले जोगे ।

पुढवीसिलामए वा अप्पाणं णिज्जवे एक्को ॥२०२९॥

‘एवं च णिककमित्ता’ एव विनिष्क्रम्य । ‘थंडिले जोगे’ समे समुत्पत्ते कठिने जीवरहिततया योग्ये । ‘अंतो बाहिं व’ अंतर्बाहिर्वा । ‘पुढवीसिलामए वा’ पृथ्वीसस्तरे शिलामये वा । ‘अप्पाणं णिज्जवे एक्को’ आत्मान निर्जयं दे देहसहाय ॥२०२९॥

पुव्वुत्ताणि तणाणि य जाचित्ता थंडिलम्मि पुव्वुत्ते ।

जदणाए संथरित्ता उत्तरसिरमधव पुव्वसिरं ॥२०३०॥

‘पुव्वुत्ताणि तणाणि य’ पूर्वोक्तानि तृणानि निस्सधि निःछिद्रजंतुरहितानि शरीरस्थितिसाधनमा-त्राणि मूढनि प्रतिलेखनायोग्यानि ग्राम नगर वा प्रविष्य याश्चया गृहीतानि पूर्वोक्ते स्थण्डिले कोऽसौ सालोकः

गा०—रत्नत्रयमे लगे दोषोकी क्रमसे आलोचना करे और अपने स्थान पर अन्य आचार्य-की स्थापना करके उन्हे सब बतला दे । तथा चतुर्विध वृद्ध मुनियोसे भरे अपने गच्छको शिक्षा देकर जीवनपर्यन्तके लिये संघसे अलग होनेकी इच्छा करता हुआ प्रसन्न होता है कि मैं कृतार्थ हुआ और इस प्रकार वह सम्पूर्ण गुणोसे विशिष्ट होकर मुनिसंघसे चला जाता है ॥२०२७-२८॥

गा०—इस प्रकार संघसे निकलकर गुफा आदिके अन्दर या बाहर जीवरहित तथा समान रूपसे ऊँचे कठिन भूमिप्रदेशमें पृथ्वीरूप संस्तर पर या शिलामय संस्तर पर एकाकी आश्रय लेता है । अपने शरीरके सिवाय उसका अन्य कोई सहायक नहीं होता ॥२०२९॥

गा०—टी०—वह गाँव या नगरमें जाकर तृणोंकी याचना करता है जो तृण छिद्ररहित, जन्तुरहित, कोमल तथा शरीरकी स्थितिके लिये साधन मात्र और प्रतिलेखनाके योग्य होने चाहिये उन तृणोको वह उक्त भूमि प्रदेश पर प्रतिलेखनापूर्वक सावधानतासे पृथक्-पृथक् करके

विस्तीर्णो विध्वस्त. असुखिरोऽबिलः निर्जन्मुकस्तस्मिस्थण्डिले । 'अवणाए सखरिसा' यत्नेन संस्तरं कृत्वा । .  
यत्न. ? तुणानां पृथक्करणं संस्तरभूमिप्रतिलेखन, 'उत्तरसिरमवव पुष्पसिरं संघारं संघरिसा य' पूर्वोत्त-  
भाङ्गमुत्तरोत्तमाङ्गं वा संस्तरं संस्तीर्यं शिर' प्रभृति कार्यं पादौ च यत्नेन प्रमाज्यं ॥२०३०॥

**पाचीणाभिमुद्धो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा ।  
सीसे कदंजलिपुद्धो भावेण विसुद्धलेस्सेण ॥२०३१॥**

'पाचीणाभिमुद्धो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा' प्राङ्मुखो उदङ्मुखो वा भूत्वा तत्र सस्तरं  
सत्थित्वा । 'सीसे कदंजलिपुद्धो' मस्तके न्यस्तकृताङ्गलि. । 'भावेण विसुद्धलेस्सेण' विशुद्धलेष्यासमन्वितेन  
भावेन ॥२०३१॥

**अरहादिअंतियं तो किच्चा आलोचणं सुपरिसुद्धं ।  
दंसणणाणचरिसं परिसारेदूण णिस्सेसं ॥२०३२॥**

'अरहादिअंतियं' अर्द्धवाद्यन्तिकं । 'तो' पश्चात् आलोचनां कृत्वा सुपरिसुद्धं 'दंसणणाणचरिसं पडि-  
सारेदूण' दर्शनज्ञानचारिणाणि संस्कृत्य निरवशेष ॥२०३२॥

**सव्वं आहारविधिं जावज्जीवाय वोसरित्ताणं ।  
वोसरिदूण असेसं अब्भंतरवाहिरे गंथे ॥२०३३॥**

सर्वं आहारविधिं सर्वं आहारविकल्प । यावज्जीव परित्यज्य बाह्याभ्यन्तरानवेषान् परिग्रहाश्च  
त्यक्त्वा ॥२०३३॥

**सव्वे विणिज्जिणंतो परीपहे धिदिबलेण संजुत्तो ।  
लेस्साए विरुज्जंतो धम्मं ज्झाणं उवणमित्ता ॥२०३४॥**

'सव्वे विणिज्जिणंतो' सर्वाश्च जयन् परिग्रहान् घृतिबलसमन्वित लेष्याभिविशुद्धं सन् धर्मध्यान  
प्रतिपद्य ॥२०३४॥

फेला देता है । वह भूमिप्रदेश भी प्रकाश सहित, विस्तीर्ण, छिद्ररहित तथा जन्तुरहित होना  
चाहिये । उसपर सस्तर ऐसा होना चाहिये जिसमें सिर पूर्वदिशा या उत्तर दिशाकी ओर रहे ।  
तब सिरसे लेकर पैर तक शरीरका सावधानीसे परिमार्जन करके पूरब या उत्तरकी ओर मुख  
करके उस सस्तर पर बैठता है और हाथोंकी अजली बनाकर मस्तकसे लगाता है तथा विशुद्ध  
लेष्या पूर्वक अर्हन्त आदिके सामने अपने दोषोंकी आलोचना करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और  
सम्यक्चारित्र को पूर्ण रूपसे निर्मल करता है ॥२०३०-२०३२॥

गा०—समस्त प्रकारके आहारके विकल्पको जीवनपर्यन्तके लिये त्याग देता है तथा  
समस्त अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रहको त्याग देता है ॥२०३३॥

गा०—वैयंके बलसे युक्त वह क्षपक सब परीषहोंको जीतता है और लेष्या विशुद्धिसे  
सम्पन्न हो, धर्मध्यान करता है ॥२०३४॥

ठिञ्चा णिसिदिप्ता वा तुवङ्गिदण व सकायपडिचरणं ।  
 सयमेव णिरुवसग्गे कुणदि विहारम्मि सो भयवं ॥२०३५॥  
 सयमेव अप्पणो सो करेदि आउंटणादि किरियाओ ।  
 उच्चारादीणि तथा सयमेव विक्किचिदे विधिणा ॥२०३६॥  
 जाघे पुण उवसग्गा देवा माणुस्सिया व तेरिञ्छा ।  
 ताघे णिप्पडियम्मो ते अधियासेदि वगदभओ ॥२०३७॥  
 आदितियसुसंघडणो सुभसंठाणो अभिज्जधिदिकवचो ।  
 जिदकरणो जिदणिदो ओषबलो ओषघरो य ॥२०३८॥

‘ठिञ्चा’ स्थित्वा आसित्वा शयनं वा कृत्वा स्वकायपरिकर स्वयमेव निरुपसर्गे विहारे करोति । स्वमेवात्मन करोत्याङ्कुचनादिका क्रिया उच्चारकादिक च निराकारोऽति प्रतिष्ठापनासमितिसमन्वित । ‘यदि पुण उवसग्गा’ यदा पुनरुपसर्गा दवमनुष्यतिर्यक्कृता भवन्ति तदा निष्प्रतीकारस्तान् सहते विगतभयः । ‘आदितियसुसंघडणो’ आद्येषु त्रिषु सहननेषु अन्यतमसंहनन शुभसस्थानोऽभेदाधुतिकवचो जितकरणो जितनिद्रो महाबलो नितरा शूरः ॥२०३५-२०३८॥

बीभत्थभीमदरिसणविगुञ्चिदा भूदरक्खसपिसाया ।

खोभिज्जो जादि वि तयं तघवि ण सो संभमं कुणइ ॥२०३९॥

‘बीभत्थभीमदरिसणविगुञ्चिदा’ बीभत्सभीमदर्शनविक्रिया भूतराक्षसपिशाचा यद्यपि क्षोभ कुर्वन्ति तथा प्यसो न सभ्रमं करोति ॥२०३९॥

इड्ढिमतुलं विउच्चिय किण्णरक्किपुरिसदेवकण्णाओ ।

‘लोलंति जादिवि तगं तघवि ण सो विम्भयं जाई ॥२४०॥

गा०—वह कायोत्सर्गसे स्थित होकर अथवा पर्यङ्कासन आदिसे बैठकर अथवा एक पार्श्व-से शयन करते हुए धर्मध्यान करता है। तथा उपसर्गरहित दशामे स्वयं ही अपने शरीरकी परिचर्या—हाथ-पैरोंका संकोचन, फैलाना आदि करता है। स्वयं ही प्रतिष्ठापना समितिपूर्वक शौच आदि करता है ॥ यदि देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यश्चकृत उपसर्ग होता है तो उसका प्रतिकार नहीं करता है और निर्भय होकर उसे सहन करता है ॥ क्योंकि उसके आदिके वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच नामक तीन शुभ संहननोमेसे कोई एक सहनन होता है, समचतुरस्र सस्थान होता है। न भेदने योग्य धैर्यरूपो कवच होता है। वह इन्द्रियों और निद्रा पर विजय प्राप्त करता है। महाबली और शूरवीर होता है ॥२०३५-३८॥

गा०—यदि अत्यन्त भयंकर विक्रियाके द्वारा भूत, राक्षस और पिशाच जातिके व्यन्तरदेव उसे डरावें तो भी वह विचलित नहीं होता ॥२०३९॥

'इन्द्रिमतुलं विगुण्विय' ऋद्रिमतुलां विकृत्य किन्नरकिपुरुषादिदेवकन्या यक्षप्युपलालनं कुर्वन्ति तदाप्यसौ न विस्मयं याति ॥२०४०॥

सख्यो योग्मलकाओ दुक्खसाए जदिवि तमुवणमेज्ज ।

तधवि य तस्स ण जायदि ज्झाणस्स विसोत्तिया को वि ॥२०४१॥

'सख्यो योग्मलकाओ' सर्वं पुद्गलद्रव्यं दुःखतया यदि तमभिहन्ति तथापि तस्य न जायते ध्यान-  
स्यान्यथावृत्तिः ॥२०४१॥

सख्यो योग्मलकाओ सोक्खसाए जदि वि तमुवणमेज्ज ।

तध वि हु तस्स ण जायदि ज्झाणस्स विसोत्तिया को वि ॥२०४२॥

स्पष्टोत्तरगाथा ॥२०४२॥

सच्चित्ते साहरिदो तत्थ उवेक्खदि वियत्तसव्वंगो ।

उवसग्गो य पसत्ते जदणाए थंडिल्लुवेदि ॥२०४३॥

'सच्चित्ते साहरिदो' व्याघ्रादिभिः सच्चित्ते निक्षिप्तं स तत्रैवोपेक्षते त्यक्तसर्वाङ्गं । उपसर्गं प्रशान्ति  
यत्नेन स्थण्डिलमुपैति ॥२०४३॥

एवं उवसग्गविधिं परीसहविधिं च सोधिया संतो ।

मणवयणकायगुत्तो सुणिच्छिदो णिज्जिदकसाओ ॥२०४४॥

'एवं उवसग्गविधिं' एवमुपसर्गान् परिषहाश्च सहमानस्त्रिगुप्तः सुनिश्चितो निश्चितकषायः ॥२०४४॥

इहलोए परलोए जीविदमरणे सुहे य दुक्खे य ।

णिप्पडिच्चदो विरहदि जिददुक्खपरिस्समो धिदिमं ॥२०४५॥

गा०—किन्नर किपुरुष जातिके व्यन्तर देवोकी देवांगनाएँ अतुल ऋद्रिरूप विक्रियाके द्वारा यदि उसे लुभाती हैं तो भी वह उनके लोभमें नहीं आता ॥२०४०॥

गा०—यदि तीन लोकवर्ती समस्त पुद्गल द्रव्य दुःखरूप परिणत होकर उसे दुःखी करे तब भी वह ध्यानसे विचलित नहीं होता ॥२०४१॥

गा०—तथा तीन लोकवर्ती समस्त पुद्गलद्रव्य सुखरूप परिणत होकर उसे सुखी करे तब भी वह ध्यानसे विचलित नहीं होता ॥२०४२॥

गा०—यदि व्याघ्र आदिके द्वारा वह हरित तूणोंसे भरे हुए प्रदेशमें डाल दिया जाता है तो अपने शरीरका मोहत्याग शान्तभावसे वहीं स्थिर रहता है और उपसर्ग द्वार होनेपर सावधानता पूर्वक तूणरहित भूमिप्रदेशमें चला आता है ॥२०४३॥

गा०—इस प्रकार उपसर्गों और परीषहोंको सहन करते हुए वह मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्तिका पालन करता है । तथा स्थिरतापूर्वक कषायोंको जीतता है ॥२०४४॥

गा०—दुःख और परिश्रमपर विजय प्राप्त करने वाला वह धीर वीर क्षपक इस लोक,

'इहलोकं परलोकं' इह परत्र च जीविते मरणे सुखे दुःखे च अप्रतिबन्धो विहरति जितदुःखपरिभ्रमः  
बुद्धिमान् ॥२०४५॥

वायणपरियङ्गणपुच्छणाओ मोक्षं तद्यथ धम्मथुदि ।  
सुत्तथपोरिसीसु वि सरेदि सुत्तथमेयमणो ॥२०४६॥

'वायणपरियङ्गणपुच्छणाओ' वाचनां, परिवर्तनं, प्रसन्नं च मुक्त्वा च तथा धर्मोपदेशं सूत्रस्यार्थस्य वा  
स्मरत्येकचित् ॥२०४६॥

एवं अट्टवि जामे अनुवट्ठो तच्च जग्गादि एयमणो ।  
जदि आघच्चा णिहा हविज्ज सो तत्थ अपदिण्णो ॥२०४७॥

'एवं अट्टवि जामे' एवमेवाष्टसु यामेषु निरस्तशयनक्रियो ध्यात्येकचित्, यद्याहृत्य निद्रा भवेत् तत्र  
अप्रतिज्ञोऽसौ ॥२०४७॥

सज्झायकालपडिलेहणादिकाओ ण संति किरियाओ ।  
जम्हा मसाणमज्झे तस्स य ज्ञाणं अपडिसिद्धं ॥२०४८॥

'सज्झायकाः पडिलेहणादिकाओ' स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिका क्रिया न सन्ति यस्मात् समशानमध्येऽपि  
तस्य ध्यान न प्रतिषिद्ध ॥२०४८॥

आवासगं च कुणदे उवधोकालम्मि जं जहिं कमदि ।  
उपकरणं पि पडिलिहइ उवधोकालम्मि जदणाए ॥२०४९॥

'आवासगं च कुणदे' आवश्यकं च करोति कालद्वयेऽपि यस्मिन्काले प्रवर्तते, उपकरणप्रतिलेखनमपि  
यत्नेन कालद्वये करोति ॥२०४९॥

परलोक, जीवन, मरण, सुख और दुःखमें रागद्वेष रहित होकर विहरता है अर्थात् न जीवन  
आदिसे राग करता है और मरण आदिसे द्वेष करता है ॥२०४५॥

गा०—स्वाध्यायके पाँच भेदोमेसे वाचना, आम्नाय, पुच्छना और धर्मोपदेशको त्यागकर  
वह अस्वाध्यायकालमे भी एकाग्रमनसे सूत्रके अर्थका ही अनुचिन्तन करता है । अर्थात् सतत  
अनुप्रेक्षारूप स्वाध्यायमें ही लीन रहता है ॥२०४६॥

गा०—इस प्रकार वह दिन रातके आठों पहरोमें निद्राको त्यागकर एकाग्र मनसे ध्यान  
करता है । यदि कभी बलात् निद्रा आ जाती है तो सो लेता है ॥२०४७॥

गा०—अन्य मुनियोंकी तरह न तो उनका स्वाध्यायकाल ही नियत होता है और न उन्हें  
प्रतिलेखना आदि क्रिया करना ही आवश्यक होता है । उनके लिये स्मशानमें भी ध्यान करना  
निषिद्ध नहीं है ॥२०४८॥

गा०—किन्तु दिन रातमे जब जो आवश्यक करनेका विधान है वह अवश्य करते हैं और  
सावधानता पूर्वक दोनों कालोंमें अपने उपकरणोंकी प्रतिलेखना भी करते हैं ॥२०४९॥

सहसा चुक्करकलिदे णिसीधियादीसु मिच्छकारे सो ।

आसिअणिसीधियाओ णिग्गमणपवेशणे कुणइ ॥२०५०॥

‘सहसा चुक्करकलिदे’ सहसा स्खलने जाते मिथ्या मया कृतमिति ब्रवीति, निष्कमणप्रवेशयो आसि-  
कानिषीधिकाशब्दप्रयोगं करोति ॥२०५०॥

पादे कंटयमादिं अन्छिम्मि रजादियं जदावेज्ज ।

गच्छदि अघाविधिं सो परणीहरणे य तुण्हिक्को ॥२०५१॥

‘पादे कंटयमादिं’ पादयो कटकप्रवेशे नेत्रयो रजःप्रमृतिप्रवेशेऽपि तूष्णीमास्ते, परनिराकरणेऽपि स  
तूष्णीमास्ते ॥२०५१॥

वेउच्चणमाहारयचारणखीरासवादिलद्धीसु ।

तवसा उप्पण्णासु वि विरागभावेण सेवदि सो ॥२०५२॥

‘वेउच्चणमाहारय’ विक्रियाऋद्धौ आहारकऋद्धौ चारणऋद्धौ क्षीरासवादिलब्धिषु वा तपसोत्पन्ना-  
स्वपि विरागतया न किञ्चित्सेवते स ॥२०५२॥

मोणाभिग्गहणिरदो रोगादंकादिवेदणाहेदु ।

ण कुणदि पडिकारं सो तहेव तण्हाछुहादीणं ॥२०५३॥

‘मोणाभिग्गहणिरदो’ मौनव्रतोपपन्न रोगातङ्कादिवेदनानिमित्तं प्रतीकारं न करोति तथैव तृडा-  
दीनामपि ॥२०५३॥

उवएसो पुण आइरियाणं इंगिणिगदो वि छिण्णकधो ।

देवेहिं माणुसेहिं व पुट्ठो धम्मं कघेदित्ति ॥२०५४॥

गा०—यदि उसमे क्वचित् चूक जाते हैं तो ‘मेरा दोष मिथ्या हो’ ‘मेने गलत किया’ ऐसा बोलते है । तथा बाहर जाने और भीतर प्रवेश करनेपर ‘आसही, निसही’ शब्दोका उच्चारण भी करते हैं ॥२०५०॥

गा०—यदि पैरमे कांटा घुस जाता है या आँखमे धूल आदि चली जाती है तो चुप रहते है स्वयं उसे दूर नहीं करते । यदि दूसरा दूर करता है तब भी चुप ही रहते हैं ॥२०५१॥

गा०—यदि तपके प्रभावसे उन्हे विक्रिया ऋद्धि, आहारक ऋद्धि या चारण ऋद्धि अथवा क्षीरासव आदि ऋद्धियां प्रकट होती हैं तो विरागी होनेसे उनका किञ्चित् भी सेवन नहीं करते ॥२०५२॥

गा०—बह मौनका पालन करनेमे लीन रहते है, रोग आदिसे होनेवाले कष्टको दूर करनेका प्रयत्न नहीं करते । इसी प्रकार भूख प्यास आदिका भी प्रतीकार नहीं करते ॥२०५३॥

'उच्यते पुन आहरियात्' उपदेशः पुनः आचार्याणां इच्छित्ततोऽपि नैव कथयति वेदमनुष्ठीर्ना पृष्टः ।  
कथं कथयति छिन्नकथं प्रवर्ततेन महता ॥२०५४॥

एवमघक्खादविधिं साधिता इंगिणीं बुदकिलेसा ।

सिज्जति केइ केई इवति देवा विमाणेसु ॥२०५५॥

'एवमघक्खादविधिं' एवं यथाख्यातक्रमेण इच्छिणीं असाध्य निरस्तकलेसाः केचित्प्रयत्नित्, केचिद्वैमानिक-  
देवा भवन्ति ॥२०५५॥

एदं इंगिणिमरणं वाससभासेण वण्णिदं विधिण्ण ।

पाओगमरणमित्तो समासदो वेव वण्णेसि ॥२०५६॥

स्पष्टार्था गाथा । इच्छिणी ॥२०५६॥

पाओवगमणमरणस्स होदि सो वेव उचक्कमो सच्चो ।

वुत्तो इंगिणिमरणस्सुक्कमो जो सवित्थारो ॥२०५७॥

स्पष्टार्थः ॥२०५७॥

णवरिं तणसंथारो पाओवघदस्स होदि पडिसिद्धो ।

आदपरयओगेण य पडिसिद्धं सच्चपरियम्मं ॥२०५८॥

'णवरिं तणसंथारो' णवरं तुणसंस्तरं प्रायोपगमनगतस्य प्रतिबिम्बः, आत्मपरप्रयोगेण अस्मात्प्रतिबिम्बः  
सर्वः प्रतीकार । स्वपरसंपाद्यप्रतीकारपेक्ष. भक्तप्रत्याख्यानविधिः, परनिरपेक्षमात्मसंपाद्यप्रतीकारविधिणी-  
मरणं, सर्वप्रतीकाररहितं प्रायोपगमनमित्यमीषां भेदः ॥२०५८॥

गा०—अन्य आचार्यों का मत है कि इंगिणीमरण करते हुए भी अपक देवों या मनुष्योंके  
द्वारा पूछे जानेपर थोड़ासा धर्मोपदेश भी करता है किन्तु अधिक नहीं करता ॥२०५४॥

गा०—इस तरह ऊपर कहे अनुसार इंगिणीमरणकी साधना करके कोई तो समस्त  
क्लेशोंसे छूटकर मुक्त हो जाते हैं और कोई मरकर वैमानिकदेव होते हैं ॥२०५५॥

गा०—इस इंगिणीमरणका विस्तार और संक्षेपसे विधिपूर्वक कथन किया । आगे प्रायोप-  
गमनका संक्षेपसे कथन करेंगे ॥२०५६॥

गा०—ऊपर इंगिणीमरणकी जो विस्तारसे विधि कही है वही सब विधि प्रायोपगमन  
मरणकी होती है ॥२०५७॥

गा०—किन्तु इतना विशेष है कि प्रायोपगमनमें तुणोंके संघरेका-तुणशय्याका निषेध  
है । क्योंकि उसमें स्वयं अपनेसे और दूसरोंसे भी सब प्रकारका प्रतीकार करना करना निषिद्ध  
है ॥२०५८॥

टी०—भक्तप्रत्याख्यानमें तो अपनी सेवा स्वयं भी कर सकता है और दूसरोंसे भी  
करा सकता है । इंगिणीमें अपनी सेवा स्वयं कर सकता है, दूसरोंसे नहीं कर सकता । किन्तु

सो सल्लेहिददेहो अम्हा पाओवगमणहुवजादि ।

उच्चारादिविक्किञ्चमवि णत्थि पओगदो तम्हा ॥२०५९॥

‘सो सल्लेहिददेहो’ स सम्यक्कृत्तशरीरो यस्मात्प्रायोपगमनमुपयाति तस्मादुच्चारादिनिराकरणमपि नास्ति प्रयोगतः ॥२०५९॥

पुठवी आऊतेऊवणप्फदितसेसु अदि वि साहरिदो ।

वोसहु चत्तदेहो अघाउगं पालए तत्थ ॥२०६०॥

‘पुठवी आऊतेऊवणप्फदितसेसु अदि वि साहरिदो’ पृथिव्यादिषु जीवनिकायेषु यद्यपि केनचिदाकृष्ट-स्तथापि व्युत्सृष्टशरीरसंस्कारस्त्यक्तदेहः स्वमायुः पालयेत् ॥२०६०॥

मज्जणयगंघपुप्फोवयारपडिचारणे वि कीरंते ।

वोसहु चत्तदेहो अघाउगं पालए तघवि ॥२०६१॥

‘मज्जणयगंघपुप्फोवयारपडिचारणे वि कीरंते’ यद्यपि कश्चिदभिषेचयेत् गन्धपुष्पादिभिर्वा संस्तुयात् तथापि व्युत्सृष्टत्यक्तशरीरो न रुष्यति न तुष्यति न निवारयति ॥२०६१॥

वोसहु चत्तदेहो हु णिक्खिबेज्जो जहि जघा अंगं ।

जावज्जीवं तु सयं तहि तमंगं ण चालेदि ॥२०६२॥

‘वोसहु चत्तदेहो’ व्युत्सृष्टत्यक्तशरीरो निक्षिपेत् कश्चिदन्वस्मिन्यथाङ्गं यावज्जीवं स्वयं तस्मिन्स्तदङ्गं न चालयति ॥२०६२॥

एवं णिप्पडियम्मं भणंति पाओवगमणमरहंता ।

णियमा अणिहारं तं सिया य णीहारहुवसग्गे ॥२०६३॥

प्रायोपगमनमें अपनी सेवा न स्वयं करता है और न दूसरोसे कराता है। यही इन तीनोंमें भेद है ॥२०५८॥

गा०—यत जो अपने शरीरको सम्यक् रूपसे कृश करता है अर्थात् अस्थि चर्ममात्र शेष रहता है वही प्रायोपगमन मरण करता है। अतः मल मूत्रके स्वयं या दूसरेके द्वारा त्याग करानेका प्रवृत्त ही नहीं रहता ॥२०५९॥

गा०—यदि कोई उन्हें पृथ्वी, जल, तेज, वनस्पति और त्रस आदि जीवनिकायोंमें फेंक देता है तो शरीरसे ममत्व त्यागकर अपनी आयुके समाप्त होने तक वही पडे रहते हैं ॥२०६०॥

गा०—यदि कोई उनका अभिषेक करे या गन्ध पुष्प आदिसे पूजा करे तब भी शरीरसे ममत्व त्यागकर न रोष करते है, न प्रसन्न होते हैं और न उसे ऐसा करनेसे रोकते है ॥२०६१॥

गा०—शरीरसे ममत्वका त्याग करने वाला वह प्रायोपगमनका धारी क्षपक जिस क्षेत्रमें जिस प्रकारसे शरीरका क्नेई अंग रखा गया हो, उसको वैसा ही पडा रहने देता है, स्वयं अपने अंगको हिलाता डुलाता नहीं है ॥२०६२॥

गा०—इस प्रकार अरहतदेव प्रायोपगमनको स्व और परकृत प्रतीकारसे रहित कहते है ।



‘एवं विष्णुविहारं’ एवं स्वपरकृतप्रतीकाररहितं प्रायोपगमनं विना बह्विधं, निश्चयेन तत्प्रायोपगमन-  
मनीहारमफलं स्याच्चलमपि उपसर्गं परकृतं फलनवपेक्ष्य ॥२०६३॥

एतदेवोत्तरमायया स्पष्टयति—

उवसग्गेण वि साहरिदो सो अण्णत्थ कुण्णदि जं कालं ।  
तम्हा वुत्तं णीहारमदो अण्णं अणीहारं ॥२०६४॥

एतदेव स्पष्टयति ॥२०६४॥

पडिमापडिबण्णा वि हु करंति पाओवममणअप्पेये ।  
दीहद्धं विहरंता इंगिणिमरणं च अप्पेये ॥२०६५॥

‘पडिमापडिबण्णा वि हु’ प्रतिमाप्रतिपन्ना अपि एके प्रायोपगमनं कुर्वन्ति, एके इङ्गिणिमरणं ।  
पाठनं ॥२०६५॥

आगाढे उवसग्गे दुब्भिवस्से सच्चदो वि दुत्तारे ॥  
कदजोगि समधियासिय कारणजादेहिं वि मरंति ॥२०६६॥

‘आगाढे उवसग्गे’ उपसर्गं महति दुर्भिक्षे वा दुत्तारे जाते कृतयोगिनः परीषहसहा कारणजातमा-  
श्रित्य मरणे कृतोत्साहा भवन्ति । तस्यैव वस्तुन उदाहरणानि उत्तरभाषाभिस्सूच्यन्ते ॥२०६६॥

निश्चयसे प्रायोपगमनं अचलं होता है । किन्तु उपसर्गं अवस्थामें मनुष्यादिके द्वारा चलायमान  
किये जानेपर चल भी होता है अर्थात् स्वयं शरीरको न हिलानेसे तो अचल हो है किन्तु दूसरेके  
द्वारा हिलाने पर चल होता है ॥२०६३॥

आगेकी गाथासे इसीको स्पष्ट करते हैं—

गा०—उपसर्गं अवस्थामें एक स्थानसे उठाकर दूसरे स्थानमें डाल दिये जाने पर यदि वह  
कही मरण करता है तो उसे नीहार कहते हैं, और ऐसा नहीं होनेपर पूर्व स्थानमें ही मरण हो  
तो वह अनीहार कहाता है ॥२०६४॥

गा०—जिनकी आयुका काल अल्पशेष रहता है वे प्रतिमा योग धारण करके प्रायोपगमन  
करते हैं । और कुछ दीर्घकाल तक विहार करते हुए इंगिनीमरण करते हैं ॥२०६५॥

बिहोषार्थ—आशाधर जी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—कुछ तो सल्लेखना न  
करके ही कायोत्सर्ग पूर्वक प्रायोपगमन करते हैं और कोई चिरकाल तक उपवास करके प्रायोप-  
गमन करते हैं । इसी प्रकार इंगिणी भी जानना । अर्थात् उन्होंने दोनों मरणोंके दो-दो प्रकार  
कहे हैं । ऊपरके अर्थके अनुसार अल्प आयु वाले प्रायोपगमन करते हैं इसीसे वे अपने शरीरकी  
सेवा न स्वयं करते हैं न दूसरेसे कराते हैं । दीर्घ आयु शेष रहने वाले इंगिनीमरण करते हैं अतः  
वे अपने शरीरकी सेवा स्वयं तो करते हैं दूसरेसे नहीं कराते । उन्हें स्वयं मलमूत्रादि का त्याग तो  
करना होता ही है ॥२०६५॥

गा०—महान् उपसर्गं अथवा भयानक दुर्भिक्ष होनेपर परीषहोंको सहन करनेमें समर्थ  
मुनि अल्प भी मरणके कारण उपस्थित होनेपर उत्साहपूर्वक मृत्युका आर्त्तिलग्न करते हैं ॥२०६६॥

कोसलय चम्पसीहो अहं साधेदि गिदपुद्देण ।  
 गयरम्मि य कोल्लगिरे चंदसिदि विप्पजहिदुण ॥२०६७॥  
 पाडलिपुत्ते धूदाहेदुं मामयकदम्मि उवसग्गे ।  
 साधेदि उसमसेजो अहं विक्खाणसं किञ्चा ॥२०६८॥  
 अहिमारणं भिवदिम्मि मारिदे गहिदसमणस्सिणेण ।  
 उट्टाहपसमणत्थं सत्थग्गहणं अकासि गणी ॥२०६९॥  
 समडालयणं वि तच्चा सत्थग्गहणेज साधिदो अत्थो ।  
 वररुत्तपओग्गहेदुं रुहे णंदे महापउमे ॥२०७०॥  
 एवं पण्डितमरणं सवियप्यं वण्णिदं सवित्थारं ।  
 वुञ्छामि बालयंडियमरणं एत्तो समासेण ॥२०७१॥

आगेकी गाथाओंसे इसीके समर्थक उदाहरण देते हैं—

गा०—अयोध्या नगरीमें धर्मसिंह नामक राजाने अपनी चन्द्रश्री नामक पत्नीको त्यागकर दीक्षा धारण की । और अपने श्वसुरके भयसे कोल्लगिरि नगरमें हाथीके कलेवरमें प्रवेश करके आराधनाकी साधना की ॥२०६७॥

विशेषार्थ—बृ० क० कोशमें इसकी कथाका नम्बर १५४ है ।

गा०—पाटलीपुत्र नगरमें ऋषभसेन नामक श्रेष्ठीने अपनी पत्नीको त्यागकर दीक्षा ली । अपनी पुत्रीके स्नेहवश श्वसुरके द्वारा उपसर्ग किये जानेपर ऋषभसेनने स्वास रोककर साधना की ॥२०६८॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका क्रमांक १५५ है ।

गा०—श्रावस्ती नगरीके राजा जयसेनने बौद्धधर्म त्यागकर जैनधर्म धारण किया था । इससे कुपित होकर अहिमारक नामक बौद्धने उसे उस समय मार डाला जब वह आचार्य यस्ति-वृषभको नमस्कार कर रहा था । तब मुनिने अपना अपवाद दूर करनेके लिये शस्त्रसे अपना घात करते हुए साधना की ॥२०६९॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका क्रमांक १५६ है ।

गा०—पाटलीपुत्रमें मन्दराजाका मंत्री शकटाल था । उसने महापद्म सूरिसे जिन दीक्षा ग्रहण की । उसके विरोधी वररुचिने राजा महापद्मको रूठ करके शकटालको मारनेका प्रयत्न किया तो शकटाल मुनिने पद्म नमस्कार मंत्रका ध्यान करते हुए छुरीसे अपना पेट फाड़ डाला और इस प्रकार आराधनाकी साधना की ॥२०७०॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका नम्बर १५७ है ।

गा०—इस प्रकार भेद सहित पण्डितमरणका विस्तारसे कथन किया । आगे संक्षेपसे बाल-

पण्डितमरण । एवं पण्डितमरणं शक्तिरूपं अभिस्तारं व्याख्यातं; अथवापि बालपण्डितमरणमित्युक्तं संक्षेपेण ॥२०६७-२०७१॥

**देशेकदेशविरतो सम्भाविषी मरिज्ज बो जीवो ।**

**तं होदि बालपण्डितमरणं जिन्सासणे दिहुं ॥२०७२॥**

‘देशेकदेशविरतो’ सम्भासंयमप्रत्याख्यानस्मासमर्थः हिंसाकेदेशविरतः स्थूलभूतप्राणातिपातावि-  
पञ्चकादेशविरत इत्युच्यते । एकदेशविरतो नाम देशविरतमर्थेऽपि एकदेशाव्याप्तः सम्यग्दृष्टिर्भोजियते तस्य  
तद्बालपण्डितमरणं ॥२०७२॥

एतदेव स्पष्टयति—

**पंच य अणुव्वदाइं सत्तयसिक्खाउ देसज्जदिचम्मो ।**

**सव्वेण य देसेण य तेण जुदो होदि देसज्जदी ॥२०७३॥**

‘पंच य अणुव्वदाइं’ पञ्चाणुव्रतानि शिक्षाव्रतानि वा सप्त प्रकाराणि देशयतेऽर्थम् । तेन समस्तेन धर्मेण  
युत स्वशक्त्या वा तवेकदेशेन युतोऽपि देशविरतेव । इत्याविष्कृतिर्धर्मप्रत्यायनपराणि सूत्राण्युत्तराणि  
प्रसिद्धार्थानि ॥२०७३॥

**पाणवघमुसावादादात्तादाणपरदारगामणेहिं ।**

**अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाइं विरयणाइं ॥२०७४॥**

**जं च दिसावेरमणं अणत्थदंढेहिं जं च वेरमणं ।**

**देसावगासियं पि य गुणव्वयाइं भवे ताइं ॥२०७५॥**

पण्डितमरणका कथन करेंगे ॥२०७१॥

भा०—टी०—जो समस्त असंयमका त्याग करनेमें असमर्थ है स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल  
चोरी, स्थूल कुशील और स्थूल परिग्रह आदि पाँच पापोंका त्याग करता है उसे देशविरत कहते  
हैं । और जो देशविरतिके भी एक देशसे विरत होता है अर्थात् अपनी शक्तिके अनुसार हिंसादिका  
त्याग करता है ऐसा सम्यग्दृष्टि एक देशविरत कहा जाता है । इस प्रकार जो समस्त या एकदेश  
गृहस्थ धर्मका पालक श्रावक होता है उसके मरणको जिनागममें बालपण्डितमरण कहा  
है ॥२०७२॥

उसीको स्पष्ट करते हैं—

भा०—पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत ये देशसंयमी श्रावकका धर्म है । जो उस  
सम्पूर्ण श्रावक धर्मका पालक है अथवा अपनी शक्तिके अनुसार उसके एक देशका पालक है वह  
भी देशसंयमी ही है ॥२०७३॥

आगे वारह प्रकारके गृहीधर्मको कहते हैं जो प्रसिद्ध हैं—

भा०—हिंसा, असत्य, विनासी हुई वस्तुका ग्रहण, पर स्त्री गमन और इच्छाका अपरि-  
ग्रहण इनसे विरतिरूप पाँच अणुव्रत हैं ॥२०७४॥

भा०—विश्वविरति, अनर्थदण्डविरति, देसावकाशिक ये तीन गुणव्रत हैं ॥२०७५॥

योगार्थं परिसंज्ञा सामाह्यमतिहिसंविभायो य ।  
 षोडशविधि य सव्यो चतुरो सिक्खाउ वृत्ताओ ॥२०७६॥  
 आसुक्कारे मरणे अच्चोच्छिन्नाए जीविदासाए ।  
 जादीहि वा असुक्को पच्छिममन्लेहणमकासी ॥२०७७॥

'आसुक्कारे मरणे' सहसा मरणे अच्छिन्नायां जीविताशायां बन्धुभिर्वा न मुक्त. पश्चिमसल्लेखनाम-  
 कृत्वा कृतालोचनी निष्काल्यः स्वगृह एव संस्तरमाश्रय देशविरतस्य मृतिर्बालपण्डितमित्युच्यते ॥२०७५-७७॥

आलोचिदधिस्सन्लो सचरे वेवारुहितु संथारं ।  
 जदि मरदि देसविरदो तं वुत्तं बालपण्डिदयं ॥२०७८॥  
 जो भत्तपदिष्णाए उवक्कमो वित्थरेण णिहिट्ठो ।  
 सो चेव बालपण्डिदमरणे णेओ जहाजोग्गो ॥२०७९॥  
 वेमाणिएसु कप्पोवग्गेसु णियमेण तस्स उववादो ।  
 णियमा सिज्झदि उक्कस्सएण वा सत्तमम्मि भवे ॥२०८०॥  
 इय बालपण्डियं होदि मरणमरहंतसासणे दिट्ठु ।  
 एत्तो पण्डिदपण्डिदमरणं वोच्छं समासेण ॥२०८१॥

स्पष्टार्थां त्रयो गाथा । बालपण्डिदं ॥२०७८-२०८१॥

गा०—भोगपरिमाण, सामायिक, अतिथिसविभाग और प्रोषधोपवास ये चार शिक्षाव्रत  
 कहे हैं ॥२०७६॥

गा०—सहसा मरण उपस्थित होनेपर, जीवनकी आशा रहनेपर, अथवा परिजनोके द्वारा  
 मुक्त न किये जानेपर अन्तिम सल्लेखना धारण न करके, अपने दोषोकी आलोचना पूर्वक शल्य  
 रहित होकर अपने घरमे ही संस्तरपर स्थित होकर देशविरत श्रावकके मरणको बालपण्डित  
 मरण कहते हैं ॥२०७७॥

गा०—विधिपूर्वक आलोचना करके, माया मिथ्यात्व और निदान शल्यसे मुक्त होकर  
 अपने घरमें संस्तरपर आरूढ़ होकर यदि श्रावक देशविरत मरता है तो उसे बालपण्डित मरण  
 कहा है ॥२०७८॥

गा०—भक्तप्रत्याख्यानमें जो विधि विस्तारसे कही है वही सब विधि बालपण्डितमरणमें  
 यथायोग्य जानना ॥२०७९॥

गा०—बहु श्रावक मरकर नियमसे सौधर्मादि कल्पोपपन्न त्रैमानिक देवोंमें उत्पन्न होता  
 है और नियमसे अधिक से अधिक सात भवोंमें मुक्त होता है ॥२०८०॥

गा०—इस प्रकारके मरणको अरहन्त भगवान्के धर्ममें बालपण्डित कहा है । आगे संक्षेपसे  
 पण्डित पण्डितमरणको कहते हैं ॥२०८१॥

साह ब्रह्मचारी कर्तुं तो अप्पमत्तकालम्भि ।

ज्ज्ञाणं उवेदि धम्मं पविट्ठुकासो खवणसेहिं ॥२०८२॥

'साह ब्रह्मचारी' शास्त्रोक्तैः मार्गैः प्रवर्तमानस्याधुरप्रमत्तगुणस्थानकारके धम्मं ध्यानमुपैति क्षपकश्रेणिं प्रवेष्टुकामः ॥२०८२॥

ध्यानपरिकर बाह्यं प्रतिपादयति—

सुचिए सभे विविचे देसे णिज्जंतुए जणुण्णाए ।

उज्जुअआयददेहो अचलं बंधेषु पलिभंके ॥२०८३॥

'सुचिए सभे' सुचौ सभे एकान्तवेशे निर्जन्पुके अनुकृते तत्समाभिभिः ऋज्जायतवेह' पत्यङ्कमचलं बद्ध्वा ॥२०८३॥

वीरासणमादीयं आसणसमपादमादियं ठाणं ।

सम्मं अधिष्ठिदो वा सिज्जमुत्ताणसयणादि ॥२०८४॥

'वीरासणादिणं' वीरासनाविकभासनं बद्ध्वा समपादादिना स्थितो वा अथवा उत्तानसयनादिना वा वृत्तः ॥२०८४॥

पुब्बभणिदेण विधिणा ज्ज्ञादि ज्ज्ञाणं विसुद्धलेस्साओ ।

पवधणसमिण्णमदी मोहस्स खयं करेमाणो ॥२०८५॥

'पुब्बभणिदेण विधिणा' पूर्वोक्तेन क्रमेण ध्याने प्रवर्तते विशुद्धलेष्यः । प्रवचनार्थमनुप्रविष्टमतिः मोहनोयं क्षयं नेतुमुद्यतः ॥२०८५॥

संजोयणाकसाए खवेदि ज्ञाणेण तेण सो पढमं ।

मिच्छत्तं सम्मिस्सं कमेण सम्मत्तमवि य तदो ॥२०८६॥

'संजोयणाकसाए' अनन्तानुबन्धिना क्रोधमानमयालोभान् क्षययति ध्यानेन, तेनासौ प्रथमं विध्यात्वं,

शा०—शास्त्रोक्त मार्गसे प्रवृत्ति करता हुआ साधु क्षपक श्रेणिपर अरुद्ध होनेकी इच्छासे अप्रमत्त गुणस्थानमें धर्मध्यान करता है ॥२०८२॥

ध्यानकी बाह्य सामग्री कहते हैं—

शा०—पवित्र और जन्तुरहित एकान्त प्रदेशमें, उस स्थानके स्वामीकी आज्ञा प्राप्त करके, समभूमिभागमें शरीरको सीधा रखते हुए पल्पकासन बांधकर अथवा वीरासन आदि लगाकर, अथवा दोनों पैरोंको समरूपसे रखते हुए खड़े होकर अथवा ऊपरको मुझकर शयन करते हुए या एक करवटसे लेटकर पूर्वमें कही विधिके अनुसार विशुद्ध लक्ष्यापूर्वक मोहनीय कर्मका क्षय करनेमें तत्पर होता हुआ ध्यान करता है तथा चतुर्दश पूर्वों का अर्थ अथवा करनेसे उसकी बुद्धि निर्मल होती है अर्थात् उसके भूतमानावरणका प्रबल क्षयोपक्रम होता है ॥२०८३-२०८५॥

शा०—प्रथम ही वह उस ध्यानके द्वारा अनन्तानुबन्धी क्रोध बाध मया लोभका क्षय

सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व च क्रमेण एवं प्रकृतिसंस्कारं विनामय क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा क्षयकश्चेत्प्यधिरोहणा-  
भिमुखोऽधःप्रवृत्तकरणं अप्रमत्तस्थाने प्रतिपद्य ॥२०८६॥

अथ स्वययसेहिमविगम्य गुणैः साधु अपुञ्चकरणं सो ।

होइ तमपुञ्चकरणं कयाइ अप्यत्तपुञ्चति ॥२०८७॥

'अथ स्वययसेहिमविगम्य' अथ क्षयकश्चेत्पीमविगम्य करोति साधुरपूर्वकरणमसौ । किं तत्रपूर्व-  
करणमित्याशङ्क्यामुच्यते । 'होइ तमपुञ्चकरणं' अर्थात् तदपूर्वकरणं, 'कयाइ अप्यत्तपुञ्चति' कदाचिदप्राप्त-  
पूर्वमिति ॥२०८७॥

अणिवित्तिकरणणामं णवम गुणठाणयं च अधिमम्म ।

णिहाणिहा पयलापयला तथ धीणगिद्धि च ॥२०८८॥

'अणिवित्तिकरणणामं णवमं गुणठाणयमधिमम्म' अनिवृत्तिगुणस्थानमुपगम्य 'णिहाणिहा पयलापयला  
निदानिना प्रचलाप्रचला स्थानगृद्धि च ॥२०८८॥

गिरयगदियानुपुञ्चि गिरयगदिं धावरं च सुहुमं च ।

साधारणादबुज्जोवतिरयगदिं आणुपुञ्चीए ॥२०८९॥

'गिरयगदियानुपुञ्चि' नरकगत्यानुपूर्वि, नरकगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, उद्योतं  
तिर्यग्गत्यानुपूर्वि ॥२०८९॥

करता है फिर मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतियोंका क्षय करके क्षायिक  
सम्यग्दृष्टि होकर क्षयक श्रेणिके अभिमुख होनेके लिये अप्रमत्त गुणस्थानमे अधः प्रवृत्तकरण करता  
है ॥२०८६॥

टी०—अनन्त संसारका कारण होनेसे मिथ्यात्वको अनन्त कहते हैं । उसके साथ बन्धनेसे  
अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि चार यहाँ संयोजना शब्दसे लिये गये हैं । मिथ्या पदार्थों के अभिनिवेश-  
में जो निमित्त होता है वह मिथ्यात्व नामक दर्शन मोहनीय है । जिस मिथ्यात्वका स्वरस अर्ध-  
शुद्ध हो जाता है उसे सम्यक् मिथ्यात्व कहते हैं । और जिस मिथ्यात्वका शुभ परिणामके द्वारा  
स्वरस क्षीण हो जाता है उसे सम्यक्त्व दर्शन मोहनीय कहते हैं । इसके उदय रहते हुए भी  
तत्त्वार्थका श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन होता है । किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन इन सातोंके अभावमे ही  
होता है । और क्षायिक सम्यग्दृष्टी ही क्षयक श्रेणिपर आरोहण करता है ॥२०८६॥

भा०—क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर वह क्षयक श्रेणिपर आरोहण करके प्रथम अपूर्वकरण  
करता है । उसे अपूर्वकरण इसलिये कहते हैं कि उसने इस प्रकारके परिणाम कभी भी नीचेके  
गुणस्थानोंमें प्राप्त नहीं किये थे ॥२०८७॥

गा०—उसके पश्चात् वह साधु अनिवृत्ति करण नामक नवम गुणस्थानको प्राप्त करके  
निदानिना, प्रचला-प्रचला, स्थानगृद्धि, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकगति, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण,

**इतिविगतिमन्त्रद्विरदियन्माइं तत्र तिरिगन्मादिनाम ।**

**स्वयित्ता मज्जिग्ले स्ववेदि सो अहुमि कसाए ॥२०९०॥**

'इतिविग' एकद्विविगद्विरदियन्मातीः, तिर्यग्गति, अग्रत्याख्यानावतुष्कं, अग्रत्याख्यानावतुष्कं च अपयति ॥२०९०॥

**ततो अपुंसमित्थीवेदं हासादिष्वकपुवेदं ।**

**क्रोधं माणं मायं लोमं च स्ववेदि सो कमसो ॥२०९१॥**

'ततो अपुंसं' ततो अपुंसकं वेदं, स्त्रीवेदं, हास्याविषदकं, पुंवेदं, संज्वलनक्रोधमानमाया-अपयति । पश्चात्लोमसंज्वलनं ॥२०९१॥

**अथ लोमसुहृमकिर्हि वेदंतो सुहृमसंपरायसं ।**

**पावदि पावदि य तथा तण्णामं संजमं सुद्धं ॥२०९२॥**

'अथ लोमसुहृमकिर्हि' अथ पश्चाद्वादेरकृष्टेस्तरकालं लोमसूक्ष्मकृष्टि वेदयमानः । 'सुहृमसंपरायसं पावदि' सूक्ष्मसांपरायता प्राप्नोति । 'पावदि य तथा' प्राप्नोति च तथा तन्नामकं संयमं सुद्धं सूक्ष्मसांपरायतां अविगच्छति ॥२०९२॥

**तो सो खीणकसाओ जायदि खीणासु लोमकिट्टीसु ।**

**एयं चवितक्कावीचारं तो ज्जादि सो ज्जाणं ॥२०९३॥**

आतप, उद्योत, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, दो इन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, तिर्यग्गति, इत सोलह कर्मप्रकृतियोंका क्षय करके मध्यकी आठ कषाय अग्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभका क्षय करता है ॥२०८८-२०९०॥

शा०—फिर क्रमसे उसी तबम गुणस्थानमें नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, पुरुषवेद और संज्वलन, क्रोध मान मायाका क्षय करता है । अन्तमें संज्वलन लोभका क्षय करता है ॥२०९१॥

विशेषार्थ—क्षयका क्रम इस प्रकार है—हास्यादि छह नोकषायोंको पुरुषवेदमें क्षेपण करके नष्ट करता है । पुरुषवेदको क्रोध संज्वलनमें क्षेपण करके क्षय करता है । इसी प्रकार क्रोध संज्वलनको मान संज्वलनमें मानसंज्वलनको माया संज्वलनमें और माया संज्वलनको लोमसंज्वलनमें क्षेपण करके क्षय करता है । अन्तमें वादेर कृष्टिके द्वारा लोमसंज्वलन को क्षय करके सूक्ष्म लोम संज्वलन कषाय क्षेपण रहती है ॥२०९२॥

शा०—वादेर कृष्टिके पश्चात् सूक्ष्मकृष्टिरूप लोभका वेदना करता हुआ यसवे सूक्ष्म-सांपराय नामक गुणस्थानको प्राप्त करता है और वहाँ उसी सूक्ष्मसांपराय नामक संयमको प्राप्त करता है ॥२०९२॥

१. एयत्तं सवियक्कं अविचारं सो वदंति ज्जादि-अ० आ० ।

११२

'तो लो क्षीणकषायो क्षायि' ततः सूक्ष्मसंपरायत्वादनंतरं 'क्षीणकषायो क्षायि' क्षीणकषायो जायते । 'क्षीणानु लोभकृष्टिषु' संज्वलनलोभसूक्ष्मकृष्टिषु क्षीणानु । 'तो' ततः 'एकत्ववितर्कविचारज्ञानं लो क्षायि' एकत्ववितर्कविचारं ध्यानं ध्याति ॥२०९३॥

ज्ञानेण य तेण अघक्खादेण य संजमेण घादेदि ।

सेसा धादिकम्माणि 'समं अवरंजणाणि तदो ॥२०९४॥

'ज्ञानेण य तेण' तेन ध्यानेन । 'तो' तेनैकत्ववितर्कविचारेण यथाख्यातेन चारित्र्येण शेषधातिकर्माणि समकालमेव क्षययति । 'अवरंजणाणि' जीवस्यान्यथाभावकारणानि ॥२०९४॥

मत्थयसूचीए जघा हदाए कसिणो हदो भवदि तालो ।

कम्माणि तथा गच्छंति खयं मोहे हदे कसिणे ॥२०९५॥

'मत्थयसूचीए जघा हदाए' मस्तकसूच्यां यथा हताया । 'कसिणो तालो हवो भवति' कृत्स्नस्तालदुमो हतो भवति । 'कम्माणि तथा' कर्मण्यपि तथैव 'खयं गच्छति' क्षयमुपयाति । 'मोहे हदे कसिणे' मोहे हते कृत्स्ने ॥२०९५॥

णिहापचलाय दुवे दुचरिमसमयम्मि तस्स खीयंत ।

सेसाणि धादिकम्माणि चरिमसमयम्मि खीयंत ॥२०९६॥

'णिहा पचला य दुवे' निद्राप्रचला च द्वे तस्य क्षीणकषावस्य उपात्यसमये नश्यत । 'सेसाणि धादिकम्माणि' अवशिष्टानि धातिकर्माणि त्रीणि तस्य चरमसमये नश्यति, पच ज्ञानावरणानि, चत्वारि दर्शनावरणानि, पंचांतरायाश्च ॥२०९६॥

तत्तो षंतरसमए उप्पज्जदि सच्चपज्जयणिबंधं ।

केवलणाणं सुद्धं तच्च केवलदंसणं चेष ॥२०९७॥

शा०—सूक्ष्म लोभकृष्टिका क्षय होनेपर सूक्ष्म साम्परायके पश्चात् क्षीण कषाय नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती होता है । वहाँ वह एकत्व वितर्क विचार नामक ध्यानको ध्याता है ॥२०९३॥

शा०—उस ध्यान तथा यथाख्यात चारित्र्यके द्वारा वह जीवके अन्यथाभावमें कारण शेष धातिकर्मोंका एक साथ क्षय करता है ॥२०९४॥

शा०—जैसे ताड़के वृक्षकी मस्तक सूची, ऊपरका शाखाभार टूट जानेपर समस्त ताड़वृक्ष ही नष्ट हो जाता है वैसे ही समस्त मोहनोय कर्मके नष्ट होनेपर कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥२०९५॥

शा०—उस क्षीणकषाय गुणस्थानके उपान्त्य समयमें निद्रा प्रचला नष्ट होती है । और शेष धातिकर्म—पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पांच अन्तराय अन्तिम समयमें नष्ट होते हैं ॥२०९६॥



ततो ज्ञानदर्शनावरणात्तरायक्षयात् अनन्तरसमये उत्पद्यते केवलज्ञानं सर्वपर्यायनिबद्धं, सर्वेषां द्रव्याणां त्रिकालमोचरा ये पर्याया विशेषरूपाणि तत्र प्रतिबद्धं परिच्छिन्नकत्वेन ज्ञानस्वातिघातो कस्तुगतविशेषरूप परिच्छेदो नाम सामान्यरूपस्य सुगमत्वादित्याख्यातं भवति । केवलं इन्द्रियसहायानपैक्षात् केवलमसहायं ज्ञानं रागादिमलाभावात् शुद्धं तथा केवलदर्शनं च ॥२०९७॥

अन्वाघादमसदिद्धमुत्तमं सन्वदो असंकुडिदं ।

एयं सयलमणतं अणियत्तं केवलं णाणं ॥२०९८॥

‘अन्वाघादं’ न विद्यते प्रत्ययान्तरेण व्याघातो बाधास्येत्यन्वाघातं । निश्चयात्मकत्वावसंविधं । सर्वेभ्यो ज्ञानेभ्य उत्तमं प्रधानं श्रुतादिभिरिदं केवलं साध्यत इति । ‘असंकुडिदं’ न मत्स्यादिबद्धल्पविषयमिति । ‘एषकं’ एकस्मिन्नात्मनि स्वयमेव प्रवर्तत इति । ‘सकलं’ संपूर्णमात्मनःस्वरूपमिति । मत्स्यादीनि यथाऽसंपूर्णानि न तथेदं । ‘अणतं’ अनन्तप्रमाणावच्छेदं । ‘अणियत्तं’ न विद्यते निवृत्तिविनाशीऽप्येत्यनिवृत्त केवल-ज्ञानं ॥२०९८॥

चित्तपटं व विचिच्चं तिकालमहिदं तदो जगमिषं सो ।

सच्चं जुगवं पस्सदि सच्चमलोगं च सच्चचो ॥२०९९॥

‘चित्तपटं व विचिच्चं’ चित्रपटवद्विचित्रं विचित्रद्रव्यपर्यायस्वरूपेण प्रत्ययभासनात् । ‘तिकाल सहिदं’ कालत्रयसहित ‘जगमिषं’, तत् । तेन केवलज्ञानेन सर्वं युषत्पदपरस्त्रलोकं कृत्स्न ‘सच्चलः’ समंतात् ॥२०९९॥

वीरियमणंतरायं होइ अणतं द्वेषेव तस्स तदा ।

कप्पातीदस्स महाभुणिस्स विग्घम्मि खीणम्मि ॥२१००॥

गा०-टी०-—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका क्षय होनेके अनन्तर समयमें शुद्ध केवलज्ञान और शुद्ध केवल दर्शन उत्पन्न होता है । यह केवल ज्ञान सब द्रव्योंकी त्रिकालमोचर सब पर्यायोंको जानता है । वस्तुगत विशेषरूपको जानना ही ज्ञानका अतिशय है सामान्यरूपको जानना तो सुगम है । इसीसे केवल ज्ञानको सर्वपर्यायनिबद्ध कहा है । केवलका अर्थ है असहाय । केवल ज्ञान इन्द्रियोंकी सहायतासे रहित है इसीसे उसका नाम केवल है । तथा रागादिमलसे रहित होनेसे शुद्ध है । व्याघातसे रहित है क्योंकि कोई अन्य ज्ञान उसमें बाधा नहीं डाल सकता । निश्चयात्मक होनेसे सन्देह रहित है । श्रुत आदि अन्य सब ज्ञानोंमें प्रधान होनेसे उत्तम है । सब द्रव्य और पर्यायोंमें प्रवर्तमान होनेसे मतिज्ञान आदिकी तरह उसका विषय अल्प नहीं है । तथा एक आत्मासे स्वयं ही होनेसे एक है । सम्पूर्ण आत्मस्वरूप होनेसे सकल हैं । जैसे मति आदि ज्ञान असम्पूर्ण है उस तरह वह/सम्पूर्ण नहीं है । अनन्त प्रमाण वाला होनेसे अनन्त है । अविनाशी है, उसका कभी विनाश नहीं होता । विचित्र द्रव्य पर्यायरूपसे प्रतिभासमान होनेसे चित्रपटकी तरह विचित्र-नानारूप है । उस केवलज्ञानसे यह तीन काल सहित इस समस्त जगतको और सर्वं अलोकको एक साथ जानता है ॥२०९७-२०९९॥

गा०-—छपास्य अवस्थासे रहित उस महाभुनिके अन्तराय कर्मका विनाश होनेपर अन्तराय

‘अरियमन्तरायं ह्येषि’ निविघ्न वीर्यं भवति । क्षायोपशमिकस्य हि वीर्यस्य पुनः वीर्यांतरायोदये सति विघ्नो भवति, न तथा क्षय निरवशेषधये । ‘अमर्तं’ । ‘कल्पस्तीव्रस्त’ छापस्यकल्पनां अतीतस्य महासु-  
नेविघ्ने विनष्टे ॥२१००॥

**तो सो वेदयमाणो विहरह सेसाणि ताव कम्माणि ।**

**जावस मत्ती वेदिज्जमा णस्ताउगस्स भवे ॥२१०१॥**

‘तो सो वेदयमाणो’ केवलज्ञानादिपरिप्राप्त्यनंतरकालं वेदयमाणो विहरति, ‘सेसाणि ताव कम्माणि’ अवशिष्टाणि तावत्कर्माणि । ‘जावस मत्ती’ यावत्परिसमाप्तिः । ‘वेदिज्जमाणास्स आउगस्स भवे’ अनुभूयमानस्य मनुष्यायुषो भवेत् ॥२१०१॥

**दंसणणाणसमग्गो विरहदि उच्चावयं तु परियायं ।**

**जोगणिरोधं पारमदि कम्मणिल्लेवणद्वाए ॥२१०२॥**

‘दंसणणाणसमग्गो’ क्षायिकेन ज्ञानेन दर्शनेन च समग्रो, विहृत्य ‘उच्चावयं परीयायं’ उच्चावच पर्यायं, चारित्र्यमभिवर्द्धयन् योगनिरोधं प्रारभते, कर्मणाम्प्रातिनामपहरणार्थः ॥२१०२॥

**उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा ।**

**वच्चंति समुग्घादं सेसा भज्जा समुग्घादे ॥२१०३॥**

‘उक्कस्सएण’ उत्कर्षेण षण्मासावशेषे आयुषि \*जाते केवलिनो जातास्ते समुद्धातमुपयाति । शेषां समुद्धाते भाष्याः ॥२१०३॥

रहित अनन्तवीर्यं होता है । अर्थात् क्षयोपशमिक वीर्यमे तो वीर्यान्तरायका उदय होनेपर विघ्न आ जाता है । किन्तु समस्त वीर्यान्तरायका क्षय होनेपर प्रकट हुए अनन्त वीर्यमें कोई विघ्न नहीं आता ॥२१००॥

गा०—केवल ज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर जबतक शेष कर्मोंकी तथा अनुभूयमान मनुष्यायु-  
की समाप्ति नहीं होती तब तक वह केवल ज्ञानी विहार करता है ॥२१०१॥

गा०—क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शनसे परिपूर्ण वह केवल ज्ञानी चारित्र्यको बढ़ाता हुआ उत्कृष्ट कुछ कम एक पूर्वकोटि तक और जघन्य अन्तर्मुहूर्त मात्र काल तक विहार करता है । फिर अधात्मिकर्मों को नष्ट करनेके लिये सत्यवचन योग, अनुभयवचन योग, सत्यमनोयोग अनुभय मनोयोग, औदारिक काययोग, औदारिक मिश्र काययोग तथा कर्मण काययोगका निग्रह प्रारम्भ करता है ॥२१०२॥

गा०—उत्कर्षसे छह मास आयु शेष रहनेपर जो केवल ज्ञानी होते हैं वे अवश्य समुद्धात-  
जीवके प्रदेशोका शरीरसे बाहर दण्ड आदिके आकार रूपसे निकलना-करते हैं । शेष समुद्धात  
करते श्री हैं और नहीं भी करते, उनके लिये कोई नियम नहीं है ॥२१०३॥

जैसि आउसमाइं चामयोदाइं वेदनीयं च ।

ते अकदसमुग्घादा जिण्णा उवचमंति सेलेसिं ॥२१०४॥

'जैसि आउसमाइं' येषामपि आयुःसमानि क्षेत्राण्यथातिकर्माणि तेऽकृतसमुद्धाता एव शीलैष्यं प्रतिपद्यन्ते ॥२१०४॥

जैसि हवन्ति विसमाणि चामयोदाइंवेदनीयानि ।

ते तु कदसमुग्घादा जिण्णा उवचमंति सेलेसिं ॥२१०५॥

ठिदिसंतकम्मसमकरणत्थं सज्जेसि तेसि कम्माणं ।

अंतोमुहुत्त सेसे जंति समुग्घादमाउम्मि ॥२१०६॥

'ठिदिसंतकम्म' सत्कर्मणां स्थिति समीकर्तुं षट्पुर्णा अंतमुहुत्तविशेषेण आयुषि समुद्धातं याति ॥२१०५-२१०६॥

ओल्लं संतं वत्थं विरल्लदं जइ लहु विणिज्वादि ।

संबेदियं तु ण तथा तथेव कम्मं पि जादब्बं ॥२१०७॥

'ओल्लं संतं' आदिं सद्यथा वत्थं विप्रकीर्णं लघु शुष्यति न तथा संबेदितं एवमेव कर्माणि शातव्यम् ॥२१०७॥

ठिदिबंधस्स सिणेहो हेद् खीयदि य सो समुहदस्स ।

सद्धदि य खीणसिणेहं सेसं अप्पट्टिदी होदि ॥२१०८॥

'ठिदिबंधस्स' स्थितिबन्धस्य स्नेहो हेतुविनश्यति । समुद्धातं गते 'सद्धदि' च क्षीणस्नेहं क्षीणं कर्मात्पस्थितिकं भवति ॥२१०८॥

गा०—जिनके नामकर्म, गोत्रकर्म, वेदनीयकर्मकी स्थिति आयुकर्मके समान होती है वे सयोगकेवली जिन समुद्धात किये बिना शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होते हैं ॥२१०४॥

गा०—किन्तु जिनकी आयुकी स्थिति कम होती है और नामगोत्र और वेदनीय कर्मोंकी स्थिति अधिक होती है वे सयोगकेवली जिन समुद्धात करके ही शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होते हैं अर्थात् अयोगकेवली होते हैं ॥२१०५॥

गा०—अन्तमुहुत्त आयु क्षेप रहनेपर चारों कर्मोंकी स्थिति समान करनेके लिये समुद्धात करते हैं ॥२१०६॥

गा०—जैसे गीला वस्त्र फैला देनेपर वह क्षीघ्र सूख जाता है उसनी क्षीघ्र इकट्ठा रखा हुआ नहीं सूखता । कर्मोंकी भी वैसी ही दशा जानना । आत्म प्रवेशोंके फैलावसे सम्बद्ध कर्मरजकी स्थिति बिना भोगे घट जाती है ॥२१०७॥

गा०—समुद्धात करनेपर स्थितिबन्धका कारण जो स्नेहगुण है वह नष्ट हो जाता है । और स्नेहगुणके क्षीण होनेपर क्षेप कर्मोंकी स्थिति घट जाती है ॥२१०८॥

१. एतां टीकाकारो नेच्छति ।

चदुहिं समएहिं दंड-कवाड-यदरजगपूरणाणि तदा ।

कमसो करेदि तह चैव णियत्तीदि चदुहिं समएहिं ॥२१०९॥

‘चदुहिं’ चतुभिस्समयैर्वण्डादिकं कृत्वा क्रमशो निवसन्ति चतुभिरेव समयैः ॥२१०९॥

काउणाउसमाइं णामगोदाणि वेदणीयं च ।

सेलेसिमभुवेंतो जोगणिरोधं तदो क्खणदि ॥२११०॥

‘काऊण’ नामगोत्रवेदनीयानां आयुषा साम्यं कृत्वा मुक्तिमभ्युपनयन् योगनिरोधं करोति ॥२११०॥

योगनिरोधक्रममाचष्टे—

बादरवाचिगजोगं बादरकायेण बादरमणं च ।

बादरकायंपि तथा रुंभदि सुहुमेण काएण ॥२१११॥

बादरी वाङ्मनोयोगी बादरकायेन रुणद्धि । बादरकाययोगं सूक्ष्मेण काययोगेन ॥२१११॥

तथ चैव सुहुममणवचिजोगं सुहुमेण कायजोगेण ।

रुंभित्तु जिणो चिट्ठदि सो सुहुमकायजोगेण ॥२११२॥

‘तथ चैव’ तथैव सूक्ष्मवाङ्मनोयोगी सूक्ष्मकाययोगेन रुणद्धि ॥२११२॥

सुहुमाए लेस्साए सुहुमकिरियबंधगो तगो ताधे ।

काइयजोगे सुहुमम्मि सुहुमकिरियं जिणो द्वादि ॥२११३॥

गा०-टी०—सयोगकेवली जिन चार समयोंमें दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्धात करके क्रमसे चार ही समयोमे उसका सकोच करता है अर्थात् प्रथम समयमे दण्डाकार, दूसरे समयमे कपाटके आकार, तीसरे समयमे प्रतर रूप और चतुर्थ समयमे समस्त लोकमे व्याप्त हो जाते हैं। पांचवे समयमे पुनः प्रतररूप, छठे समयमे कपाटरूप, सातवें समयमें दण्डाकार आठवें समयमे मूल शरीरकार आत्म प्रदेश हो जाते हैं ॥२१०९॥

गा०—इस प्रकार नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति आयुके समान करके मुक्तिकी ओर बढ़नेवाले सयोगकेवली जिन योगोंका निरोध करते हैं ॥२११०॥

योगनिरोधका क्रम कहते हैं—

गा०—स्थूल काययोगमे स्थित होकर बादर वचनयोग और बादर मनोयोगको रोकते हैं और सूक्ष्म काययोगमे स्थित होकर स्थूल काययोगको रोकते हैं ॥२१११॥

गा०—उसी प्रकार सूक्ष्मकाययोगके द्वारा सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोगको रोककर सयोगकेवली जिन सूक्ष्म काययोगमें स्थित होते हैं ॥२११२॥

१. दि सुहुमेण कायजोगेण —आ० । दि सो सुहुमे काइए जोगे —बु० ।

सूक्ष्मया लेहयया सूक्ष्मक्रियया बन्धकस्तदासौ सूक्ष्मक्रियं ध्यानं ध्याति ॥२११३॥

सुहृमकिरिएण ज्ञाणेण गिरुद्धे सुहृमकायजोमे वि ।

सेलेसी होदि तदो अबंधगो पिच्चलपदेसो ॥२११४॥

‘सुहृमकिरियेण’ तेन ध्यानेन निरुद्धे सूक्ष्मकाययोगे निश्चलप्रदेशोऽबन्धको भवति । बंधनिमित्तानाम-  
भावात् ॥२११४॥

माणुसगदितज्जार्दि पज्जसादिज्जसुभगजसकिरिं ।

अण्णदरवेदणीयं तसबादरहुच्चगोदं च ॥२११५॥

‘माणुसगदि’ मनुष्यगति पञ्चेन्द्रियजार्ति, पर्याप्त्यादेयसुभगं, यशस्कीर्तिमन्यतरबंदनीय, तसबादरं,  
उच्चगोत्रं च वेदयते ॥२११५॥

मणुसाउगं च वेदेदि अजोगी होदूण चैव तत्कालं ।

तित्थयरणामसहिदो’ ताओ वेदेदि तित्थयरो ॥२११६॥

मनुष्यायुश्च वेदयते अयोगी भूत्वा तीर्थकरनामसहितस्त्रीयं करो वेदयते ॥२११६॥

देहतियबंधपरिमोक्खत्थं तो केवली अजोगी सो ।

उवयादि समुच्छिण्णाकिरियं तु ज्ञाणं अपडिवादी ॥२११७॥

वेहतिय देहत्रिवन्धपरिमोक्षार्थं समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिध्यानं ध्याति ॥२११७॥

सो तेण पंचमत्ताकालेण खवेदि चरिमज्जाणेण ।

अणुदिण्णाओ दुचरिमसमथे सव्वाओ पयडीओ ॥२११८॥

गा०—सूक्ष्म लेहयाके द्वारा सूक्ष्मकाययोगसे वह सासाबेदनीय कर्मका बन्ध करता है तथा  
सूक्ष्मक्रिय नामक तीसरे शुक्लध्यानको ध्याता है ॥२११३॥

गा०—उस सूक्ष्मक्रिय नामक शुक्लध्यानके द्वारा सूक्ष्म काययोगका निरोध करके वह  
शीलोंका स्वामी होता है तथा आत्माके प्रदेशोंके निश्चल हो जानेसे उन्हे कर्मबन्धन नहीं होता,  
क्योंकि कर्मबन्धके निमित्तोंका अभाव है ॥२११४॥

गा०—उस समय अयोगकेवली होकर वह मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रिय जगति, पर्याप्त, आदेय,  
सुभग, यशःकीर्ति, साता या असाताबेदनीय, तस, बादर, उच्चगोत्र और मनुष्यायु इन ग्यारह  
कर्म प्रकृतियोंके उदयका भोग करते हैं । और यदि तीर्थकर होते है तो तीर्थकर सहित बारह  
प्रकृतियोंका अनुभवन करते हैं ॥२११५-१६॥

गा०—उसके पश्चात् अयोगकेवली परम औदारिक, तैजस और कामण इन तीन शरीरोंके  
बन्धनसे छूटनेके लिये समुच्छिन्नक्रिय अप्रतिपातो नामक चतुर्थ शुक्लध्यानको ध्याते हैं इसका  
दूसरा नाम व्युपरतक्रिया निवर्ती है ॥२११७॥

'सो तेन' स तेन पञ्चमात्राकालेनानेन ध्यानेन क्षपयति द्विचरमसमये अनुदीर्घाः सर्वाः प्रकृतीः ॥२११८॥

चरिमसमयम्भि तो सो खवेदि वेदिञ्जमाणपयडीओ ।

वारस तित्थयरजिणो एक्कारस सेस सव्वण्हू ॥२११९॥

'चरिमसमयम्भि' अंत्ये समये क्षपयति वेद्यमानाः प्रकृतीर्द्वादश तीर्थचरजिनः । शेषसर्वज्ञः एकादश । 'नामकखण' नाम्ना विनावोन तैजसशरीरबन्धो नक्षयति । आयुषः क्षयेण औदारिकबन्धनाशः ॥२११९॥

णामकखण्ण तेजोसरिरबंधो वि 'हीयदे तस्स ।

आउक्खण्ण ओरालियस्स बंधो वि 'हीयदि से ॥२१२०॥

तं सो बंधणमुक्को उड्ढं जीवो पओगदो जादि ।

जह एरण्णयवीयं बंधणमुक्कं समुप्पददि ॥२१२१॥

स्पष्टोत्तरगाथाद्वयं ॥२१२०-२१२१॥

संगं विजहणेण य लहुदयाए उड्ढं पयादि सो जीवो ।

जध आलाउ अलेओ उप्पददि जले णिमुड्ढो वि ॥२१२२॥

'सगजहणेण' संगत्यागाल्लघुतयोर्द्धं प्रयाति जलनिमग्ननिर्लेपालाबुद्धत् ॥२१२२॥

झाणेण य तह अप्पा पओगदो जेष जादि सो उड्ढं ।

वेगेण पूरिदो जह ठाइहुकामो वि य ण ठादि ॥२१२३॥

'झाणेण य' ध्यानेनात्मा प्रयुक्तो मात्युर्ध्वं वेगेन पूरितो यथा न तिष्ठति स्वानुकामोपि ॥२१२३॥

गा०-टी०-इस ध्यानका काल 'अ इ उ ऋ लृ' इन पांच मात्राओके उच्चारणमें जितना काल लगता है उतना है । इतने कालवाले उस अन्तिम ध्यानके द्वारा अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समयमें बिना उदीरणके सब ७२ कर्म प्रकृतियोंको खपाते हैं, उनका क्षयकर देते हैं, और अन्तिम समयमें तीर्थकर केवली बारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं तथा सामान्य केवली ग्यारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं ॥२११८-१९॥

गा०-उनके नामकर्मका क्षय होनेसे तैजस शरीर बन्धका भी क्षय हो जाता है । और आयुकर्मका क्षय होनेसे औदारिक शरीर बन्धका क्षय हो जाता है ॥२१२०॥

गा०-इस प्रकार बन्धनसे मुक्त हुआ वह जीव वेगसे ऊपरको जाता है जैसे बन्धनसे मुक्त हुआ एरण्डका बीज ऊपरको जाता है ॥२१२१॥

गा०-समस्त कर्म नोकर्मरूप भारसे मुक्त होनेके कारण हल्का हो जानेसे वह जीव ऊपरको जाता है । जैसे मिट्टीके लेपसे रहित तूम्बी जलमें डूबनेपर भी ऊपर ही आती है ॥२१२२॥

गा०-जैसे वेगसे पूर्ण व्यक्ति ठहरना चाहते हुए भी नहीं ठहर पाता है वैसे ही ध्यानके

१. खीयदे मु० । २. खीयावि -मु० । ३. संगस्स विजणेण -आ० ।

जह वा अग्निस्स सिहा सहावदो वेव होहि उद्धगदी ।  
जीवस्स तह समावो उद्धगममप्यवसियस्स ॥२१२४॥

स्पष्टोत्तरमाया ॥२१२४॥

तो सो अविग्गहाए यदीए समए अणंतरे वेव ।  
पावदि जयस्स सिहरं खिणं कोलेम य कुसंतो ॥२१२५॥

‘तो सो अविग्गहाए’ ततोऽभावविषयता गत्या अनंतरसमये एव अगतशिखरं प्राप्नोति ॥२१२५॥

एवं इहइं पजहिय देहतिगं सिद्धखेत्तवगम्भ ।  
सव्वपरियायमुक्को सिद्धदि जीवो समावत्थो ॥२१२६॥

‘एवं इहइं’ एवमिह देहत्रिकं विहाय सिद्धक्षेत्रमुपगम्य सर्वप्रचारविमुक्तः सिध्यति जीवः  
स्वभावस्यः ॥२१२६॥

तस्याप.स्थानमाचष्टे—

ईसिप्यग्भाराए उवरिं अत्थदि सो जोयणम्मि सीदाए ।  
ध्रुवमचलमजरठाणं लोसिहरमस्सिदो सिद्धो ॥२१२७॥

‘ईसिप्यग्भाराए’ ईषत्प्राग्भाराया उपरि न्यूनयोजने ध्रुवमचलं स्थानं लोकशिखरमास्थितः  
सिद्धः ॥२१२७॥

प्रयोगसे आत्मा ऊपरको जाता है ॥२१२३॥

गा०—अथवा जैसे आगकी लपट स्वभावसे ही ऊपरको जाती है वैसे ही कर्मरहित स्वाधीन  
आत्माका स्वभाव ऊर्ध्वगमन है ॥२१२४॥

गा०—कर्मों का क्षय होते ही वह मुक्त जीव एक समयवाली मोड़े रहित गतिसे सात  
राजुप्रमाण आकाशके प्रदेशोंका स्पर्श न करते हुए अर्थात् अत्यन्त तीव्रवेगसे लोकके शिखरपर  
विराजमान हो जाता है ॥२१२५॥

गा०—इस प्रकार इसी लोकमें तैजस, कार्मण और औदारिक शरीरोंको त्यागकर सब  
प्रकारके प्रचारसे मुक्त हुआ जीव, सिद्धिक्षेत्रमें जाकर अपने टंकोत्कीर्ण ज्ञापक भाव स्वभावमें  
स्थित होकर मुक्त हो जाता है ॥२१२६॥

गा०—उस सिद्धिक्षेत्रके नीचे स्थित आठवीं पृथिवीको कहते हैं—ईषत्प्राग्भार नामकी  
आठवीं पृथ्वीके कुछ ऊपर एक योजन पर लोकका शिखर स्थित है जो ध्रुव, अचल और अजर  
है । उसपर सिद्ध जीव तिष्ठता है ॥२१२७॥

बिशेषार्थ—आठवीं पृथिवीका नाम ईषत्प्राग्भार है । भ्रममें उसका बाहुल्य आठ योजन  
है । दोनों ओर क्रमसे हीन होता गया है । अन्तमें अंगुलके असंख्यतर्वे भाग प्रकाश अत्यन्त सूक्ष्म  
बाहुल्य रह जाता है । इस तरह ऊपरको उठे हुए विशाल गोल क्षेत्र छत्रके समान उसका आकार  
है । उसका विस्तार पैंतालीस लाख योजन है । उसके ऊपर तीन वातवलय हैं । उनमेंसे तीन

धम्माभावेण दु लोकास्ते षड्विम्बदे अलोगेण ।  
गदिसुवकुणदि दु धम्मो जीवणं पोग्गलाणं च॥ २१२८॥

‘धम्माभावेण दु’ धर्मास्तिकायस्याभावे लोकाय प्रतिहन्यन्ते अलोकेन, यतो जीवपुद्गलानां गतेरुप-  
कारको धर्मः स योपरि नास्ति ॥२१२८॥

जं जस्स दु संठाणं चरिससरीरस्स ओमज्जहणम्मि ।  
तं संठाणं तस्स दु जीवणो होइ सिद्धस्स ॥२१२९॥  
दसविधपाणाभावो कम्माभावेण होइ अच्चंतं ।  
अच्चंतिगो य सुइदुक्खाभावो विगददेइस्स ॥२१३०॥

दशविधानां प्राणानामत्यंताभावेन भवति आत्यंतिकश्च सुखदुःखाभावः ॥२१२९-२१३०॥

जं णत्थि बंधहेतुं देहग्गहणं ण तस्स तेण पुणो ।  
कम्मकलुसो दु जीवो कम्मकदं देहमादियदि ॥२१३१॥

‘जं णत्थि बंधहेतुं’ यन्नास्ति बंधकारणं तेन न मुक्तस्य देहग्रहणं, कर्मकलुषीकृतो हि जीवः कर्म-  
कृतदेहमावसते ॥२१३१॥

कज्जाभावेण पुणो अच्चंसं णत्थि फंदणं तस्स ।  
ण पओगदो वि फंदणमदेहिणो अत्थि सिद्धस्स ॥२१३२॥

कोस विस्तार वाले दो वातवलयोंके ऊपर एक हजार पांच सौ पिचहत्तर धनुष विस्तार वाला तीसरा तनुवातवलय है। उसके पांच सौ पच्चीस धनुष मोटे अन्तिम भाग में सिद्ध भगवान विराजते हैं ॥२१२७॥

गा०—धर्मद्रव्य लोकके अधभाग तक ही है। अतः मुक्तजीव लोकाग्रसे आगे अलोकमें नहीं जाता, क्योंकि धर्मद्रव्य गति करते हुए जीवों और पुद्गलोंकी गतिमें उपकार करता है ॥२१२८॥

गा०—मन वचन काययोगोंका त्याग करते समय अयोगी गुणस्थानमें जैसा अन्तिम शरीरका आकार रहता है; उस आकाररूप जीवके प्रदेशोंका, धनरूप सिद्धोंका आकार होता है ॥२१२९॥

गा०—सिद्ध भगवानके कर्मोंका अभाव होनेसे दस प्रकारके प्राणोंका सर्वथा अभाव है। तथा शरीरका अभाव होनेसे इन्द्रिय जनित सुखदुःखका अभाव है ॥२१३०॥

गा०—मुक्तजीवके कर्मबन्धका कारण नहीं है। अतः वह पुनः शरीर धारण नहीं करता। क्योंकि कर्मोंसे बद्ध जीव ही कर्मकृत शरीरको धारण करता है ॥२१३१॥

गा०—सिद्ध जीवोंको कुछ करना शेष न होनेसे उनमें हलन चलनका अत्यन्त अभाव है।

१. एतां दीक्षकारो नेच्छति । २. स होवि पुणो -ब०, आ० ।



'कालान्तकालेन मुनी' कालान्तकालेन वस्तुवेन नास्ति तस्य न च परप्रयोजनपरमपि स्वयमस्त्यदेहस्य सिद्धस्य ॥२१३२॥

कालमर्णातमधम्मोफण्णहिदो इदि गप्पकजीवाहो ।

सो उचकारो इदो त्तिदिसमासो च जीवाणं ॥२१३३॥

'कालमर्णातं' अनन्तकालं अवर्तमानकालोपगृहीतः गपनमनुप्रविष्टः तिष्ठति । 'उचकारो इदो' अधर्मास्तिकायेन संपाद्यउपकारः अवस्थानलक्षण इष्टो यस्मान्न जीवस्य त्तिदित्स्वभावश्चेतस्यापिक्तु ॥२१३३॥

तेलोफकमत्थयत्थो तो सो सिद्धो जमं पिरवसेसं ।

सप्पवेहिं पज्जयहिं य संकुण्णं सप्पदम्भेहिं ॥२१३४॥

'तेलोफकमत्थयत्थो' त्रैलोक्यमस्तकस्यः ततोऽपि जगत्स्मिन्नवशेषं सर्वैः पर्यायैस्सर्वैर्ब्रह्मैस्संपूर्णं ॥२१३४॥

पस्सदि जाणदि य तथा तिण्णि वि काले सपज्जय सप्पे ।

तह वा लोममसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो ॥२१३५॥

'पस्सदि जाणदि' पश्यति जानाति च कालत्रये पर्यायसहितज्ञानशेषास्तथा-बालोकमशेषे पश्यति भगवान् विगतमोहः ॥२१३५॥

भावे सगविसयत्थे सरो जुगवं जहा पयासेइ ।

सप्पं वि तथा जुगवं केवल्लणाणं पयासेदि ॥२१३६॥

'भावे सगविसयत्थे' आत्मगोचरस्थान् तत्रान् सूर्यो मुक्तपक्षया प्रकाशयति तथा सर्वमपि ज्ञेयं युगपत्केवलज्ञानं प्रकाशयति ॥२१३६॥

गदरागदोसमोहो विमओ विमओ पिरुस्सओ विरओ ।

बुधजणपरिगीदगुणो णमंसणिज्जो तिल्लोगस्स ॥२१३७॥

और वे शरीर रहित हैं । अतः वायु आदिके प्रयोगसे भी उनमें हलन चलन नहीं होता ॥२१३२॥

भा०—सिद्ध जीव जो अनन्तकाल तक आकाशके प्रदेशोंको अवर्णोहित करके ठहरा रहता है सो यह अवस्थान रूप उपकार अधर्मास्तिकायका माया गया है; क्योंकि जैसे जीवका स्वभाव चैतन्य आवि है उस प्रकार जीवका स्वभाव स्थिति नहीं है ॥२१३३॥

भा०—तीनों लोकोंके अस्तकपर विराजमान वह सिद्ध परमेष्ठी समस्त ब्रह्मों और समस्त पर्यायोंसे सम्पूर्ण जगतको जानते देखते हैं । तथा वे मोहरहित भगवान् पर्यायोंसे सहित तीनों कालोंको और समस्त अलोककी जानते हैं ॥२१३४-३५॥

जैसे सूर्य अपने विषयगोचर सब पदार्थोंको एक साथ प्रकाशित करता है वैसे ही केवल ज्ञान सब पदार्थोंको एक साथ प्रकाशित करता है ॥२१३६॥

'मदरागबोसमोहो' दूरीकृतरागद्वेषमोहः, 'विमग्धो' विगलभयः 'विमग्धो' विगतमदः, क्वचिदप्यनुत्सुका, निरस्तकर्मरजःपटल, बुधजनपरिणीतगुण. विष्टपत्रयेण नमस्करणीयः ॥२१३७॥

णिष्वावहृत्तु संसारमहर्णि परमणिष्बुदिजलेण ।

णिष्वादि सभावत्थो गदजाइजरामरणरोयो ॥२१३८॥

'णिष्वावहृत्तु' क्षयमुपनीय संसारमहर्णि परमनिर्वृतिजलेन तुष्यति स्वरूपस्थो विमष्टजाति-  
जरामरणरोगः ॥२१३८॥

जावं तु किंचि लोए सारीरं माणसं च सुहदुक्खं ।

तं सव्वं णिज्जिण्णं असेसदो तस्स सिद्धस्स ॥२१३९॥

'जावं तु किंचि लोए' यावत् किंचिल्लोके शारीरं मानसं वा यत्सुखं दुःखं च तत्सर्वं निर्जीणं निरव-  
शेषं । प्रकारकात्स्न्यनिरासार्थमशेषग्रहणं ॥२१३९॥

जं णत्थि सव्वबाधाओ तस्स सव्वं च जाणइ जदो से ।

जं च गदज्जवसाणो परमसुही तेण सो सिद्धो ॥२१४०॥

'जं णत्थि सव्वबाधाओ' यन्न सन्ति सर्वबाधाः, सर्वं च यतो जानाति, यच्चापगताध्यवसानः, तेनासौ  
सिद्धः परमसुखी भवति ॥२१४०॥

परमिद्धिपत्ताणं मणुगाणं णत्थि तं सुहं लोए ।

अध्वाबाधमणोवमपरमसुहं तस्स सिद्धस्स ॥२१४१॥

'परमिद्धिपत्ताणं' परमामृद्धि चक्रलाञ्छनतादिकां प्राप्तानामपि मनुजाना नास्ति तत्सुख लोके यदनु-  
पमं तस्य सिद्धस्य सुखमव्याबाधम् ॥२१४१॥

शा०—जिन्होने रागद्वेष मोहको दूरकर दिया है, जो भय रहित, मदरहित, उत्कण्ठा रहित और कर्मरूप धूलिपटलसे रहित है तथा ज्ञानीजन जिनका गुणगान करते हैं वे सिद्ध भगवान तीनों लोकोंके द्वारा वन्दनीय हैं ॥२१३७॥

शा०—परम निर्वृतिरूप जलसे संसाररूपी महान् अग्निको बुझाकर तथा जन्म-जरा-मरण रोगोंको नष्ट करके अपने स्वरूपमे स्थित मुक्तात्मा निर्वाणको प्राप्त करते हैं ॥२१३८॥

शा०—संसारमे जितना भी शारीरिक और मानसिक सुखदुःख है वह सब पूर्णरूपसे उस सिद्ध परमेष्ठीके नष्ट हो चुका है ॥२१३९॥

शा०—क्योंकि सिद्ध परमेष्ठीके समस्त बाधाएँ नहीं हैं, और वह समस्त वस्तुओंको जानते हैं तथा अध्यवसान-विकल्पवासनासे रहित हैं । अतः वे परमसुखी हैं ॥२१४०॥

शा०—उन सिद्धोंके जो बाधा रहित अनुपम परम सुख है वह सुख इस लोकमें परमऋद्धि चक्रवर्तित्व आदिको प्राप्त मनुष्योंके भी नहीं है ॥२१४१॥

देविदचककवह्री इंदियसोक्खं च जं अणुहवन्ति ।

सहरसरुवगंधप्परिसप्पयमुत्तमं लोए ॥२१४२॥

‘देविदचककवह्री’ देवेन्द्राश्चक्रवर्तिनश्च यद्विद्वियसुखमनुभवन्ति शब्दरसरूपगंधस्पर्शात्मकं लोके प्रधानं ॥२१४२॥

अब्बावाचं च सुहं सिद्धा जं अणुहवन्ति लोएग्गे ।

तस्स हु अणंतमागो इंदियसोक्खं तयं होज्ज ॥२१४३॥

‘अब्बावाचं सुहं’ अब्यावाचात्मकं सुखं यत्सिद्धा लोकारेणुभवन्ति तस्यानंतमागो भवति तद्विद्वियसुखं पूर्वव्यावर्णितम् ॥२१४३॥

जं सन्वे देवगणा अच्छरसहिया सुहं अणुहवन्ति ।

तत्तो वि अणंतगुणं अब्बावाहं सुहं तस्स ॥२१४४॥

‘जं सन्वे देवगणा’ यत्सुखमनुभवन्ति साप्सरोगणाः सर्वे देवास्ततोऽप्यनंतगुणं तस्य सिद्धस्या-  
यावाधसुखम् ॥२१४४॥

तीसु वि कालेसु सुहाणि जाणि माणुसतिरिक्खदेवाणं ।

सब्बाणि ताणि ण समानि तस्स खणमित्तसोक्खेण ॥२१४५॥

‘तीसु वि कालेसु’ त्रिष्वपि कालेषु यानि मानवानां, तिरश्चां, देवानां च सुखानि सर्वाणि तानि न समानि सिद्धस्य क्षणमात्रेण सुखेन ॥२१४५॥

ताणि हु रागविवागाणि दुक्खपुब्बाणि चैव सोक्खाणि ।

ण हु अत्थि रागमभवहत्थिदूण किं चि वि सुहं णाम ॥२१४६॥

‘ताणि रागविपाकाणि’ तानि रागविपाकानि रागस्य दुःखहेतोर्जनकानि, एतेन दुःखानुबन्धित्वं

गा०—इस लोकमें देवेन्द्र और चक्रवर्ती शब्द रस रूप गन्ध और स्पर्शो जन्य जिस उत्तम इन्द्रिय सुखको भोगते है, तथा लोकके अग्रभागमे स्थित सिद्ध जिस बाधा रहित सुखको भोगते हैं उसके सामने वह इन्द्रिय सुख उसका अनन्तवा भाग भी नहीं है ॥२१४२-४३॥

गा०—अप्सरारोंके समय सब देवगण जिस सुखको भोगते हैं उससे भी अनन्तगुण बाधा रहित सुख सिद्धोंको होता है ॥२१४४॥

गा०—सब मनुष्यों तिर्यक्षों और देवोंको तीनों कालोंमें जितना सुख होता है वह सब सुख सिद्धोंके एक क्षणमात्रमें होनेवाले सुखके भी बराबर नहीं है ॥२१४५॥

गा०—मनुष्यादिके होनेवाला सुख रागका जनक है और राग दुःखका कारण है अतः

१. मवदुष्मिऊण -अ० भा० । अवहत्थिदूण -भूकारा० ।

नामैन्द्रियसुखानां दोषोऽभिहित । दुःखपूर्वाणि न हि क्षुधाद्विदुःखमन्तरेण अस्मान्भिकं प्रीतिं ज्ञानयति । न चास्ति रागमनपाकृत्य सुखं नाम किञ्चित् ॥२१४६॥

इन्द्रियसुखस्वरूपमभिधाय अनिन्द्रियसुखं व्यावर्णयति—

**अणुवमममेयमवस्वयममलमजरमरुजमभयममवं च ।**

**एयंतियमत्तंतियमव्यावाधं सुहमवेयं ॥२१४७॥**

‘अणुवमममेयं’ तत्समानस्य द्रव्यिकस्याभावात् सुखस्थ तदनुपमं, स्वस्वशासनंतिमसामयत्वावमेयं, प्रतिपक्षभूतस्य दुःखस्याभावादभयं, रागादिमलाभावादमलं, जरारहितत्वादजरं, रोगाभावादरुजं, भयाभावादभयं, भवाभावादभव, ऐकान्तिक दुःखस्य सहायस्याभावादैकान्तिकमसहायं अव्यावाधरूपं तत्सुखं ॥२१४७॥

**विसर्हं से ण कज्जं जं णत्थि छुदादियाओ बाधाओ ।**

**रागादिया य उवभोगहेदुगा णत्थि जं तस्स ॥२१४८॥**

‘विसर्हं से ण कज्जं’ शब्दादिभिर्विषयैः न कार्यं यत् । सिद्धस्य न संति क्षुधादिका बाधाः, रागादयश्च विषयोपभोगहेतवो न संति यस्मात्तस्य ॥२१४८॥

**एदेण च्चव भणितो भासणचंक्रमणचिंतणादीणं ।**

**चेट्टाणं सिद्धम्मि अभावो हदसव्वकरणम्मि ॥२१४९॥**

‘एदेण च्चव भणितो’ एतेनैवोक्त. भाषण-चंक्रमण-चिंतनादीनां चेष्टानामभाव. सिद्धे हतसर्व-क्रिये ॥२१४९॥

इन्द्रियसुख दुःखको लानेवाला है तथा दुःखपूर्वक होता है । अर्थात् पहले दुःख होता है तब वह सुख होता है क्योंकि भूख प्यास आदिका दुःख हुए बिना भोजनादि प्रिय नहीं लगते । रागभावके बिना ससारमे किञ्चित् भी सुख नहीं है ॥२१४६॥

इन्द्रिय सुखका स्वरूप कहकर अतीन्द्रिय सुखको कहते हैं—

गा०—टी०—उसके समान या उससे अधिक सुखका अभाव होनेसे अतीन्द्रिय सुख अनुपम है । छद्मस्थ जीवोके ज्ञानके द्वारा उसका माप करना अक्षय्य होनेसे अमेय है । उसके विरोधी दुःखका अभाव होनेसे वह अक्षय्य है—उसका कभी नाश नहीं होता । उसमें रागादिमलका अभाव होनेसे वह अमल है । उसमे जरा रोगका भय न होनेसे वह अजर है । रोगका अभाव होनेसे अरुज है । भयका अभाव होनेसे अभय है । पुनर्भव न होनेसे अमव है । उसके साथमें दुःख न होनेसे ऐकान्तिक है । अनन्तकाल तक रहनेसे आत्यन्तिक है—ऐसा वह अव्यावाधरूप सुख होता है ॥२१४७॥

गा०—सिद्धोंमें शब्दादि विषयोंसे कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि सिद्धोंको भूख प्यास आदि की बाधा नहीं होती तथा विषयोंके उपभोगके कारण राग आदि भी नहीं है ॥२१४८॥

गा०—इसीसे सब प्रकारकी क्रियाओंसे रहित सिद्धोंमें बोलना, चलना-फिरना तथा विचारना आदि भी नहीं है ॥२१४९॥

इयं सोऽस्मात्सिद्धाविति विदित्वा नो हि ।

अर्चति नो हि जुषोऽव्यावाहेन य मुह्ये ॥२१५०॥

'इयं सोऽस्मात्सिद्धाविति' एकमती क्षाधिकेण सम्यक्त्वेन सिद्धतया शीरेण अनन्तज्ञानाद्यनंतवर्तनेन आत्यन्तिकेन युक्तोऽव्यावाहेन मुह्ये ॥२१५०॥

अकसायत्तमवेदत्तमकारकदा विदेहता चैव ।

अचलत्तमलेवचं च हुति अर्चति याहं से ॥२१५१॥

'अकसायत्तं' अकषायत्वं, अवेदत्तमकारकता विदेहता अचलत्तमलेवचं च आत्यन्तिकं तस्य भवति । क्रोधादिनिमित्तानां कर्मणां प्राक्तानां विनाशादस्मिन्वर्तमानां वाऽभावात्कषायत्वं आत्यन्तिकं एवमेवावेदत्तं । साध्यस्यापरत्याभावात्कारकत्वं । प्राक्तनस्य शरीरस्य विकीर्णत्वाद् हान्तरकारिणः कर्मणोऽभावाद् विदेहता अवस्थान्तरप्राप्तिनिमित्तांतराभावाच्चलत्वं । कर्मनिमित्तपरिणामभावात् प्राक्तनतायां च कर्मणां विनाशात्लेपत्वमप्यात्यन्तिकम् ॥२१५१॥

जन्ममरणजलोर्षं दुःखसंश्लेषशोकबीभत्सं संसारसमुद्रं

इयं संसारसमुद्रं तरति चतुरंगणावाए ॥२१५२॥

'जन्ममरणजलोर्षं' जन्ममरणजलोर्षं दुःखसंश्लेषशोकबीभत्सं संसारसमुद्रं सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्र-तपस्संज्ञितचतुरङ्गणावा तरन्ति ॥२१५२॥

एवं पण्डितपण्डितमरणेण करंति सखदुःखानां ।

अंतं गिरंतराया गिव्याणमनुत्तरं पत्ता ॥२१५३॥

गा०—इस प्रकार वह सिद्ध परमेष्ठी क्षाधिक सम्यक्त्व, सिद्धत्व, अनन्तवीर्य, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अव्यावाह सुखसे युक्त होते हैं । ये सब आत्यन्तिक होते हैं, इनका कभी विनाश नहीं होता ॥२१५०॥

गा०—टी०—क्रोध आदिमें निमित्त पूर्व कर्मोंका विनाश होनेसे और नवीन कर्मोंका अभाव होनेसे सिद्धोंमें आत्यन्तिक अकषायत्व है । इसी प्रकार आत्यन्तिक अवेदत्व है । उनके लिये कोई करने योग्य कार्य शेष न रहनेसे अकारकत्व भी सदा रहता है । पूर्व शरीरका विनाश होनेसे और नवीन शरीरको उत्पन्न करनेवाले कर्मका अभाव होनेसे सिद्धोंमें सदा विदेहता है । अन्य अवस्थाको प्राप्त होनेमें निमित्तका अभाव होनेसे सदा अचल है । उनके कर्मके निमित्तसे होनेवाले परिणामोंका अभाव होनेसे तथा पूर्वके कर्मोंका विनाश होनेसे वे सदा लेपरहित होते हैं ॥२१५१॥

गा०—जिसमें जन्म मरणरूपी जलका समूह भरा है, दुःख संश्लेष और शोकरूपी लहरें उठा करती हैं; उस संसाररूपी समुद्रको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चरित्र और सम्यक् तपरूपी नावसे पार करते हैं ॥२१५२॥

‘एवं पण्डितपण्डितमरणेन’ एवमुक्तेन क्रमेण पण्डितपण्डितमरणेण सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति । निरन्तराया निर्विघ्ना निर्वाणमनुसरं प्राप्ताश्च । एतेन पण्डित-पण्डितमरण व्याख्यातं । ‘पण्डितपण्डितमरणं यत्’ ॥२१५३॥

एवं आराधिता उक्कस्साराहणं चदुक्खंघं ।

कम्मरयविप्पमुक्का तेणेव भवेण सिज्झन्ति ॥२०५४॥

‘एवं आराधिता’ एवमाराध्य । ‘उक्कस्साराहणं’ उत्कृष्टाराधना । ‘चदुक्खंघं’ समीचीनदर्शनज्ञान चरणतपोभिधान चतुष्कत्वं । ‘कम्मरयविप्पमुक्का’ कर्मरजोविप्रमुक्तास्तेनैव भवेन सिध्यन्ति ॥२१५४॥

आराधयित्तु धीरा मज्झिममाराहणं चदुक्खंघं ।

कम्मरयविप्पमुक्का तदिएण भवेण सिज्झन्ति ॥२१५५॥

आराधयित्तु धीरा जहण्णमाराहणं चदुक्खंघं ।

कम्मरयविप्पमुक्का सत्तमजम्मेण सिज्झन्ति ॥२१५६॥

‘आराधयित्तु धीरा’ आराध्य धीरा जघन्यामाराधना चतुष्कथा कर्मरजोविप्रमुक्ता सप्तमेन जन्मना सिध्यन्ति ॥२१५५-२१५६॥

एवं एसा आराधणा समेदा समासदो बुत्ता ।

आराधणाणिबद्धं सच्चंवि हु होदि सुदण्णाणं ॥२१५७॥

‘एवं एसा’ एवमेवा आराधना सप्रमेदा समासतो निरूपिता । आराधनायामस्या निबद्धं सर्वमपि श्रुतज्ञान भवति ॥२१५७॥

आराधणं असेसं वण्णेदुं होज्ज को पुण समत्थो ।

सुदकेवली वि आराधणं असेसं ण वण्णिज्ज ॥२१५८॥

शा०—इस प्रकार वे क्षपक पण्डितपण्डितमरणसे सब दुःखोंका अन्त करते हैं और बिना बाधाके उत्कृष्ट निर्वाणको प्राप्त करते हैं ॥२१५३॥

शा०—इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् स्वरूप चार प्रकारकी उत्कृष्ट आराधनाकी आराधना करके कर्मरूपी धूलिसे छूटकर उसी भवसे मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥२१५४॥

शा०—उक्त चार भेदरूप मध्यम आराधनाकी आराधना करके धीर पुरुष कर्मरूपी धूलिसे छूटकर तीसरे भवमें मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥२१५५॥

शा०—उक्त चार भेदरूप जघन्य आराधनाकी आराधना करके धीर पुरुष कर्मरूपी धूलिसे छूटकर सातवें भवमें मुक्ति प्राप्त करते हैं ॥२१५६॥

शा०—इस प्रकार इस भेदसहित आराधनाका संक्षेपसे कथन किया । इस आराधनामें जो कुछ कहा गया है वह सब श्रुतज्ञान है ॥२१५७॥

आराधनं असेसं निरवशेषामाराधनां वर्णयितुं कस्त्वमर्थो भवेत्, श्रुतकेवलस्यपि निरवशेषं न वर्णयेत् ॥२१५८॥

अञ्जजिगणंदिगणि-सर्वगुणगणि-अञ्जमिसर्वादीणं ।

अवगमिय पादमूले सम्मं सुप्तं च अत्थं च ॥२१५९॥

‘अञ्जजिगणंदि’ आचार्यजिननदिगणिनः, सर्वगुणगणिनः, आचार्यमित्रनदिनश्च पादमूले सम्यगर्थं श्रुतं वावगम्य ॥२१५९॥

पुष्पायरियणिबद्धा उवजीविता इमा ससत्तीए ।

आराधणा सिवज्जेण पाणिदलमोइणा रहदा ॥२१६०॥

‘पुष्पायरिय’ पूर्वाचार्यकृतामिव उपजीव्य इयं आराधना स्वशक्त्या शिवाचार्येण रचिता पाणि-तलमोजिना ॥२१६०॥

छदुमत्थदाए एत्थ दु जं बद्धं होज्ज पवयणविरुद्धं ।

सोधेतु सुगीदत्था पवयणवच्छलदाए दु ॥२१६१॥

‘छदुमत्थदाए’ छदस्यतया यदत्र प्रवचननिबन्धबद्धं (विरुद्धं) भवेत् तत्सुगुहीतार्था शोधयंतु प्रवचन-वत्सलतया ॥२१६१॥

आराधणा भगवदी एवं भत्तीए वणिदा संती ।

संघस्स शिवजस्स य समाधिवरमुत्तमं देउ ॥२१६२॥

‘आराधणा भगवदी’ आराधना भगवती एव भक्त्या कीर्तिता सर्वगुणगणिनः संघस्य शिवाचार्यस्य च विपुलां सकलजनप्रार्थनीया अव्याबाधसुखा सिद्धिं प्रयच्छतु ॥२१६२॥

गा०—मेरे समान कौन अल्पश्रुतज्ञानी सम्पूर्ण आराधनाका वर्णन करनेमें समर्थ हो सकता है। श्रुतकेवली भी सम्पूर्ण आराधनाको नहीं कह सकते। अर्थात् भगवान सर्वज्ञ ही आराधनाका सर्वस्व वर्णन कर सकते हैं ॥२१५८॥

गा०—आर्य जिननन्दिगुणि, सर्वगुण गणि, और आर्य मित्रनन्दीके पादमूलमें सम्यक् रूपसे श्रुत और उसके अर्थको जानकर पूर्वाचार्यके द्वारा रची गई आराधनाको आधार बनाकर हस्त-पुटमें आहार करनेवाले मुझ शिवाचार्यने अपनी शक्तिसे इस आराधना ग्रन्थको रचा ॥२१५९-६०॥

गा०—छदस्य अर्थात् अल्पज्ञानी होनेसे इसमें जो कुछ आगमके विरुद्ध लिखा गया हो; उसे आगमके अर्थको सम्यक् रूपसे ग्रहण किये हुए ज्ञानोजन सुधारनेकी कृपा करें ॥२१६१॥

गा०—इस प्रकार भक्तिपूर्वक वर्णनकी हुई भगवती आराधना सर्वगुण गणीके संघको तथा रचयिता शिवाचार्यको समस्त जगत्को प्रार्थनीय अव्याबाध सुखरूप सिद्धिको प्रदान करें अर्थात् उसके प्रसावसे हम सबको शुक्लध्यानकी प्राप्ति हो ॥२१६२॥

असुरसुरमण्यकिष्णररचिससिर्किपुरिसमहियवरचरणो ।  
दिसउ मम बोहिलाहं जिणवरवीरो तिहुवणिदो ॥२१६३॥  
खमदमणियमघराणं धुदरयसुहदुक्खविप्पजुत्ताणं ।  
णाणुज्जोदियसल्लेहणम्मि सुणभो जिणवराणं ॥२१६४॥

प्रा०—जिनके पूजनीय चरणोंको असुर, सुर, मनुष्य, किन्नर, सूर्य, चन्द्र, और किम्पुस्य जातिके व्यन्तर पूजते हैं वे तीनों लोकोंके स्वामी वीर जिनन्द्र मुझे बोधिलाभ प्रदान करें ॥२१६३॥  
प्रा०—जिन्होंने स्वयं क्षमा, इन्द्रियदमन और नियमोंको धारण करके कर्ममलको नष्ट किया, तथा सासारिक सुख दुःखसे रहित हुए और अपने ज्ञानके द्वारा सल्लेखनाको प्रकाशित किया उन जिन देवोंको नमस्कार हो ॥२१६४॥

भगवती आराधना समाप्त हुई ।

श्रीमदपराजितसूरेष्टीकाकृतः प्रशस्तिः

नमः सकलतत्त्वार्थप्रकाशनमहौजसे ।

भव्यचक्रमहाचूडारत्नाय सुखदायिने ॥१॥

श्रुतायाज्ञानतमसः प्रोद्यद्दमार्गधवे तथा ।

केवलज्ञानसाम्राज्यभाजे भव्यैकबंधवे ॥२॥

चन्द्रनन्दिमहाकर्मप्रकृत्याचार्यप्रशिष्येण आरातीयसूरिचूडामणिना नागनन्दिगणिपादपमोपसेवाजातमति-  
बलदेवसूरिशिष्येण जिनशासनोद्धारणधीरेण लब्धयशःप्रसरेण अपराजितसूरिणा श्रीनन्दिगणिनावचोदिनेन  
रचितानाम्भवाटीका श्रीविजयोदयानाम्ना समाप्ता ।

टीकाकार अपराजित सूरिकी प्रशस्ति

जो समस्त तत्त्वार्थको प्रकाशित करनेके लिये महान् प्रकाशरूप है, भव्य समुदायके लिये महान् शिरोमणि है, जिसे वे सिरपर धारण करते हैं, सुखको देनेवाला है, अज्ञानरूपी अन्धकारके लिये उगती हुई प्रकाश किरण है, जिसके द्वारा केवल ज्ञानरूपी साम्राज्य प्राप्त होता है तथा जो भव्य जीवोका एकमात्र बन्धु है उस श्रुतको नमस्कार हो ।

जो चन्द्रनन्दि नामक महाकर्म प्रकृति आचार्यके प्रशिष्य हैं, आरातीय आचार्योंके चूडामणि हैं, नागनन्दि गणिके चरण कमलोंकी सेवाके प्रसादसे जिन्हें ज्ञानका लेश प्राप्त हुआ, जो बलदेव सूरिके शिष्य हैं और जिन शासनका उद्धार करनेमें धीरवीर हैं, जिनका यश सर्वत्र फैला है; उन अपराजित सूरिने श्रीनन्दिगणिकी प्रेरणासे श्री विजयोदया नामक आराधना टीका रची ।



## गाथानुक्रमिका

अ	पृ०	गा०		पृ०	गा०
अकङ्कुभमत्तित्तयमणं	६९४	१४८५	अणुकंपा सुद्धुवओगो	८१४	१८२८
अकदम्मि वि अवरारो	५३०	९४१	अणुपालिदा य आणा	२८९	३२८
अकसायत्तमबेदत्त	९०५	२१५१	अणुपालिदो य दीहो	१९७	१५६
अखल्लिदमभिडिदमव्वा	४३९	६५१	अणुपुब्बेण य ठविदो	४५३	६९८
अग्गिपरिक्खत्तादो	६४८	१३१६	अणुपुब्बेणाहारं	२५७	२४९
अग्गिविसक्किण्हसप्पा	४६३	७२८	अणुबद्धरोसविग्गह	२२३	१८५
अग्गिविसक्किण्हसप्पा	४६३	७२९	अणुमाणेदूणं गुरुं	४०७	५७४
अग्गिविससत्तुसप्पा	७२५	१५९१	अणुलोमा वा सत्तू	११०	७१
अग्गी वि य ड्हिदुं जे	५३९	९८२	अणुवत्तणाए गुणवयणेहि	५३६	९६२
अघसे समे अससिरे	४३४	६४०	अणुबमममेयमक्खय	९०४	२१४७
अच्चेलक्क लोचो	११४	७९	अणुसज्जमाणए पुण	४५३	६९७
अच्छाहि ताव सुविहिद	३८३	५१६	अणुसट्ठि दादूण	८७७	२०२८
अच्छिणिमेसणमित्तो	७४१	१६५७	अणुसुरी पडिसूरि	२४२	२२४
अच्छीणि संघसिरिणो	४६३	७३१	अण्णम्मि चाकि एदा	११३	७३
अज्ज जिणनंदिगणि	९०७	२१५९	अण्णस्स अप्पणो वा	५०३	८३०
अज्जवसाणट्टाणंत	७९३	१७७५	अण्णस्स अप्पणो वा	५४७	१०१७
अज्जवसाणविसुद्धीए	२६१	२५९	अण्णं अवरज्जंतस्स	५१०	८५८
अज्जवसाणविसुद्धी	२६१	२६१	अण्णं इमं सरीर	७४२	१६६५
अट्टे चउप्पयारे	७५५	१६९६	अण्णं गिण्हदि देहं	७८९	१७६८
अट्ठपदेसे मुत्तूण	७९२	१७७३	अण्णं च एवमादी य	४०१	५६१
अट्ठदल्लिया छिरावक्क	८०७	१८१०	अण्णं पि तथा बत्थुं	२९३	३४०
अट्ठीणि ह्वीति तिण्णि हु	५४८	१०२१	अण्णं व एवमादी	४००	५५९
अड्ढे गिरि दरि सागर	५१०	८५४	अण्णाणी वि य गोवो	४७४	७५८
अणुणुष्णादग्गहणं	६१०	१२०२	अण्णो वि को वि ण गुणो	७३१	१६१९
अणसण अन्नमोयरियं	२३६	२१०	अत्थणिमित्तमदिभयं	५७६	११२३
अणिसूहिदं बल्लविरिया	२८१	३०९	अत्थम्मि हिद्वे पुरिसो	५०९	८५३
अणिदाणो य मुणिवरो	६३८	१२७७	अत्थाण वंजणाण य	८३७	१८७९
अणिवित्तिक्करणणमं	८९०	२०८८	अत्थाण वंजणाण	८३६	१८७६
अणिवुवपरगवहिद्वया	५३४	९५४	अत्थे संतम्मि सुहं	५१०	८५५
अणिवुवभणसा इद्विय	८१९	१८३३	अधिगूहिदा वि दोसा	६७९	१४२६

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
अदिल्लुहयगे वि दोसे	५०९	९३९	अम्भुजदचरियाए	३५९	४५८
अदिवळइ बलं खिप्यं	७६६	१७२१	अम्भुज्जदम्मि मरणे	४४२	६५९
अदिसयदाण दत्तं	२९०	३२९	अम्भुट्टाण च रादो	२४४	२२९
अदिसंजदो वि दुज्जण	२९६	३५०	अम्भुट्टाणं किदियम्मं	१६५	१२१
अद्धा णत्तेण-सावय	२८०	३०८	अभिजोगभावणाए	८५९	१९५४
अद्धाणरोहणे जण	४२१	६१३	अभिणंदणादिया पंच	७०९	१५५०
अद्धाणसणं सब्वा	२३६	२११	अभिभूददुब्बिगंधं	५५२	१०४१
अद्धुवमसरणमेगत	७६१	१७१०	अमणुष्ण संपवोगे	७५५	१६९७
अध खवगसेठि	८९०	२०८७	अमुगम्मि इदो काले	३९१	५३४
अध तेउ-यम्म-सुवक्क	८४७	१९१७	अमुयंतो सम्मत्तं	८२२	१८३८
अध-लोहं सुहुमकिट्ठि	८९१	२०९२	अम्मापिदुसरिसो मे	४५७	७१२
अधिगेसु बहुसु संतेसु	६७८	१४२३	अम्हे वि खमा वेमो	३०५	३८०
अपरिग्गहस्स मुणिणो	६११	१२०५	अयसमणत्थं दुखं	५२०	९०१
अपरिस्साइ णिब्बाववो	३१९	४२०	अरस च अणवेला	२४०	२१८
अपरिस्साइ सम्म	२७३	२९६	अरहट्टघडी सरिसी	४१३	५९४
अप्पच्चओ अकित्ती	५०६	८४२	अरहंतणमोवकारो	४७२	७५४
अप्पपरियम्म उवधि	२११	१६५	अरहतसिद्ध आइरिय	५२०	९००
अप्पपसस परिहरह	२९९	३६१	अरहतसिद्धकेवलि	७३३	१६२८
अप्पाउगरोगिदया	४८८	७९७	अरहतसिद्धचेइय	८३	४५
अप्पा णिच्छरदि जहा	६९२	१४७७	अरहंतसिद्धचेदिय	४६८	७४३
अप्पा दमिदो लोएण	१२४	९०	अरहतसिद्धभत्ती	२८५	३१९
अप्पायत्ता अज्झप्प	३३३	१२६३	अरहंतसिद्धसागर	४०१	५६०
अप्पा य वच्चिओ तेण	६८५	१४४८	अरिहादि अंतिगंती	८७८	२०३२
अप्पो वि तवो बहुग	६८६	१४५४	अरिहे लिंगे सिक्खा	१०५	६६
अप्पो वि परस्स गुणो	३०४	३७५	अलिएहि हसियवयणोहि	५३६	९६३
अबलत्ति होदि जं से	५३८	९७४	अलियं स किपि भणियं	५०६	८४१
अब्भहियजादहासो	४५७	७१०	अवधिट्टाण णिरय	७३८	१८४४
अब्भगादीहि विणा	५५३	१०४२	अवरण्ह रुक्खछाही	७६५	१७१९
अब्भंतरबाहिरए	५७०	११११	अवबादियलिगकदो	१२१	८६
अब्भंतर बाहिरगे	६८४	१४४५	अवहट्ट अट्टरुहे	७५५	१६९९
अब्भंतरसोधीए	६५७	१३४३	अवहट्ट कायजोगे	७४९	१६८९
अब्भतरसोधीए	८४६	१९०९	अविकत्थतो अगुणो	३०१	३६६
अब्भतर सोधीए	८४६	१९१०	अविगट्टं वि तवं जो	२६१	२६०
अब्भावगाससयण	२४४	२२८	अवितक्कमवीचारं	८३८	१८८०

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
अद्वियक्कमवीचारं	८३९	१८८२	आ		
अवि य न्हो जीवाणं	५२४	९१६	आइरिय पादमूले	४१३	५९५
अविरद सम्मादिट्ठी	६५	२९	आउधवासस्स उरं	५७८	११३०
अविरमणं हिसाहो	८१०	१८२०	आउव्वेदसमत्ती	४३०	६२६
अविसुद्ध भावदोसा	८५७	१९४५	आएसस्स तिरत्तं	३१७	४१५
अविसुय असुसिर	८६१	१९६३	आएसं एज्जत्तं	३१४	४१२
अव्वाधादमसंदिद्ध	८९३	२०९८	आकंपिय अणुमाणिय	४०३	५६४
अव्वाबाधं च सुहं	९०३	२१४३	आक्खेवणी कहा सा	४४०	६५५
अव्वोच्छित्तिणिमित्त	२६७	२७७	आक्खेवणी य संवे	४४०	६५४
असदि तणे चुण्णेहं	८६७	१९८६	आगमदो जो बालो	४१५	६००
असमाधिणा व काल	४४८	६७८	आगम माहप्पगओ	४४२	६५८
असिधार व विस वा	७४२	१६६१	आगम सुदआणाधा	३५५	४५१
असिवे दुब्भक्खे वा	७०४	१५३७	आगंतुगवच्छब्बा	३१५	४१३
असुचि अपेच्छणिज्जं	५४६	१०१४	आगंतुधरादीसु वि	४३४	६३८
असुरसुरमणुसक्किण्णर	६०८	२१६३	आगाढे उवसग्गे	८८५	२०६६
असुरपरिणामबहुलत्त	८३०	१८५२	आगासभूमिउदधी	५३४	९५७
असुहा अत्था कामा	८०६	१८०७	आगासम्मि वि पक्खी	७९३	१७७६
अह तिरियउड्ढलोए	७६१	१७०९	आचेलक्कुद्देसिय	३२०	४२३
अहव सुदिपाणय से	३४१	४४७	आणक्खिदाय लोचेण	१२५	९१
अहवा अप्प आसा	६३०	१२५४	आणाभिकखिणावज्ज	२३९	२१६
अहवा चारित्तारा	२४,	८	आणा संजम साखिल्लदा	२८२	३१२
अहवा ज उम्भावेदि	५०१	८२१	आणा ह्वत्तियादीहि	४५४	७०२
अहवा तण्हादिपरी	६९६	१४९६	आदट्टमेव चित्ते	३६९	४८५
अहवा तल्लिच्छाइ	६४१	१२८७	आदपरसमुद्धारो	१४२	११०
अहवा दसणाणव	२१३	१६९	आदहिदपइष्णा भाव	१३२	९९
अहवा समाधिहेदुं	४५६	७०७	आदहिदमयाणंतो	१३५	१०१
अहवा सयबुद्धीए	५००	८१९	आदा कुलं गणो	२५५	२४४
अहवा सरीरसेज्जा	२१५	१७१	आदाणे णिक्खेवे	४९७	८१२
अहवा होइ विणासो	५८१	११४८	आदाणे णिक्खेवे	५८२	११५३
अह सावसेसकम्मा	८४९	१९२४	आदितिय सुसंघडणो	८७९	२०३८
अहिमारण णिवदिम्मि	८८६	२०६९	आदुर सल्ले मोसे	४२६	६१८
अंगसुदे य बहुविधे	३७७	५०१	आपुच्छा य पडिच्छण	१०७	६८
अंतो बहि व मज्जे	५५३	१०४४	आबद्धधिदिदढो वा	६७१	१३९७
अंधलयबहिरमूर्तो	१७५	१३७	आमासण परिभासण	४३८	६४८
			आमंताण आणवणी	६०२	११८९

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
आमंतेक्षण गणि	२६७	२७८	आलंबणोहि मरिदो	८३४	१८७०
आभासयन्मि पक्का	५४४	१००६	आलोइदं असेसं	४०४	५६६
आचरिय उबज्झाए	५२०	८९७	आलोचण गुणदोसे	३६५	४७६
आचरियत्तादिणिदाणे	६२३	१२३४	आलोयणाए सेउजा	२१२	१६८
आचरियधारणाए	२८८	३२५	आलोयणापरिणदो	३१३	४०७
आचरियपादमूले	४१३	५९५	आलोयणापरिणदो	३१३	४०८
आचरियसत्त्ववाहेण	६४०	१२८४	आलोयणापरिणदो	३१३	४०९
आचरियाणं वीसत्त्वदाए	३७३	४९०	आलोयणा हु दुविहा	३९२	५३५
आयंविर्लणिच्चियणी	२६०	२५६	आलोचिदणिस्सल्लो	८०८	२०७८
आयंविलेण सिभ	४५४	७००	आलोचिदं असेस	४१५	६०१
आयापायविदण्हु	१३८	१०५	आलोचिदं असेसं	४१६	६०५
आयार-जीद-कप्पगु	३१४	४११	आलोचेमि य सत्त्वं	४०७	५७३
आयार-जीद-कप्पगु	१७१	१३२	आलोयणं सुणिता	४२५	६१७
आयारत्थो पुण से	३३६	४२९	आलोयणादिया पुण	३९८	५५६
आयारवमादीया	३८८	५२८	आलोयणापरिणदो	३१३	४०६
आयारवं च आघा-	३१८	४१९	आलोयणेण हिदयं	५६३	१०७९
आयार पंचविह	३१९	४२१	आवडणत्थ जह ओ-	६२४	१२३७
आयासवेरभयदुक्ख	३०३	३७२	आवडिया पडिक्कूला	७०१	१५१५
आरण्णओ वि मत्तो	४७६	७६२	आवसघे वा अप्पा	११४	७८
आरंमे जीववहो	४९७	८१४	आवादमेत सोक्खो	७४०	१६५५
आराधणपत्तीयं	४५५	७०५	आवासयठाणादिसु	३१५	४१४
आराधणपत्तीयं	८६७	१९८८	आवासयं च कुणदे	८८१	२०४९
आराधणं असेसं	९०६	२१५८	आसयवसेण एव	२९८	३५८
आराधणाए तत्थ दु	८७५	२०२०	आसव सवर णिज्जर	७४	३७
आराधणापडाय	४७४	७५७	आसागिरिदुग्गाणि य	६४३	१२९८
आराधणापुरस्सर	४७०	७५२	आसादित्ता कोई	४५१	६९१
आराधणाविधी जो	८७५	२०१८	आसादिदा तओ होंति	७३४	१६२९
आराधयित्तु धीरा	९०६	२१५५	आसी अणंतखुत्तो	७२७	१६०१
आराधयित्तु धीरा	९०६	२१५६	आसोय महाजुद्धाहं	५२९	९३६
आराहणाए कण्जे	४१	१९	आसीवसेण अवरुद्धस्स	५१७	८८६
आराहणा भगवदी	९०७	२१६२	आसीविसोम्ब कुविदा	५३०	९४०
आलं जणेदि पुरस्स्स	५३८	९७५	आसुक्कारे मरणे	८८८	२०७७
आलंबणं च वायण	७५९	१७०५	आहट्टिदूण चिरमवि	५२५	९१९
आलंबणं च वायण	८३४	१८६९	आहारत्थं काळण	७३८	१६४६

	पृ० गा०		पृ० गा०
आहारार्थं पुरिसो	७३७ १६४१	इय खरणमधक्खादं	८५२ १९३८
आहारार्थं मज्जा	७३७ १६४२	इय जइ दोसे य गुणे	३६४ ४७४
आहारार्थं हिसइ	७३६ १६३७	इय जो दोसं लहुगं	४१० ५८३
आहारमओ ओवो	३३८ ४३७	इय जे विराधयित्ता	८५९ १९५६
आहिंस्य पुरिसस्स य	७९८ १७९२	इय मायंती खवओ	८४३ १८९७
		इय गिक्खवओ खवयस्स	३७९ ५०८
		इय दइ गुणपरिणामो	२८३ ३१६
इगविगतिगच्चरिदिय	८९१ २०९०	इय दुट्ठयं मथं जो	१७७ १४१
इच्चेवमदिककंतो	८३४ १८७१	इय दुल्लहाए बोहोए	८३३ १८६५
इच्चेवमाइ कवचं	७४५ १६७५	इय पच्छणं पुच्छिय	४११ ५८८
इच्चेवमादि अविचित्तयदो	६२३ १२३२	इय पण्णविज्जमाणो	७४४ १६७३
इच्चेवमादि दुक्खं	७२३ १५८२	इय पयविभागयाए	४२४ ६१४
इच्चेवमादि दोसा	३७५ ४९७	इय पब्बज्जा भंडि	६३९ १२८२
इच्चेवमादि विणओ	१६७ १२४	इय पुब्बकवं इणमज्ज	७३२ १६२३
इच्चेवमादि विविहो	२४० २१९	इय नालपंडियं होदि	८८८ २०८१
इच्चेवमेदमविचि	६३८ १२७८	इय मज्झिममाराधण	८५० १९२७
इच्चेव समणधम्मो	६९० १४७१	इय मुकस्सियमारा	६४९ १९२३
इच्चेव कम्मदओ	७३१ १६१७	इय समभावमुवगदो	८४३ १९००
इट्ठेसु अणिट्ठेसु य	७४७ १६८३	इय सक्खसमिदकरणो	१२१ ८५
इड्ढिमतुलं विउत्थिय	८७९ २०४०	इय सणिरुद्धमरणं	८७२ २००९
इण्हि पि जदि मरमात्ति	७४२ १६६३	इय सामण्णं साहू	४२ २१
इत्थिरियं सव्वगणं	२२० १७९	इय सो खवओ ज्ञाणं	८४० १८८४
इत्थि विषयाभिलासो	५१४ ८७३	इय सो खाइयसम्मत्त	९०५ २१५०
इत्थी वि य जं लिंगं	११५ ८०	इय सव्वत्थवि संवर	८२३ १८३९
इदि पंचहि पंचहदा	६५९ १३४८	इय सल्लीण मुवगदो	२४९ २३५
इध किं पर लोगे वा	८०४ १७९८	इरियादाण्णिल्लेवे	१२९ ९५
इय अट्ठगुणो वेदो	३८० ५०९	इहइ परलोमो वा	६३४ १२६६
इय अण्य परस्सममग	३५९ ४५९	इह परलोइय दुक्खसाणि	७३७ १६४३
इय अब्बत्तं जइ सा	४१३ ५९३	इह परलोए जदि दे	५६७ ११०१
इय आलंबण मणुपेहा	८३३ १८६८	इह य परत्त य लोए	६७५ १४१३
इय उज्जुभावमुवगदो	३९९ ५५५	इय य परत्त य लोए	६७८ १४२१
इय एदे पंचविधा	६४६ १३०९	इह य परत्त य लोए	६७८ १४२५
इय एस लोणधम्मो	८०६ १८०५	इह य परत्त य लोए	६८० १४३०
इय एसो पच्चक्खो	१६९ १२८	इह य परत्त य लोए	६८० १४३३
इय ख्खामिय वेरणं	४५८ ४१४	इह य परत्त य लोए	६८६ १४५३

	पृ० गा०		पृ० गा०
इह लोइय परलोइय	५०७ ८४५	इ'दिय सामगीवि	७६४ १७१६
इह लोए परलोए	८८० २०४५	इ'दियसुह साउलओ	२२७ १९१
इह लोए वि महल्लं	५२७ ९२९		
इहलोग बधवा ते	७७५ १७४६		
इहलोगिय परलोगिय	८०७ १८०८	ईसप्पभाराए	८९९ २१२७
इंगालो धोव्वंते	५५२ १०३८	ईसालुयाए गोवव	५३१ ९४४
इंगालो धुव्वंते	८०८ १८११		
इ'दियकसायउवधीण	२१४ १७०		
इ'दियकसायगुरुगत्त	६४१ १२८९	उक्कवेज्ज व सहसा	३३९ ४४१
इ'दियकसायगुरुगत्त	६४२ १२९४	उक्कस्सएण छम्मासाउग	८९४ २१०३
इ'दियकसायगुरुगत्त	६४४ १३०१	उक्कस्सएण भत्तप	२५१ २५४
इ'दियकसायगुरुगत्त	६४५ १३०६	उक्कस्सा केवल्लिणो	९५ ५०
इ'दियकसायचोरा	६७२ १४०१	उग्गम उप्पादण एसणा	२४५ २३२
इ'दियकसायजोगणि	७५६ १७००	उग्गम उप्पादणेसणा	३१८ ४१७
इ'दियकसायणिग्गह	६५६ १३३९	उग्गम उप्पादणएसण	४३२ ६३५
इ'दियकसायदुह' तस्सा	६७० १३९१	उग्गम उप्पायणए	६०४ ११९१
इ'दियकसायदोसेहि	६४६ १३०७	उग्गाहि'तस्सुदधि	५६८ ११०३
इ'दियकसायदोस	६५५ १३३८	उच्चत्तणम्मि पीदी	६२० १२२६
इ'दियकसायदुह' तस्सा	६७० १३९०	उच्चत्तण व जो णीच	६२० १२२७
इ'दियकसायपणिधा	१४६ ११४	उच्चासु व णीचासु व	६१८ १२२३
इ'दियकसायपण्णग	६७० १३९२	उज्जस्सो तेजस्सी	३६८ ४८०
इ'दियकसायमइला	६५६ १३४०	उज्जुय भावम्मि असत्त	५३६ ९६७
इ'दियकसायमइओ	६५२ १३२६	उज्जोवणमुज्जवण	७ २
इ'दियकसायवसगो	६१३ १३३०	उज्झा'ति जत्थ हत्थी	७३० १६१३
इ'दियकसायवसगो	६५५ १३३६	उड्डहणा अदिचवला	६७२ १३९८
इ'दियकसायवसिया	६४६ १३०८	उड्डाहकरा थेरा	३०७ ३८८
इ'दियकसायसण्णा	५६५ १०८८	उद्धे सअं'कवड्ढिय	३०९ ३९५
इ'दियकसायहत्थी	६७३ १४०३	उण्हं वाद उण्ह	७०८ १५४३
इ'दियकसायहत्थी	६७३ १४०४	उत्तरगुण उज्जमणे	१५० ११८
इ'दियकसायहत्थी	६७३ १४०५	उदए पवेज्जहि सिला	५३६ ९६६
इ'दियकसायवग्घा	६७२ १४०२	उदयम्मि जायवड्ढिय	५६८ ११०२
इ'दियगहोवसिट्ठो	६५२ १३२४	उद्धुदमणस्स ण रदी	७३९ १६५१
इ'दियचोरपरद्धा	६४३ १२९५	उद्धुयमणस्स ण सुहं	६३२ १२६१
इ'दियदुह' तस्सा	८१८ १८३१	उप्पाडिस्ता धीरा	३६४ ४७३
इ'दियमयंसरीरं	५८३ ११५७	उग्गासेज्ज व गुणसे	६९७ १४९८

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
उम्मग्गदेसणो मग्ग	२२४	१८६	एदाओ पंच वि वज्जिय	२२५	१८८
उम्मत्तो होइ णरो	५८२	११५१	एदारिसम्मि धेरे	४३०	६२८
उयसय पडिदावण्णं	८६३	१९७२	एद्दासु फलं कमसो	८६२	१९६७
उल्लाव समुबल्लावाहि	५६३	१०८२	एदाहि भावणाहि य	२१५	१८७
उल्लीणोल्लीणेहि	२५६	२४८	एदाहि भावणाहि हु	६१२	१२०७
उवएसो पुण भायारि	८८२	२०५४	एदाहि सदा जुत्तो	६०५	११९४
उवगहिदं उवकरणं	८६७	१९८७	एदे अत्थे सम्मं	५५८	१०६३
उवगूहणं ठिदिकरणं	८१	४४	एदे गुणा महल्ला	२९०	३३१
उवगूहणादिया पुब्बुत्ता	१४६	११३	एदेण च्चव भणिदो	९०४	२१४९
उवसग्गेण वि साहरिदो	८८५	२०६४	एदेण च्चव पदिट्ठा	६०५	११९३
उवसमइ किण्ह सप्पा	४७५	७६१	एदे दोसा गणिणो	३१०	३९८
उवसम दयावमाउह	८१८	१८३०	एदे सव्वे दोसा	३१०	३९९
उवसतवयणमगिहत्य	१६८	१२६	एदे सव्वे दोसा	५१३	८६९
उव्वादो तददिवसं	३१८	४१८	एदे सव्वे दोसा	५२७	९३०
उस्सगियर्यालगकदस्स	११३	७६	एदेसि दोसाणं	५०७	८४६
उस्सरइ जस्स चिरमवि	१११	७४	एदेसि दोसाण	५८५	११६१
उंदुरकदं पि सहं	५११	८६३	एदेसि लेस्साणं	८४५	१९०४
			एदेसु दससु णिच्चं	३३५	४२४
			एदं इगिणि मरणं	८८३	२०५६
			एयग्गेण मणं	७५७	१७०३
			एयत्त भावणाए	२३३	२०२
			एयसमएण विष्णुणदि	४५८	७१७
			एयस्स अप्पणो को	७०२	१५१९
			एयाए भावणाए	२३५	२०६
			एयाणेयमवगदं	७६१	१७०८
			एया वि सा समत्था	४६८	७४५
			एवमणुद्धदोसो	३९३	५३९
			एवं जघाक्खादविधिं	८४८	१९२०
			एवमधक्खादविधिं	८८३	२०५५
			एवमवलामाणो	२५०	२३७
			एवमवि दुल्लहपरं	३३८	४३४
			एवं अट्ठवि जामे	८८१	२०४७
			एवं अधियासेतो	७४६	१६७८
			एवं आउच्छिता	३०६	३८६
			एवं आउच्छिता	६९७	१५०१

ए

एइदियेसु पंच वि	७९५	१७८३
एए अण्णे य बहु	५४०	९८५
एक पदिब्बइ कण्णा	५४१	९९१
एकम्मि वि जम्मि पदे	४७९	७७४
एक्कं पि अक्खरं जो	१०२	६१
एक्कं व दो व तिण्णि य	३११	४०४
एगमवि भावसल्लं	३९४	५४२
एकम्मि च्चव देहे	६३५	१२६७
एमविगतिसचउ	७८८	१७६७
एगम्मि अवग्गहणे	४४९	६८१
एगत्तां साल्लोगा	८६०	१९६२
एगुत्तरसेठीए	२३८	२१४
एगो जइ भिज्जवओ	४४६	६७३
एगो संधारगदो	३८५	५२१
एदम्मि णवरि मुणिणो	२८२	३१४
एदाउ अट्ठ पवग्गण	६०७	११९९

	पृ० गा०		पृ० गा०
एवं आराधिता	१०६ २१५४	एवं पंडियमरणं	८८६ २०७१
एवं आसुक्कारभरणे	८७५ २०१९	एवं पि कीरमाणो	६९६ १४९५
एवं इहह पयहिय	८९९ २१२६	एवं पिण्डसंवर	८२६ १८४९
एवं उगगम उप्पाद	२५६ २४७	एवं भावं माणो	२३५ २०७
एवं उवसगगविधिं	८८० २०४४	एवं महाणुभावा	४४५ ६६९
एवं एवं सब्वं	७२६ १५९७	एवं मूढमदीया	८५८ १९५१
एवं एदे अत्थे	५५८ १०६२	एवं वासारत्ते	४३१ ६३०
एव एसा आराधणा	१०६ २१५७	एवं विचारयित्ता	२०६ १५८
एव कदकरणिज्जो	५९० ११७५	एवं विसगिगभूदं	५१५ ८७५
एवं कदपरियम्मो	२६५ २७२	एवं सदि परिणामो	२१० १६३
एवं कदे णिमग्गे	३८२ ५१४	एवं सम्मं सट्टरस	६७५ १४१४
एवं कसायजुद्धम्मि	८४० १८८६	एवं सरीरसल्ले	२६० २५८
एवं कालगदस्स दु	८६० १९६०	एवं सब्वत्थेसु वि	७४९ १:९०
एवं केई गिहिवा	६४९ १३१९	एवं सब्वे देहम्मि	५५० १०३१
एवं खवओ कवचेण	७४६ १६७७	एव संथारगदस्स	६९४ १४८८
एवं खवओ संथारगओ	६९३ १४८४	एवं संथारगदो	८५२ १९४०
एवं खु बोसरित्ता	३९८ ५५३	एवं सारिज्जंतो	६९८ १५०३
एवं च णिक्कमिन्ता	८७७ २०२९	एवं सुभाविदप्पा	८४८ १९१८
एवं चदुरो चदुरो	४४६ ६७१	एवं सुभाविदप्पा	७४८ १६८६
एवं चेट्ठंतस्सवि	५७९ ११३५	एस अखडियसीलो	३०४ ३७७
एवं ज ज पस्सदि	५०८ ८४९	एस उवाओ कम्मा	६८४ १४४४
एवं जाणत्तेण वि	३९० ५३१	एसणणिक्खेवादा	६०७ १२००
एवं जो महिलाए	५६७ ११००	एसा गणधरथेरा	२७२ २९२
एवं णाट्ठण तव	६९० १४६९	एसा भत्तपइण्णा	८७६ २०२३
एवं णिप्पडियम्मं	८८४ २०६३	एसो सब्वसमासो	३०४ ३७६
एवं णिरुद्धदरयं	८७४ २०१५		
एवं तुज्जं उवएसेण	६९३ १४८०		
एवं तु भावसल्लं	३६२ ४६८	ओगाइगाइणिचिदो	८१० १८१८
एवं दंसणभाराहंतो	९३ ४७	ओग्घेण ण बूढाओ	५४१ ९९३
एवं पडिकमणाए	४५९ ७१८	ओघेणालोचेदि हु	३९२ ५३६
एवं पडिट्ठवित्ता	८६८ १९९०	ओमोदरिए घोराए	७०७ १५३९
एवं परजणदुक्खे	५२६ ९२४	ओल्लं संसं बत्थ	८९५ २१०७
एवं परिमग्गिस्ता	३८० ५१०	ओसण्ण सेवणाओ	६४१ १२८८
एवं पवयणसारसु-	४३० ६२७		
एवं पंडिवपंडिद	९०५ २१५३	कक्कसवयणं णिट्ठुर	५०२ ८३४

ओ

क





	पृ० गाथा		पृ० गाथा
किह् पुण ऋचदसमासे	५४५ १००८	कूड हिरण्णं जह् णिच्छएण	४१५ ६०२
किञ्चि व दिट्ठिमुपावत्त	७५६ १७०१	केई गहिदा इदिय चोरेहि	६४१ १२९०
किं जंपिएण बहुणा	६९३ १४८१	केई अग्गीमदिग्गदा	७०३ १५२३
किं जंपिएण बहुणा	८५१ १९३५	केई विमुत्तसंगा	७०५ १५३२
किं णाम तेहि लोगे	८६९ १९९७	केदूण विसं पुरिसो	४०४ ५६७
किं पुण अणयार सहा	७१० १५५४	केवलकप्पं लोणं	८४८ १९२०
किं पुण अवसेसाणं	२७८ ३०५	केसा संसज्जंति हु	१२२ ८७
किं पुण कठपाणो	७४० १६५३	कोई डहिज्ज जह् चंदनं	८१२ १८२४
किं पुण कुलगण सघस्स	७०५ १५२९	कोई तमादयित्ता	४५२ ६९४
किं पुण गुणसहिदाओ	५४० ९८९	कोई रहस्सभेदे	३७४ ४९३
किं पुण छुहा व तण्हा	६९३ १४८२	को इत्थ मज्झ माणो	६७८ १४२२
किं पुण जदिणा ससा-	७०४ १५२६	को एत्थ विभओ दे	७४० १६५४
किं पुण जीवणिकाये	७२८ १६०७	कोढी संतो लद्धूण	६१६ १२१७
किं पुण जे ओसण्णा	८५३ १९४३	को णाम अप्पसुखस्स	७४१ १६५९
किं पुण तरुणो अबहुस्सु	५६६ १०९३	को णाम णिरुव्वेगो	६८३ १४४०
किं पुण तरुणो अबहुस्सु	२९१ ३३४	को णाम णिरुव्वेगो	६८३ १४४१
किं मज्झ णिरुच्छाहा	८५८ १९५२	को णाम भडो कुलजो	७०१ १५१३
किं मे जंपदि किं मे	५६७ १०९८	को तस्स दिज्जइ तवो	४११ ५८७
कुट्टाकुट्टि चुण्णाचुण्णि	७१५ १५६६	कोध भय लोभ हस्स	६१० १२०१
कुणदि य माणो णोचा	६२१ १२३०	कोधं खमाए माणं	२६२ २६२
कुण वा णिहामोक्खं	६८४ १४४३	कोधो माणो माया	५७५ ११२१
कुणह अपमादभावासएसु	२७४ २९८	कोधो सत्तुगुणकरो	६६२ १३५५
कुणिमकूडिभवा लहुगत्त	८०७ १८०९	कोसंवी ललिय घडा	७०७ १५४०
कुणिमकुडी कुणिमेहि य	५४८ १०२०	कोसलय धम्मसीहो	८८६ २०६७
कुणिमरस कुणिमगंधं	५५८ १०६१	कोसि तुमं किं णामो	६९७ १५००
कुद्धो वि अप्पसत्थं	६१५ १२१२	कोहस्स य माणस्स य	२६२ २६३
कुलगामणयररज्जं	२७३ २९५	कोहो माणो लोभो	६६७ १३८१
कुलजस्स जसमिच्छलं	६५२ १३३७		
कुलरूवतेयभोगा	७९९ १७९६	खणणुत्तावणवालाण	२३१ २००
कुलरूवाणाबलसुद	६६४ १३६९	खणमेत्तेण अणादिय	८७५ २०२१
कुविदो व किण्हसप्पो	५३५ ९६०	खमदमणियमधराण	९०८ २१६४
कुव्वतस्स वि जत्तं	४८५ ७८६	खवओ गिलामिदंगो	३६० ४६०
कुसमुट्ठि वेत्तूण य	८६४ १९०६	खवग पडिजग्गणाए	४४६ ६७४
कुसुममगंधमवि जहा	२९७ ३५३	खवगस्स घरदुवारं	४४४ ६६५
कुभीपाएसु तुम	७१६ १५६८	खवयस्स अप्पणो वा	४४७ ६७५



	पृ०	मा०		पृ०	मा०
चत्तारि जणा रक्खंति	४४३	६६२	छेदणबंधणवेडण	५८२	११५४
चत्तारि महावियडीओ	२३८	२१५	छेदणभेदणडहर्ण	७२२	१५७८
चत्तारि सिराजालाणि	५४८	१०२३			
चदुरगाए सेणाए	४७३	७५६	ज		
चदुहिं समएहिं	८९६	२१०५	जइ कहवि कसायग्गी	२६२	२६५
चमरीबालं खगिगवि	५५३	१०४५	जइदा उच्चतादी णिदाणं	६२३	१२३३
चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो	२९,	१०	जइदा खंडसिलोमेण	४७८	७७१
चरमसमयम्मि तो सो	८९८	२११९	जइ दे कदा पमार्णं	७३४	१६३०
चरिगएहिं कत्थमाणो	३०२	३७०	जइ भाविज्जइ गवेण	२९४	३४४
चरिया छुहाव तण्हा	१९१	१४९	जच्चंघवहिरमूओ	७९५	१७८२
चंक्रमणे य ट्ठाणे	४०९	५८२	जणण मरणादि रोगा	६८७	१४५६
चदो हविज्ज उण्हो	५४०	९८४	जणणी वसंततिलया	७९८	१७९४
चदो हीणो य पुणो	७६५	१७१७	जणपायडो त्रि दोसो	६७९	१४२८
चंपाए मासखमणं	७०७	१५४१	जणवदसम्मदि ठवणा	६७०	११८७
चायम्मि कीरमाणे	४४७	६७६	जत्तो विसाए गामो	८६५	१९८०
चारणकोट्टगकल्लाल	४३२	६३३	जत्तासाधणचिह्नकरण	११६	८१
चालणिगयं व उदय	१७४	१३५	जत्तो पाणवधादो	५०२	८२५
चिट्ठति जहा ण चिर	५३५	९५८	जत्थ ण जादो ण मदो	७९०	१७७०
चित्तपडं व विचित्त	८९३	२०९५	जत्थ ण विसोत्तिग अत्थि दु	२४४	२३०
चित्तं समाहिदं जस्स	१७३	१३४	जत्थ ण होज्ज तणाइ	८६४	१९७८
चेयतो वि य कम्मोदएण	६९८	१५०५	जत्थेव चरइ बालो	६०६	११९७
चेलादि सब्वसंगच्चाओ	५७२	१११६	जदणाए जोगपरिभाविदस्स	२२९	१९७
चेलादीया सगा	५८२	११५२	जदि अधिवाधिज्ज तुमं	६८१	१४३५
चोइसदसणवपुव्वी	३३६	४३०	जदि कोइ मेरुमत	७११	१५५८
चोरस्स णत्थि हियए	५१०	८५६	जदि तस्स उत्तमंगं	८६८	१९९३
चोरो वि तह सुवंगो	६६०	१३१२	जदि तारिसिया तण्हा	७२७	१६०२
			जदि तारिसाओ तुम्हे	७२६	१५९९
			जदि तेसिं बाधादो	८६१	१९६६
			जदि दा अभूतपुव्वं	७३३	१६२५
			जदि दा एवं एदे	७१०	१५५३
			जदि दा जणेइ मेहुण	५२६	९२२
			जदि दा तह अण्णाणी	७०४	१५२५
			जदि दा रोगा एकम्मि	५५४	१०४८
			जदि दाव विहिसज्जइ	५४६	१०१५
			जदि दा विहिसदि णरो	५५३	१०४३
			जदि दा सब्बदि असतेण	६७५	१४१५
छट्ठट्ठमवसमदुवा	१४१	१०८			
छट्ठट्ठमवसमदुवा	२५९	१५३			
छड्डिय रयणाणि जहा	८१३,	१८२५			
छत्तीसगुणसमण्णा	३८८	५२७			
छदुमत्थदाए एत्थ दु	९०७	२१६१			
छगलं मुत्तं दुद्धं	५५४	१०४६			
छेतस्स बदी णयरस्स	५९८	११८३			

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
जदि वा सुखाविदम्पा	८५६	१९४२	जलिदो हु कसायग्गी	२६४	२६८
जदि दिवसे संघिट्ठदि	८६८	१९९१	जल्लविलित्तो देहो	१२८	६४
जदि धरिसणभेरिसयं	३७५	४९६	जस्स पुण उत्तमट्टम	४४९	६८९
जदि पवयणस्स सारो	४०	१८	जस्स पुण भिच्छदिट्ठिस्स	१०२	६०
जदि मूलगुणे उत्तर	४११	५८६	जस्स य कदेण जीवा	१७७	१३९
जदि वा एसण कीरेज्ज	८६३	१९७१	जस्स वि अब्बभिचारी	११३	७७
जदि वा सवेज्ज संतेण	६७६	१४१६	जह अप्पणो गणस्स य	६९२	१४७८
जदि वि कर्हचि वि गंथा	५७९	११३६	जह आइच्चमुदितं	७७२	१७३५
जदि विक्खादा भत्तप	८६३	१९७३	जह इंधणेहि अग्गी	६३१	१२५८
जदि वि य से ऋरिमतं	७४८	१६८५	जह इंधणेहि अग्गी	७३९	१६४९
जदि वि विक्किचदि जंतू	५८३	११५५	जह इंधणेहि अग्गी	६४५	१९०७
जदि विसमो संथारो	८६५	१९७९	जह कवचेण अभिज्जेण	७४५	१६७६
जदि विसयगंधहत्थी	६७३	१४०६	जह कंटएण विद्धो	३९३	५३८
जदि वि सयं धिरमुद्धी	२९२	३३५	जह कसिय भिगारो	४०९	५८१
जदि सो तत्थ मरिज्जो	५७८	११३१	जह कुंडजो ण सक्को	५७१	१११४
जदि होज्ज मच्छयापत्त	५५०	१०३३	जह कोइ तत्तलोहं	६६१	१३५६
जध इ धणेहि अग्गी	५७९	११३७	जह कोइ लोहिदकयं	४१६	६०६
जध उग्गविसा उरगो	६६३	१३६२	जह कोडिल्लो अग्गि	६२८	१२४५
जध करिसयस्स धणं	६६३	१३६१	जह गहिदवेयणो विय	६९०	१४७०
जध कोडिसमिद्धो वि	६६६	१३७६	जह जह गुणपरिणामो	२८४	३१७
जध तंहुलस्स को-	८४६	१९११	जह जह गिज्जेदसमं	८१८	१८५८
जध भिक्खं हिज्जतो	६५३	१३२९	जह जह भुंजइ भोगे	६३१	१२५६
जध सण्णद्धो पग्गहिद	६५३	१३२८	जह जह मण्णेइ णरो	५३३	९५२
जमणिच्छंती महिलं	५२६	९२५	जह जह वयपरिणामो	५५९	१०६५
जम्मण अभिणिक्खवणे	१८२	१४५	जह जह सुदमोग्गाहदि	१३७	१०४
जम्मणमरणजलोर्धं	९०५	२१५२	जह ण करेदि तिग्गिच्छं	३६८	४५५
जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिए	८०९	१८१५	जह णाम दब्बसल्ले	३६२	४६६
जम्हा असच्चवयणादिएहि	४८६	७९०	जह णीरसं पि कड्डयं	६७४	१४०९
जम्हा ऋरिससारो	३५	१४	जह ते ण पियं दुक्खं	४८०	७७३
जम्हा णिगंथो सो	५८७	११६६	जह्दि व थिययं दोसं	२९६	३५२
जम्हा सुदं वितक्कं	८३५	१८७५	जह धरिसिद्धो इमो तह	३७४	४९४
जम्हा सुदं वितक्कं	८३७	१८७८	जह पक्खुभिदुम्मीए	३७८	५०५
जम्हि य वारिदमेत्ते	१७७	१४३	जह पत्थरो पडंतो	८४६	१९०८
जळचेदणससिमुत्ता	५०३	८९९	जह परमण्यस्स विसं	५०५	८३९

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
जह पञ्चवैसु मेरु	४८५	७८४	जं पणपरिभवणियडिप-	५२४	११५
जह बालो जंप्पंतो	३९६	५४९	जं पाणयपरिम्मम्मि	४५६	७०८
जह बाहिरलेस्साओ	८४४	१९०१	जं बद्धमसंखेज्जाहि	४५८	७१६
जह भेषजं पि दोसं	१००	५७	जं भज्जिंदोसि भज्जिदगपि	९१७	१५६९
जह मक्कड्ढओ खणमवि	४७६	७६३	जं वो गरहिदवयणं	५०१	८२३
जह मक्कड्ढओ धादो	५०८	८४८	जं वा दिसमुवणीदं	८६८	१९९२
जह मारुओ पवडुइ	५०८	८५०	जं बेलं कालगदो	८६२	१९६८
जह रायकुलपसूओ	४१	२०	जं सब्बे देवगणा	९०३	२१४४
जह वा अगिस्स सिहा	८९९	२१२४	जं होदि अण्णदिट्ठं	४०८	५७६
जह वाणियग्ग सागर	७४३	१६६८	जा अवरदक्खिणाए	८६१	१९६४
जह वाणिया य पणियं	६२४	१२३८	जा उवरि उवरि गुणपडिवत्ती	२१७	१७३
जह बालुयाए अवडो	४०८	५७८	जागरणत्थं इच्चैवमादिकं	६८३	१४३८
जह सीलरक्खयाणं	५४०	९८८	जाणदि फासुयदब्बं	३४०	४४६
जह सुकुसुलो वि वेज्जो	३८९	५३०	जाणह य मज्झ थामं	४०७	५७२
जह सुत्तबद्ध सउणो	६३६	१२७२	जाणं तस्मादहिदं	१३५	१०२
जं अण्णाणी कम्मं	१४१	१०७	जाणइय मज्झ एसो	४१६	६०४
जं असभूदुब्भावण	५००	८२०	जाविकुलं सवास	५१९	८९३
जं अत्ताणो णिप्पडियम्मो	७२२	१५७९	जादो खु चारदत्तो	५६२	१०७६
जं अबद्धदो उप्पाडिदाणि	७१६	१५६७	जाधे पुण उवसग्गे	८७९	२०३७
जं एवं तैल्लोकं	४८४	७८२	जा रायादिणियत्ती	५९५	११८१
जं किञ्चि खादि जं किं	५४७	१०१८	जालस्स जहा अत्ते	६३५	१२६९
जं कूडसामलीए दुक्खं	७१०	१५६२	जावइयाइं तणाइं	५३४	९५६
जं खाविओ सि अवसो	७१४	१५६५	जावइयाइं दुक्खाइं	४८८	७९९
जं गढभवासकुणिम	७२६	१५९६	जावइया किर दोसा	५१५	८७७
जं चडवडित्तकरचरणंगो	७१८	१५७५	जावज्जीवं सब्बाहारं	४५५	७०३
जं च दिसावेरमणं	८८७	२०७५	जाव ण वाया खियदि	८७३	२०१३
जं छोडिओ सि जं मोडिओसि	७१७	१५७२	जावदियाइं कल्लाणाइं	८२७	१८५३
जं जस्स दु संठाण		२१२९	जावदियाइं सुहाइ	७९४	१७७९
जं जीवणिकायवहेण	४९६	८१०	जावदिया रिद्धीओ	८५१	१९३३
जं णत्थि सब्बबाधा	९०२	२१४०	जाव य खेमसुमिक्खं	२०८	१६१
जं णिज्जरेदि कम्मं	२४९	२३६	जाव य सदी ण णस्सदि	२०७	१६०
जं णीलमड्ढवत्तसलोह	७१४	१५६४	जावय बलविरियं से	८७२	२००८
जं दुक्खं संपत्तो	७२५	१५९२	जावत्ति किञ्चि दुक्खं	७४२	१६६२
जं दीहकालसंवासदाए	२६७	२७९	जावत्ति केइ भोगा	६३०	१२५५

	पु०	गा०		पु०	गा०
जावति केह संग	५९०	११७४	जे वि अहिंसाविगुणा	९९	५६
जावतु किचि लोए	९०२	२१३९	जे वि हु जहणिय तेउ-	८५१	१९३४
जावति केह संग	२६३	२६६	जेसि आउसमाइ	८९५	२१०४
जावतु केह संग	२२१	१८०	जेसि हवति विसमाणि	८९५	२१०५
जा सम्बसुंदरंगी	५५५	१०५०	जे सेसा सुक्काए	८४७	१९१४
जाहे सरीरबेटठा	७४८	१६८७	जे अप्प सुक्खहेदु	६१५	१२१५
जिणपडिरुव विरियारो	११९	८४	जे अभिलासो वसएसु	८१२	१८९३
जिणघयणममिदभूवं	७१०	१५५५	जे अवमाणगकरण दोस	६७८	१४२४
जिणसिद्धसाहुधम्मा	२८७	३२४	जे उवविषेदि सक्खा	८७०	१९९९
जिदणिहा तल्लिच्छा	४४४	६६६	जे ओलगादि आरा	८७१	२००३
जिदरागो जिददोसो	७५०	१६९३	जे हु सदिविप्पहणो	८२२	१८३७
जिष्भाए वि लिहंतो	३६८	४८३	जे गच्छिज्ज विसादं	७०५	१५३०
जिष्भामूलं बोलेह	७४०	१६५६	जेगाभाविककरणो	४५	२२
जीवगदमजीवगदं	४९२	८०४	जेगेहिं विचितोहिं दु	२५९	२५५
जीववहो अप्पवहो	४८७	७९३	जेगमकारिज्जंतो	२२७	१९२
जीवस्स कुजोणिगदस्स	६३६	१२७१	जेगं कारिज्जंतो	२२८	१९४
जीवस्स णत्थि तित्ती	६३१	१२५७	जे जस्स वट्टुदि हिदे	७८४	१७५८
जीवस्स णत्थि तित्ती	७३८	१६४८	जे जाए परिणमिता	८४७	१९१६
जीवाण णत्थि कोई	७७१	१७३०	जे जारिसओ कालो	४४५	६७०
जीवो सु मित्त चिता	७४९	१६९१	जे जारिसीय मेत्ती	२९५	३४५
जीवो अणादिकालं	४६२	७२७	जे णिकस्रवणपवेसे	३५९	४५७
जीवो कसायबहुलो संतो	४९७	८११	जे पुण इच्छदि रमिदु	६३३	१२६२
जीवो बंभा जीवम्मि	५१३	८७२	जे पुण एवं ण करिज्ज	६९८	१५०२
जीवो मोक्खपुरक्कड	८२७	१८५१	जे पुण धम्मो जीवेण	७७६	१७४७
जुण्णं पोच्चल मइलं	५६५	१०९०	जे पुण मिच्छादिट्ठी	९७	५४
जुण्णो व दरिदो वा	५३२	९५०	जे भत्तपदिण्णाए	८७६	२०२४
कुत्तस्स तवपुराए	४४२	६६०	जे भत्तपदिण्णाए	८८८	२०७९
कुत्तो पमाणरइओ	४३६	६४४	जे भाक्खणमोक्कारेण	४७३	७५५
कुम्भाहिं य लिक्खाहिं	१२३	८८	जे महिलासंसग्गी विसंब	५६६	१०९६
के आसि सुभा एण्हि	६७४	१४१०	जे विच्छतं संतूण	८६०	१९५९
जे कारवो हिं रहिवा	३९६	५४६	जे वि य विणिप्पडंतं	१७९	१४२
केट्टामूले जोण्हे	५१८	८९०	जे वि य विराधियदंसण	८६५	१९८१
जेजेगेमेव दब्बं	८३७	१८७७	जे सक्करं पि पलितं	२७०	२८६
जे पुण सम्मन्नाओ	९७	५३	जे सम्मत्तं सवथा	८५९	१९५७
			जे होदि जवाछंथो	६४५	१६०५

	पृ०	गाथा	पृ०	गा०
झाणं करेइ खवयस्सो	८४१	१८८८	४१७	६०९
झाणं कसायडाहे	८४२	१८९३	५०४	८३२
झाणं कसायपरचक्क	८४२	१८९४	७३५	१६३६
झाणं कसायरोगेसु	८४२	१८९५	८६५	१९८२
झाणं कसायवादे	८४२	१८९२	४८५	७८३
झाणं किलेससावद	८४२	१८९१	७४२	१६६४
झाणं पुषत्तसवितक्क	८३४	१८७२	१९२	१५०
झाणं विसयकुहाए	८४२	१८९६	७५४	१६९५
झाणागदेहि इदिय	६७०	१३९३	७०४	१५२८
झाणेण य तह अप्पा	८९८	२१२३	३०१	३६४
झाणेण य तेण अधक्खा	८९२	२०९४	४७९	७७३
झायतो अणगारो	८५२	१९४१	६६५	१३७४
			५७४	१११८
			६२९	१२४९
			४१४	५९७
			५१८	८८९
			८०८	१८१४
			८८३	२०५८
			७४३	१६६७
			६५५	१३३७
			६६९	१३८९
			८२४	१८४४
			६९९	१५०६
			६९५	१४९३
			४७७	७.६
			२७१	२८८
			२७१	२८९
			८५०	१९३०
			२२२	१८३
			३१	११
			४७८	७६९
			६५४	१३३३
			६५४	१३३१
			४७८	७६८
			६५४	१३३२



	पृ०	गा०		पृ०	गा०
णामं पि गुणे णासेदि	६५४	१३३४	णिद्धं महुरं हिदयं	३६६	४७८
णानादेसे कुसलो	१९२	१५०	णिधणमभयभवे	७३५	१६३५
णानुज्जोएण विणा	४७८	७७०	णिद्धं महुरं हिदयंमं	४३९	६५२
णानस्य केवलीणं	२२२	१८३	णिच्चं पि निसयहेहुं	५२१	९०२
णानुज्जोओ जोओ	४७७	७६७	णिधणमभणं एयभवे	७२९	१६०९
णाने दंसणसववीरिये	४२०	६१२	णिप्पत्त कंटइल्लं	४००	५५७
णानेण सम्भवावा	१३३	१००	णिप्पादिता सगणं	८७६	२०२६
णानोवओगरहिदेष	४७४	७५९	णिरएसु वेवणामो	७११	१५५७
णामक्खयेण तेजो	८९८	२१२०	णिरयकडिमम्मि पत्तो	७१२	१५६१
णावाए णिव्वुडाए	७०७	१५३८	णिरयगादियाणुपुच्चि	८९०	२०८९
णावागदाव बहुगइ	७६३	१७१३	णिरयसिरक्खगदीसु य	७११	१५५६
णासदि बुद्धी जिग्भावसस्स	७३६	१६३९	णिरुवक्कमस्स कम्मस्स	७७१	१७२९
णासदि मदी उदिण्णे	७६७	१७२४	णिलओ कलीए अलियस्स	५३८	९७६
णासेज्ज अगीदत्थो	३३७	४३१	णिवदि विहूणं खेतं	२७३	२९७
णासेदूण कसायं	६६२	१३५८	णिच्चवएण तदो से	३७६	५०७
णासो अत्थस्स खओ	५३९	९७८	णिच्चाणस्स य सारो	३५	१३
णिउण विउल सुद्धं	१३०	९८	णिच्चावइत्तु ससार	९०२	२१३८
णिकखवणपवेसादिसु	१९३	१५२	णिसिदिता अप्पाणं	४३६	६४५
णिकखेवो णिव्वत्ती	४९५	८०७	णित्सल्लस्सेव पुणो	६१२	१२०८
णिग्गहिदिदियदारा	२८३	३१५	णित्सल्लो कदसुद्धी	४५९	७२०
णिग्गंथं पच्चयणं	७८	४२	णित्संगो चं व सदा	५८८	११६९
णिच्च दिया य रत्ति	५११	८६२	णित्संधी य अपोल्लो	४३६	६४३
णिच्चं पि अमज्जात्थे	६७२	१३९९	णीच्चत्तणं व जो उच्चत्तं	६२१	१२२८
णिज्जवया आयरिया	४५९	७१९	णीचं ठाणं णीचं	१६५	१२२
णिज्जावया य दोणिवि	४४६	६७२	णीचो व णरो बहुग	५१९	८९५
णिज्जुद्धं पि य पासिय	३४०	४४५	णीचं पि कुणदि कम्मं	५२१	९०३
णिहं जिणाहि णिच्चं	६८१	१४३४	णीचो वि होइ उच्चो	६१८	१२२२
णिहूजओ य दढमाणदा	२५४	२४३	णीयल्लवो व सुतवेण	६८७	१४५८
णिहा तमस्स सरिसो	६८३	१४४२	णीयल्लगोवि रुद्धो	६६३	१३६५
णिहा पच्चला य कुवे	८९२	२०९६	णीया अत्था वेहादिया	७७५	१७४५
णिद्धं महुरं गभीरं	३७८	५०४	णीया करंति विग्घं	७८४	१७५९
णिद्धं महुरं पल्हादणिज्ज	६९९	१५०९	णीया सत् पुरिसस्स	७८४	१७६०
णिद्धं महुरं गभीरं	२६९	२८२	णोहंदि य षणिधानं	१५०	११७
णिद्धं महुरं हिदयं	३६५	४७७	ण्हारुण णक्कसदाइ	५४८	१०२२

त	पृ०	गा०		पृ०	गा०
			तम्हा तिबिहं वोसरि	४५१	६८९
तक्काल तदाकाल	७९१	१७७१	तम्हा तिबिहेवि तुमं	५९८	११८४
तद्गणसावर्णं चिय	८६६	१९८५	तम्हा पडिचरियाणं	३८६	५२३
तण-पत्त-कट्टछारिय	४००	५५८	तम्हा पव्वज्जादी	३९०	५३२
तम्हा अणंतकुत्तो	७२७	१६००	तम्हा सत्तूलमूलं	३९६	५४८
तम्हा-सुहादि-परिदाविदो	४८१	७७७	तम्हा सव्वे सगे	५८९	११७३
तम्हादियसु सहणिज्जेसु	३०९	३९४	तम्हा सा पल्लवणा	५४१	९९६
तत्तो णपुंसगित्थोवेदं	८९१	२०९१	तम्हा सो उड्ढहणो	४७६	७६४
तत्तो णंतरसमए	८९२	२०९७	तरुणस्स वि वेरगं	५६२	१०७७
तत्तो कुक्खे पथे	१७६	१३८	तरुणेहि सह वसंतो	५६१	१०७३
तत्तो भासं बब्बुदभूदं	५४३	१००२	तरुणो वि बुड्ढसीलो	५६०	१०७०
तत्थ अवाओवायं	४५२	६९५	तवभावणाए पंचेदियाणि	२२६	१९०
तत्थ अविचारभत्तप	८७१	२००५	तव भावणा य सुदसत्त	२२५	१८९
तत्थ णिदाणं तिबिहं	६१३	१२०९	तवमकरितस्सेदे दोसा	६८६	१४५२
तत्थ पढमं विरुद्धं	८७१	२००६	तवसजमम्मि अण्णेण	४१२	५९०
तत्थ य कालमणंतं	३६३	४७०	तवसा चैव ण मोक्खो	८२६	१८४८
तत्थ वि साहुक्कारं	७०३	१५२४	तवसा विणा ण मोक्खो	८२३	१८४०
तत्थोवसमियसम्मत्त	६६	३०	तव्विवरीदं मोस	६०२	११८८
तदिओ णाणुष्णादो	३८६	५२२	तव्विवरीदं सव्व	५०३	८२८
तदियं असतवयणं	५०१	८२२	तस्स अवाओपायविदंसी	३६१	४६४
तथ चैव सुह्ममणवचि	८९६	२११२	तस्स ण कप्पादि भत्त	११२	७५
तथ रोसेण सयं पुठवमेव	६६२	१३५७	तस्स णिरुद्धं भणि द	८७२	२००७
तम्हा इह-परलोए	४९७	८१५	तस्स ण भावो सुद्धो	६८५	१४४७
तम्हा कलेवरकुडी	७४४	१६७२	तस्स पदिष्णामेर	६९९	१५०८
तम्हा खवएणाओपाय	३६४	४७५	तह अण्णाणी जीवा	७९४	१७७८
तम्हा गणिणा उप्पीलणेण	३७०	४८७	तह अप्पणो कुलस्स य	७०२	१५२०
तम्हा चेदिठ्ठु कामो	६०६	११९८	तह अप्पं भोगसुह	६३०	१२५३
तम्हा जिणवयणरुई	३६४	४७२	तह आयरिओ वि	३६८	४८२
तम्हा ण उच्चणीवत्तणाहं	६२१	१२२९	तह आवइपडिकूलदाए	७०१	१५१६
तम्हा ण कोइ कस्सइ	७८३	१७५७	तह चैव णोकसाया	२६४	२७०
तम्हा णाणुवओगो	४७७	७६५	तह चैव देसकुलजाइ	३३७	४३३
तम्हा णिव्विसिदव्वं	३५९	४५६	तह चैव पवयण सव्वमेव	३७५	४९५
तम्हा णीया पुरिसस्स	७८५	१७६२	तह चैव मच्चुवगवपरद्धो	५५७	१७५८
तम्हा हु कसायग्गी	२६४	२६९	तह चैव य तह हो	७१२	१५५९

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
तह चैव सयं पुब्वं	७३२	१६२२	तिविहा सम्मताराहणा	९४	४८
तह जाण अहिंसाए	४८५	७८७	तिहि चहुँह पंचाहि वा	४९१	८०२
तह भाविद सामण्यो	४५	२३	तीसु वि कालेसु सुहाणि	९०३	२१४५
तह भरइ एकको चैव	७७५	१७४४	सुज्जेत्थ बारसंगसुद	३८१	५१२
तह मिच्छत कहुंगिगे	४६४	७३३	सुक्खेत्थं पि पिण्तो	६४७	१३३१
तह-मुज्झंतो खवयो	६९७	१४९९	ते अदिसूरा जे ते	५६९	११०६
तह वि य चोरा चारभडा	५८१	११४६	ते अप्पणो वि देवा	७३०	१६१२
तह बिसयामिसघत्थो	५२०	८९९	तेओ वि इदधणु तेज	७६६	१७२०
तह सजमगुणभरिदं	३७९	५०६	तेओ पम्मा सुक्का	८४५	१९०३
तह सामण किच्चा	६३७	१२७४	ते चैव इदियाणं	६५८	१३४५
तह सिद्ध चेटिए पवयणो	४६८	७४६	तेजाए लेस्साए	८४७	१९१५
तं एवं जाणंतो	३९६	५४७	तेण कुसमुट्टिधाराए	८६४	१९७७
तं णत्थि जं ण लुभइ	६९०	१४६७	तेण परं अवियाणिय	३१७	४१६
तं ण खमं खु पमादा	३६३	४७१	तेण परं सठाविय	८६३	१९७४
तं पुण णिरुद्ध जोगो	८३९	१८८३	तेण भयेणारोहइ	५८१	११४५
तं मिच्छतं जमसइहणं	९८	५५	तेण रहस्सं भिदत्ताएण	३७३	४९१
तं वत्थु मोत्तव्व	२६२	२६४	तेणिक्कमोसहिंसारक्ख	७५५	१६९८
त सो बंधणमुक्को	८९८	२१२१	ते तारिसया भाणा	५२९	९३५
ताडण तासण बधण	७२२	१५७७	ते धण्णा जे जिणवर	८३३	१८६७
ताणि हु रागविवागाणि	९०३	२१४६	ते धण्णा जिणधम्मं	८२७	१८५४
तारिसओ णत्थि अरी	५३८	९७२	ते धण्णा ते षाणी	८६९	१९९६
तारिसयमभेसमयं	८०८	१८१३	तेलोककेण वि चित्तस्स	६६९	१३८६
ताव खमं में कादुं	२०९	१६२	तेलोककीविदाओ	४८४	७८१
तिणिण य बसजलीओ	५४९	१०२८	तेलोककमत्थयत्थो	९०१	२१३४
तित्तीए असंतोए	५७९	११३९	तेलोकक सब्बसारं	८४८	१९१९
तित्थियरखक्कधरवासुदेव	५४०	९९०	तेल्लकसायादीहि य	४२०	६८७
तित्थियर पवयणसुदे	७३५	१६३२	तेल्लोककाडविडहणो	५६९	११०९
तित्थियराणा कोओ	२८१	३१०	ते वि कदत्था धण्णा	८७०	२०००
तित्थियरो चहुणाणी	२७८	३०४	ते वि य महाणुभावा	८७०	१९९८
तिररण सब्बाबासय	३८०	५११	तेसि असइहंतो	४१४	५१८
तिरियसदि अणुपत्तो	७१८	१५७६	तेसि आराधणायमाण	४६९	७४८
तिरियगदीए वि तहा	६१२	८६६	तेहि चैव वदार्णं	५९२	११७९
तिविहं तु भावसल्लं	३९४	५४१	तेसि पंचहं पि य	५९३	११८०
तिविहं पि भावसल्लं	३९५	५४५	ते सुरा भयवता	८६९	१९९५

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
ते आयरिय उवश्र्हाय	४५६	७०९			
तो उप्पीलेद्ववा	३६६	४७९	दट्टु वि अमेञ्जामिब	५४२	९९९
तो एयत्तमुवगदो	३९९	५५४	दट्टूण अण्णदोसं	३०३	३७४
तो खवमवयण कमलं	६९१	१४७२	दट्टूण अप्पणादो	६६५	१३७०
तो जाणिळ्ळण रत्तं	५३६	९६५	दट्टूण परकळत्त	५२५	९१८
तो णच्चा सुत्तविट्ठ	४२९	६२५	दट्टुप्पो मूलदहो	४७९	७७२
तो तस्स उत्तमट्ठे	३८३	५१७	दमणं च हत्थिपादस्स	७२४	१५८९
तो तस्स तिगिञ्छा जाणएण	६९५	१४९२	दव्वपयासमकिच्चा	४५१	६८८
तो ते कुसीलपडिसेवणा	६४३	१२९६	दव्वसिदि भावसिदि	२१८	१७५
तो ते सीलदरिदा	६४५	१३०३	दव्वं खेतं कालं	३५६	४५२
तो दसणचरणाधारएहि	४१३	५९६	दव्वाइ अणयाइ	८३५	१८७४
तो पच्छिममि काले	२२०	१७८	दसविध पाणाभावो	९००	२१३०
तो पडिच्चरिया खवयस्स	८४३	१८९९	दसविहठिदकप्पे वा	३१९	४२२
तो पाणएण परिभावदस्स	४५४	७०१	दडकसालट्ठिठसदाणि	७२४	१५८८
तो भट्टुबोधिळाओ	३६३	४६९	दंडण-मुडण-ताडण	७२४	१५८७
तो भावणादियत्तं	६४०	१२८५	दंडो जउणावक्केण	७०९	१५४९
तो वेदणावसट्ठो	६९६	१४९७	दंताणि इंदियाणि य	२५१	२४०
तो सत्तमम्मि मासे	५४५	१०११	दंतेहि चव्विद वीलणं	५४५	१००९
तो साघु सत्थ पथं	६४२	१२९१	दंसणणाणचरिस्स	७७४	१७४१
तो सो अविग्गहाए	८९९	२१२५	दंसणणाणचरित्तं	७५०	१६९२
तो सो एव भणिओ	३९७	५५१	दंसणणाण चरित्ते	८५०	१९२८
तो सो खवओ तं अणुसट्ठि	६९१	१४७५	दंसणणाणचरित्ते	३९७	५५०
तो सो खीणकसाओ	८९१	२०९३	दसणाणादिचारे	३७०	४८९
तो सो वेदयमाणो	८९४	२१०१	दंसणणाणविहूणा	८५९	१९५८
तो सो हीलणभीरू	३६७	४६३	दसणणाणसमग्गो	८९४	२१०२
थामापहार पासत्थदाए	४०७	५७१	दंसणणाणे तवसंजमे	२८७	३२२
थूणाओ तिणिण देहम्मि	५४९	१०२६	दंसणभट्टो भट्टो	४६६	७३७
थेरस्स वि तवसिस्सवि	२९१	३३३	दंसणभट्टो भट्टो	४६६	७३८
थेरा वा तरुणा वा	५५९	१०६४	दंसणमाराहतेण	१२	४
थेरो बहुस्सुदो वा पच्चई	५६५	१०९२	दंसणसुदत्तवधरण	८२९	१८६०
थोलाइदूण पुब्बं	३६०	४६२	दंसण सोधी ठिदिकरण	१८१	१४४
थोलाइदूण पुब्बं माणी	७०१	१५१४	दंसिहि य मसएहि य	७०८	१५४६
थोवाइयस्स कुलजस्स	७०२	१५१७	दाळण जहा अत्थं	६३७	१२७३
			दारिदं अड्ढित्तं	८०५	१८०२

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
दारैव दारवालो	८२२	१८३६	दैविद चक्कवट्टी	६३२	१२५९
दासं व मणं अवसं	१८०	१४३	दैविद चक्कवट्टी	९०३	२१४२
दिट्ठं पि ण सम्भावं	५३७	९७०	दैविद रायगह्वइ	५१३	८७०
दिट्ठं व अदिट्ठं वा	४०८	५७७	देवेहिं भोसिदो वि हू	२३०	१९८
दिट्ठा अभादिमिच्छादिट्ठी	३९	१७	देवो माणी सतो	७२५	१५९४
दिट्ठाणुभूदसुदविसयाणं	५६५	१०९१	देसकुलरूवमारोग	८३०	१८६३
दिवसेण ज्ञोयणसयं	१०१	५८	देसं भोज्जा हा हा	४५२	६९२
दिव्जे भोगे अञ्छरसाओ	७२५	१५९५	देसामासिय सुत्तं	५७२	१११७
दीणत्त रोसचिच्चा	७२३	१५८६	देसेक्क देसविरदो	८८७	२०७२
दीसइ जलं व मयत्तण्हिया	६२९	१२५१	देहतियबंधपरिमोक्खत्थं	८९७	२११७
दुक्खक्खय कम्मक्खय	६१६	१२१९	देहम्मि मच्छुल्लो	५४९	१०२७
दुक्खस्स पडिगरंतो	७९७	१७८९	देहस्स बीयणप्पत्ति	५४१	९९७
दुक्खं उप्पादित्ता	६३४	१२६५	देहस्स लाघव णेहसवेगो	२५५	२४६
दुक्खं गिद्धीघत्थस्सा	७४१	१६५८	देहस्स सुक्कसोणिय	५४२	९९८
दुक्खं च भाविदं होदि	२५२	२४१	देहे छुहादिमहिदे	६२६	१२४३
दुक्खं अणंतखुत्तो	७९४	१७८०	दोसेहिं तोहिं बहुगं	७९७	१७९०
दुक्खेण देवमाणुसभोगे	६३५	१२७०			
दुक्खेण लभदि माणुस्स	४८२	७८०	घ		
दुक्खेण लहइ जीवो	३६१	४६५	घणिदं पि संजमंतो	१०१	५९
दुगचदुअणेयपाया	७७२	१७३२	घण्णा हू ते मणुस्सा	२७५	३०१
दुज्जणसंसग्गीए	२९५	३४६	घण्णो सि तुमं सुविहिद	३८२	५१५
दुज्जणसंसग्गीए	२९५	३४८	घत्ति पि संजमंतो	५१२	८६४
दुज्जणसंसग्गीएवि	२९६	३५१	घम्मस्स लक्खणं से	७५९	१७०४
दुट्ठा चबला अदि	६४६	१३१०	घम्मं चदुप्पयारं	७५१	१६९४
दुविघं तं पि अणीहा	८७३	२०१०	घम्माघम्मागासाणि	७१	३५
दुविह-परिणामवादं	७८८	१७६६	घम्माभाषेण दु लोगरो	९००	२१२८
दुविह तु भत्तपक्कक्खणं	१०४	६४	घम्मेण होदि पुज्जो	८२७	१८५२
दुविहा पुण जिणवयणे	१०	३	घाहुगदं अह कणयं	८२६	१८४७
दुस्सहपरीसहेहिं य	२७७	३०३	धादो हवेज्ज अण्णो	४१२	५८९
दुक्को बंभयिबग्घो	५७७	११२५	धावदि गिरिपदिसोदं	७६५	१७१८
दूरेण साधुसत्थं	६४४	१३००	धिदिक्खेइएहिं इ दियकडे	६७१	१३९५
देवत्त माणुसत्तेजं ते	७२३	१५८३	धिदिघणिदबद्धकच्छो	२३५	२०५
देविममाणुसभोगे	६१५	१२१३	धिदिघणिय बद्धकच्छा	७०५	१५३३
दैविद चक्कवट्टी	७३९	१६५०	धिदिबलकरमादहिदं	३७९	५०७
			धिदिवम्मिएहि उवसम	६७२	१४००

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
धीरतनमाहृप्प	७३७	१६४०	पदमकसरं च एकं	७६	३८
धीरपुरिस चिण्णाहं	४०६	५७०	पठभट्ट बोधिलामा	६३९	१२८०
धीरपुरिसपणत्तं	७४४	१६७१	परगणवासी य पुणो	३०७	३८९
धूलो गेहुत्तुपिपगत्ते	८०९	१८१७	परदब्बहरणबुद्धी	५१२	८६८
			परदब्बहरणमेदं	५११	८५९
			परदोसगहणलिच्छो	२९६	३४९
पउमणिपत्तं व जहा	६०६	११९५	परमिच्चदाए जं ते	७२३	१५८५
पवकामयासयत्था	५४९	१०२५	परमिद्धि पत्ताणं	९०२	२१४१
पक्खिय चाउम्मासिय	४१२	५९२	परमहिलं सेवतो	५२५	९२१
पगदे णिस्सेसं गाहुए	३७८	५०३	परलोगणिपिवासा	८५८	१९४९
पगलंतं रुधिरधारो	७१८	१५७४	परलोगम्मि य चोरो	५१२	८६५
पगुणो बणो ससकलं	४१४	५९९	परलोगम्मि वि दोसा	५०६	८४४
पच्चक्खानणपडिक्कमणु	४५७	६८६	परिदड्ढसव्वचम्म	५५०	१०३१
पच्चक्खानं खामण	१०७	६९	परिभागम्मि असंति	६७९	१४२७
पच्चाहरित्तु विसर्योहि	७५७	१७०२	परमाणू वि कर्हं चि वि	५३५	९५९
पजहिय सम्मं देहं	८५०	१९३१	परियाइयमा लोचिय	८७७	२०२७
पढहत्यस्स न तित्ती	५७९	११३८	परिवड्ढिदोवघाणो	२६५	२७१
पडिक्कविदे विसण्णे	७३१	१६१८	परिहर असंतवयणं	४९८	८१७
पडिचरए आपुच्छिय	३८५	५२०	परिहरइ तरुणगोट्ठी	५६२	१०७८
पडिचोदणा सहणदाए	३०८	३९१	परिहर छज्जीवणिकायवहं	४८०	७७५
पडिचोदणा सहणवाय	२६४	२६७	परिहर तं मिच्छत्तं	४६२	७२५
पडिभापडिवण्णा वि हु	८८५	२०६५	परसवयणादिगोहिं	६९९	१५०७
पडिरूवकायसंफासणदा	१६६	१२३	परसं कडुयं वयणं	५०२	८२६
पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ	१२९	९६	पवयणणिण्हवयाणं	४१७	६०७
पडिसेवणादिचारे	४२६	६१९	पव्वज्जाए सुद्धो	८७६	२०२५
पडिसेवणादिचारे	४२७	६२०	पव्वज्जादी सव्वं	३९३	५३७
पडिसेवादो हाणी	४२८	६२२	पव्वज्जादी सव्वं	३८२	५१३
पडिसेवित्ता कोई	४२९	६२४	पव्वदमित्ता भाणा	५२८	९३४
पढमं असंतवयण	४९९	८१८	परसदि जाणदि य तथा	९०१	२१३५
पढमेण व दोवेण व	३३८	४३९	पहिया उवासये जह	७८२	१७५३
पढमे सोयदि वेगे	५१८	८८७	पंचच्छ सत्सदाणि जोयणाणं	३११	४०३
पणिधाणं पि य दुविहं	१५०	११५	पंचमहव्वयजुत्तो	२८६	३२१
पत्तास्स दायगस्स य	२४२	२२३	पंचमहव्वयरक्खा	४६०	७३२
पत्थं हिदयाणिट्ठं	२९९	३५९	पंच य अणुव्वदाहं	८८७	२०७३
पत्थं हिदयाणिट्ठं	२९९	३६०	पंचविधे आयारे	३३५	४२५
			पंचविहं जे सुद्धि	२११	१६६

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
पंचविहं जे सुद्धि	२१२	१६७	पासस्थादीपणयं	२९३	३४१
पंचविघं बवहारं	३५५	४५०	पासत्थो पासत्थस्स	४१६	६०३
पंचसमिदा सिगुत्ता	८४९	१९२५	पासित्तु कोद्धतादी	४५१	६९०
पंचेव अत्थिकाया	७६०	१७०६	पासिय सुञ्जा व सुरं	५६२	१०७५
पंचेदियप्पयारो	४३२	६३४	पासेहि जं च गाढं	७१७	१५७१
पंजरभुक्को सउणो	६४८	१३१४	पासो व बंधिदुं जे	९३९	९८०
पंडिदपंडिदमरणं	६०	२६	पाहाडघादु अंजन	५५२	१०४०
पंडिदपंडिदमरणे	६१	२७	पियधम्मवज्ज भीरु	१९०	१४७
पंथ छंडिय सो जाडि	६४२	१२९३	पियधम्मा बट्टधम्मा	४३७	६४६
पाउसकालणदीवोच्च	५३२	९४८	पियविप्पजोग दुक्खं	७२३	१५८४
पाओदएण अत्थो	७७०	१७२६	पिल्लेदूण रडंतं	३६८	४८१
पाओदएण सुट्टुवि	७७१	१७२७	पिण्डं उवर्हि सेज्जं	२७१	२९०
पाओदगमणमरणस्स	८८३	२०५७	पिंड उवर्धि सेज्जं	२७२	२९१
पाचीणाभिमुहो वा	८७८	२०३१	पिंड उवर्धि सेज्जा	२७३	२९२
पाचीणोदीचिमुहो	४०१	५६२	पिंडोवधि सेज्जाए	४१८	६११
पाचीणोदीचीमुहो	३९७	५५२	पीणत्थणिदुबदणा	५५४	१०४९
पाडयणियंसणभिक्खा	२४१	२२१	पीवी भए य सोगे	६८१	१४३६
पाडलिपुत्ते धूदाहेदुं	८८६	२०६८	पुज्जो वि णरो	६६४	१३६६
पाडलिपुत्ते पंचालगीद-	६६०	१३५०	पुढविदगागणिपवणे	४१८	६१०
पाडेदुं परसू वा	५३९	९८३	पुढवी आऊ तेऊ	८८४	२०६०
पाणगभसिभलं परिपूरं	६९४	१४८६	पुढवी सिलामओ वा	४३४	६३९
पाणिदलधरिदगंडो	५१६	८८१	पुणरवि तहेव तं संसारं	७३८	१६४७
पाणवधमुसावादा	८८७	२०७४	पुण्णोदएण कस्सइ	७७१	१७२८
पाणो वि पाडिहेरं	४९८	८१६	पुरिसत्तादिणिदाणं	६१६	१२१८
पादे कटयमादिं	८८२	२०५१	पुरिसत्तादीणि पुणो	६१७	१२२०
पादोसिय अधिकरणिय	४९०	८०१	पुरिसस्स अप्पसत्थो	५६१	१०७४
पापविसोत्तिग परिणाम	१६८	१२७	पुरिसस्स दु वीसंभं	५२९	९३८
पापस्सासवदारं	५०६	८४३	पुरिसस्स पावकम्मोदएण	७२८	१६०५
पाथोपगमणमरणं	६४	२८	पुरिसस्स पुणो साधू	७८५	१७६१
पावइ दोसं मायाए	६६६	१३७८	पुरिसं वधमुवणेदिं ति	५३७	९७१
पावपओगा मणवचिकाया	८१३	१८२७	पुरिसो मक्कडिसरिसो	६६३	१३६३
पाक्कपयोपासवदार	८१९	१८३३	पुब्बकवकम्म सडणं	८२३	१८४१
पात्वं करेदि जीवो	७७४	१७४९	पुब्बकदमज्झकम्मं	७३३	१६२४
पासत्थसद्वसहस्सादो	२९८	३५६	पुब्बकदमज्झपावं	६७७	१४१९
			पुब्बभणिदेण विधिणा	८८९	२०८५





	पृ०	गा०		पृ०	गा०
भारं करो ब्रहंतो	७२६	१७८७	महिलादिभोगसेवी	६२९	१२५०
भावाणुरागपेमाणुराग	४६५	७३६	महिला पुरिसमवण्णाए	५३३	९५१
भावे सगविसयत्थे	९०१	२१३६	महिला पुरिसं वयणेहि	५३६	९६४
भिउडी तिबल्लियवयणो	६६१	१३५५	महिलालोयण पुव्वरदिसरणं	६११	१२०४
भिण्ण पयडिम्मि लोए	७८२	१७५४	महिलावाहविमुक्का	५६९	११०७
भीदो व अभीदो वा	७२७	१६०४	महिला विग्घो धम्मस्स	५३९	९७९
भुंजंतो वि सुभोयण	६४७	१३१२	महिलावेसविलंबी	५२७	९२६
भूमि समरं द लहुओ	४३५	६४२	महिलासु णत्थि वीसंभ	५२९	९३७
भूमीए सम कीला	७०६	१५३६	महुकारि समाज्जियमहुं	४८२	७७९
भोगणिदाणेण य सामण्ण	६२४	१२३६	महुलित्तं असिधारं	६५८	१३४६
भोगरदीए णासो	६३३	१२६४	महुलित्तं असिधार	७४१	१६६०
भोगा चित्तेदव्वा	६२४	१२३५	मंताभिभोगकोदुग	२२३	१८४
भोगाण परिस्खा	८८८	२०७६	मदा हुत्ति कसाया	८४५	१९०६
भोगे अणुत्तरे भुंजिऊण	८५१	१९३६	मा कासि तं पमादं	४६४	७३४
भोगेसु देवमाणुस्सगेसु	७४७	१६८२	मा कुणसु तुमं बुद्धि	५०७	८४७
भोगोवभोगसोक्खं	६२६	१२४२	माणस्स भंजणत्थं	६१७	१२२१
<b>म</b>			माणी वि असरिस्स वि	५२१	९०५
मग्गुज्जोवपओगा	५९९	११८५	माणी विस्सो सव्वस्स	६६५	१३७१
मज्जणय गंध पुप्फो	८८४	२०६१	माणुण्यस्स पुरिसदुदुमस्स	५२८	९३३
मज्जार रसिद सरिसोवम	२६९	२८५	माणुसर्गादितज्जादि	८९७	२११५
मज्झण्ह तिक्खसूरं	५६७	१०९९	माणुसभवे वि अत्था	५१२	८६७
मणदेह दुक्ख वित्तासिदाण	६८९	१४६४	माणुसमंसपसत्तो	६२०	१३५१
मणवयणकायजोगेहि	४५७	७११	माणेण जाइ कुल्लुवं	६१४	१२११
मणसा गुणपरिणामो	४७२	७५३	मादं सुद च भगिणी	५६५	१०८९
मणुसाउगं च वेदेदि	८९७	२११६	मादाए वि य वेसो	५०६	८४०
मत्तो गउव्व णिच्च	५३३	९५३	मादा धूदा भज्जा	५२६	९२३
मत्थयसूचीए जघा	८९२	२०९५	मादु-पिदु-पुत्त-दारेसु	५८७	११४१
मधुमेव पिच्छदि जहा	६३५	१२६८	मायाए मित्तभेदे	६६६	१३७५
मयतप्फहादो उदयं	४१२	५९१	माया करेदि णीचा	६६७	१३८०
मयतप्फियाओ उदय ति	४६१	७२४	मायागहणे बहुदोस	५६८	११०४
मरणाणि सत्तरस देसिदाणि	४९	२५	मायादोसा मायाए	६८५	१४५०
मरदि सयं वा पुव्वं	५५५	१०५१	माया पोसेइ सुयं	७८३	१७५५
मल्लस्स णं हुपाणं	८४१	१८८९	मागा व होइ विस्सस्सणिज्जो	५०४	८३४
महिलाकुल्लसंवासं	५२८	९३२	माया वि होइ भज्जा	७९८	१७९३
महिलाणं वे दोसा	५४०	९८७			

	प०	गा०		प०	गाथा
मायासल्लस्सालोयणा	६३८	१२७९	रत्ति रत्ति रुक्खे	७८१	१७५२
मारणसीलो कुणदि हु	४८७	७९४	रदणाउला सवग्घा	५३७	९६९
मारोदि एवमवि जो	४८८	७९८	रदि-अरदि-हुरिस-भय	४८१	७७८
मासम्मि सत्तमे तस्स	५४३	१००४	रयसेदाणममहणं	१३०	९७
मासेण पंच पुलगा	५४३	१००३	रवि-चंद-बाद-वेउव्वियाण	७७२	१७३३
मिच्छत्तमोहणादो	४६२	७२६	रसपीदयं व कडयं	४१०	५८५
मिच्छत्त मोहिदमदी	७८५	१७६३	रंगगदण्डो व इमो	७९०	१७६९
मिच्छत्त वेदरागा	५७०	१११२	राइणिय अराइणीएसु	१६९	१२९
मिच्छत्त सल्लदोसा	६३९	१२८१	रागहोसाभिहदा	३९५	५४४
मिच्छत्त सल्लविद्धा	४६३	७३०	रागविवागसत्तप्हा	५९१	११७७
मिच्छत्तस्स य वमणं	४६०	७२१	रागेण य दोसेण य	८२८	१८५६
मिच्छत्तं अविरमणं	८१०	१८१९	रागो दोसो मोहो	५२४	९१४
मिच्छत्तं वेदंतो	७७	४०	रागो लोभो मोहो	५७१	१११५
मिच्छत्तासवदारं	८१८	१८२९	रागो हवे मणुण्णे	५८६	११६४
मिच्छादंसणसल्लं	३९३	५४०	रामस्स जामदग्गिस्स	६६९	१३८८
मित्ते सुयणादीसु य	७४७	१६८१	रायादि कुटुंबीणं	७२८	१६०६
मुक्को वि णरो कलिणा	६५१	१३२१	रायादिमहड्ढीयागमण	७४५	१६७४
मुक्खस्स वि होदि मदी	७७०	१७२६	राया वि होइ दासो	७९९	१७९५
मुत्त आढयमेत्तं	५५०	१०२९	रुहो परासरो सच्चई य	५६६	१०९५
मेघहिमफेण उक्का	५५६	१०५४	रुट्ठो पर बधित्ता	४८८	७९६
मेरुव्व णिष्कपा	७०५	१५३१	रुवं सुभं च असुभं	६७५	१४१२
मोक्खाभिलासिणो	७३५	१६३४	रुवाणि कट्ठकम्मादियाणि	५५६	१०५३
मोक्खाभिलासिणो	७२८	१६०८	रोगं इच्छेज्ज जहा	६२५	१२४०
मोणाभिग्गहणिरदो	८८२	२०५३	रोगाणं पडिगारो णत्थि	७७३	१७३७
मोत्तुण रागदोसे	३५७	४५३	रोगाणं पडिगारा दिट्ठा	७७३	१७३६
मोहग्गिणादिमहदा	२८२	३१३	रोगादंकादोहिं य	३०९	३९३
मोहोदयेण जीवो	७६	३९	रोगादंके सुविहिद	६९९	१५१०
मोहोदयेण जीवो	५४१	९९५	रोगादिवेदणाओ	७७४	१७४३
			रोगा विविहा बाधाओ	७२२	१५८०
			रोगो दारिद् वा	५३२	९४९
			रोसाइट्ठो णीलो	६६१	१३५४
			रोसेण महाधम्मो	६७७	१४१८
			रोहेडम्मि सत्तीए	७०८	१५४४

र

रक्खा भएसु सुतवो  
रक्खाहिं वंभवेरं  
रज्ज खेतं अधिवदि  
रणभूमीए कवच  
रत्ति रागम्मि दुमे

६८९ १४६६  
५१३ ८७१  
३८४ ५१९  
८४१ १८८७  
७६४ १७१५

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
लज्जं तदो विहंसं	२९४	३४२	बड्ढंतओ विहारो	२६९	२८३
लज्जं तदो विहंसं	५६३	१०८०	बष्णरणजलो विज्जो	५७७	११२६
लज्जाए मारवेण ब	३७३	४९२	बष्णरसगंधजुत्तं	४०५	५६८
लद्धूण य सम्मत्तं	९७	५२	वत्ता कत्ता य मुणी	३७७	५०२
लद्धूण वि तेलोक्कं	४६७	७४२	वदभंडभरिब्रमारुहिद	६४०	१२८३
लद्धे सु वि तेसु पुणो	८३२	१८६४	बधबन्धरोधघणहरण	४८७	७९५
लंघिज्जंतो अहिणा	६४९	१३१७	बमिगं अमेज्जसरिसं	५४५	१०१०
लिंगं च होदि अब्भंतरस्स	६५७	१३४४	बमिदा अमेज्जमज्जे	५४४	१००७
लीणो वि मट्टियाए	५६०	१०६८	बमियं ब अमेज्जं वा	५४६	१०१२
लेस्सासोधी अज्जवसाण	८४५	१९०५	बयणकमलोहि गणिअभि	६९१	१४७३
लोगम्मि अत्थि पक्खो	५१०	८५७	बयणपडिबत्ति कुसलत्तणं	५२२	९०६
लोगागासपएसो	७९२	१७७४	बवहारमयाणंतो	३५८	४५४
लोगो विलीयदि इमो	७६२	१७११	बसदीए पलिबिदाए	७१०	१५५२
लोचकदे मुंडत्तं	१२३	८९	बसधीसु य उवधीसु य	१९६	१५५
लोभे कए वि अत्थो	६८०	१४३१	वंदणभत्तीमित्तेण	४७०	७५१
लोभेणासाधतो पावइ दोसे	६६७	१३८३	वाइय-पित्तिय-सिभिय	५५४	१०४७
लोभो तणे वि जादो	६६८	१३८४	वादी चत्तारि जणा	४४५	६६८
लोहेण पीदमुदयं व	३७०	४८८	वादुबभामो व मणो	१७५	१३६
लोभे पवडिढ्ढे पुण	५०८	८५१	वायणपरियट्ठण पुच्छणाओ	८८१	२०४६
			वायाए अकहंता	३०२	३६८
			वायाए जं कहणं	३०१	३६७
वहरंरदणेषु जहा	८४१	१८९०	वारवदी य असेसा	६६४	१३६८
वग्घपरद्धो लग्गो	५५७	१०५७	वाहभयेण पलादो	६४८	१३१३
वग्घविसचोरअग्गि	५३१	९४६	वाहिक्व दुप्पसज्जा	१०८	७०
वग्घादीणं दोसे	५४०	९८६	विकखेवणी अणुरदस्स	४४१	६५७
वग्घादीया एदे	५३१	९४३	विच्छिण्णंगोबंगो	७१७	१५७३
वग्घो सुखेज्ज मदयं	६३०	१२५२	विज्जा जहा पिसायं	४७५	७६०
वच्छीहि अवदवणता	६९६	१४९४	विज्जा वि भत्तिवंतस्स	४६८	७४७
वज्जणमणणुणादग्गिह	६११	१२०३	विज्जावच्चस्स गुणा	६९५	१४९१
वज्जेदि बंभचारी	१२७	९३	विज्जाहारा य बलदेव	७७३	१७३८
वज्जेह अप्पमत्ता	२९१	३३२	विज्जू व चंचले केण	८०६	१८०६
वज्जेहि वयणकप्पं	२७०	२८७	विज्जू व चंचलाई	७६२	१७१२
वज्जो य णिज्जमाणो	५५६	१०५६	विज्जो सहंमंतबलं	७७२	१७३४
वट्टंसि अपरिदंता	४५८	७१५	विज्जायदि सूरग्गी	५१९	८९२

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
विदूषापुष्पो भिष्णो	५५१	१०३७	बोदुं गिलादि देहं	२६५	२७३
विष्णुण विष्णुणस्स	१७०	१३०	बोलज्ज चंक्रमंतो	७७३	१७३९
विष्णो पुण पंचविहो	१४२	१११	बोसट्टुचत्तदेहो	८८४	२०६२
विष्णो मोक्खहारं	१७०	१३१	वदिय णिसुद्धिय पढिदो	२६८	२८०
विद्वत्थो य अफुडिदो	४३५	६४१			
विधिणा कदस्स सस्सस्स	४६९	७५०			
विमलाहेदु बंकेण	८०४	१८००	सक्कं हविज्ज बट्ठुं	५३५	९६१
वियडाए अवियडाए	२४५	२३१	सक्कारं उवकार	५३०	९४२
विरियतरायमलसत्तणेण	६८५	१४४९	सक्कारो संकारो	५१४	८७४
विवहाहि एसणाहिं य	२५७	२४९	सक्का वंसो छेत्तुं	३३८	४३६
विविहाओ जायणाओ	५८४	११६०	सक्खीकदराय हीलण	७३४	१६३१
विब्बोगतिक्खदंतो	५६९	१ ०८	सक्खीकदरायासादणे	७३५	१६३३
विसएहिं से ण कज्जं	९०४	२१४८	सगडालएण वि तधा	८८६	२०७६
विसयमहापकाउल	६८८	१४६२	सगडो हु जइणियाए	५६६	१०९४
विसयवणरमणलोला	६७३	१४०७	सगणत्थे कालगदे	८६७	१९८९
विसयसमुद्दं जोव्वण	५७०	१११०	सगणे आणाकोवो	३०७	३८७
विसयाडवीए उम्मग	८२८	१८५५	सगणे व परगणे वा	३०३	३७१
विसयाडवीए मज्जे	६४०	१२८६	सगुणम्मि जणे सगुणो	३०२	३६९
विसयाभिसारागाढं	७९६	१७८५	सच्चम्मि तओ सच्चम्मि	५०५	८३६
विस्साकर ह्व	११८	८३	सच्च अवगददोसं	५०४	८३५
वीरपुरिसेहिं ज	६९२	१४७९	सच्चं असच्चमोसं	६००	११८६
वीरमदीए सुलगद	५३१	९४५	सच्चं वदंति रिसओ	५०४	८३१
वीरासणमादीयं	८८९	२०८४	सच्चिस्ता पुण गंधा	५८३	११५६
वीरासणं च दण्डाय	२४३	२२७	सच्चित्ते साहरिदो	८८०	२०४३
वीरियमणंतराय	८९३	२१००	सच्चेण जगे होदि पमाणं	५०५	८३७
वीसत्थदाए पुरिसो	५६३	१०८१	सच्चेण देवदाओ	५०४	८३३
वीसं पलिया पंचेत्य	४९२	८०३	सज्जायकाल पडिलेहणादि	८८१	२०४८
वीसपलत्तिष्णिमोदय	४९२	८०३	सज्जायभावणाए	१४१	१०९
वुड्ढो वि तरुणसीलो	५६१	१०७१	सज्जाय कुब्बंतो	१३६	१०३
वेउव्वणमाहारय	८८२	२०५२	सट्ठि साहस्सीओ	६६६	१३७५
वेज्जावच्चकरो पुण	२८७	३२३	सड्ढाए बडिढ्ढाए	२८४	३१८
वेढेइ विसयहेदुं	५२३	९१३	सण्णाउ कसाए वि	२७४	३००
वेमाणिएसु कप्पोवगेसु	८८८	२०८०	सण्णा-नारव-मेसुण्ण	५७५	११२०
वेमाणिओ थलगदो	८६९	१९९४	सण्णाणदीसु ठ्ठा	६४३	१२९७
			सत्त तयाओ कालेज्ज	५४९	१०२४

पृ०	गाथा	पृ०	गाथा
सत्तीए भत्तीए	२८० ३०६	५१६	८७९
सत्तो वि ण चैव ह्दो	६७६ १४१७	८७९	२०३६
सत्थं बहलं लेवड	४५४ ६९९	६४९	१३१८
सदभिस भरणी अद्दा	८६६ १९८३	६६०	१३४९
सदिभाउगे सदिवले	२५७ २५१	६०६	११९६
सदिमलंभतस्स वि कादव्वं	६९८ १५०४	८०६	१८०४
सदिमतो धिदीमंतो	८५२ १९३७	८०८	१८१२
सद्दरसरुवगंधे	१५० ११६	५२२	९०८
सद्दवदीणं पासं	४४९ ६८४	६४२	१२९२
सद्देण मभो रूवेण	६५८ १३४७	३११	४१०
सद्दे रूवे गंधे	३८७ ५२५	२६६	२७४
सद्दे रूवे गंधे	६७४ १४०८	२१७	१७४
सपरिग्गहस्स अब्बंभ	६२५ १२३९	३३५	४२७
सप्प बहुलम्मि रण्णे	५८५ ११६३	४४८	६७९
समणार्णं ठिदिकप्पो	८६० १९६१	४४८	६८०
समणस्स माणिणो	७०२ १५१८	१०६	६७
समिदकदो धदपुण्णो	५४२ १०००	७४४	१६७०
समिदा पंचसु समिदीसु	२७४ २९९	२३६	२०८
समिदि दिठणावमारुहिय	८२२ १८३५	७४३	१६६९
समपलियंकाणिसेज्जा	२४३ २२६	२५८	२५२
समिदीसु य गुत्तीसु य	३७ १६	१०४	६५
समिदीसु य गुत्तीसु य	८५७ १९४७	८७१	२००४
सम्मत्तस्स य लंभे	४६७ ७४१	५४१	९९४
सम्मत्तादीचारा	७९ ४३	५९१	११७६
सम्मदंसणतुम्बं	८२९ १८५९	३०६	३८३
सम्मं कदस्स अपरिस्सवस्स	६९० १४६८	३०५	३८२
सम्म खवएणालोच्चिदम्मि	४२७ ६२१	२९२	३३७
सम्मं सुदिमलहंतो	३३८ ४३५	५८९	११७१
सम्मादिट्ठिस्स वि	२२ ७	२९२	३३६
सम्मादिट्ठी वि णरो	८११ १८२२	२१६	१७२
सम्मादिट्ठी जीवो	६८ ३१	७४७	१६८४
सम्मोहणाए काल	८५९ १९५५	२१६	१७२
सयणस्स जणस्स पिभो	६६५ १३७३	५८८	११७०
सयर्षा मिसं आसय	५११ ८६०	४३१	६३१
सयणे जणे य सयणा			
सयमेव अप्पणो सो			
सयमेव बंतमसणं			
सरजूए गंधमित्तो			
सरवासे वि पढंते			
सरसीए चंदिगाए			
सलिलादीणि अमेज्जं			
सलिलणिवुडोव्व			
सल्लबिसकंटएहि			
सल्लं उद्धरिदुमणो			
सल्लेहणं करंतो			
सल्लेहणं करंतो			
सल्लेहणं पयासेज्ज			
सल्लेहणं सुणिता			
सल्लेहणाए मूलं			
सल्लेहणा दिसा खामणा			
सल्लेहणा परिस्सममिमं			
सल्लेहणा य दुविहा			
सल्लेहणा विसुद्धा			
सल्लेहणा सरीरे			
सविचारभत्त पच्चवक्खान			
सविचारभत्तवोसरण			
सव्वगुण समग्गार्णं			
सव्वगयथविमुक्को			
सव्वजगजीवहिदए			
सव्वजयजीवहिदए			
सव्वत्तो वि विमुत्तो			
सव्वत्थ अप्पवसिभो			
सव्वत्थ इत्थिवग्गम्मि			
सव्वत्थ णिव्विसेसो			
सव्वत्थ णिव्विसेसो			
सव्वत्थ दव्वपज्जय			
सव्वत्थ होइ लहुगो			
सव्वपरिथाइयस्स य			

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
सम्बन्धि इत्यवगमि	५६७	१०९७	सहलं माणुसजम्मं	८२८	१८५७
सम्बन्धसमाधानेण य	८४९	१९२६	सहसाणाभोगिय दुप्य	४९५	८०८
सम्बन्धसमाधि पठमाए	८६१	१९२५	सहसा चुक्कर कलिद	८८२	२०५०
सम्बन्धस्स दायगाण	३०६	३८५	सहसाणाभोगिद दुप्य	६०४	११९२
सम्बन्धं अधियासतो	७४३	१६६६	सह्विदय सकण्णयाओ	३०५	३८१
सम्बन्धं आहारविधि	८७८	२०३३	संकप्पंडय जादेण	५१७	८८४
सम्बन्धं पि संकमाणो	५८०	११४२	सखित्ता वि य पवहे	२६९	२८४
सम्बन्धं भोच्चा धिद्धी	४५२	६९३	सखेज्जमंसखेज्जगुण	९६	५१
सम्बन्धासु अवत्थासु वि	५४४	१००५	सखेज्जमसंखेज्जं	७२६	१५९८
सम्बन्धाहारविधाणेहि	७३९	१६५२	सखेज्जा सखेज्जाणता	१०२	६२
सम्बन्धकस्सं जोग	८४९	१९२२	संगावि जहणेण व लहुदयाए	८९८	२१२२
सम्बन्धे रसे पणीदे	२३६	२७९	सगणिमित्तं कुद्धो	५८१	११४७
सम्बन्धे वि कोहदोसा	६६५	१३७२	संगणिमित्तं मारेइ	५७४	१११९
सम्बन्धे वि गंधदोसा	६६९	१३८७	संग परिमग्गणादी	५८७	११६७
सम्बन्धे वि जये अत्था	६८०	१४३२	सगो महाभयं जं	५७६	११२४
सम्बन्धे विणिज्जणंतो	८७८	२०३४	सघो गुणसंघाओ	४५७	७१३
सम्बन्धे वि तिण्णसगा	३८९	५२९	संजदकमेण खवयस्स	४३८	६४९
सम्बन्धे वि य उवसग्गे	७००	१५११	संजदजणस्स य जम्हि	१९६	१५४
सम्बन्धे विय ते भुत्ता	६७४	१४११	संजदजणावमाण	२९८	३५७
सम्बन्धे वि य सबधा	४८७	७९२	संजमरण भूमीए	८२६	१८५०
सम्बन्धेसिमासमाणं	४८६	७८९	संजमसाधणमेत्तं	२१०	१६८
सम्बन्धेसि उदय समागदस्स	८२४	१८४४	संजमसिहरारूढो	६१५	१२१४
सम्बन्धेसि सामणं	७३३	१६२६	संजममाराहंतेण	१९	६
सम्बन्धेसि सामणं	७३३	१६२७	सजमहेदुं पुरिसत्त	६१४	१२१०
सम्बन्धेसु दब्ब पज्जय	७४६	१६७९	संजोगविप्यओगेसु	७४६	१६८०
सम्बन्धेसु य मुलुत्तर गुणेसु	८५८	१९५०	संजोयणमुक्करणाण	४९६	८०९
सम्बन्धो उवहिदबुद्धी	५०९	९५२	संजोयणा कसाये	८८९	२०८६
सम्बन्धो पोगलकाओ	८८०	२०४१	संभाव णरेसु सदा	५३४	९५५
सम्बन्धो पोगलकाओ	८८०	२०४२	संतं सगुणं कित्तिज्जंत	३०१	३६५
सम्बन्धो वि जणो सयणो	७८१	१७५१	संते सगणे अम्हं	३१०	४००
सम्बन्धो वि जहायासे	४८५	७८५	संता वि गुणा अकहितयस्स	३००	३६३
ससगो बाह परदो	७९४	१७७७	संता वि गुणा कत्थंतयस्स	३००	३६२
सस्सो य भरघगामस्स	६६७	१३८३	संतो वि मट्टियाए	५६०	१०६९
			सथारपवोसं वा	३३९	४४२

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
संथारभक्तप्राणे	३७६	४९८	साकेदपुरे सीमंभरस्स	६६८	१३८५
संपत्ति विवत्तीसु य	६३२	१२६०	साधारणं सञ्जीवारं	२४३	२२५
सपलियंकि णिसेज्जा	२४३	२२६	साधुस्स धारणाए वि	२८८	३२६
संभर सुविहिय जं ते	७००	१५१२	साधुं पडिला हेहुं	५५६	१०५५
संभूदो वि णिदाणेण	६३७	१२७५	साधुस्स गत्थि लोए	२९३	३३९
संरभसमारंभारंभं	४९३	८०५	साधैति जं महत्थं	५९१	११७८
संरंभो संकप्पो	४९४	८०६	साम सबलोहि दोस	७१३	१५६३
सवासो वि अणिच्चो	७६३	१७१४	सारीरादो दुक्खादो	७२५	१५९३
सविग्गदरे पासिय	१९०	१४८	सावण्ण संकिलिट्ठो	४२८	६२३
सविग्गवज्जभोरुस्स	३११	४०२	सा वा हवे विरत्ता	५५५	१०५२
सविग्गस्सवि संसग्गीए	२९४	३४३	साहू जधुत्तचारी	८८९	२०८२
सविग्गं सविग्गाणं	१८९	१४६	सिप्फाणब्भंगुव्वट्ठ	१२६	९२
सविग्गाणं मज्जे	२९७	३५५	सिप्फाणब्भंगुव्वट्ठणेहिं	५५२	१०३९
सविग्गो वि य सविग्गदरो	२९७	३५५	सिदिमारुहित्तु कारण	२१९	१७७
सवेगजणिय करणा	२८६	३२०	सिद्धपुरमुवल्लीणा	६४४	१३०२
सवेगजणिदकरणा	४६८	७४४	सिद्धे जयप्पसिद्धे	१	१
सवेगजणिय हासो	२६८	२८१	सिगार तरंगाए	५६८	११०५
सवेयणी पुण क्हा	४४१	६५६	सौदं उण्हं तण्हं	५२३	९१०
संसग्गीए पुरिसस्स	५६४	१०८६	सीदावेइ विहारं	२७२	२९३
संसग्गी संमूढो	५६४	१०८७	सीदुण्हं लूहा तण्हा	३७६	४९९
संसयवयणीय तथा	६०४	११९०	सीदुण्हं दंसमसयादि	५८६	१२६५
संथारत्थो खवओ	६९४	१४८७	सीदुण्हादववादं	५७७	११२७
संसार महाडाहेण	६८७	१४५७	सीदेण पुव्व इरियदेवेण	७०८	१५४२
संसारमूलहेहुं	४६१	७२३	सीलद्धगुणड्ढोहिं दु	३०६	३८४
संसारम्मि अणंते	७८०	१७५०	सीलवदीओ सुच्चति	५४१	९९२
संसारम्मि अणंते	८२९	१८६१	सीलं वदं गुणो वा	४८६	७८८
संसार विसमदुग्गे	६८९	१४६५	सीह तिम्मिगिल गिलिदस्स	७७३	१७४०
संसार समावण्णा	७२	३६	सुइपाणएण अणुसिट्ठि	७२७	१६०३
संसारसागरम्मि य	३३७	४३२	सुक्कं लेस्समुवगदा	८५२	१९३९
संसारसागरम्मि य	३४१	४४८	सुक्काए लेस्साए	८४६	१९१२
संसारसावरे से	८०९	१८१६	सुच्चिए समे विचित्ते	८८९	२०८३
संसारराडवि णित्थर	६८३	१४३९	सुच्चिरमवि णिरदिभारं	३६	१५
संसिट्ठ फलिह परिक्खा	२४१	२२२	सुच्चिरवि संकिलिट्ठं	८४०	१८८५
साकेदपुराविवदी	५३०	९४३	सुजणो वि होइ ल्हओ	३९५	३७७

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
सुदृक्कदाणवि सस्सादीणं	६८७	१४५५	सूरो तिवस्सो मुक्खो	५७८	११३३
सुदृक्खि आवइपत्ता	७०३	१५२२	सूलो इव भेतुं जे	५३९	९८१
सुदृक् वि पिभो मुहुत्तेण	६६३	१३६४	सेज्जा संधारयं पाणयं च	७४८	१६८८
सुदृक् वि मग्गिज्जतो	६२९	१२४८	सेज्जागासणिसेज्जा	२८०	३०७
सुंढय संसग्गीए	५६१	१०७२	सेज्जोवधिस्थारं	३३५	४२६
सुण्णवर गिरिगुहा रुक्ख	२४८	२३३	सेदो जायदि सिलेसो	५५१	१०३६
सुत्तत्थिरीकरणं	१९२	१५१	सेवइ णियादि रक्खइ	५७७	११२९
सुत्तं गणहंरगाधिदं	६९	३३	सेवदि णिवादि रक्खदि	५२३	९१२
सुत्तादो तं सम्मं	६९	३२	सेवेज्ज वा अकप्पं	४४८	६७७
सुदभावणाए णाणं	२२८	९६	सेसा य हुत्ति भवा सत्त	९४	४९
सुदिपाणएण अणुसट्ठि	३३८	४३८	सो कदसामाचारी	४३०	६२९
सुद्धणया पुण णाणं	१७	५	सो कंठोल्लगिदसिलो	६५१	१३२३
सुद्धे सम्मत्ते अविरदो	४६६	७३९	सोबस्स अणपेक्खित्ता	६५७	१२४४
सुबहुस्सुदा वि संता	४२५	६१६	सोगस्स सरी वेरस्स	५३८	९७७
सुबहुस्सुदो वि अवमा	६५५	१३३५	सोच्चा सल्लमणत्थं	४५३	६९६
सुयरणपुंखा चित्तावेगा	६७०	१३९४	सो णाम बाहिरतभो	२५०	२३८
सुयभत्तीए विसुद्धा	८५१	१९३२	सो णिच्छदि मोत्तु जे	६५१	१३२२
सुलहा लोए आदट्ठ	३६९	४८४	सो तेण पचमत्ताकालेण	८९७	२११८
सुबिहिय अदीदकाले	७२२	१५८१	सो तेण बिडज्जंतो	३३९	४४०
सुबिहियमिमं पवयण	७७	४१	सो दस वि तदो दोसे	४१७	६०८
सुस्ससया गुरुण	२७५	३०२	सोदूण उत्तमट्ठस्स	४४९	६८२
सुह्णिकलवणपवेसण	४३३	६३६	सोदूण किञ्चि सहं	५८०	११४४
सुह्णसीलदाए	६८०	१४४६	सो भिदइ लोहत्थं	६१६	१२१६
सुहुमं व बादरं वा	४०९	५८०	सोयइ विलपइ कंदइ	५८१	११४९
सुहुमं व बादरं वा	४१०	५८४	सोयदि विलपदो परितप्पदि	५१६	८७८
सुहुसादा कि मज्झा	८५७	१९४६	सोलस सित्थयरारणं	८७५	२०२२
सुहुसीलदाए अलभत्ता	६८५	१४६	सो सल्लेहिद वेहो	८८४	२०५९
सुहुम किरिएण साणेण	८९७	२११४	सो होदि साधु सत्थादु	६४५	१३०४
सुहुम किरियं खु तदियं	८३५	१८७३			
सुहुमम्मि कायजोगे	८३९	१८८१	ह		
सुहुमाए लेस्साए	८९६	२११३	हत्थिणापुर गुरुदत्तो	७०९	१५४७
सुंढय संसग्गीए	५६१	१०७२	हंतूण कसाए इंदियाणि	३८७	५२६
सुह्णगी इह्वि दिवा	१५८	८९	ह्वमाकासं मुट्ठीहिं	७३२	१६२७
सूरो तिवस्सो मुक्खो	५२१	९०४	हम्मदि मारिज्जदि	५८०	११४०
			हास-भय-लोह-कोहप्प	५०९	८२७



	पृ०	पा०		पृ०	पा०
हासोबहासकोडा	५६४	१०८४	होऊण अरे वि पुणो	७८३	१७५६
हिमणिवयो वि व विहसय	७६७	१७२२	होऊण बंमणो सोसिओ	८०५	१८०१
हिस अलिचं चोण्व	६६४	१३६७	होऊण महड्डीओ	८००	१७९७
हिसादि दोस मगरादि	७८७	१७६५	होऊण रिऊ बहुवुक्त्तकारओ	८०४	१७९९
हिसादो अबिरमणं	४८९	८००	होदि कसाउम्मतो	६५२	१३२५
हंकारंजलि भमुहंगुलीहि	८४३	१८९८	होदि य णरये तिक्वा	७१२	१५६०
होइ चउत्थं छट्टुठमाइ	२३७	२१२	होदि सचक्खु वि अचक्खु व	५२२	९०७
होइ णरो णिल्लज्जो	७३६	१६३८	होदु सिंहंडी व जडी	५०५	८३८
होइ सयं पि विसीलो	५२७	९२८	होदि य वेस्सो	६६६	१३७८
होइ सुत्तवो य दीवो	६८८	१४६१			



## विजयोदया में आगत पद्यों और वाक्यों की अनुक्रमणी

<b>ख</b>		आचेलकको धम्मो	
अचेलगास्स लूहस्स	३२७	[वृ० कल्पभा० गा० ६३६९]	३२६
अचेलगाण लूहस्स	३२७	आचेलकको य जो धम्मो [उत्तरा० २:३:२९]	३२७
अजीवकाया धर्माधर्म [त० सू० ५।१]	३६	आज्ञापायाविपाकविचयाय धम्मस्स	
अज्झवसिदेण बंधो [समय० २६२]	४९०	[त० सू० ९।३६]	७५२
अज्ञानकाष्ठजनितस्तव-	६७७	आत्मानुभूतान्यपि न स्मरन्ति	७१९
अष्णाणगेहमारव	४२१	आदाय नैदाघरवि शिर सु	८०१
अतो न सौख्यं तदिहास्ति	८०३	आदावणादिजोग	१०९
अत्ता चेव अहिंसा	४८९	आत्तैरौद्रधर्म्यशुक्लानि [त० सू० ९।२८]	७५४
अत्यल्पमप्यस्य तदस्तु	३५१	आलोयणा हु दिवसिग	३३२
अत्थं कर्हंति अरुहा	७०	<b>इ</b>	
अनुवृत्ति क्रिया भाषा	७१५	इदं सद वंदियाणं [पञ्चास्ति० १]	३
अन्वइच्च पश्यन् बघिरइच्च	७६९	इति सततमपोह्यमान	३४८
अन्यावज्ञादरातिक्रमाण	३४५	इत्येवमादि. शुभकर्मचिन्ता	८१७
अन्येषां यो दु खमज्ञो	३४५	इत्येवमाद्या सुगुणा	७१५
अन्योन्यघातार्थमनुप्रयाति	७२१	इन्द्रचापतडिदम्बुधराणां	८००
अन्योन्यतो मरत्यजनाच्च	७२०	इरिय गोयर मुमिणादि	३३३
अन्योन्यरन्ध्रेक्षणनष्टनिद्रा	७२१	ईशितुं सुरनृणामयत्नत	८०१
अपुट्टो ण दु भासेज्ज	३८	<b>उ</b>	
अप्पहिंयं कादब्बं	१९७, ३८५, ३९०	उच्छ्वसनं श्रमजं नृपतेज्जि	८०२
अब्ध्युपमानितजीवितदेवै	८०२	उत्क्षिपेयुरवनी महाबलात्	८०१
अभाषका एकोरुका	४८३	उत्तमसंहननस्यैकाग्र [त० सू० ९।४५]	७५२
अरसमरूवमगन्धं [समय० ४९ गा०]	१४	उपपत्तिबलादर्थपरिच्छेदो नथ	१७
अलाम्बुपत्त वा दारुगपत्तं	३२४	उप्यण्णाणुप्यण्णा [मूलाचार ७।१२५]	३९५
अवग्रहीतुं च तथेहितुं च	७६९	उवसप्पिणी अवसप्पिणी [सर्वाथं० मे उघृत]	७९२
असदमिधानमनूतम् [त० सू० ७।४]	४९८	<b>ए</b>	
असिर्मेषिः कृषि. शिल्पं	४८२	एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्	
अह पुण एवं जाणिज्जा		[त० सू० ९।५]	४३९
[आचारा० ७।४।२०९]	३२५	एकेन्द्रियद्वीन्द्रियतां भवेथु	७६९
<b>आ</b>		एकान्तदुःख निरयप्रतिष्ठा	३५१
आउगवसेण जीवो	५०	एकेन जन्मस्वटता प्रमेयं	३५१
आचेलकको य ठिदो	३३०		

विषयोदया में आगत पद्यों और वाक्यों की अनुक्रमणी

२४३

एवधम्मं पवत्तारं [उत्त० २३।३०]	३२७	गोऽजाविकाद्यैः परिमर्हन्ताना	७१९
एगेण ताव कप्पेण	३२७	गम्भीरत्वासिणो पाणा	४१९
एताः कर्मभूवो श्रेयाः	४८२		घ
एत्थं दु उज्जुगभाषा	४२७	न्नन्ति छिन्दन्ति भिन्दन्ति	
एस सुरासुर [प्रव० सा० १]	३	घ्राणं विना गन्धमयो हि	७६९
			च
क			
कप्पठिदोऽणुकंपी	२०३	चर्यामिनार्याच्चरित्तामघेय्या	८१७
कप्पठिदो भुंजदि	२०४	चारित्तं खलु धम्मो [प्रव० सा० १।७]	३२
कप्पठिद भुंजदि	२०४		छ
कम्पनैः कणयेश्चक्रं	७१५	छिद्धिं भिद्धिं तुदाकर्षं	७१६
कर्मभूमिषु चक्रास	४८३	छिन्नैः शिरोभिश्चरणैश्च भग्नै	७१९
कर्मभूमि समुत्पन्नाश्च	४८२		ज
कलुषचरितैर्नष्टज्ञान	७९५	जदि सुद्धस्स य बंधो	४९०
कसिणाइंवत्थ कबलाई [निशीथ]	३३४	जम्हा विणेदि कम्म	१४३
काव्योत्तिक भूदिकम्मं	८५५	जात्या मतो यः कुलाद्वापि	३४५
काकिप्प्यामपि गणयन्	३५०	जात्यन्धमूका बधिराश्च बाला	७१९
काये पात्तिनि का रक्षा	२९१	जादं सयं समत्तं [प्रव० सा० १।५९]	१३३
काष्ठमग्निमनिलं जल	६२१	जीवाजीवासवबन्ध [त० सू० १।४]	१३३
काष्ठशैलशिलारूपं	७११	जीवान्न हन्यां न मृषा वदेयं	८१६
किं दर्पणेनावृतलोचनस्य	७६८	जे धित्थं हु लघुसिगा	३३१
कुर्यान्न तन्मदगजोद्धृतदलवेग.	७९९	ज्योतिर्विभूषान् गगनप्रवेशान्	८०१
कुलं च रूपं च यशश्च	८८८		ठ
कोऽधिकार. सुकुलेषु	६१९	ठावणिज्जो आयरिय	३३२
कुद्रा सन्ति सहस्रशः	२९९		ण
क्षुधाभिभूतस्य हि	३५२	ण कहेज्जो धम्मकहं	३२४
खमणो याणेसणो	३३२	णग्गस्स मुंडस्स य [दवै०]	३२७
खती मह्व अज्जव	८५	ण सिण्हायति तम्हा ते	४१९
		ण मे णिवारणं	३२७
ग		णाऊण अब्भुवेच्च	३३०
गह् इंदिये च काये [मूला० ११९७]	१८	णाण दंसणचरित	८६
गदिमधिगदस्स देहो [पञ्चास्ति० १२९]	१३७	णाणी कम्मस्स खयत्थ	४९०
गभंक्कत्तामपि ते दुरवस्थां	८०२	ण्हं व बहु मण्णेज्ज	२७७
गारत्थी अण्णत्तित्थि	२०४	णिरयादि जहण्णादिसु [वा० अणु० २८]	७८८
गीत्तवाद्यतत्तित्थुयनिनादे	८००	णंहुत्तुपिदगतस्स [मूलाकार० २३६]	७१०
गुणेरनेकैरपि संयुतां स्थिच्चं	८०४		
गुत्तिसमित्तिधमनुप्रेक्षा [त० सू० ९।२]	१२५		

त		दृष्टः क्वचित्प्रवररत्नविभूषणो	६२२
सत्कार्यध्यानं [त०सू० १।२]	९९, १८१	दृष्टाः क्वचित्सुरमनुष्यगणप्रधानाः	७९९
तस्य एसे हिरिमणे	३२४	दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्विवादे [स्थ० स्तो० ५४]	४१
तत्रैकजीव सुखभागमेकं	३५१	दृष्टुं हितं श्रोतुमथेहितं च	७६९
तस्स्यैयार्थं भावना [त०सू० ७।३]	१४९	द्विघेहं बुद्धिं प्रवदन्ति	७६८
तस्सेवा यदि न स्यान्न	३४८	न	
तथा प्रकारो विकलेन्द्रियाणा	७१९	न केवलं ते परलोक	२७१
तथा प्रकारैरन्येदृच	७१५	न खु तिविध तिविधेण	१६०
तथेह सर्वं परिचिन्त्यमानं	३५२	नग्न प्रेत इवाविष्टः	६२८
सदविरतदेशविरत [त०सू० १।३४]	७५४	न नेच्छति द्वेष्टि न	८२१
तद्भाव परिणाम. [त०सू० ५।४२]	१०६	न बाञ्छति श्रोतुमिहादरेण	८२०
तमःप्रवेशोऽम्भसि मज्जनं	७७०	न सेवितुं रागवशेन बाञ्छति	८२१
तस्मिन् स्वदेहे परिबाध्यमाने	३४६	नान्तर्गतोऽथ न बहि	३५४
तानपि चासु पतेत् क्षुदनिष्ठा	८०२	नारकास्तत्र तेऽन्योन्यं	७१५
तालैदि हलेदिदि व तलेव [कल्प०]	५७३	नालं विशालं नयनं तृतीयं	७७०
तिष्ठ दासेव हन्ति त्वां	७१६	निमज्जमाना उदबिन्दुनापि	७१९
तीर्थदिवाप्तं श्रुतमस्ति यस्य	७६८	निरीक्ष्य न द्वेष्टि	८२०
तेऽवधिना विधिना बहु	८०३	निशम्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि	८२०
तैस्तैः प्रकारैः सततं समन्ता	७२०	निषेव्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि	८२०
त्यागाद्भोगादेव समुत्थं	८०४	निषेव्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि	८२०
त्रिलोकमल्ला	२७१	निषेवितुं रागवशेन काक्षति	८२०
द		नृपद्वच दासः स्वपद्वच विप्रो	६१९
ददृश व सोदूष	२०४	प	
दत्त्वा द्वावापृथिव्यो	७७६	पडिकमणं गदिय	३३२
दप्य पमाद अणाभोग	४२१	पडिलेखं पात्रकबलं	३२३
दर्शनमात्रमपि सतां	३४८	पडिलेहण पादपुञ्ज [आचा० २।५]	३२३
दानेन तिष्ठन्ति	१३४	पडमम्मि सव्वजीवा [धाव० सू०गा० ९१]	३३०
दिव्यवीर्यबलविक्रमायुषो	८०१	परमच्चिय विगलिदिय	३२
दुःखदं जहाजादं [मूला० ७।१०४]	१५४	परिचत्तेसु वत्थेसु	३२६
दुर्जयो भवति नरेण	३५०	पावकाचलभुरत्तु वनावनी	८०१
दुविधं पुण तिविहेण	१६०	पासत्थो सच्छं दो	५५
दूरमप्यतिपतन्ति लाघवात्	८०१	पित्तप्रकोपेन बिदह्यमाने	३५२
देशप्रवृत्तिगृहिणामकृत्स्नात्	८१५	पीठिका संदपत्यंके	४१९
देहो भवोति बुञ्चदि	४९	पुण्यासवं सा त्रिविधानुकम्पा	८१६
दंढह्यमानाश्च द्वाग्निवेगैः	७२१	पुरग्रामादयो यत्र	४८३



वराङ्गनाङ्गानि व रागचोदितो	८२०	सर्वोपसर्गानिह मोक्षकामा	७१९
वरिसं चीवरधारी [ भावना ]	३२४	सर्वतश्च विमलाम्बर वर्ण	८००
ववहारे सम्मत्ते	६१	सध्वम्मि लोग्णिते [ वा० जणु० २६ ]	७९१
वातपिन्कफजैः परिमुक्तं	८००	संघातजं प्रशिथिलास्थि	३५४
वायुप्रकोपजनितैः कफपित्तजैश्च	३५४	संपूर्वाशाः स्वसुरभिगन्धै	८०२
विघ्नकरणमन्तरायस्य [ त० सू० ६१२७ ]	२	संवासवेदणोपाद	२७४
वियोजिता आत्मसुतैश्च बालं	७२१	संसारोच्छेदकरी	३४८
विरदी सावगवर्गं च	३३०	संसारवासे भ्रमतो हि	६१९
विषयसुखप्रतिबद्धलोलचित्तो	८१२	साधूनां शिवगतिमार्गं	३४९
विषया जनितेन्द्रियोत्सवा	८१२	साधूपसेवनं यदि	३४८
श		सिद्ध सिद्धाण [ सन्मति० १११ ]	३
शङ्काकाशा विचिकित्सा [ त० सू० ७२३ ]	३८	सुखेनैवं जीवन्तो	८०२
शत्रुमित्रमुदासीन	७१५	सुदृष्टयो वापि कुदृष्टयो वा	८१५
शरीरसौख्याय न यश्च सेवते	८२१	सुदुर्लभं मानुषजन्म	८१६
शीतापनुत्प्रावरणं च दृष्टं	३५२	सुहुमा सन्ति पाणा	४१९
शीते निवातं सलिलादि	७१९	सूक्ष्मैः शरीरैरपि ते	७२०
शुक्र सिंघाणक इलेष्म	४८२	सेसे पुण तित्थयरे [ प्रव० सा० ११२ ]	३
शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः [ त० सू० ९१३७ ]	१३७	सोलसविधमुद्देशं [ कल्प० ]	३२७
शुभ्रं न जिघ्रासति	८२०	सौख्यं बोधन्नात्मनो	३४५
श्रवणविकलो बाग्धीनोऽज्ञो	७९५	स्तनंधयान्स्वानपि भक्षयन्तः	७२०
श्रेयोऽर्थिना हि जिनशासन [ वराङ्ग ११३ ]	३९०	स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्य [ शृ०श० ]	३४७
श्रेयाः कथं न यतयो	३४८	स्थानश्रमस्योषधमासनं च	३५२
श्वश्रुगालवृकव्याघ्र	७१५	स्वबुद्धिमात्रामपि	७६९
स		स्वभावपापा कुकवीरिताभिः	७२१
सचेलगो सुखी ह्रीदि	३२६	स्वाभाविकी यस्य मत्तिर्विशुद्धा	७६८
सहादिसु वि पवित्तो	३३३	स्वर्गश्च मोक्षश्च मयोपदिष्टा	८२८
समर्णं वदेज्ज मेधावी	३६७	ह	
समुद्रद्वीपमध्यस्था	४८३	हयकर्णा गजकर्णा	४८३
सम्मत्त णाण दंसण [ ]	१५	हरिततणोसहिगुच्छा	५७३
सम्यग्दर्शनज्ञानच्चारित्राणि [ त० सू० १११ ]	३६७	हिरिमणे वा जुग्गिदे	३२८
सम्यग्दृष्टि श्रावक विरता [ त० सू० ९१४५ ]	४७	हिरि हेतुकं व होइ	३२५
सर प्रविश्येह यथा नरः	७२०	हिसानृतस्तेयविषय [ त० सू० ९१३५ ]	७५४

## पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी

अ		आगमभाव सामायिक	१५२
अच्छेच्छ ( दोष )	२४६	आगमभाव सिद्ध	५, ८५८
अथालन्द विधि	१९७	आगमभाव अर्हन्	८४
अद्वानशन	२३७	आगमभाव नमस्कार	४७१
अढायु	५०	आचार्य	८६
अनशन	१९	आजीव (दोष)	२४७
अनशन के भेद	२३६	आजीव कुशील (मुनि)	८५५
अनभिगृहीत मिथ्यात्व	९९	आज्ञाविचय	७५८
अनायतन	८१	आदान निक्षेप समिति	
अनिसृष्ट (दोष)	२४६	आद्यन्तमरण	५३
अनुभवावीचिकामरण	५३	वाधा कर्म	२४५
अपायविचय (ध्यान)	७५८	आलोचना	२०
अपवादिक लिंग	११३	आवीचिमरण	५१
अप्रशस्त राग	९६	आसुरी भावना	२२३
अबोधबोध (दोष)	२४५		
अभिगृहीत मिथ्यात्व	९९	इंगाल (दोष)	२४८
अभिन्न दसपूर्वी	७०	इंगिनी मरण	८७६
अभियोग्य भावना	२२३	इन्द्रिय	१४७
अभ्याहिड (दोष)	२४६		
अर्थशुद्धि	१४५	ईयसिमिति	५९९
अर्हन्त अवर्णवाद	९१		
अवधिमरण	५३	उत्तर गुणप्रत्याख्यान	१५८
अवमोदर्य	१९, २३७	उत्थित निषण्ण ( कायोत्सर्ग )	१६२
अवसन्न (मुनि)	८५३	उत्थितोत्थित ( कायोत्सर्ग )	१६२
आ		उद्गम दोष	२४५
आक्षेपणी कथा	४४०	उद्देसिग	२४५
आगमद्रव्य नमस्कार	४७०	उत्पादन दोष	२४६
आगमद्रव्य प्रतिक्रमण	१४६	उदिभन्न ( दोष )	२४६
आगमद्रव्य सिद्ध	५, ८४	उद्यवन	८
आगमद्रव्य अर्हन्	८४	उद्योसन	९
आगमभाव नमस्कार	४७१	उन्मिन्न दोष	२४८
आगमभाव प्रतिक्रमण	१५६	उपकरणवकुश	८५४
		उपाध्याय	८६

	पृ०		पृ०
उभय शुद्धि	१४५	ग	
उपमा सत्य	६०२	गच्छ प्रतिबद्ध अथालन्दक	२०१
उवसंपा समाचार	३८०	गिद्धपुट्ट मरण	५७
ए		गुप्ति	३७,१४७
एकत्व वितर्क अवीचार	८३७	घ	
एकत्व भावना	८३४	चारित्र	१९
एकान्त मिथ्यात्व	४६	चारित्राचार	८६,३७९
एषणा समिति	६०४	चिकित्सा दोष	२४७
ओ		चैत्य अवर्णवाद	९१
ओसण्ण मरण	५५	चैत्य वर्ण जनन	८८
ओ		च्यावित	४७१
औत्सर्गिक लिंग	११३	च्युत ( शरीर )	४७०
औपशमिक सम्यक्त्व	६७	छ	
क		छेद (प्रायश्चित्त)	२०
कव्य कुशील	८५५	ज	
कन्दर्प भावना	२२२	जनपद सत्य	६०१
कषाय	१४७	जिन कल्प	२०५
कायकलेश	१९,२४२	जिन वचन	१०
कायगुप्ति	५९,७	जीवाधिकरण	४९४
कायोत्सर्ग	१६१	ज्ञायक शरीर अर्हन्नाम	८४
काल प्रतिक्रमण	१५५	ज्ञानाचार	८६,३१९
काल प्रतिसेवना	३५७	ठ	
काल प्रत्याख्यान	१५८	ठविद	१४१
काल संसार	३४२,७९१	त	
किल्बिष भावना	२२२	तद्भव मरण	५३
कुशील मुनि	८५४	तद्व्यतिरिक्त द्रव्यार्हन्	८४
कुहन कुशील	८५५	तपाचार	८६,३१९
कौतुक कुशील (मुनि)	८५४	त्यक्त ( शरीर )	४७१
क्षायिक सम्यक्त्व	६७	व	
क्षायोपशमिक सम्यक्त्व	६७	दर्शनाचार	८६,३१९
क्षेत्र प्रतिक्रमण	१५५	दायक दोष	२४८
क्षेत्र प्रतिसेवना	१५६	दूत कर्म दोष	२४७
क्षेत्र प्रत्याख्यान	१५८	देह वक्रुश	८४४
क्षेत्र संसार	३४२,७९०	द्रव्य क्रीत	२४६



	पृ०		पृ०
द्रव्य पूजा	८७	चिस्तरत्न	८
द्रव्य प्रतिक्रमण	१५५	नो आगम द्रव्य नमस्कार	४७०
द्रव्य प्रतिसेवना	३५६	नो आगम द्रव्य व्यतिरिक्त कर्म प्रतिक्रमण	१५६
द्रव्य प्रत्याख्यान		नो आगम द्रव्य प्रतिक्रमण	१५६
द्रव्य प्राण	४९	नो आगम द्रव्य तद्व्यतिरिक्त कर्मसामायिक	१५३
द्रव्य क्षत्य	३९४	नो आगम द्रव्य सामायिक	१५३
द्रव्य श्रिति	२१७	नो आगम द्रव्य सिद्ध	५, ८५
द्रव्य संसार	३४१, ७८९	नो आगम भाव चतुर्विंशतिस्तव	१५४
		नो आगम भाव नमस्कार	४७१
धर्म	८५	नो आगम भाव प्रतिक्रमण	१५६
धर्म-अवर्ण वाद	९२	नो आगम भाव सामायिक	१५३
धर्म वर्ण जनन	८९	नो आगम भाव सिद्ध	५
धर्मानुकम्पा	८१४		
धर्मध्यान	७६९		
धात्रोदोष	२४७	पण्डित मरण	५४
धूम दोष	२४८	परियट्ट	३, २४६
धृतिबल भावना	२३४	परिहार संयम विधि	२०१
		पापुकार	२४३
		पादोपगमन मरण-	६४
नाम अर्हन्	८३	पाद्वैस्वमुनि	८५४
नाम नमस्कार	४७०	पाहुँडिग	२४६
नाम प्रतिक्रमण	१५५	पामिच्छ (दोष)	२४६
नाम प्रत्याख्यान	१५७	प्रायोग्यगमन मरण	६४
नाम सत्य	६०१	पिहिता (दोष)	२४८
नाम सामायिक	१५३	पूतिक (दोष)	२४५
नाम सिद्ध	४, ८४	पूथक्त्त चित्तकर्मोच्चार	८३५
निक्लिप्ता ( बसति )	२४८	प्रतिक्रमण	२०, ३०, १५५, १५७
निदान	६१३	प्रतिष्ठापना समिति	६०५
निमित्त दोष	२४७	प्रतीत्यसत्य	६०१
निमित्त कुशील	८५५	प्रत्याख्यान	१५७
निर्वहण	८	प्रवेश वीचिकाभरण	५३
निर्वाण	३३	प्रपासन कुशील	८५५
निर्वेचनी कथा	४४०	प्रयोग विनय	१५५
निःशक्य	१५९	प्रमाणातिरेक दोष	२४८
निष्पन्न-निष्पन्न ( कायोत्सर्ग )	१६६	प्रवचन माता	६०७

	पृ०		पृ०
प्रवास्तराग	९५	घ	
प्रसेनिका कुशील	८५५	यथाच्छन्द मुनि योग	८५६ ४४
बलायमरण	५७	र	
बाल पण्डितमरण	५७	रस परित्याग	१९, २३८
बाल मरण	५३	रूपसत्य	६०१
		ब	
भक्त प्रत्याख्यान	१५८	वचन गुप्ति	५९५
भक्ति	८७	वर्णगदा दोष	२४७
भव संसार	३४२	वन्दना	१५४
भवायु	४९	वर्ण जनन	८७
भाव क्रीत	२४६	वसट्टमरण	५७
भाव पूजा	८७	विक्षेपणी कथा	४४०
भाव प्रत्याख्यान	१५८	विनय	२०, ३०
भाव प्राण	४९	विपरीत मिथ्यात्व	४७
भाव शल्य	३९४	विपाक विचय	७५८
भाव श्रिति	२१७	विष्णस मरण	५९
भाव सत्य	६०१	विविक्त शय्यासन	२०, २४४
भाव संसार	३४१, ७९२	विवेक	२७
भावि प्रतिक्रमण	१५६	विवेक (के भेद)	२१४
भावि सामायिक	१५३	वीतरागसम्यग्दर्शन	१६
भावि सिद्ध	५, ८५	वीर्याचार	८६, ३१९
भाषा समिति	६००	वृत्तिपरिसंख्यान	१९, २४०
भूति कुशील (मुनि)	८५५	वैयावृत्य	
		व्यञ्जनशुद्धि	१४४
		व्यवहार सत्य	६०१
		घ	
मनोगुप्ति	५९५		
मालारोह	२४६		
मिश्र (दोष)	२४५	शङ्कित दोष	२४७
मिश्रानुकम्पा	८१५	शुद्धनय	१७
मूल (प्रायश्चित्त)	२७	श्रुत	८५
मूल कर्म दोष	२४७	श्रुत अवर्णवाद	९६
मूल गुण प्रत्याख्यान	१५८	श्रुत भावना	२२८
अक्षित दोष	२४७	श्रुत वर्णजनन	८८

पारिभाषिकशब्दानुक्रमणी

२५१

	पृ०	पृ०
संभावनासत्य	६०१	५३
संमूर्च्छनाकुशील	८५५	५६
संमोह भावना	२२४	१९३
संयोजना	४९५	२४८
संवेजनी कथा	४४१	९२
संशय मिथ्यात्व	४७	९०
संसक्त (मुनि)	८५६	१५०, १५५
संस्तव दोष	२४७	९१
संस्थान विचय	७५८	८८
सत्त्वभावना	२३१	८३८
समिति	३७, १४८	१५५
सम्मति सत्य	६०१	१५८
सराग सम्यक्त्व	९६	६०१
सर्वानशन	२३७	५, ८४
सर्वानुकम्पा	६१४	१५३
		१७८



## अशुद्धि-शुद्धि पत्रक

पृ०	पं०	अशुद्धि	शुद्धि	पृ०	पं०	अशुद्धि	शुद्धि
२	१०	रस प्रकष	रस प्रकर्षः	४४९	८	जत्थ	जस्स
७	४	चर्चितमि	चर्चितमिति	४५०	१०	तेल्लकायादसीहि	तेल्लकसायादीहि
१०	२	चरितमि	चरितमि	४६८	२	शीलं	सीलं
१४	१३	ज्ञानभे	ज्ञानभेदे	४९६	१४	तस्मान्दि	तस्मादि
४७	१०	वस्तुस्वरूपाव-	वस्तुस्वरूपानव	५०२	१	कक्कस्म	कक्कस
५९	११	गिद्धतुट्टु	गिद्धपुट्टु	५३७	११	दिट्टुपि	दिट्टुपि ण
७२	६	आकशं	आकाशं	५६५	१	ईदियकसय	ईदियकसाय
१६७	४	इच्चेवमानि	इच्चेवमादि	६०६	७	पडते	पडते
१६७	८	पूयावयण	पूयावयणं	६२८	१२	स्वनन्निवि	स्वनन्निव
१७१	४	आयारजीव	आयारजीद	६३३	९	अज्झपरदी	अज्झप्परदी
२५५	१४	लाघव	लाघवं	६४७	७	मरु	तुरु
२९८	३	वासत्थ	पासत्थ	६७१	१३	आइद्ध	आबद्ध
३००	१०	संतो	संता	६९९	१	कहुवं	कहुगं
३०४	१	वरस्स	परस्स	७१६	९	पातयाप्येनं	पातयाभ्येनं
३१३	१७	सल्ल उद्धारदु	सल्लं उद्धरिदु	७२३	१५	जंते	जं ते
३२६	८	उपसर्गस	उपसर्गं स	७३८	११	पुणरिव	पुणरवि
३६०	२	किलामिदंगो	गिलामिदंगो	७४१	१	णिमिसेण	णिमिसेण
३७७	११	मइसपण्णो	मइसंपण्णो	७८३	१२	कोह	कोइ
३९२	८	आषेण	ओषेण	८६९	७	भयवंतो	भयवंता
४०२	१०	किरियम्म	किरियम्मं				

